राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

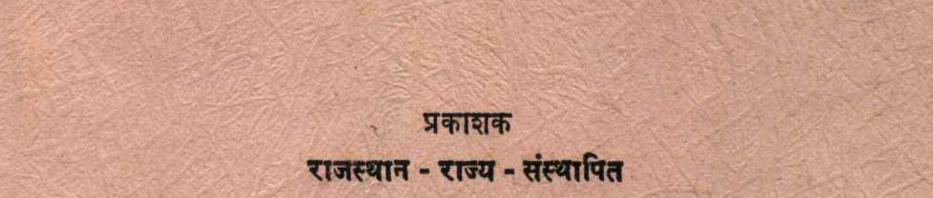
प्रधान सम्पादक—फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट्.
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क ११५

गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टप्रणीतः

सिंहसिद्धान्तसिन्धुः

[प्रथमः खण्डः]



प्रकाशक
राजस्थान - राज्य - संस्थापित
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE
JODHPUR

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला
प्रधान सम्पादक – **फतहसिंह**, एम०ए०, डी०लिट्०
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क ११५

गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टप्रणीतः

सिंहसिद्धान्तसिन्धुः

[प्रथमः खण्डः]

सम्पादकौ
फतहसिंहः एम० ए०, डी० लिट्०
तथा
गोस्वामिश्रीलक्ष्मीनारायणदीक्षितः

प्रकाशक
राजस्थान-राज्य-संस्थापितः
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE,
JODHPUR

१९७० ईस्वी

प्रथमावृत्ति १००० **मूल्य**

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान - राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषा-निबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह एम० ए०, डी० लिट्०

ग्रन्थाङ्क ११५

गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टप्रणीतः

सिंहसिद्धान्तसिन्धुः

[प्रथमः खण्डः]

प्रकाशक

राजस्थान - राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

सन् १९७० ई०

वि० सं० २०२६ **भारतराष्ट्रीयशकाब्द १८९१**

मुद्रक—कैलाश माधव कालिया, समयसार प्रेस, जोधपुर.

प्रधान संपादकीय

प्रस्तुत ग्रंथ 'सिंहसिद्धान्तसिन्धु' नामक महाग्रन्थ का प्रथम खण्ड है जो 'सिन्धु' की केवल १४ तरङ्गों को लेकर ही विद्वानों के समक्ष उपस्थित हो रहा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की ६२ तरङ्गों को ५ खण्डों में समाप्त करने की योजना है जिनमें से अन्तिम खण्ड में वह उपयोगी परिशिष्ट, सन्दर्भ तथा अन्य अध्ययन-सामग्री प्रस्तुत की जाएगी जिसके बिना ग्रन्थ का वास्तविक मूल्याङ्कन सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं हो सकता।

यह महाग्रन्थ अपनी समग्रता में भारतभूमि एवं भारतधर्म की अखण्डता का प्रतीक है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक प्रचलित शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदायों की समस्त तन्त्र-प्रणाली का व्यापक सङ्कलन करके, एक समन्वित आगमदृष्टि को उपस्थित करते हुए, ग्रन्थकर्ता गोस्वामी शिवानन्दभट्ट ने दाक्षिणात्य होते हुए भी उत्तर भारत को अपनी लीलाभूमि बनाकर उस प्राचीन-परम्परा को अक्षुण्ण रक्खा है जिसके अनुसार बोधायन एवं शङ्कर-प्रभृति अनेक दाक्षिणात्य आचार्य अखण्ड भारत के धार्मिक-जीवन का नेतृत्त्व करते आए हैं। ग्रन्थकार का प्रादुर्भाव 'समरपुङ्गवदीक्षित' की उस वंश-परम्परा में हुआ था जो समस्त तन्त्रशास्त्र के ज्ञान के लिए इतिहासप्रसिद्ध रही है। उसके पितामह गोस्वामी श्रीनिवासभट्ट (अपरनाम विद्यानन्दनाथ) ने शिवार्चनचन्द्रिका, सौभाग्यकल्पद्रुम आदि अनेक आगम-ग्रन्थों की रचना की थी, और उसके पिता गोस्वामी जगन्निवास तो अपने आगमज्ञान के कारण ही 'निखिलतन्त्रस्वतन्त्र' कहे जाते थे। अत एव कोई आश्चर्य नहीं कि इतनी समृद्ध ज्ञानपरम्परा को पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करके गोस्वामी शिवानन्द ने तन्त्रशास्त्र के इस महत्तमग्रन्थ द्वारा भारत की समन्वित तन्त्र-साधना को उपस्थित किया।

प्रस्तुत खण्ड की १४ तरङ्गों में केवल दीक्षा के विषय में ही विविध आगम-ग्रन्थों के मतों का समन्वय प्राप्त है, और शेष विषयों को आगामी खण्डों में स्थान मिलेगा। यद्यपि जब मैंने और मेरे सहयोगी श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य हाथ में लिया, तो यह अनुभव किया था कि ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में ही आगमशास्त्र का इतिहास तथा सिंहसिद्धान्त-सिन्धु का सम्पूर्ण विवेचन भी प्रस्तुत कर देना अधिक उपयोगी रहेगा, परन्तु कई कठिनाइयों के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त

सिन्धुलिपि-सम्बन्धी मेरे निजी शोध-कार्य ने, न केवल वैदिक साहित्य के लिए, अपि तु तन्त्रशास्त्र के लिए भी एक नई दृष्टि प्रदान की है। सिन्धुमुद्रा-लेखों में प्राप्त ऊं, ईं, खं आदि को जहां तान्त्रिक बीजमन्त्रों का पूर्व रूप कहा जा सकता है, वहाँ वे वैदिक वाङ्मय में भी पाए जाते हैं। अत एव आधुनिक मान्यताओं के विपरीत, तन्त्र को वेदमूलक मानने वाली भारतीय परम्परा के लिए पर्याप्त आधार मिलता है। ऐसी स्थिति में यही निर्णय किया गया कि सम्पादकीय प्राक्कथन को अन्तिम खण्ड में परिशिष्टों, अनुक्रमणियों एवं ऐतिहासिक टिप्पणियों के साथ ही दिया जाय, क्योंकि उससे पूर्व, उक्त परिशिष्टों आदि के अभाव में और सम्पूर्ण ग्रन्थ की मुद्रित प्रति को सामने रक्खे बिना कोई ऐसा वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं हो सकता था जो प्रचलित भ्रान्तियों को दूर करके आधुनिक विद्वानों को आश्वस्त कर सके। अतः प्रथम खण्ड में केवल दीक्षाप्रकरण-विषयक मूल भाग को ही दिया जा रहा है।

प्रस्तुत खण्ड को मेरे सहयोगी श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने बड़े परिश्रम से सम्पादित किया है। प्रेस-कापी-निरीक्षण, पाठ-शोधन, प्रूफ-संशोधन आदि सारा कार्य श्रीगोस्वामीजी ने किया है और इस विषय में उन्होंने मुझसे जो भी परामर्श किया उससे मैं उनके तन्त्र-सम्बन्धी ज्ञान को जानकर बहुत प्रभावित हुआ। तन्त्र के व्यवहारपक्ष का जो ज्ञान उन्हें अपनी पैतृक परम्परा से प्राप्त है उससे मुझे निगम, सिन्धुमुद्रा-लेख तथा आगम के बीच स्थित संबन्ध को समझने में बड़ी सहायता मिली है अतः मैं इसके लिए उनका हृदय से उतना ही आभारी हूँ जितना उनके सम्पादन-प्रयत्न के लिए।

इसके साथ ही मैं प्रकाशनविभाग के अध्यक्ष म० विनयसागर तथा समयसार प्रेस के स्वामी श्रीकैलाश माधव कालिया को भी अपना धन्यवाद अर्पित करता हूँ, क्योंकि इनकी तत्परता के विना यह ग्रन्थ इतनी शीघ्रता के साथ नहीं निकल पाता। आशा है, विद्वान् इस खण्ड का उपयोग करेंगे, तब तक ग्रन्थ के अन्य खण्ड भी प्रकाशित हो जायेंगे।

फतहसिंह

१ जनवरी १९७० ईस्वी

विषयानुक्रमः

प्रथमस्तरङ्गः [पृष्ठ–१-५२]

द्वितीयस्तरङ्गः [पृष्ठ–५३-११५]

तृतीयस्तरङ्गः [पृष्ठ–११६-१६१]

चतुर्थस्तरङ्गः (पृष्ठ–१६२-१६८)

पञ्चमस्तरङ्गः [पृष्ठ—१९९-२४५]

षष्ठस्तरङ्गः [पृष्ठ–२४६-२७९]

दीक्षाविधिः

सप्तमस्तरङ्गः [पृष्ठ–२८०-३११]

अष्टमस्तरङ्गः [पृष्ठ–३११-३५०]

नवमस्तरङ्गः [पृष्ठ—३५०-३६९]

दशमस्तरङ्गः [पृष्ठ—३७०-३९६]

एकादशस्तरङ्गः [पृष्ठ–३९७-४२७]

द्वादशस्तरङ्गः [पृष्ठ–४२८-४५०]

त्रयोदशस्तरङ्गः [पृष्ठ–४५१-४६२]

चतुर्दशस्तरङ्गः [पृष्ठ–४६३-४८४]

गोस्वामि श्री शिवानन्द भट्ट प्रणीतः

सिंहसिद्धान्तसिन्धौ

[प्रथमः खण्डः]

गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टप्रणीतः

सिंहसिद्धान्तसिन्धुः

प्रथमस्तरङ्गः

॥ श्रीमहागणपतये नमः ॥

[मङ्गलाचरणम्]

यस्यांघ्रिद्वयपूजनेन निखिलाः सिद्धीर्लभन्ते नराः,
वृद्धीः प्राप्य वसन्ति वेश्मसु परास्तेषां समाः सम्पदः ।
भक्तस्वान्तनितान्तमोहदलने दक्षं विपक्षं वरं,
विघ्नानां प्रणमाम्यनारतमहं तं श्रीगणाधीश्वरम् ॥१॥

सर्वं संतमसावृतं जगदिदं भाभिः समुद्भासय-
न्नम्भोजानि विकासयन्विरहिणः कोकान्समाश्वासयन् ।
शीतांशुं परिहासयन् गतरुचिं संत्रासयन्वैरिणो
भक्तक्लेशमुदासयन्स भवतु क्षेमाय भासां पतिः ॥२॥

अंसासक्तोत्तमस्रग्वनभुवि सततं यो रिरंसानुरक्तो
गुञ्जोत्तंसाभिरामः प्रतिभयसमरे यो नृशंसारिहन्ता ।
भक्ताशंसाभिपूर्त्तौ सकरुणहृदयो यो बलं सावलेपं,
बिभ्रद्धंसाभकीर्तिर्वितरतु विविधं शर्म कंसाहितस्ते ॥३॥

भाले प्रालेयरश्मिं दधदतिरुचिरं शोभने कण्ठदेशे,
तारं हारं फणीन्द्रैः फणमणिसुभगैर्निर्मितं दीप्तिमन्तम् ।
वामां वामांगदेशे नलिननिभमुखीमुन्मुखीमिष्टदाने,
भक्तानां विश्ववन्द्यो भसितसिततनुः शं विधत्तां महेशः ॥४॥

उदारचरिताद्भुता सुरगणैः समस्तैः स्तुता,
युता निखिलसद्गुणैर्द्रुतधुताघसङ्घा नृणाम् ।
कृपाकलितसेवनोद्यततमात्मभक्तायुता,
शुभं तव निरन्तरं कलयतु क्षमाभृत्सुता ॥५॥

कर्पूरस्फुटकैरवेश्वरगिरिप्रालेयगोत्राधरः ,
स्वःसिन्धूदकपूर्णशारदविधुस्वच्छप्रभाभासुराम् ।
सद्वृत्तामलमौक्तिकावलिकृतैर्भूषागणैर्भूषितां ,
वाग्गुम्फाद्भुतशक्तिदाननिपुणां वागीश्वरीमाश्रये ॥६॥

[वंशप्रशस्तिः]

दृप्यद्वैरिसमुच्चयक्षयकरः कीर्तिद्युतिद्योतिता -
ऽशेषाकाशदिगन्तरः पटुतरः प्राज्ञौघवित्तार्पणे ।
राजद्राजसभासभाजितगुणग्रामोऽभिरामो भृशं ,
भक्तः श्रीनृहरेर्विभाति भुवने **बुन्देलभूपान्वयः** ॥७॥

यत्पाणी नृहरेः सदैव चरणावानर्चतुः सादरं ,
दाने चांघ्रियुगं महीदिविषदां प्रक्षालयाञ्चक्रतुः ।
युद्धे चिक्षिपतुश्च मार्गणगणं हन्तुं परानीकिनीं ,
त्रैलोक्यप्रथिताह्वयो **मधुकरो** राजा स यत्राऽभवत् ॥८॥

संफुल्लानि तनोति सर्वसुजनस्वान्ताम्बुजन्मानि या ,
सौख्यं व्यातनुते श्रुता श्रवणयोः स्तुत्या कवीन्द्रव्रजैः ।
स्वर्लोके बलिसद्मनि क्षितितले यस्याः प्रकाशोऽनिश ,
ख्याता चित्रचरित्रयुग्विजयते यत्कीर्त्तिसत्कौमुदी ॥६॥

यदीयनाराचहता रणाग्रे, नाराचतामापुरहो द्विषन्तः ।
तीक्ष्णाः सपक्षास्तपनस्य बिम्ब, भित्वा द्रुत यद्विविशुर्दिवं ते ॥१०॥

सन्मानदाननिपुणस्तु तदात्मजन्मा, सन्मानसस्थहरिभक्तिरुदारशक्तिः ।
कौक्षेयकक्षतविपक्षजनो जगत्यां, **श्रीरामसाहिरिति** नाम नृपो बभूव ॥११॥

रामाख्यो भक्तिभरेण तुष्टास्तस्मै ददुः स्वीयगुणान्समस्तान् ।
लोकास्ततस्तं प्रथितप्रभाव, श्रीराम इत्येव समाख्ययोचुः ॥१२॥

युद्धे युद्धविदोऽर्जुनं नयविधौ धीरा गिरामीश्वरं,
सौन्दर्ये सुदृशः स्मरं महसि यं तेजस्विनो भास्करम् ।
धर्मे धर्मविदोऽपि धर्मतनयं दानेऽर्थिसार्था बलिं,
मन्यन्ते स्म महीतले समभवच्छ्रीरामसाहिर्नृपः ॥१३॥

आसीत्तदीयतनयो विनयोपपन्नः , स्वच्छाशयो बहुदयो विबुधव्रजेषु ।
युद्धे निकाममभयो विजयोर्जितश्रीः, **संग्रामसाहिरि**ति भूमिपतिः प्रसिद्धः ।।१४।।

यत्सैन्ये चलिते प्रचेलुरचला जाता स्थिराऽप्यस्थिरा,
धूलीभिर्निचिते वरे समभवद्भास्वानभास्वानलम् ।
अत्युच्चध्वजसंकुले सुरपथे भूदासगो नाशुगो,
मेदिन्यां स बभूव भूरिविभवः संग्रामसाहिर्नृपः ।।१५।।

तस्यात्मजो बलरजोभररुद्धभानुर्द्दप्तद्विषद्दलनतीव्रमहःकृशानुः ।
अत्यद्भुतो गुणगणैः प्रथितो धरण्यां, **श्रीभारतो** बहुलदानरतो बभूव ।।१६।।

यत्सैन्याखर्ववाजिव्रजखुरनिकरक्षुण्णभूमीरजोभिः,
छन्नं मार्त्तण्डबिम्बं समभवदखिलं वृष्टिकाले यथाभ्रैः ।
यस्येभान्वीक्ष्य मेघप्रतिमतनुरुचीन् सम्पराये जनौघा-
नाद्रिभ्रान्ति तदापुर्यदिह मघवता सन्ति ते लूनपक्षाः ।।१७।।

तेरुः केऽपि नदीर्वनेषु विकलाश्चेरुर्निगूढ़ाः परे,
शैलानारुरुहुः श्रमेण मुमुहुश्चान्ये क्षुधाबाधिताः ।
भेजुः केचन भिक्षुवेषमपरे रेजुर्वधूरूपिणः,
श्रुत्वा शत्रुनृपाः प्रयाणपटहं श्रीभारतक्ष्मापतेः ।।१८।।

अत्युच्चैर्द्विरदा घना भटरवो भीमो भृशं गर्जितं,
दीप्ताः खड्गलताश्च यत्र तडितो बाणास्तु धारोत्कराः ।
येनेत्थं विषमो व्यधायि समरो मेघागमस्तद्भवा
रक्तौघाः सरितोऽसृजन्निरुपमो वीरोऽभवद्भारतः ।।१९।।

यत्कीर्त्तिः कविकीर्त्तनीयमहिमा चक्रे त्रिलोकीं सितां,
हित्वा यद्रिपुभूभुजामपयशो विद्वेषबुध्या परम् ।
तत्तु श्वैत्यमवाप्तुमात्मकलुषं त्यक्तुं द्विजानां पतिं,
शुभ्रांशुं शरणं गत तदधुनाऽप्याऽऽस्ते तदङ्कच्छलात् ।।२०।।

यस्माद्दानमवाप्य भूरिभवनं स्वीयं यतामर्थिनां,
मार्गेऽन्ये मिलितावनीपकगणास्तद्भूपतो लिप्सवः ।

तेभ्यस्तैस्तु तथा समीहितधनं दत्तं यथा तोषिता -
स्ते याताः स्वगृहानभून्द्भुवि नृपो दातेदृशो भारतः ।।२१।।

तत्सूनुः परिपन्थिमन्थिविलसद्वीरोऽतिधीरो रणे,
वल्गत्तुङ्गतुरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षमामण्डलः ।
दानाम्भःशमितार्थिनैस्वदहनः ख्याताभिधानः क्षितौ,
देवीसिंहनरेश्वरो निरुपमो राजोत्तमो राजते ।।२२।।

निकामं कामं यो जयति निजरूपेण सुधिया,
नये देवाचार्यं हरिचरणसेवावशमनाः ।
स किं दारिद्र्यारिर्विबुधनगतो लोचनपथं,
नृपो देवीसिंहो यदक्षिविपदाविह्वलतमः ।।२३।।

व्यक्तीकुर्वन्ति दानं मदकलकरिणो विग्रहे यत् स्वकीये,
तन्मन्ये स्वप्रभूणां स्वविषयकममी बोधयंत्येव दानम् ।
एतत्तद्भावबोधस्तव परमभवद्भारताधीशसूनो !
यत्त्वं मत्तान्महेभान्वितरसि सततं दानिनो याचकेभ्यः ।।२४।।

देवीसिंह ! महीमहेंद्र ! भवतः प्रौढप्रतापोदये,
त्रासादौज्झि परस्परं क्षितितले वैरं समस्तैर्नरैः ।।
तच्चित्रं न यतस्तदीयविदुषां गेहेषु वासोऽनिशं,
हित्वाऽन्योन्यविरोधमद्भुततमो देव्योरपि श्रीगिरोः ।।२५।।

या नैवोष्णकरं कदापि ददृशुर्यासां न चेलाञ्चलं,
कम्प्रं गंधवहश्चकार न दधुर्भूमौ स्वतल्पात्पदम् ।
देवीसिंह ! तवारिवर्गवनिता घर्मेण शुष्कानना
वात्याप्रोत्थरजोमलीमसरुचो व्यग्रा भ्रमन्त्यद्रिषु ।।२६।।

देवीसिंह ! भवद्भयेन रिपवस्त्रस्ताः समस्तास्तथा,
वाक्यानि ब्रुवतो हि यत्र भवतो नामाक्षराणि स्फुटम् ।
भिक्षां देहि नृपाधिराज ! न वयं वीरा न सिंधोरपि,
प्रान्ते सद्गतिरस्ति देव ! शरणं त्वं मेऽथवैको हरिः ।।२७।।

सौन्दर्ये कुसुमेषयन्तकि बुधाः श्रीभारतेशात्मजं,
शीलत्वे शचिकान्तयन्तकि नये वागीशयन्तक्यमी ।

दाने कल्पपलाशयन्ति समरे सेनानयंत्युद्भटे,
तेजस्युष्णगयन्ति पालनविधौ श्रीविष्णयन्ति क्षितेः ॥२८॥

राजानः केऽपि शूरा अधिधरणि परे स्थूललक्षा नयज्ञाः,
केचित्काव्येष्वभिज्ञा नृपतिलक ! परे केऽपि सौजन्यवन्तः ।
देवीसिंह ! त्वमन्यैः प्रगुणगुणगणैस्तैश्च युक्तस्ततस्ते,
सम्यङ्नो राजवाच्यास्त्वमसि परमिह प्राणतो ब्रह्म यद्वत् ॥२९॥

आसते भुवि नृपाः सहस्रशो, भारतात्मज ! न ते भवत्समाः ।
नन्दने कति न संति शाखिनः, कोऽपि कल्पतरुसन्निभः श्रुतः ॥३०॥

सिंधुर्यथा निजजलं बहुलं घनेभ्यो विश्राणयन्नपि सदा परिपूर्ण एव ।
एवं भवानपि ददन् द्रविणं द्विजेभ्यः, श्रीभारतात्मज ! तदाढ्यतमोऽस्तु नित्यम् ॥३१॥

यावद्राज्यं विधत्ते विबुधपतिरसौ स्वर्गलोकस्य शक्रः ,
सृष्टिं नानाप्रकारां रचयति रुचिरां यावदार्यः स्वयम्भूः ।
यावल्लोके स्वकीये विलसति विबुधैर्वर्णितः पद्मनाभो
देवीसिंहः क्षितीन्द्रः प्रगुणगुणयुतस्तावदव्यादनन्ताम् ॥३२॥

आसीत्तस्य गुरोर्गुरुर्गुणगणैर्मन्त्राब्धिपारंगमः ,
श्रीगोस्वामिजगन्निवास इति सन्नाम्ना जगद्विश्रुतः ।
यस्याज्ञावशवर्त्तिनः क्षितिभुजस्ते तेऽभवन् भूरिशो
येषां कीर्त्तिरतीव भाति भुवने दाने कृपाणेऽपि च ॥३३॥

तत्तातस्तु तथाऽभवद्भुवसमः **श्रीश्रीनिवासः** कृती,
ज्ञानोदारकुठारदारितजगज्जाड्योरुभूमीरुहः ।
नानातन्त्रविबोधमाप्य मनुजा यस्यानुकम्पानिधेः,
शिष्या दैवतसेवनैरभिमतामह्नाय सिद्धिं गताः ॥३४॥

यस्यांघ्रिपद्मकृपया प्रथितः पृथिव्यामेतादृगत्र जयति स्म जगन्निवासः ।
यः सर्वसिद्धिसहितो जगति द्विजानां, तोषं व्यधादविरतं विविधोपकारैः ॥३५॥

ज्येष्ठस्तस्य सुतो जनोदित**शिवानन्दा**भिधानः क्षितौ,
श्रीविद्याचरणारविन्दयुगलध्यानैकतानोऽनिशम् ।
देवीसिंहनृपेण धर्मकलितस्वांतेन संप्रार्थित -
स्तत्प्रीत्यै वितनोति धार्मिकजनश्रव्यं निबन्धोत्तमम् ॥३६॥

गुरुचरणसरोजानुग्रहप्राप्तबोधः, श्रवणजनितभक्तस्वान्तभूरिप्रमोदः ।
निखिलमनुरहस्योद्बोधकोऽयं निबन्धो जयतु जगति नाम्ना **सिंहसिद्धान्तसिंधुः** ॥३७॥

[ग्रन्थानुक्रमः]

अत्र प्रातःकृत्यमादौ प्रोक्तं स्नानविधिस्ततः ।
पश्चाद्वासोधारणं च ततस्तिलकधारणम् ॥१॥

संध्याविधिस्तर्पणञ्च नद्यादेः स्वगृहागमः ।
ततः सूर्यार्घ्यदानञ्च श्रीशिवस्यार्च्चनं[1] ततः ॥२॥

अर्चनं द्वारे देवानां[2] तेषां ध्यानमपीरितम् ।
आसनानि ततः प्रोक्तं पूजाद्रव्यविशोधनम् ॥३॥

करशुद्धिश्च दिग्बन्ध'स्ततः प्राकारमानलम्'[3] ।
प्राणायामविधिः पश्चाद्भूतशुद्धिः समीरिता ॥४॥

ततः प्राणप्रतिष्ठा च मातृकान्यसनं ततः ।
तद्भेदा निखिलाः प्रोक्तास्तन्न्यासोत्थं फलं ततः ॥५॥

स्वोपास्यमन्त्रऋष्यादि-षडङ्गन्यसनं ततः ।
ततः समीरितो न्यासो योगपीठस्य सिद्धिदः ॥६॥

मूलमन्त्राङ्गभूतानां न्यासानां न्यसनं ततः ।
ततो मुद्रादर्शनं च मुद्राणां लक्षणानि च ॥७॥

ध्यानं च स्वेष्टदेवस्याप्यन्तर्यागविधिस्ततः ।
पूजाचक्रस्य निर्माणं प्रतिमायाश्च विस्तरात् ॥८॥

शालग्रामशिलानां तु लक्षणान्यर्चनाफलम् ।
शिवलिङ्गस्य निर्माणं पश्चाद्देवस्थितिक्रमः ॥९॥

ततस्त्वर्घादिपात्राणि तत्स्थापनविधिस्ततः ।
आत्मपूजाविधिर्योगपीठपूजाविधिस्ततः ॥१०॥

स्वेष्टदेवावाहनं च स्थापनाद्यखिलं ततः ।
आवाहनादिमुद्राणां लक्षणं तत्प्रदर्शनम् ॥११॥

---

१. क. शिवस्यार्चनं । २. ख. द्वारदेवानां । ३. '-' ख. प्राकारत्रयमानलम् ।

उपचारास्ततः प्रोक्तास्तेषां च परिकल्पनम् ।
गन्धपुष्पविचारश्च विस्तरेणेरितस्ततः ॥१२॥

लयांगपूजनं प्रोक्तमथावरणपूजनम् ।
अनन्तरं धूपदीपनैवेद्यानां समर्पणम् ॥१३॥

अथासनादिमुद्राणां लक्षणान्यखिलानि तु ।
बलिदानं ततः प्रोक्तं नित्यहोमविधिस्ततः ॥१४॥

ततस्ताम्बूलदानं च नीराजनमथेरितम् ।
ततो नित्यजपः प्रोक्तः स्तुतिश्चैव प्रदक्षिणा ॥१५॥

नमस्कारास्ततः प्रोक्तास्ततो देवविसर्जनम् ।
नैवेद्यस्वीकृतेश्चैव विचारोऽथ निरूपितः ॥१६॥

नित्ये नैमित्तिके लुप्ते प्रायश्चित्तमपीरितम् ।
अथ प्रवासदुर्गादौ प्रोक्तं मानसपूजनम् ॥१७॥

आतुरीप्रमुखा भेदाः पूजायाश्चेरितास्ततः ।
अनिर्माल्यं सनिर्माल्यमर्चनं च द्विधेरितम् ॥१८॥

यतीनां च गृहस्थानामधिकारोऽपि तत्र वै ।
अथाभिगमनाद्याश्च पूजाभेदा निरूपिताः ॥१९॥

नित्यपूजाप्रयोगश्च ततः सम्यगुदीरितः ।
ततो दीक्षाविधिस्तत्र दीक्षाभेदाः पुरेरिताः ॥२०॥

दीक्षाया ग्रहणार्थं तु श्रीगुरोर्मुख्यता ततः ।
लक्षणानि गुरोः पश्चात् सच्छिष्यस्येतरस्य च ॥२१॥

अधमत्वादि शिष्याणां परीक्षा गुरुशिष्ययोः ।
वर्णदीक्षानुरूपस्तु कालोऽप्यत्र[1] निरूपितः ॥२२॥

शूद्रदीक्षाविचारश्च मन्त्रा वर्णोचितास्ततः ।
ब्रह्मादिभेदा मन्त्राणां तद्बोधोपाय एव च ॥२३॥

मंत्रदोषाश्च बहवस्तन्निरासविधिस्तत : ।
अथ ऋणादिचक्राणि[2] रिपुमन्त्रोज्झने विधिः ॥२४॥

---

१. ख. ऽव्यथ । २. ख. ऋक्षादिचक्राणि ।

अथ मासादिशुद्धिस्तु ततो भूमिपरीक्षणम् ।
समीकरणकं भूमेः प्राचीसाधनमेव च ॥२५॥

ततो मण्डपनिर्माणं कुण्डानां निर्मितिस्ततः ।
ततः स्थण्डिलनिर्माणं स्रुक्स्रुवावीरितौ ततः ॥२६॥

वास्तुपूजा ततः प्रोक्ता प्रोक्तं चैवाङ्कुरार्पणम् ।
श्रीगुरोर्वरणं चैव तत्कृत्यानि ततस्ततः[1] ॥२७॥

सर्वतोभद्रमुख्यानां मण्डलानां च निर्मितिः ।
अथ कुम्भस्थापनं च कुम्भे देवस्य पूजनम् ॥२८॥

होमो बलिस्ततः प्रोक्तं ताम्बूलादिसमर्पणम् ।
सशिष्यस्य गुरोः प्रोक्तं ततस्तु चरुभोजनम् ॥२९॥

ततः शिष्यस्य शयनं ततः स्वप्नपरीक्षणम् ।
सुस्वप्नाश्चैव दुःस्वप्नास्ततः स्वप्ननिवेदनम् ॥३०॥

अथाग्निस्थापनं प्रातः कुण्डेषु हवनं ततः ।
ऋष्यादीनां[2] बलिः प्रोक्तस्ततः शिष्याध्वशोधनम् ॥३१॥

प्रोक्तः शिष्यस्याभिषेकः कुम्भस्थेनाम्भसा ततः ।
मूलमन्त्रस्योपदेशस्ततो गुरुनमस्कृतिः ॥३२॥

गुरोश्च दक्षिणा प्रोक्ता ब्राह्मणानां च भोजनम् ।
अथान्या वर्णमय्याद्या दीक्षाः सर्वास्समीरिताः ॥३३॥

अथ प्रोक्तः सदाचारः पादुकाचार एव च ।
अथोक्तः समयाचारो होमद्रव्यमितिस्ततः ॥३४॥

अथानलस्य वर्णाद्या विस्तरेण समीरिताः ।
ततो दीक्षाप्रयोगश्च सुबोधः कथितोऽखिलः ॥३५॥

अथ पूर्णाभिषेकस्तु ततो नैमित्तिकार्चनम् ।
अथ पौरश्चरणिको विधिः सर्वो निरूपितः ॥३६॥

तत्र प्रोक्तं प्रथमतः पुरश्चरणलक्षणम् ।
स्थानानि जपयोग्यानि ततो भूमिपरिग्रहः ॥३७॥

---

१. ख. ततो गुरोः । ख. ऋक्षादीनां । इन्द्रादीनामित्यपि पाठः क्वचित् ।

तेषां प्रतिष्ठाऽप्यन्येषामक्षाणां सा निरूपिता ।
करमाला ततः प्रोक्ता जपश्च विहितानि च ॥३८॥

अथोक्तानि निषिद्धानि जपारम्भोचितो विधिः ।
अथ भोज्यानि शयनं प्रातःस्वप्ननिवेदनम् ॥३९॥

ततस्तु सिद्धिचिह्नानि ततो होमाद्युदीरितम् ।
पौरश्चरणिकः प्रोक्तः प्रयोगस्तदनन्तरम् ॥४०॥

मन्त्रसिद्धेरुपायास्तु ततोऽन्येऽपि समीरिताः ।
काम्यपूजाविधिः सर्वो विस्तरेणाथ भाषितः ॥४१॥

काम्यपूजाप्रयोगोऽथाप्यग्निचक्रविचारणा ।
अथो गाणपता मन्त्रा उक्ताः सकलसिद्धिदाः ॥४२॥

तेषु प्रोक्तः प्रथमतो महागणपतेर्मनुः ।
अथैकाक्षरमन्त्रस्य भेदा उक्ताः सुसिद्धिदाः ॥४३॥

हरिद्रागणपस्याथ चिरिविघ्नेश्वरस्य[1] च ।
ततः शक्तिगणेशस्य प्रोक्तं मन्त्रचतुष्टयम् ॥४४॥

ततो लक्ष्मीगणेशस्य ततः क्षिप्रप्रसादनः ।
हेरम्बस्य ततो मन्त्रो मालामंत्रश्च भाषितः ॥४५॥

ततः सुब्रह्मण्यमनुर्वक्त्रतुण्डमनुत्रयम्[2] ।
उच्छिष्टगणपस्याथ प्रोक्तं मन्त्रचतुष्टयम् ॥४६॥

सौरा मन्त्रास्ततः प्रोक्तास्तेष्वाघोराक्षरो[3] मनुः ।
भेदास्तस्योदिता अन्ये त्र्यक्षरश्च ततो मनुः ॥४७॥

ततः षडर्णः सप्तार्णो मनुर्मार्त्तण्डभैरवः ।
चतुर्वर्णो मनुः प्रोक्तो भुवनेश्यधिदैवतः ॥४८॥

अथाजपाख्यः संप्रोक्तो विशेषस्तस्य चेरितः ।
ततश्चांद्रो मनुः प्रोक्तो भौमस्य च बुधस्य च ॥४९॥

गुरोः शुक्रस्य सौरेश्च राहोः केतोरपीरितः ।
हुताशनस्य संप्रोक्तास्ततो मन्त्राः सुसिद्धिदाः ॥५०॥

---

१. ख. विरिविघ्नेश्वरस्य । २. ख. ०कक्रतुण्ड० । ३. ख. तेष्वाद्योऽष्टाक्षरो ।

ततस्तु वैष्णवा मन्त्राः प्रोक्ताः सर्वसुसिद्धिदाः ।
तेषु नारायणस्योक्तः पुरा वस्वक्षरो मनुः ॥५१॥

ततो हरिहरस्योक्तः श्रीकरस्याथ भाषितः ।
तत्ववर्णस्ततः प्रोक्तो मन्त्रो नारायणस्य तु ॥५२॥

वासुदेवस्याथ मनुर्लक्ष्मीपूर्वस्य तस्य च ।
पुरुषोत्तममन्त्रौ च ततः प्रोक्तौ सुसिद्धिदौ ॥५३॥

ततो हृषीकेशमन्त्रः श्रीधरस्येरितस्ततः ।
अच्युतेत्यादिमन्त्रस्तु ततस्तस्य मनुत्रयम् ॥५४॥

हयग्रीवस्य[1] मन्त्राश्च ततः प्रोक्ताः सुसिद्धिदाः ।
अथो धराहृत्संज्ञौ च वाराहा मनवस्ततः ॥५५॥

ततो नृसिंहमन्त्रास्तु वामना मनवस्ततः ।
सुदर्शनस्य मन्त्रौ द्वौ राममंत्रास्ततोऽखिलाः ॥५६॥

ततो हनूमन्मन्त्रस्तु मुकुन्दस्य मनुस्ततः ।
अथ श्रीकृष्णमन्त्रास्तु सर्वे प्रोक्ताःसुसिद्धिदाः ॥५७॥

उक्तः कामस्य मन्त्रोऽथ कार्त्तवीर्यमनुस्ततः ।
अथ प्रोक्ता महेशस्य मन्त्राः सकलसिद्धिदाः ॥५८॥

तेषु पूर्वं पञ्चवर्णः प्रोक्तः स च षडक्षरः ।
उमामहेश्वरस्योक्तौ ततो मन्त्रौ सुसिद्धिदौ ॥५९॥

ततः प्रासादमन्त्रस्तु प्रोक्तो वस्वर्णकस्ततः ।
मृत्युंजयस्य मन्त्रोऽथ प्रोक्त आरोग्यदो नृणाम् ॥६०॥

ततः श्रीदक्षिणामूर्त्तेस्त्रयो मंत्राः समीरिताः ।
मनुत्रयं नैलकण्ठं ततः पाशुपतो मनुः ॥६१॥

अथाघोरास्त्रमंत्रश्च चिन्तामणिमनुस्ततः ।
ततस्तुंबुरुबीजं च मन्त्रोऽथो खाङ्गरावणः ॥६२॥

ततो वटुकमंत्रश्च क्षेत्रपालमनुस्ततः ।
श्रीप्रासादपरामन्त्रः पराप्रासादसंज्ञकः ॥६३॥

---

१. ख. हयग्रीवास्य ।

मन्त्रः प्रोक्तस्ततो मृत्युहन्ता त्रैयम्बको[1] मनुः ।
अथ नानाविधाः प्रोक्ताः शक्तिमन्त्रास्तु सिद्धिदाः ॥६४॥

तेष्वादौ भुवनेश्यास्तु प्रोक्तमन्त्राः[2] सुसिद्धिदाः ।
ततः सारस्वता मंत्रा मातृकामंत्रपूर्वकाः ॥६५॥

लक्ष्मीमंत्रास्ततः प्रोक्ताः सर्वसम्पत्समृद्धिदाः ।
मातङ्गीमनवः प्रोक्तास्ततो वश्यादिसिद्धिदाः ॥६६॥

ततस्तु सुमुखीमंत्रो दुर्गामंत्रास्ततोऽखिलाः ।
ततस्तु भैरवीमंत्राः प्रोक्ताः सर्वेप्सितप्रदाः ॥६७॥

ततोऽन्नपूर्णामंत्रास्तु प्रोक्ता अन्नसमृद्धिदाः ।
अन्नप्रदाख्यमंत्रोऽथ ततः कामेश्वरीमनुः ॥६८॥

पञ्चबाणेश्वरीमंत्रः पञ्चकामेश्वरीमनुः ।
कामेश्यास्त्र्यक्षरो मंत्रो बगलास्यामनुस्ततः ॥६९॥

ततस्तु त्रिपुटामंत्र उक्तः शक्तिमनुस्ततः ।
अश्वारूढामनुरथो उक्तो गौरीमनुस्ततः ॥७०॥

स्त्रीवश्यदो मनुरथो ततः पद्मावतीमनुः ।
ततो ज्येष्ठामनुरथो त्रिकण्टक्या मनुद्वयम् ॥७१॥

त्रयोऽथ वैष्णवीमंत्रा महाकृत्यामनुस्ततः ।
छिन्नमस्तामनुरथो धूमावत्या मनुस्ततः ॥७२॥

ततः श्रीकालिकामंत्रास्तारामंत्रास्ततोऽखिलाः ।
ततश्चमत्कारकर्यो विद्याः सर्वा निरूपिताः ॥७३॥

उक्ता ततः परं ज्योतिर्विद्या निर्वाणदायिनी ।
परनिष्कलदेव्यास्तु ततो विद्या समीरिता ॥७४॥

ततः संजीवनीविद्ये वाराह्याश्च मनुस्ततः ।
कुरुकुल्लामनुरथो यक्षिणीमनवस्तथा ॥७५॥

गायत्रीप्रमुखाः प्रोक्ता वैदिका मनवस्ततः ।
श्रीविद्यायास्ततो मंत्राः सविधाना निरूपिताः ॥७६॥

---

१. ख. त्रैयंचको । २. ख. प्रोक्ता मन्त्राः ।

प्रोक्ताः पंचदशानां तु नित्यानां मनवस्ततः ।
त्रिविधाः पुरुषाः सन्ति रजःसत्वतमोगुणैः ॥७७॥

तथैव प्रकृतिस्तेषां श्रद्धाश्चैव तथाविधाः ।
कल्पिता आगमग्रन्थास्तद्धितार्थं सविस्तराः ॥७८॥

तथा नानाविधा मार्गा गिरिजापतिना स्वयम् ।
यथा वेदेऽपि दृश्यन्ते प्रयोगाः कामनाप्रदाः ॥७९॥

तथैवागममध्येऽपि संसारस्य प्रवृत्तये ।
सर्वे नैव तु सर्वेषामिति शास्त्रस्य निर्णयः ॥८०॥

अधिकारिणां तु फलदानं तथाऽनधिकारिणामित्युक्तत्वादस्माभिरत्र सर्वेऽप्युपासनामार्गा निरूप्यन्ते । यस्य यत्राधिकारस्तेन तस्याभ्युपगमो विधेयः । सर्वेषां मन्त्राणां दीक्षापूर्वकग्रहणोत्तरजपस्य फलदायकत्वाद्दीक्षायां यथोक्तविधिना देवतापूजनस्यावश्यकत्वात्तद्विधिः प्रथमं प्रदर्श्यते—

नारदपञ्चरात्रे—

निशावसाने शयनात्स्मृत्वा नारायणं प्रभुम् ।
उत्थाय दक्षिणाङ्गेन वामपादं न्यसेद् भुवि ॥८१॥

निशावसाने पश्चिमयामे ।

कच्चिद्द्वौ मध्यमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशां पते ।
संचिन्तयन्ति[1] धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥८२॥

इति **महाभारते**--तत्रैवोत्थानोक्तेः नारायणमित्युपलक्षणम् ।
तेन स्वेष्टदेवतां स्मृत्वेत्यर्थः ।

सारसंग्रहे—

रात्रिशेषे समुत्थाय कृत्वाऽऽवश्यकमादरात् ।
रात्रिवासः परित्यज्य वाससी परिधाय च ॥८३॥

आचम्य शुद्धदेहः सन्देवतायागमन्दिरम् ।
मार्जयित्वोपलिप्याथ भक्तियुक्तः स्वशक्तितः ॥८४॥

उपविश्य शुचौ देशे प्राङ्मुखः प्रोक्त आसने ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा कृत्वा न्यासं विधानतः ॥८५॥

---

१. ख. सञ्चिन्तयसि ।

न्यासं ऋष्यादिन्यासं तस्यैव तदानीमावश्यकत्वात् ।
निर्माल्यमपकृष्याथ दद्यात्पुष्पाञ्जलिं तथा ।

शारदातिलकटीकायाम्—

तृषाक्रान्तः पशुर्बद्धः कन्यका च रजस्वला ।
देवता च सनिर्माल्या हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥८६॥

सारसंग्रहे—

अर्घ्यपाद्ये[1] निवेद्याथ दद्याद्वै दन्तधावनम् ।
मुखप्रक्षालनं दत्वा दद्यादाचमनीयकम् ॥८७॥
करयोः[2] प्रोञ्छनायाथ दद्याद्वासोऽमलं शुभम् ।

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

प्रातरुत्थाय देवेशि संस्मरेत्पद्ममुज्वलम् ।
कर्पूराभं स्मरेत्तत्र श्रीगुरुं शिवरूपिणम् ॥८८॥
सुप्रसन्नं लसद्भूषामण्डितं शान्तिभूषितम् ।

भैरवीतंत्रे—

व्योमाम्बुजे कर्णिकमध्यसंस्थे सिंहासने संस्थितदिव्यमूर्त्तिम् ।
ध्यायेद्गुरुं चन्द्रशिलाप्रकाश चित्पुस्तकाभीतिवरं दधानम् ॥८९॥
श्वेताम्बरं श्वेतविलेपपुष्पमुक्ताविभूषं मुदितं त्रिनेत्रम् ।
वामाङ्कपीठस्थितरक्तशक्तिं मन्दस्मितं सान्द्रकृपानिधानम् ॥९०॥
रक्ताङ्गरागाभरणाम्बराढ्यां स्मेराननां पीनकुचां प्रियाङ्गे ।
वामे निषण्णामतिरक्तकान्ति वामेन लीलाकमलं करेण ॥९१॥
ध्यायेद्दधानामपरेण नाथमाश्लिष्य गाढं द्विभुजां द्विनेत्राम् ।
पद्मं शिरसि ।

तथा च सारसंग्रहे—

गुरुपादाम्बुजद्वन्द्वं निजमूर्द्धनि संस्मरेत् ।
अर्चयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्बहिष्ठैर्मानसैस्तु वा ॥९२॥
नामभिस्तस्य सङ्केतसंसिद्धैर्गुरुकीर्त्तितैः ।
तदज्ञाने गुरुभ्योऽथ नमोऽन्तैर्वा समर्चयेत् ॥९३॥
स्तुवीत स्तुतिभिः प्रीत आचार्यं सर्वसिद्धये ।

---

१. ख. अर्घपाद्ये ।   २. ख. कर स्थ ।

स्तुतयः[1] प्रयोगे वक्ष्यन्ते[2] । प्रातः स्मरणातिरिक्तकाले गुरुध्यानं तु ।

शैवागमे—

दीक्षाकाले यथारूपं स्वस्यानुग्रहकर्मणि ।
दृष्टं तं तेन भावेन ध्यायन्नोह्निकमाचरेत् ॥९४॥

सारसंग्रहे—

इति स्तुत्वा हृदि स्वीये ध्यायेदिष्टां च देवताम् ।
[3]गुरुदेवतयोरैक्यं भावयेच्च निराकुलम्[4] ॥९५॥

शारदातिलकटीकायाम्—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाऽहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्त स्वभाववान् ॥९६॥
इष्टार्थप्रार्थनां कृत्वा ह्याज्ञां संप्रार्थयेत्ततः ।
इष्टदेवस्य भूमेश्च तस्यां श्वासानुसारतः ॥९७॥
विन्यस्य पादमुत्थाय कुर्यादावश्यकीं क्रियाम् ।
आज्ञा प्रार्थनश्लोकाः प्रयोगे लेख्याः ।

यामले—

प्रातः कृत्यमकृत्वा तु यो देवीं भक्तितोऽर्चयेत् ।
तस्य पूजा च विफला शौचहीना यथा क्रिया ॥९८॥

तथा—

इत्थमुच्चार्य लब्धाज्ञो देशिकः शौचमाचरेत् ।

नारदपंचरात्रे—

पदे पदे स्मरेदस्त्रं दूरे यायाद् द्विजालयात् ।
नैऋत्यामिषुनिक्षेपादतीत्याभ्यधिकां भुवम् ॥९९॥

पराशरः—

ग्रामात्क्रमशतं गच्छेन्नगरात्तु चतुर्गुणम् ।

निबन्धे—

दशहस्तं परित्यज्य मलं[5] कुर्याज्जलाशये ।
शतहस्तं पुरीषं तु नदीतीरे चतुर्गुणम् ॥१००॥

---

१. ख. स्तुतिः । २. ख. वक्ष्यते । ३, ख. गुरुदैवतयो० ।
४. ख. निराकुलः । ५. ख. मूत्रं ।

मनुः—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ॥१०१॥

न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ।
न ससत्वेषु गच्छत्सु[1] न गच्छन्नापि वा स्थितः ॥१०२॥

नारदपञ्चरात्रे—

तत उद्वासयेद्देवान्मंत्रेणानेन देशिक. ।
तृणलोष्ठप्रक्षेपेण[2] दत्वा तालत्रयं पुनः ॥१०३॥

उत्तिष्ठंत्वृषयो[3] देवा गंधर्वा यक्षराक्षसाः ।
परितस्त्यज्यतां स्थानं विण्मूत्रोत्सर्जनाय मे ॥१०४॥

अंगिराः—

अन्तर्धाय तृणैर्भूमिं शिरः प्रावृत्य वाससा ।
वाचं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः ॥१०५॥

यमः—

अयज्ञियैरनार्द्रैश्च तृणैः संच्छाद्य मेदिनीम् ।

याज्ञवल्क्यः—

दिवा संध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।
कुर्यान्मूत्रपुरीषं तु रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥१०६॥

मनुः—

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषुच ॥१०७॥

वाय्वग्निविप्रानादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाम् ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥१०८॥

नारदपञ्चरात्रे—

कृत्वा मलच्युतिं तत्र वाससा कं प्रवेष्टयच ।
खं दिशश्च न वीक्षेत ततो यायाज्जलाशयम् ॥१०९॥

---

१. ख. गर्त्तेषु । २. क. तृणत्वोष्ठ० । ३. ख. उत्तिष्ठंत्वृषयो ।

स्मृत्यर्थसारे—

गृहीतशिश्नश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः ।
गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ॥११०॥

एका लिङ्गे करे सव्ये तिस्रो द्वे हस्तयोर्द्वयोः ।
मूत्रशौचं समाख्यातं शुक्रे तु द्विगुणं भवेत् ॥१११॥

त्रिपर्वपूरमात्रा वा मृत्तिकाक्षप्रमाणिका ।
आर्द्रामलकमात्रा वा मूत्रशौचे तु मृत्तिका ॥११२॥

पुरीषे तु—
पंचापाने मृदः क्षेप्याः करे वामे दश स्मृताः ।
करयोः सप्त दातव्याः पुरीषे मृत्प्रमाणकम् ॥११३॥

अर्द्धप्रसृतिमात्राद्या तदर्द्धार्द्धास्ततः[1] पराः ।
एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ॥११४॥
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ।

मदनपारिजाते—

तीर्थे शौचं प्रकुर्वीत नित्यमुद्धृतवारिणा ।
रत्निमात्रं जलं त्यक्त्वा कुर्याच्छौचमनुद्धृतैः ॥११५॥
पश्चात्तु शोधयेत्तीर्थमन्यथा त्वशुचिर्भवेत् ।

निबन्धे—

आजङ्घं क्षालयेन्मूत्रे द्विराचम्य कटिं जले ।

आदित्यपुराणे—

आर्त्तः कुर्याद्यथाशक्ति शक्तः कुर्याद्यथोदितम् ।

कपिलपंचरात्रे—

यद्दिवा विहितं शौचं तदर्द्धं निशि कीर्त्तितम् ।
तदर्द्धमातुरे प्रोक्तमातुरस्यार्द्धमध्वनि ॥११६॥

नारदपंचरात्रे—

पथि शौचं प्रकर्त्तव्यं देशकालानुरोधतः ।
गंधलेपमपास्यैव मनःशुद्ध्या विशुद्ध्यति ॥११७॥

---

१. ख. तदर्द्धार्द्धस्ततः ।

निबन्धे—

एकैकया मृदा पादौ हस्तौ प्रक्षालयेत्ततः ।

मरीचिः—

तिसृभिश्च[1] तलात्पादौ शोध्यौ गुल्फात्तथैव च ।
हस्तौ त्वामणिबन्धाच्च गंधलेपापकर्षणम् ।।११८।।

नारदपञ्चरात्रे—

शौचं कृत्वा यथाशास्त्रं विधिनाऽऽचमनं ततः ।
दन्तकाष्ठं ततो भुक्त्वा स्नायात्तदनु नारद ।।११९।।

प्रयोगपारिजाते आचार्यः—

कुर्याद् द्वादश गण्डूषान् पुरीषोत्सर्जने द्विजः ।
मूत्रे चत्वारि गण्डूषान् भोजनान्ते तु षोडश ।।१२०।।
भक्ष्यभोज्यावसानेषु गंडूषाष्टौ विधीयते ।

निबन्धे—

पुरतः सर्वदेवानां दक्षिणे पितरस्तथा ।
ऋषयः पृष्ठतः सर्वे वामे गण्डूषमुत्सृजेत् ।।१२१।।

याज्ञवल्क्यः—

अन्तर्जानु शुचौ देशे उपविष्ट उदङ्मुखः ।
प्राग्वा[2] ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ।।१२२।।
कनिष्ठादेशिन्यंगुष्ठमूलान्यग्रकरस्य च ।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ।।१२३।।

अत्रिः—

मुखे पर्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतो नरः ।
तदार्द्रकाष्ठं शुष्कं वा भक्षयेद्दन्तधावनम् ।।१२४।।
मंत्रमाह ।

विष्णुः—

आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च ।
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वन्नो धेहि वनस्पते ।।१२५।।

---

१. ख. तिसृभिश्चा । २. ख. प्रग्वा ।

दक्षिणामूर्तिसंहितायाम्—

क्लीमन्ते कामदेवाय सर्वान्ते जन चालिखेत् ।
प्रियायेति हृदन्तोऽयं मनुर्दन्तविशुद्धये ॥१२६॥
अस्योद्धारः प्रयोगे ।

गर्गः—

दशाङ्गुलन्तु विप्राणां क्षत्रियाणां नवाङ्गुलम् ।
अष्टांगुलन्तु वैश्यानामितरेषां षडङ्गुलम् ॥१२७॥

नारदः—

खदिरश्च करंजश्च करवीरकदम्बकौ ।
सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः ॥१२८॥
जम्बूतिन्दुकचूताश्च कदम्बो लोध्रचम्पकाः ।
बदरीतिंदुकाश्चैते प्रशस्ता दन्तधावने ॥१२९॥

पंचमीश्वरीतंत्रे—

प्रत्यहं दन्तकाष्ठं तु प्लक्षकाष्ठन्तु मारणे ।
मोहने खादिरं प्रोक्तं स्तम्भने चूतपल्लवम् ॥१३०॥
वश्ये चाश्वत्थकाष्ठं तु रक्षार्थं वञ्जुलस्य हि ।
अयं क्रमो महादेवि त्रिलोकेषु न विद्यते ॥१३१॥

सारसंग्रहे—

वक्त्रं मूलाणुना न क्षालयेत्सिद्धिहेतवे ।

अथ स्नानं नारदपञ्चरात्रे—

अथाधिकारसिद्ध्यर्थं स्नानं वक्ष्यामि पूर्वतः ।
येन भक्तोऽभिषिक्तस्तु यागहोमार्हतां व्रजेत् ॥१३२॥

वसिष्ठसंहितायाम्—

कृत्वादौ वैदिकं स्नानं ततस्तांत्रिकमाचरेत् ।

पारिजाते याज्ञवल्क्यः—

तत्त्वायामीति मंत्रेण वारुणेन तटे स्थितः ।
उदुत्तममिति स्मृत्वा ह्यवतीर्य जलाशये ॥१३३॥
आवाह्य वरुणं स्नानमाचरेद्विधिपूर्वकम् ।

अपरार्के—

मृदैकया शिरः क्ष्याल्यं द्वाभ्यां नाभिस्तथोपरि ।
अधश्च तिसृभिः कायः षड्भिः पादौ तथैव च ॥१३४॥
क्षालयेत् सर्वकायं तु द्विराचम्य यथाविधि ॥

नारदपञ्चरात्रे—

शङ्कुनास्त्राभिजप्तेन शुचिस्थानात्तु मृत्तिकाम् ।
गृहीत्वास्त्रेण संचित्य[1] यायाज्जलनिकेतनम् ॥१३५॥

तत्रादौ जलकूपं[2] तु क्षालयेदस्त्रवारिणा ।
मृद कृत्वा द्विधा तत्र एकभागोपगं ततः ॥१३६॥

निधाय गोमयं दर्भांस्तिलांश्चाप्यभिमन्त्रितान् ।
लौकिकं गौणमाद्येन भागेनैकेन यत्नतः ॥१३७॥

मलस्नानं पुरा कृत्वा विधिस्नानं समाचरेत् ।

वसिष्ठसंहितायाम्—

विन्यस्याङ्गे षडङ्गानि प्राणायामपुरःसरम् ।
श्रीसूर्यमण्डलात्तीर्थमाकृष्यांकुशमुद्रया ॥१३८॥

वमित्यनेन चाप्लाव्य कवचेनावगुंठयेत् ।
संरक्ष्यास्त्रेण मूलेन मंत्रयेद्रुद्रसंख्यया ॥१३९॥

आत्मरक्षां ततः कुर्याद्वारिक्षेपेण चास्त्रतः ।
निमज्ज्य तत्र श्रीदेवं ध्यायेच्छक्त्या मनुं जपेत् ॥१४०॥

उन्मज्ज्य कुंभमुद्रां च बद्ध्वा सिंचेत्स्वमूर्द्धनि ।

प्रयोगे तीर्थावाहनमंत्रा वक्ष्यन्ते । सप्तधा त्रिधा वा सिंचेत् । 'सप्तकृत्वोऽभिषिच्याथ मनुना मंत्रितैर्जलै'रिति **कपिल**वचनात् । 'त्रिधाभिषिच्य मूलेने'ति **सारसंग्रह**वचनाच्च ।

त्रिपुरार्णवे स्नानविधौ विशेषः—

मृदमस्त्रेण चादाय येन तामभिमन्त्र्य च ।
शिखामंत्रेण संशोध्य मंत्रयेन्मूलमंत्रतः ॥१४१॥

मूर्द्धादिपादपर्यन्तं विलिप्य च तया वपुः ।
सम्मुखीकरणीं मुद्रां बद्ध्वा प्राणं निरुध्य च ॥१४२॥

निमज्ज्य तूष्णीमुत्थाय नाभिमात्रे जले स्थितः ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा मूलमंत्रेण मंत्रवित् ॥१४३॥

---

१. ख. संचित्य । २. ख. जलकूपं ।

विन्यस्य च षडङ्गानि कल्पयेत्तीर्थमग्रतः ।
ततः संप्रार्थयेत्तीर्थं सूर्यात्तन्मण्डलं ततः ।।१४४।।

सृणिमंत्रेण मंत्रज्ञो भित्वा चांकुशमुद्रया ।

अंकुशमुद्रालक्षणं तंत्रराजे—

कनिष्ठानामयो. पृष्ठे स्यादङ्गुष्ठस्तु तर्जनी ।
कुटिला ऋजुमध्यस्था मुद्रासावंकुशाभिधा । ।।१४५।।

त्रिपुरार्णवे—

तीर्थावाहनमंत्रेण तीर्थमावाहयेत्प्रिये ।
मूलमंत्रेण संयोज्य कल्पिते तीर्थमण्डले ।।१४६।।

तीर्थशक्तिं च तत्रैव समावाह्यार्कमण्डलात् ।।
ध्यात्वा तन्मनुनाभ्यर्च्य गङ्गामन्त्रेण मन्त्रयेत् ।।१४७।।

सप्तकृत्वः शिवे वच्मि शृणु मंत्रद्वयं प्रिये ।
जलस्थं व्योम षड्दीर्घस्वरभिन्नं सबिन्दुकम् ।।१४८।।

सर्वानन्दमये तीर्थशक्ति चैंह्युगं द्विठः ।

जलं वकारः व्योम हकारः। तेन ह्व एतत् षड्दीर्घस्वरभिन्नं तेन ह्वाँ ह्वीं ह्वूँ ह्वैं ह्वौं ह्वः । इति । द्विठः स्वाहाकारः ।

तथा—

एकविंशाक्षरः प्रोक्तस्तीर्थशक्तिमनुः प्रिये ।
तारं नमो भगवति ब्रूयादम्बे ततोऽम्बिके ।।१४९।।

अम्बालिके महामालिन्येह्येहि भगवत्यथ[1] ।
अशेषतीर्थालवाले मायाश्रीबीजयोरथ ।।१५०।।

शिवजटाधिरूढे च गङ्गे गङ्गाम्बिके द्विठः ।
गङ्गाविद्येयमाख्याता त्रिपञ्चाशद्भिरक्षरैः ।।१५१।।
तारः प्रणवः ।। माया ह्रीं ।। द्विठः स्वाहा ।। सुबोधमन्यत् ।।

तथा—

भुवनेश्या समालोड्याऽमृतीकृत्य सुधाणुना ।
कवचेनावगुण्ठ्या संरक्ष्यास्त्रेण मंत्रयेत् ।।१५२।।

---

१. ख. भगत्पथ ।

मूलेन देवतां तत्र साङ्गां सावरणां प्रिये ।
समावाह्य जले ध्यात्वा तत्पादद्वयनिर्गतम् ।।१५३।।

ध्यात्वा तीर्थं स्मरन्मूलमंत्रं स्नायाज्जले त्रिशः ।
उन्मज्ज्य[1] मूलमंत्रेण सिंचेत्के कुम्भमुद्रया ।।१५४।।

के मूर्ध्नि कुंभमुद्रालक्षणम् ।

नारदपञ्चरात्रे—

दक्षांगुष्ठं परांगुष्ठे क्षिप्त्वा हस्तद्वयेन तु ।
सावकाशं त्वेकमुष्टिं कुर्यात्कुंभस्य मुद्रिका ।। १५५ ।।

आचम्य विधिना पश्चान्मूलमंत्रेण तर्पयेत् ।
त्रिधा देवीं समुत्तीर्य्य जलाद्धौते शुभाम्बरे ।। १५६ ।।

परिधायाथ तिलकं कृत्वा सन्ध्यां समाचरेत् ।

वह्निपुराणे—

योऽनेन विधिना स्नायाद्यत्र कुत्र जले द्विज. ।
स तीर्थफलमाप्नोति तीर्थे दशगुणं फलम् ।। १५७ ।।

विष्णुः—

उत्तमं तु नदीस्नानं मध्यमं तु तडागके[2] ।
कूपे स्नानं तु सामान्यं घटस्नानं वृथा भवेत् ।।१५८ ।।

स्मृत्यर्थसारे—

आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च ।
सारस्वतमिति स्नानं स्मृतं षोढैव तत्र तु ।। १५९ ।।

आग्नेयं भस्मना स्नानमद्भिर्वारुणमुच्यते ।
आपोहिष्ठामयं ब्राह्मं मंत्रस्नानं च तत्स्मृतम् ।। १६० ।।

ब्रह्महस्तस्थितं तोयं शिरसा धारयेदिति ।
यत्स्मृतं तदपि ब्राह्मं वायव्यं रजसा गवाम् ।। १६१ ।।

दिव्यमातपवर्षाद्भिर्गङ्गास्नानसमं स्मृतम् ।
विद्वत्सरस्वतीवाचा प्राप्तं सारस्वतं मतम् ।। १६२ ।।

---

१. ख. उन्मत्य । २. ख. तडागमे ।

वृद्धमनुः—

असामर्थ्याच्छरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया ।
मंत्रस्नानादिकं प्रोक्तं मुनिभिः शौनकादिभिः ।। १६३ ।।

चतुर्विंशतिमते—

अशक्तावशिरस्कं यत्स्नानं मंत्रविधानतः ।
आर्द्रेण वाससा चांगमार्जनं कापिलं मतम् ।। १६४ ।।

गायत्र्या जलमादाय दशकृत्वोऽभिमंत्रयेत् ।
स्नानं गायत्र्यकं[1] नाम सर्वपापप्रणाशनम् ।। १६५ ।।

अशक्तानां तु जन्तूनां गुरोः पादोदकं शुभम् ।
विप्रपादाद्विष्णुपादात्तुलस्या संभृतं जलम् ।। १६६ ।।

प्रोक्षणात्स्नानमाप्नोति ध्यानस्नानं विशेषतः ।

नारदपञ्चरात्रे—

तोयाभावे तु यत्कार्यं दुर्गे काले तु शीतले ।
गमने क्षिप्रसिद्ध्यर्थं गुरुकार्येष्वतन्द्रितः ।। १६७ ।।

प्राप्तापद्यथ विप्रेन्द्र निशाभागे तथा मुने ।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य प्रोद्धृतेन तु वारिणा ।। १६८ ।।

स्नानं दश दिशः प्राग्वत्संशोध्योपविशेत्ततः
अस्त्रं हस्ततले न्यस्य क्रमान्न्यासांस्ततस्तु वै ।। १६९ ।।

मूलमंत्रादितः कुर्यात्सर्वमंत्रगणेन वै ।
केवलादुदकस्नानात्संस्कारपरिवर्जितात् ।। १७० ।।

प्रभासादिषु तीर्थेषु यत्फलं स्नातकस्य वै ।
ज्ञेयं दशगुणं तस्मान्मंत्रस्नानस्य नारद ।। १७१ ।।

ध्यानस्नानमथो वक्ष्ये द्वाभ्यामपि परं च यत् ।
खस्थितं पुण्डरीकाक्षं मंत्रमूर्त्तिं प्रभुं स्मरेत् ।। १७२ ।।

तत्पादोदकजां धारां निपतन्तीं स्वमूर्द्धनि ।
चिन्तयेत्सूक्ष्मरंध्रेण प्रविशन्तीं स्विकां तनुम् ।। १७३ ।।

---

१. ख. गायत्रकं ।

तया संक्षालयेत्सर्वमन्तर्देहगतं मलम् ।
तत्क्षणाद्विरजा मंत्री जायते स्फटिकोपमः ॥ १७४ ॥

इमं स्नानवरं मात्रात्स्नानात्[1] शतगुणं स्मृतम् ।
तस्मादेकतमं स्नानं कार्यं श्रद्धापरेण तु ॥ १७५ ॥

स्मृत्यर्थसारे—

स्रोतसोऽभिमुखः स्नायान्मार्जने चाघमर्षणे ।
अन्यत्रार्कमुखो रात्रौ प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ॥ १७६ ॥

स्मृतिसमुच्चये—

बहिःस्नातस्तु नद्यादौ स्नानवस्त्रमधस्त्यजेत् ।
ऊर्ध्वं त्यजेत्स्नानवस्त्रं गृहस्नातो यदा भवेत् ॥ १७७ ॥

नृसिंहपुराणे—

जलात्तीरं समासाद्य शुष्के धौते च वाससी ।

निबन्धे—

नैकवासा न च द्वीपे नान्तरिक्षे कदाचन ।
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म न कुर्यादशुचिः क्वचित् ॥ १७८ ॥

ब्राह्मणस्य सितं वस्त्रं नृपते रक्तवस्त्रकम् ।
पीतं वैश्यस्य शूद्रस्य नीलं मलवदिष्यते ॥ १७९ ॥

स्मृतिसमुच्चये—

निष्पीड्य स्नानवस्त्रं तु प्रातःसंध्यां समाचरेत् ।
मध्याह्ने तर्पणादूर्ध्वं वस्त्रनिष्पीडनं भवेत् ॥ १८० ॥

ब्रह्माण्डपुराणे—

ब्राह्मणस्योर्द्ध्वपुण्ड्रं स्यात्क्षत्रियस्य त्रिपुण्ड्रकम् ।
अर्द्धचन्द्रं तु वैश्यानां शूद्राणां वर्तुलाकृति ॥ १८१ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा कुर्यात् त्रिपुण्ड्रं भस्मना तथा ।
तिलकं वा द्विजः कुर्याच्चन्दनेन यथेच्छया ॥ १८२ ॥

---

१. ख. मान्त्रात् ।

ब्रह्मपुराणे--

पर्वताग्रे नदीतीरे मम क्षेत्रे विशेषतः ।
सिन्धुतीरे च वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिताः ॥ १८३ ॥

मृद एतास्तु संपाद्या वर्जयेदन्यमृत्तिकाः ।[1]
अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तो मध्यमायुष्करी मता ॥ १८४ ॥

अनामिकाऽन्नदा नित्यं मुक्तिदा च प्रदेशिनी ।
एतैरंगुलिभेदैस्तु कारयेन्न नखैः स्पृशेत् ॥ १८५ ॥

वर्त्तिदीपाकृतिं[2] वापि वेणुपत्राकृतिं तथा ।
पद्मस्य मुकुलाकारं तथैव कुमुदस्य च ॥ १८६ ॥

मत्स्यकूर्माकृतिं वापि शंखाकारमथापि वा ।
[3]दशांगुलप्रमाणं तु उत्तमोत्तममुच्यते ॥ १८७ ॥

नवांगुलं मध्यमं स्यादष्टांगुलमतः परम् ।

नारदपञ्चरात्रे—

नासादिकेशपर्यन्तं प्रयत्नाद्धारयेद् द्विजः ।

व्यासः—

जाह्नवीतीरसंभूतां मृदं मूर्द्धना बिभर्त्ति यः ।
बिभर्त्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम् ॥ १८८ ॥

स्मृतिचन्द्रिकायाम्—

ललाटे केशवं [4]विद्यान्नारायणमथोदरे ।
माधवं हृदि विन्यस्य गोविन्दं कण्ठकूपके ॥ १८९ ॥

उदरे दक्षिणे पार्श्वे विष्णुरित्यभिधीयते ।
तत्पार्श्वे बाहुमध्ये तु विन्यसेन्मधुसूदनम् ॥ १९० ॥

त्रिविक्रमं कर्णदेशे वामे कुक्षौ तु वामनम् ।
श्रीधरं बाहुके वामे हृषीकेशं तु कर्णके ॥ १९१ ॥

---

१. ख. प्रतौ विशेषो निबन्धे —

द्वारावती प्रयागश्च श्रीशैले मणिकर्णिका ।
सेतुः श्रीरङ्गसम्भूता मृत्तिका पावनी मता ॥

२. ख. वर्त्तिदीपाकृतं । ३. ख. दशांगुण० । ४. क. विद्या० ।

पृष्ठदेशे पद्मनाभं ककुद्दामोदरं न्यसेत् ।
द्वादशैतानि नामानि वासुदेवेति मूर्द्धनि ॥१६२॥[1]

गौतमीतन्त्रे—

ललाटे च गदा कार्या मूर्द्धनि चापः शरस्तथा ।
खड्गं चैव च हृन्मध्ये शङ्खं चक्रं भुजद्वये ॥१६३॥
शंखचक्रांकितो विप्रः श्मशाने म्रियते यदि ।
प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य गौतम ॥१६४॥

प्रयोगपारिजातसंग्रहे—

ऊर्ध्वपुंड्रं त्रिपुंड्रं वा मध्ये शून्यं प्रधारयेत् ।
शृणु षण्मुख तन्मध्ये उमयाऽहं श्रिया हरिः ॥१६५॥

वसिष्ठसंहितायाम्—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं वा कृत्वा संध्यां समाचरेत् ।
श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्च्चने ॥ १६६ ॥

---

१. ख. पुस्तके निम्नांशोऽयं विशेषो दृश्यते —

स्कन्दपुराणे मार्गशीर्षमाहात्म्ये—

विमलां मृत्तिकां रम्यामादाय द्विजसत्तम ।
मन्त्रेणैवाभिमन्त्र्याथ ललाटादिषु वैष्णवः ॥१
धारयेदूर्ध्वपुण्ड्राणि यथासंख्यमतन्द्रितः ।
ब्रह्मन् द्वादशपुण्ड्राणि ब्राह्मणः सततं धरेत् ॥२
चत्वारि भूभृतां पुत्रः पुण्ड्राणि द्वे विशाम्पतिः ।
एकं पुण्ड्रं च नारीणां शूद्राणां च विधीयते ॥३
ललाटे उदरे चैव वत्स वै कण्ठकूपके ।
कुक्षौ बाह्वोः कन्धरे च पार्श्वे पृष्ठे तथैव च ॥४
त्रिकं द्वादशमं प्रोक्तं ब्राह्मणस्य सदाऽनघ ।
ललाटे हृदि बाह्वोश्च क्षत्री पुण्ड्राणि धारयेत् ॥५
ललाटे हृदये वैश्यो भाले वै शूद्रयोषितः ।
एवं कार्यं ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्योपधारय ॥६
ललाटे केशवं ध्यायेद्धृदये माधवं तथा ।
भुजयोरुभयोर्वत्स स्मरेद्वै मधुसूदनम् ॥७
क्षत्रियस्य विधिः प्रोक्तो वैश्यकृत्यं निशामय ।
ललाटे केशवं ध्यायेद्धृदये माधवं स्मृतम् ॥८
योषिच्छूद्रः स्मरेदेवं केशवं भालदेशके ।
श्यामं शान्तिकरं प्रोक्तं रक्तं वश्यकरं तथा ॥९
श्रीकरं पीतमित्याहुः श्वेतं मोक्षकरं शुभम् ।

धृतत्रिपुण्ड्रः पूतात्मा मृत्युञ्जयति मानवः ।

भविष्यपुराणे—

सत्यं शौचं जपो होमस्तीर्थं देवादिपूजनम् ।
तस्य व्यर्थमिदं सर्वं यस्त्रिपुण्ड्रं न धारयेत् ।।१९७।।

स्मृतिसंग्रहे—

त्रिपुण्ड्रं ब्राह्मणो विद्वान्मनसापि न लंघयेत् ।
श्रुत्या विधीयते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ।।१९८।।

याबालिः[1]—

त्रिपुण्ड्रं कारयेत्पश्चाद्ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
मध्यांगुलिभिरादाय तिसृभिर्मूलमन्त्रितम् ।।१९९।।
अनामामध्यमांगुष्ठैरथवा स्यात्त्रिपुण्ड्रकम् ।

स्कांदे—

भ्रुवोर्मध्यं समारस्य यावदन्तो भवेद्भ्रुवोः ।

स्मृतिरत्नावल्याम्—

नेत्रयुग्मप्रमाणेन त्रिपुण्ड्रं धारयेद्द्विजः ।
षडंगुलप्रमाणेन ब्राह्मणानां त्रिपुण्ड्रकम् ।।२००।।
नृपाणां चतुरंगुल्यं वैश्यानां द्व्यंगुलं तथा ।
शूद्राणामथ सर्वेषामेकांगुल्यं त्रिपुण्ड्रकम् ।।२०१।।
त्रिपुण्ड्रेन विना येन विप्रेण यदनुष्ठितम् ।
न तद्ध्यानं न तद्ज्ञानं[2] न तद्दानं जपो न सः ।।२०२।।[3]

---

१. ख. जाबालिः । २. ख. तज्ज्ञानं । ३. ख. पुस्तके निम्नांशो ह्यधिकोऽवलोक्यते—

वीक्ष्याऽऽदर्शे जले वापि यो विदध्यात्प्रयत्नतः ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रं महाभाग स याति परमां गतिम् ।।१।।
क्वचिदादर्शदर्शनपूर्वकतिलकधारणे निषेधोऽपि-
'न पादुकास्थो नादर्शे न जले त्ववलोकयन्'

इति *कृष्णभट्टीये* तिलकप्रकरणे । *स्मृत्यन्तरात्—*

ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं च द्वयं शस्तं द्विजन्मनाम् ।
न केवलं चोर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं वा विशुद्धये ।।२।।
ऊर्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं स्यान्नोर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रके ।
विपरीते वैपरीत्यं केवले निष्फलाः क्रियाः ।।३।।

स्मृतिरत्नावल्यामपि—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं विना मोहाद्यदि कुर्यात् त्रिपुण्ड्रकम् ।
न तत्फलमवाप्नोति न स्या [त्] श्रोत्रिये यथा ।।४।।

ब्रह्माण्डे—

जलेन तिलकं कुर्याज्जलान्तं कर्मसिद्धये ।
चन्दनेन स्थले कुर्यात्सर्वकर्मसुसिद्धये ।। २०३ ।।

लिङ्गपुराणे—

विना भस्मत्रिपुण्ड्रेण[1] विना रुद्राक्षमालिकाम् ।
पूजितोऽपि महादेवो न सम्यक् फलदो भवेत् ।।२०४।।

भासयत्येव यद्भस्म हुतं भासयते च यत् ।
भक्षणात्सर्वपापानां भस्मेति परिकीर्त्तितम् ।।२०५।।

[2]अप्यकार्यसहस्राणि कृत्वा यः स्नाति भस्मना ।
तत्सर्वं दहते भस्म यथाग्निस्तेजसा वनम् ।।२०६।।

वायवीयसंहितायाम्—

शिवाग्नेर्भस्म संग्राह्यमग्निहोत्रोद्भवं तु वा ।
वैवाह्याग्न्युद्भवं वापि पक्वं शुचि सुगन्धि च ।।२०७।।

कपिलायाः शकृच्छस्तं गृहीतं गगने पतत् ।
न क्लिन्नं नातिकठिनं न दुर्गन्धि न चोषितम् ।।२०८।।

उपर्यधः परित्यज्य गृह्णीयात्पतितं यदि ।
पिण्डीकृत्य शिवाग्नौ तु तत्क्षिपेन्मूलमंत्रतः ।।२०९।।
अपक्वमतिपक्वं च संत्यज्य भसितं सितम् ।
आदाय वाससाऽऽलोड्य भस्माधारे विनिक्षिपेत् ।।२१०।।

भस्मसंग्रहणं कुर्याद्देवेऽनुद्वासिते सति ।
उद्वासने कृते यस्माच्चण्डभस्म प्रजायते ।।२११।।

गोमयग्रहणादौ विशेषस्तत्रैव ।

यद्वा धरामसंस्पृष्टं सद्येनानीय गोमयम् ।
वामेन पात्रे संशोध्य अघोरेण विनिर्दहेत् ।।२१२।।

पुरुषेण समुद्धृत्य ईशानेन विशोधयेत् ।
इत्थं तु संस्कृतं भस्म अग्निरित्यादिमंत्रतः ।।२१३।।

---

१. ख. त्रिपुण्डेन । २. ख. अप्यकार्यं ।

तस्माद्ब्रह्मेति यजुषा मन्त्रयेद्रुद्रसंख्यया ।
प्रणवाद्यैश्चतुर्थीहृदंतैर्नामभिरंशकैः ॥२१४॥

पञ्चवर्णाद्यक्षराद्यैर्भालांसोदरहृत्सु च ।
त्रिपुण्ड्रधारणं कुर्यान्मूर्ध्नि पञ्चाक्षरेण च ॥२१५॥

त्रिपुण्ड्रं धारयेन्मंत्री साक्षाच्छिव इवापरः ।

नामभिः सद्योजातादिभिः । अंशशब्दस्त्वंसद्वयवाचकः, नामपंचकत्वात् ।

स्कन्दपुराणे—

त्रिपुण्ड्रं धारयेद्यस्तु भस्मना विधिपूर्वकम् ।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वनस्थो यतिरेव वा ॥२१६॥

महापातकसंघातैर्मुच्यते चोपपातकैः ।
तथान्यैः क्षत्रविट्शूद्रस्त्रीगोहत्यादिपातकैः ॥२१७॥

वीरहत्याश्वहत्याभ्यां मुच्यते नात्र संशयः ।
अमन्त्रेणापि यः कुर्यादज्ञात्वा महिमोन्नतिम् ॥२१८॥

त्रिपुण्ड्रं भालफलके मुच्यते सर्वपातकैः ।
परद्रव्यापहरणं परदाराभिमर्शनम् ॥२१९॥

परनिन्दा परक्षेत्रहरणं परपीडनम् ।
सस्यारामादिदहनं गृहदाहादिकर्म च ॥२२०॥

असत्यवाक्यं पैशुन्यं पारुष्यं वेदविक्रयः ।
कूटसाक्ष्यव्रतत्यागकैतवं नीचसेवनम् ॥२२१॥

गोभूहिरण्यमहिषीतिलकम्बलवाससाम् ।
अन्नधान्यजलादीनां नीचेभ्यश्च प्रतिग्रहः ॥२२२॥

दासीवेश्याभुजङ्गीषु वृषलीषु नटीषु च ।
रजस्वलासु कन्यासु विधवासु च सङ्गमः ॥२२३॥

मांसचर्मरसादीनां लवणस्य च विक्रयः ।
एवमादीन्यसंख्यानि पापानि विविधानि च ॥२२४॥

सद्य एव विनश्यन्ति त्रिपुण्ड्रस्य च धारणात् ।
रुद्राक्षा यस्य गात्रेषु ललाटे च त्रिपुण्ड्रकम् ॥२२५॥

स चाण्डालोऽपि सम्पूज्यः सर्ववर्णोत्तमो भवेत् ।
यानि तीर्थानि लोकेऽस्मिन् गङ्गाद्याः सरितश्च याः ॥२२६॥
स्नातो भवति सर्वत्र ललाटे यस्त्रिपुण्ड्रकधृक् ।
सप्तकोटिमहामन्त्राः पञ्चाक्षरपुरःसराः ॥२२७॥
तथान्ये कोटिशो मन्त्राः शैवाः कैवल्यहेतवः ।
ते सर्वे तेन जप्ताः स्युर्यो बिभर्त्ति त्रिपुण्ड्रकम् ॥२२८॥
सहस्रं पूर्वजातानां सहस्रं च जनिष्यताम् ।
[1]स वंशजानां मर्त्यानामुद्धरेद्यस्त्रिपुण्ड्रधृक् ॥२२९॥
इह भुक्त्वाऽखिलान् भोगान् दीर्घायुर्व्याधिवर्जितः ।
जीवितान्ते च मरणं सुखेनैव प्रपद्यते ॥२३०॥
अष्टैश्वर्यगुणोपेतः प्राप्य दिव्यं वपुः शुभम् ।
दिव्यं विमानमारुह्य दिव्यस्त्रीशतवीजितः ॥२३१॥
विद्याधराणां सिद्धानां गन्धर्वाणां महौजसाम् ।
इन्द्रादिलोकपालानां लोकेषु च यथाक्रमम् ॥२३२॥
भुक्त्वा भोगान् सुविपुलान् प्रजेशानां पुरेषु च ।
ब्रह्मणः पदमासाद्य तत्र कल्पशतं रमेत् ॥२३३॥
विष्णोर्लोके च रमते यावद्ब्रह्मशतत्रयम् ।
शिवलोकं ततः प्राप्य रमते कालमक्षयम् ॥२३४॥
शिवसायुज्यमाप्नोति न स भूयोऽभिजायते ।
अमन्त्रकमपि भस्मधारणम् ।

वायवीयसंहितायाम्—

पुनर्न्यस्तकरो मन्त्री त्रिपुण्ड्रं भस्मना लिखेत् ।
एतच्छूद्रादिविषयकम् ।

॥ अथ संध्या ॥[2]

तत्र द्विजानां वैदिकसंध्यानन्तरमेव तान्त्रिकसंध्यायाः कर्त्तव्यत्वाद्वैदिकसंध्याकालस्तद्विधिश्चनिरूप्यते ।

---

१. ख. स्व ।

२. ख. पुस्तके निम्नांशोऽभ्यधिकोऽवलोक्यते —

निबन्धे—मन्त्राणाञ्च देवानां ब्रह्मादीनां च सङ्गमः ।
सन्धिः सर्वासुराणां च तेन सन्ध्या ह्युदाहृता ॥१॥

मरीचिः—

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता ।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतश्वा[1]चाभिजायते ।।[2]२३५।।

धर्मसारे—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका ।
अधमा सूर्यसहिता प्रातःसंध्या त्रिधा मता ।।२३६।।

अग्निस्मृतौ—

संध्याकालः प्रागुदयाद्विप्रस्य द्विमुहूर्त्तकः ।
क्षत्रियस्य तदर्द्धः स्यात्तदर्द्धः स्याद्विशोऽप्युत ।।२३७।।

तथैवास्तमिते तेषां वैश्यादीनामयं क्रमः ।

दक्षः—

रात्र्यन्तयामनाडीद्वे संध्याकालोऽयमुच्यते ।
दर्शनाद्रविरेखायास्तदन्तो मुनिभिः स्मृतः ।२३८।।

अध्यर्द्धयामादासायं संध्या माध्याह्निकीष्यते ।

व्यासः—

गृहे त्वेकगुणा संध्या गोष्ठे दशगुणा स्मृता ।
शतसाहस्रिका नद्यामनन्ता विष्णुसन्निधौ ।।२३९।।

शौनकः—

प्राणानायम्य विधिवद्वाग्यतः संयतेन्द्रियः ।
अथ संध्यामुपासिष्ये इति संकल्प्य मार्जयेत् ।।२४०।।

तिसृभिर्मार्जनं कुर्यादापोहीति कुशोदकैः ।
पादे पादे क्षिपेन्मूर्ध्नि प्रतिप्रणवसंयुतम् ।।२४१।।

नासिकामंगुलीभिश्च तर्जनीमध्यमादृते ।
दक्षिणेन समाकृष्य सव्येन तु विसर्जयेत् ।।२४२।।

प्रणवं व्याहृतीः सप्त गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ।।२४३।।

---

१. ख. मृतः श्वा । २. अतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—
तथा कार्त्तिकमाहात्म्ये—स्नानसन्ध्यादिकं कुर्वन् यं स्पृशेच्च प्रभाषते ।
तत्पुण्यकर्मसप्तांशं दद्यात्तस्मै विनिश्चितम् ।।१।।

नद्यां तीर्थे ह्रदे वापि भाजने मृण्मयेऽपि वा ।
औदुम्बरे च सौवर्णे राजते दारुसम्भवे ॥२४४॥

कृत्वा तु वामहस्ते वा संध्योपास्तिं समाचरेत् ।
पात्राभावे वामहस्ते न तु पात्रसम्भवे ॥२४५॥

वामहस्ते जलं कृत्वा ये तु सन्ध्यामुपासते ।
सा सध्या वृषली ज्ञेया असुरास्तैस्तु तर्पिता ॥२४६॥

इति स्मृतेः ।

सूर्यश्चेत्यनुवाकेन प्रातःकाले पिबेदपः ।
अग्निश्चेत्यनुवाकेन सायंकाले पिबेदपः ॥२४७॥

आपः पुनन्तु मध्याह्ने मन्त्राचमनमाचरेत् ।
प्रणवेन व्याहृतिभिर्गायत्र्या प्रणवाद्यया ॥२४८॥
आपोहिष्ठेन सूक्तेन मार्जनं हि चतुर्थकम् ।

निबन्धे--

पाणिभ्यां जलमादाय गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ।
रवेरभिमुखं तिष्ठन् त्रिरूर्ध्वं संध्ययोः क्षिपेत् ॥२४९॥

कराभ्यामञ्जलिं कृत्वा रविं वीक्ष्य जलाञ्जलिः ।
मध्याह्ने तु सकृदेव क्षेपणीयो द्विजातिभिः ॥२५॥

द्वौ पादौ तु समौ कृत्वा पूरयेदुदकाञ्जलिम् ।
गोश्टङ्गमात्रमुत्क्षिप्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ॥२५०॥

प्रातर्नाभौ करं कृत्वा मध्याह्ने हृदि संस्थितम् ।
सायं जपति नासाग्रे जपस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥२५१॥

याज्ञवल्क्यः---

जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात् ।
सन्ध्यां प्राक् प्रातरेवं हि तिष्ठेदासूर्यदर्शनात् ॥२५२॥

व्यासः---

अष्टोत्तरशतं नित्यमष्टाविंशतिमेव च ।
विधिना दशकं वापि त्रिकालेषु जपेद्बुधः ॥२५३॥

ब्रह्मचार्याहिताग्निश्च जपेदष्टोत्तरं शतम् ।
वानप्रस्थो यतिश्चापि सहस्रादधिकं जपेत् ॥२५४॥

स्मृत्यर्थसारे—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च शतमष्टोत्तरं जपेत् ।

कूर्मपुराणे—

अथोपतिष्ठेदादित्यमुदयन्तं समाहितः ।
मन्त्रैस्तु विविधैः सौरैर्ऋग्यजुःसामसम्भवैः ॥२५५॥

अथ तान्त्रिकसंध्या

महाकपिलपञ्चरात्रे—

उपविश्य शुचौ देशे प्राणायामत्रयं क्रमात् ।
मूलमन्त्रेण कृत्वा वै देहे कुर्वीत मार्जनम् ॥२५६॥

शैवागमे—

प्राणायामत्रयं कृत्वा मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ।
अङ्गानि विन्यसेद्देहे करन्यासपुरःसरम्॥२५७॥
अमृतीकृत्य पुरतो जलं वं धेनुमुद्रया ।
अभिमन्त्र्य च मूलेन सप्तवारं च साधक : ॥२५८॥
अकारादिक्षकारान्तैर्मातृकार्णैः सबिन्दुभिः ।
प्रत्यर्णं प्रोक्षयेन्मूर्ध्नि कुशैर्मूलेन च त्रिधा ॥२५९ ॥
देवं ध्यात्वाऽथ मनुविद्भानुमण्डलसंस्थितम् ।
आदाय तोयमामन्त्र्य बीजैर्भूतात्मकैस्तथा ॥२६०॥
लं वं रं यं हमिति च तान्युक्तानि सुरार्चिते ।
सप्तकृत्वस्ततो मूलमन्त्रेण त्रिः पुनश्च तत् २६१॥
वामहस्ते निधायाथ गलितैर्जलबिन्दुभिः ।
सम्प्रोक्ष्य मूलमन्त्रेण दक्षहस्तेन मूर्द्धनि ॥२६२॥
नासामाश्लिष्य शिष्टेन तेजोरूपेण तेन तु ।
प्रविश्यान्तर्गतं सर्वमलं[1] संशोध्य निर्गतम् ॥२६३॥
दक्षनासापुटेनैतत्स्मृत्वा दक्षिणहस्तगम् ।
वामभागे वज्रशिलां ध्यात्वाऽस्त्रेण च तत् क्षिपेत् ॥२६४॥

अस्त्रं पाशुपतास्त्रं तदग्रे वक्ष्यते ।

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ।
गायत्र्या वाथ मूलेन दद्यादर्घत्रयं ततः ॥२६५॥

---

१. ख. सर्वं मलं ।

शिवाय मण्डलस्थाय रवेर्मूलेन तर्पयेत् ।
शिवायेति **शैवागमे** शिवप्राधान्यात् तेन स्वेष्टाय देवाय दद्यात् ।
त्रिधा जप्त्वाथ गायत्रीमष्टाविंशतिवारकम् ।
जपित्वा मूलमन्त्रं च शतमष्टोत्तरं ततः ॥२६६॥

समर्प्य तज्जपं मन्त्री देवमुद्वास्य मण्डलात् ।
निधाय स्वीयहृदये ततस्तर्पणमाचरेत् ॥२६७॥

मूलेनार्घदानं तु गायत्रीरहितमन्त्रपरं ज्ञेयम्, इयं सन्ध्या त्रिकालं कार्या
प्रातर्मध्याह्नसायाह्नसन्ध्यां कुर्याच्च मंत्रवित्
इति **शैवागमोक्तेः** ।

तथा—

संध्यालोपो न कर्त्तव्यः शम्भोराज्ञैवमेव हि ।
दीक्षितः संध्यया हीनो न दीक्षाफलमश्नुते ॥२६८॥

सन्ध्याहीनोऽन्यसन्ध्यायां पूर्वसन्ध्याक्रियामथ ।
विधायोत्तरसन्ध्यायाः क्रियां कुर्यादतंद्रितः ॥२६९॥

तन्त्रराजे---

स्नानसन्ध्यार्चनालोपे जपेद्विद्यां शत शिवे ।

॥ अथ तर्प्पणम् ॥

योगयाज्ञवल्क्यः---

ब्रह्माणं तर्पयेत्पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिम् ।
देवान् छन्दांसि वेदांश्च ऋषींश्चैव तपोधनान् ॥२७०॥

आचार्यांश्चैव गन्धर्वानाचार्यतनयांस्तथा ।
संवत्सरं सावयवं देवीश्चाप्सरसस्तथा ॥२७१॥

तथा देवानुगान्नागान्सागरान्पर्वतांस्तथा ।
सरितोऽथ मनुष्यांश्च यक्षान् रक्षांसि चैव हि ॥२७२॥

पिशाचांश्च सुपर्णांश्च भूतानथ पशूंस्तथा ।
वनस्पतींश्चौषधीश्च भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥२७३॥

ततः कृत्वा निवीतं तु यज्ञसूत्रमतन्द्रितः ।
प्राजापत्येन[1] तीर्थेन मनुष्यांस्तर्पयेत्पृथक् ॥२७४॥

---

१. ख. प्राजापत्येन ।

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
कपिलश्चासुरश्चैव[1] वोढः पिचशिखस्तथा[2] ॥२७४॥

एते ब्रह्मसुताः सप्त मनुष्याः परिकीर्त्तिताः ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥२७५॥

प्रचेताश्च वसिष्ठश्च भृगुर्नारद एव च ।

व्यासः—

एकैकमञ्जलिं देवा द्वौ द्वौ तु सनकादयः ।
अर्हन्ति पितरस्त्रींस्त्रीन् स्त्रियश्चैकैकमञ्जलिम् ॥२७६॥

सांख्यायनः—

मातृमुख्यास्तु यास्तिस्रस्तासां त्रींस्त्रीन् जलाञ्जलीन् ।
सपत्नाचार्यपत्नीनां द्वौ द्वौ दद्याज्जलाञ्जलीन् ॥२७७॥

कव्यबालो नलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा ।
अग्निष्वाताः[3] सोमपाश्च तथा बर्हिषदोऽपरे ॥२७८॥

यदि स्याज्जीवत्पितृक एतान्विद्यात्ततः पितॄन् ।

निबन्धे—

देवर्षीन् प्राङ्मुखो भूत्वा उदगास्यस्तु मानुषान्[4] ।
दक्षिणा हि पितॄन् स्कन्धाद्यज्ञसूत्रममोचयन् ॥२७९॥

आग्नेयपुराणे—

सव्येन देवकार्याणि वामेन पितृतर्पणम् ।
निवीतेन मनुष्याणां तर्पणं संविधीयते ॥२८०॥

शङ्खलिखितौ—

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यां प्राङ्मुखो यज्ञोपवीती प्रागग्रैः कुशैर्देवतातर्पणं देवतीर्थेन कुर्यात् ।

विष्णुः—

ततः कृत्वा निवीतं तु यज्ञसूत्रमतन्द्रितः ।
प्राजापत्येन तीर्थेन मनुष्यांस्तर्पयेत्पृथक् ॥२८१॥

---

१. ख. ० श्चासुरि । २. ख. पञ्चशिख० । ३. ख. अग्निष्वात्ताः । ४. ख. मानुष्यान् ।

बौधायनः—

अथ दक्षिणतः प्राचीनावीती पितॄन् स्वधा नमस्तर्पयामीत्यादि ।

यत्तु—

उभाभ्यामिह हस्ताभ्यामुदकं यः प्रयच्छति ।
स मूढो निरयं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ।।२८२।।

इति **व्याघ्रपद**वचनं तच्छ्राद्धादिविषयम् । अत एव-

कार्ष्णाजिनिः—

श्राद्धे विवाहकाले च पाणिनैकेन दीयते ।
तर्पणे तूभयेनैव विधिरेष पुरातनः ।।२८३।।

निबन्धे—

कुशाग्रैस्तर्पयेद्देवान्मनुष्यान्कुशमध्यतः ।
द्विगुणीकृत्य मूलाग्रैः पितॄणां तर्पयेद् द्विजः ।।२८४।।

हारीतः—

हेमरूप्यमयं पात्रं ताम्रं कांस्यसमुद्भवम् ।
पितॄणां तर्पणे पात्रं मृण्मयं तु परित्यजेत् ।।२८५।।

शङ्खः—

उदकेनोदकं दद्यात्पितृभ्यश्च कदाचन ।
उत्तीर्य च शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ।।२८६।।

विष्णुः—

यत्राशुचिस्थलं वा स्यादुदके देवताः पितॄन् ।
तर्पयेत्तु यथाकामं सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम् ।।२८७।।

स्मृत्यर्थसारे—

तिलाभावे स्वर्णरूप्यताम्रदर्भयुतोदकैः ।
खड्गमौक्तिकहस्तेन कार्यं वा पितृतर्पणम् ।।२८८।।

सप्तम्यां रविवारे च जन्मर्क्षदिवसेषु च ।
गृहे निषिद्धं सतिलं तर्पणं तद्बहिर्भवेत् ।।२८९।।

शोभनगृहे शोभनदिने न तिलतर्पणम् ।
विवाहे चोपनयने चौले सति यथाक्रमम् ।।२९०।।

वर्षमर्द्धं तदर्द्धं च नेत्येके तिलतर्पणम् ।

मदनपारिजाते—

तीर्थे तिथिविशेषे च गङ्गायां प्रेतपक्षके ।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्तर्पणं तिलमिश्रितम् ॥२६१॥

लघुहारीतः—

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये[1] पितृतर्पणे ।
अशून्यं तु करं कुर्यात्सुवर्णरजतैः कुशैः ॥२६२॥

कूर्मपुराणे—

विना दर्भेण यत्कर्म विना सूत्रेण वा पुनः ।
राक्षसं तद्भवेत्सर्वं नेहामुत्र फलप्रदम् ॥२६३॥

व्यासः—

कुशैः पूतं भवेत्स्नानं कुशेनोपस्पृशेद् द्विजः ।
कुशेन चोद्धृतं तोयं सोमपानेन सम्मितम् ॥२६४॥

कात्यायनः—

अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च ।
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥२६५॥

मार्कण्डेयः—

चतुर्भिर्दर्भपिञ्जूलैर्ब्राह्मणस्य पवित्रकम् ।
एकैकन्यूनमुद्दिष्टं वर्णे वर्णे यथाक्रमम् ॥२६६॥

स्मृत्यर्थसारे—

सर्वेषां वा भवेद् द्वाभ्यां पवित्रं ग्रन्थितं न वा ।
सपवित्रः सदर्भो वा कर्माङ्गाचमनं चरेत् ॥२६७॥
नोच्छिष्टं तद्भवेत्तस्य भुक्तोच्छिष्टं तु वर्जयेत् ।

अत्रिः—

ब्रह्मयज्ञे जपे चैव ब्रह्मग्रन्थिर्विधीयते ।
भोजने वर्त्तुलः प्रोक्त एवं धर्मो न हीयते ॥२६८॥

हेमाद्रौ—

उभयत्र स्थितैर्दर्भैः सम्यगाचामति द्विजः ।
सोमपानफलं तस्य भुक्त्वा यज्ञफलं लभेत् ॥२६९॥

---

१. ख. स्वाध्येये ।

ग्रन्थिर्यस्य पवित्रस्य न तेनाचमनं चरेत् ।
आचामेद्यस्तु मोहात्मा यथोच्छिष्टस्तथैव सः ॥३००॥

शौनकः—

द्वौ दर्भौ दक्षिणे हस्ते सव्यं त्रीनासने सकृत् ।

शङ्खः—

कर्मकाले प्रकुर्वीत सपवित्रामनामिकाम् ।
लङ्घयेदेकपर्वाऽस्या द्वितीयं नैव लङ्घयेत् ॥३०१॥

निबन्धे—

न ब्रह्मग्रन्थिनाचामेन्न दूर्वाभिः कदाचन ।
स्नाने होमे जपे दाने स्वाध्याये पितृकर्मणि ॥३०२॥

सपवित्रौ सदर्भौ वा करौ कुर्वीत नान्यथा ।
कुशाभावे तु काशाः स्युः काशाः कुशमयाः स्मृताः ॥३०३॥

काशाभावे ग्रहीतव्या अन्ये दर्भा यथोचिताः ।
कुशाः काशा यवा दूर्वा उशीराश्च सकुन्दराः ॥३०४॥

गोधूमा व्रीहयो मुञ्जा[1] दश दर्भाः सवल्वजाः ।
नभोमासस्य दर्शे तु शुचिर्दर्भान्समाहरेत् ॥३०५॥

अयातयामास्ते दर्भा विनियोज्याः पुनः पुनः ।
यैः कृतः पिण्डनिर्वापः श्राद्धं वा पितृतर्पणम् ॥३०६॥

विण्मूत्रादिषु ये दर्भास्तेषां त्यागो विधीयते ।
दर्भाभावे स्वर्णरूप्यताम्ररत्नैः क्रियाश्चरेत् ॥३०७॥

अनामिक्यां धृतं हेम तर्जन्यां रूप्यमेव च ।
कनिष्ठिकाधृतं खड्गं तेन पूज्यो भवेन्नरः ॥३०८॥

अथ तान्त्रिकतर्पणम्

शैवागमे—

ध्यात्वा देवं चले सम्यक्पूजयित्वाथ मूलतः ।
अष्टोत्तरशतावृत्या तर्पयेन्मूलमन्त्रतः ॥३०९॥

---

१. ख. भुञ्जा ।

तदर्द्धेन तदर्द्धेन दशधा वाथ तर्पयेत् ।
ततस्तदङ्गावरणदेवतास्तर्पयेत्क्रमात् ॥३१०॥

एकैकाञ्जलिना तत्तन्नाममन्त्रेण मन्त्रवित् ।
पुनः सम्पूज्य देवेशं साङ्गावरणकं ततः ॥३११॥
समुद्वास्य हृदि स्वीये स्वात्मानं तन्मयं स्मरेत् । इति ।

मन्त्रप्रकाशे—

कृत्वा सन्ध्यां जपन् स्तोत्रं यायाद्वै यागमन्दिरम् ।

तथा—

उक्तेनैव विधानेन कृत्वा स्नानं तु तान्त्रिकम् ।
वैदिकीं तान्त्रिकीं सन्ध्यां कृत्वा तर्पणमेवच ॥३१२॥
जपन् स्तोत्राणि नामानि यायाद्देवनिकेतनम् ।

नारदपञ्चरात्रे—

ततश्चोदकसम्पूर्णं भाण्डमादाय पाणिना ।
एकान्तं निर्जनं यायान्मनोज्ञं दोषवर्जितम् ॥३१३॥

हृन्मध्यस्थं स्मरन्विष्णुं प्रबुद्धानन्दविग्रहम् ।
दिगन्तरं न वीक्षेत[1] मौनी संरोधिलोचनः ॥३१४॥

महाकपिलपञ्चरात्रे—

मूलमन्त्रं जपन् गच्छेद्यावत्प्राप्नोति वै गृहम् ।
प्राप्य हस्तौ च पादौ च प्रक्षाल्याचम्य यत्नतः ॥३१५॥
यागमण्डपमासाद्य विशेत्कृत्वा प्रदक्षिणम् ।

उत्तरतन्त्रे—

आचान्तः शुचितां प्राप्तः सुस्नातो देवपूजने ।
पूजावेद्या बहिः स्थित्वा चतुर्हस्तान्तरे धिया ॥३१६॥

गृहे चेद् द्वारदेशस्थः प्रणम्य मनसा गुरुम् ।
प्रणमेदिष्टदेवं स्वं दिक्पालानपि चेतसा ॥३१७॥

यत्पूर्वमर्जित पापं तद्दिनेऽन्यदिनेऽपि वा ।
प्रायश्चित्तेनापनुदेत्तदा पापं स्मरेद्धिया ॥३१८॥
तत्पापस्यापनोदार्थं मन्त्रद्वयमुदीरयेत् ।

---

१. ख. वीक्षेन ।

मन्त्रद्वयं प्रयोगे वक्तव्म् ।

तथा—

एवं कृते प्रथमतः पापोत्सारणकर्मणि ।
यत्स्याद् दृढतरं पापं तद्दूरे चावतिष्ठते ॥३१९॥
अतीते पूजने स्थानं स्वं प्रयाति पुनश्च तत् ।
यत्स्यादल्पतरं पापं तन्नाशमुपतिष्ठति ॥३२०॥
पूजने त्यक्तपापस्य काममिष्टं क्षणाद्भवेत् ।

सारसङ्ग्रहे—

ततः प्रक्षाल्य पादौ च हस्तावाचम्य यत्नतः ।
दद्यादर्घं दिनेशाय तत्प्रकार इहोच्यते ॥३२१॥
गोमयेनोपलिप्तायां भूमौ कृत्वा तु मण्डलम् ।
सिन्दूरेण ततः पश्चादुपविश्य निजासने ॥३२२॥
प्राङ्मुखः प्रणमेदिष्टदेवतां भक्तितत्परः ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा सूर्यमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥३२३॥
विन्यस्य च तदृष्यादीन् ध्यात्वा सूर्यमनन्यधीः ।
तत्कल्पोक्तविधानेन पूजयेदुपचारकैः ॥३२४॥
पुरतो मण्डलं कृत्वा जलेन चतुरस्रकम् ।
निधाय तत्र साधारं सजलं ताम्रपात्रकम् ॥३२५॥
गन्धपुष्पाक्षतान्दर्भान्दूर्वासर्षपसंयुतान् ।
सतिलान् रक्तपुष्पाणि यवांश्चापि प्रविन्यसेत् ॥३२६॥
सूर्यमन्त्रेण तत्पात्रं स्पृशन्नष्टोत्तरं शतम् ।
अभिमन्त्र्य च तत्पात्रं समुत्थाप्य करद्वयात् ॥३२७॥
मूर्द्धान्तं सूर्यमन्त्रेण दद्यादर्घं विचक्षणः ।
जपेत्ततो यथाशक्ति सूर्यमन्त्रमनन्यधीः ॥३२८॥
तदर्घाम्बुप्लुतं सूर्यं ध्यायन् देशिकसत्तमः ।
स्तुत्वा प्रणम्य विसृजेन्मण्डले तं दिवाकरम् ॥३२९॥

सूर्यमन्त्रं त्र्यक्षरम् । तत्तु तत्प्रकरणे वक्तव्यम् ।

यावन्न दीयते चार्घ्यं भास्कराय दिने दिने ।
तावन्न पूजयेद्विष्णुं शङ्करं वा सुरेश्वरीम् ॥३३०॥

अर्घ्यदानमिदं पुंसामायुरारोग्यवर्द्धनम् ।
धनधान्यपशुक्षेत्रपुत्रमित्रकलत्रदम् ॥३३१॥
तेजोवीर्ययशःशक्तिविद्याविभवभाग्यदम् ।

नन्दिपुराणे—

आयुष्मान् बलवान् श्रीमान् पुत्रवान् धनवान् सुखी ।
वरमिष्टं लभेल्लिङ्गं पार्थिवं यः समर्चयेत् ॥३३२॥
तस्मात्तु पार्थिव लिङ्गं ज्ञेयं सर्वार्थसाधकम् ।

बृहन्नारदीये—

अखण्डं तद्धि कर्त्तव्यं न द्विखण्डं प्रकल्पयेत् ।
सखण्ड यः प्रकुर्वाणो रौरवं निरयं व्रजेत् ॥३३३॥
रत्नज हेमज लिङ्गं पारदं स्फाटिकं तथा ।
पार्थिवं पिष्टजं पौष्पमखण्डं तु प्रकल्पयेत् ॥३३४॥
अखण्डं तु चरं लिङ्गं द्विखण्डमचरं स्मृतम् ।

भविष्ये—

मृद्भस्म गोशकृत्पिण्ड[1]-ताम्रकांस्यमयं तथा ।
कृत्वा लिङ्गं सकृत्पूज्य वसेत्कल्पायुषं दिवि ॥३३५॥
राज्यवित्तप्रदं लिङ्गं स्फाटिकं सर्वकामदम् ।

तिथितत्त्वे---

अक्षादल्पपरीमाणं न लिङ्गं कुत्रचिन्नरः ।
कुर्वीताङ्गुष्ठतो ह्रस्वं न कदाचित्समाचरेत् ॥३३६॥

अङ्गुष्ठतस्तत्पूर्वग्रन्थितः ।

अङ्गुष्ठाङ्गुलिमानं तु यत्र यत्रोपदिश्यते ।
तत्र तत्र बृहत्पूर्वग्रन्थिभिर्मिनुयात्सदा[2] ॥३३७॥

इति **छन्दोगपरिशिष्टात्** ।

शिवधर्मे—

सहस्रमर्चयेल्लिङ्गं निरयं स न गच्छति ।
रुद्रलोकमवाप्नोति भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ॥३३८॥
वालुकानि च लिङ्गानि पार्थिवानि च कारयेत् ।
सहस्रपूजनात्सोऽपि लभते वाञ्छितं फलम् ॥३३९॥

---

१. ख. पिण्डं । २. ख. ०मुनुयात् ।

देवीपुराणे—

मृदाहरणसङ्घट्टप्रतिष्ठाह्वानमेव च ।
स्नपनं पूजनं चैव विसर्जनमतः परम् ॥३४०॥

हरो महेश्वरश्चैव शूलपाणिः पिनाकधृक् ।
पशुपतिः शिवश्चैव महादेव इति क्रमात् ॥३४१॥

नन्दिपुराणे—

गोभूहिरण्यवस्त्रादिबलिपुष्पनिवेदने ।
ज्ञेयो नमः शिवायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥३४२॥
सर्वमन्त्राधिकश्चायमोङ्काराद्यः षडक्षरः ।

भविष्ये—

ॐ शर्वाय क्षितिमूर्त्तये नमः । ॐ भवाय जलमूर्त्तये नमः । ॐ रुद्राय अग्निमूर्त्तये नमः । ॐ उग्राय वायुमूर्त्तये नमः । ॐ भीमायाकाशमूर्त्तये नमः । ॐ पशुपतये यजमानमूर्त्तये नमः । ॐ महादेवाय सोममूर्त्तये नमः । ॐ ईशानाय सूर्यमूर्त्तये नमः ।

मूर्त्तयोऽष्टौ शिवस्यैताः पूर्वादिक्रमयोगतः ।
आग्नेय्यन्ताः प्रयोज्यास्तु वेद्यां लिङ्गे शिवं यजेत् ॥३४३॥

नन्दिकेश्वरः—

यः प्रदद्याद् गवां लक्षं दोग्ध्रीणां वेदपारगे ।
एकाहमर्चयेल्लिङ्गं तस्य पुण्यं ततोऽधिकम् ॥३४४॥

सकृत्पूजयते यस्तु भगवन्तमुमापतिम् ।
तस्याश्वमेधादधिकं फलं भवति भूसुराः ॥३४५॥

शिवधर्मे—

लिङ्गानुलेपनं कार्यं दिव्यगन्धैः सुगन्धिभिः ।
वर्षकोटिशतं दिव्यं शिवलोके महीयते ॥३४६॥

तस्मात्पुष्पप्रदानेन लिङ्गेषु प्रतिमासु च ।
अशीतिवर्षकोटीनां दुर्गतिं न नरो व्रजेत् ॥३४७॥

स्कान्दे—

शुष्काण्यपि च पत्राणि श्रीवृक्षस्य सदैव हि ।
प्रदातव्यानीति ।

शिवधर्मे—

लिङ्गवेदी भवेद्देवी लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः ।
तयोः सम्पूजनात्स्यातां देवी देवश्च पूजितौ ॥३४८॥

देवीपुराणे—

सव्यं व्रजेत्ततोऽसव्यं प्रणालं नैव लङ्घयेत् ।
एकभूतमना रुद्रे यः कुर्यात् त्रिःप्रदक्षिणम् ॥३४९॥
छिन्नस्तेन भवेद्ग्रन्थिर्न तस्य पुनरुद्भवः ।

भविष्ये—

जानुभ्यां चैव पाणिभ्यां शिरसा च विचक्षणः ।
कृत्वा प्रणामं देवेशे सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥३५०॥

लिङ्गपुराणे—

गन्धधूपनमस्कारैर्मुखवाद्यैश्च सर्वशः ।
यो मामर्चयते तत्र तदा तुष्टयाम्यहं[1] तथा ॥३५१॥

शिवागमे—

लवणेन च सौभाग्यं पार्थिवं सर्वकामिकम् ।
अनेकफलदं भूरिसैकतं परिकीर्त्तितम् ॥३५२॥

ग्रामदं तिलपिष्टोत्थं तुषोत्थं मारणे स्मृतम् ।
[2]अन्नोत्थमन्नदं प्रोक्त गुडोत्थं शान्तिवर्द्धनम् ॥३५३॥

गन्धोत्थं गुणदं भूरिशर्करोत्थं सुखप्रदम् ।
वंशाङ्कुरोत्थं वश्यार्थं गोमयं सर्वरोगहृत् ॥३५४॥

वेश्यास्थिसम्भवं लिङ्गं सर्वशत्रुविनाशनम् ।
आसुरीलवणोत्थं च सर्वलोकवशङ्करम् ॥३५५॥
स्तम्भने रजनीपिष्टसम्भवं लिङ्गमुत्तमम् ।
तण्डुलोद्भवपिष्टस्य लिङ्गं सर्वसुतप्रदम् ॥३५६॥

दधिदुग्धोद्भवं लिङ्गं कीर्त्तिलक्ष्मीसुखप्रदम् ।
धान्यदं धान्यजं लिङ्गं कीर्त्तिग्रामाज्यवर्द्धनम् ॥३५७॥

दूर्वागुडूचीसम्भूतमपमृत्युनिवारणम् ।
इक्षुवृक्षोद्भवं लिङ्गमुच्चाटनकरं परम् ॥३५८॥

---

१. तुष्याम्यहं । २. ख. अम्भोत्थ० ।

वार्क्षं वित्तप्रदं लिङ्गं स्फाटिकं सर्वकामिकम्[1] ।
विद्यार्थी लिङ्गसाहस्रं कन्यार्थी तु शतत्रयम् ॥३५९॥

पुत्रार्थी चार्द्धसाहस्रं कान्तार्थी शतपञ्चकम् ।
सुहृत्कामः सहस्रं तु वस्त्रार्थी शतमष्टकम् ॥३६०॥

उच्चाटनपरं चैव यथोक्तं च सहस्रकम् ।
मारणार्थी सप्तशतं मोहार्थी शतमष्टकम् ॥३६१॥

स्तम्भनं तु तदर्द्धेन मारणं तु तदर्द्धकम् ।
निगडान्मुक्तिकामस्तु सहस्रं तु समाचरेत् ॥३६२॥

महाराजभये पञ्चसहस्रं सर्वकामदम् ।
एकं पापहरं प्रोक्त द्विलिङ्गं कार्यसिद्धिदम् ॥३६३॥

त्रिलिङ्गं सर्वकामानां कारणं परमाद्भुतम् ।
लिङ्गानामयुतं चापि महाराजभये चरेत् ॥३६४॥

कारागृहविमुक्त्यर्थमनन्तं कारयेद्बुधः ।
डाकिन्यादिभये प्राप्ते सहस्रं कारयेत्तदा ॥३६५॥

सहस्राणां पञ्चशतं पुत्रकामेन कारयेत् ।
कृत्वा नित्यविधानेन सगुणं पुत्रमाप्नुयात् ॥३६६॥

लक्षमेकं तु लिङ्गानां यः करोति नरो भुवि ।
शिव एव भवेन्नित्यं नात्र कार्या विचारणा ॥३६७॥[2]

[लिङ्गपूजायां विशेषो मन्त्रमहोदधौ —

---

१. ख. पुस्तकेऽधःस्योंशो विशेषः —

पितॄणां मुक्तये पूज्यं लिङ्गं रजतसम्भवम् ।
हेमजं सत्यलोकस्य प्राप्तयेऽप्यर्चयेत् पुमान् ॥१॥

पूजयेत्ताम्रजं लिङ्गं पुष्टिकामो हि मानवः ।
तुष्टिकामस्तु सततं लिङ्गं पित्तलसम्भवम् ॥२॥

कीर्त्तिकामोऽर्चयेल्लिङ्गं सदा कांस्यसमुद्भवम् ।
शत्रुमारणकामस्तु लिङ्गं लोहमयं यजेत् ॥३॥

तथा सीसमयं लिङ्गमायुष्कामोऽर्चयेत् सदा ।
ज्वरशान्त्यै चन्दनजमर्चयेद् विधिवत्पुनः ॥४॥

२. इतः परं [ ] कोष्ठकान्तर्गतोंशः ख. पुस्तकेऽभ्यधिको विलोक्यते ।

स्नातो नित्यं विधायादौ गत्वा शुद्धां भुवं सुधीः ।
उपरिस्थामपाकृत्य षडर्णेनाभिमन्त्रयेत् ॥१॥

आकाशः पृथिवीशेषस्थितो बिन्दुविभूषितः ।
पृथिवी तु चतुर्थ्यन्ता नमोऽन्ता स्यात् षडक्षरः ॥२॥

ह्लाँ पृथिव्यै नमः ।

ततो मृदमुपादाय कृत्वा निःशर्करां ततः ।
पात्रे निदध्यात् संशुद्धे प्रत्यहं पूजनाय ताम् ॥३॥

सद्दिने सद्गुरोर्मन्त्रौ गणेश्वरकुमारयोः ।
हराद्यांश्च मनून् सप्त गृह्णीयाद्यागसिद्धये ॥४॥

अथार्चनं शुभे घस्रे त्वारभेतेष्टसिद्धये ।
कृतनित्यक्रियः शुद्धः प्रदायार्घं विवस्वते ॥५॥

मृदमादाय तोयेन सुधया मन्त्रितेन च ।
आसिच्य पिण्डयेत् स्वेष्टमानां पात्रे निधापयेत् ॥६॥

ततः कालमनुस्मृत्य कामनामपि हृद्गताम् ।
लिङ्गानि पार्थिवानीह पूजार्थे मुखसंख्यया ॥७॥

सङ्कल्प्यैवं मृदः पिण्डादादायाल्पां मृदं सुधीः ।
एकादशार्णमन्त्रेण कुर्याद्बालगणेश्वरम् ॥८॥

मायागणेशभूबीजैर्ङेऽन्तो गणपतिः पुनः ।
एकादशार्णमन्त्रोऽयं स्मृतो बालगणेशितुः ॥९॥

फलाभयलसत्पाणिपद्मं बालगणेश्वरम् ।
पूर्वं निर्माय तत्पीठे लिङ्गानि रचयेत्ततः ॥१०॥

हरमन्त्रेण गृह्णीयादक्षमात्राधिकं मृदम् ।
महेश्वरस्य मन्त्रेण लिङ्गं कुर्यात्तथा शुभम् ॥११॥

अङ्गुष्ठमानादधिकं वितस्त्यवधि सुन्दरम् ।
पार्थिवं रचयेल्लिङ्गं न न्यूनमधिकं च तत् ॥१२॥

शूलपाणेस्तु मन्त्रेण लिङ्गं पीठे निधापयेत् ।
एवमन्यानि कुर्वीत यथासङ्कल्पमादरात् ॥१३॥

अवशिष्टमृदा कुर्यात् कुमारं तस्य मन्त्रतः ।
स्थापयेल्लिङ्गपङ्क्त्यन्ते स्वमन्त्रेणार्च्चयेच्च तम् ॥१४॥

वाग्वर्मकर्णबिन्द्वाढ्यश्चरमो मीनकेतनः ।
कुमाराय नमोऽन्तोऽयं गुहमन्त्रो दशाक्षरः ॥१५॥

ऐँ हुँ क्षुँ क्लीँ कुमाराय नमः ।
मन्त्रेणावाहयेद्देवं प्रतिलिङ्गं पिनाकिनः ।
ततो लिङ्गस्थितं ध्यायेत् सुप्रसन्न महेश्वरम् ॥१६॥

दक्षाङ्कस्थं गजपतिमुखं प्रामृशन्दक्षदोष्णा,
वामोरुस्थं नगपतिसुताङ्के गुहं चापरेण ।
इष्टाभीती परकरयुगे धारयन्निन्दुकान्ति-
रव्यादस्मांस्त्रिभुवननुतो नीलकण्ठस्त्रिनेत्रः ॥१७॥

एवं ध्यात्वा पशुपतेर्मन्त्रेण स्नापयेद्धरम् ।
शिवमन्त्रेण गन्धादीनर्पयेद्वह्निरेतसे ॥१८॥

प्रागादिवामावर्त्तेन दिक्ष्वष्टौ परिपूजयेत् ।
शिवं भवं रुद्रमुग्रं भीमं पशुपतिं तथा ॥१९॥

महादेवमथेशानं क्रमात् क्षित्यादिमूर्त्तिकान् ।
क्षित्यप्तेजोऽनिलाकाशयजमानेन्दुभास्कराः ॥२०॥

क्षित्यादयः स्युः शर्वाद्यास्तत इन्द्रादिकान् यजेत् ।
धूपदीपनैवेद्यानि नमस्कारप्रदक्षिणाः ॥२१॥

जपं कृत्वा तु विसृजेन्महादेवस्य मन्त्रतः ।
तारनत्यादिका ङेऽन्ता हराद्या मनवोऽद्रयः ॥२२॥

प्रतिलिङ्गं यजेद्देवमखिलानि सहैव वा ।
पूजितौ निजमन्त्राभ्यां विसृजेद् गणराड्गुहौ ॥२३॥

धनपुत्रादिकामैस्तु शिवोऽर्च्यः प्रोक्तलक्षणः ।
विद्याकामैश्चिन्तनीयः परशुं हरिणं वरम् ॥२४॥

ज्ञानमुद्रां दधद्धस्ते वटमूलमुपाश्रितः ।
पुंसोर्विरुद्धयोः सन्धौ कुर्याल्लिङ्गानि साधकः । २५॥

नदीतीरद्वयानीतमृदा तानि च पूजयेत् ।
तत्र ध्येयो हरिहरः शङ्खपद्माहिशूलभृत् ॥२६॥

इन्द्रनीलशिरश्चन्द्रनिभो भूषणपुञ्जवान् ।
दम्पत्योरविरोधार्थे ह्यर्द्धनारीश्वरः स्मृतः ॥२७॥

पीयूषपूर्णकलशं दधत्पाशाङ्कुशावपि ।
उच्चाटे मारणे द्वेष्ये ध्यातव्यः पुनरीदृशः ॥२८॥

कालीहस्ताम्बुजालम्बः शूलप्रोतद्विषच्चयः ।
मुण्डमालालसत्कण्ठो राववित्रासिताखिलः ॥२९॥

इत्थं तु कामनाभेदध्यानभेदाः प्रकीर्त्तिताः ।
पूजयेत्कार्यवशतो लक्षावधि सहस्रतः ॥३०॥

लक्षपार्थिवलिङ्गानां पूजनाद्भुक्तिमुक्तिभाक् ।
लक्षं तु गुडलिङ्गानां पूजनात् पार्थिवो भवेत् ॥३१॥

या नारी गुडलिङ्गानि सहस्रं पूजयेत् सती ।
भर्त्तुः सुखमखण्डं सा प्राप्यान्ते पार्वती भवेत् ॥३२॥

नवनीतस्य लिङ्गानि सम्पूज्येष्टमवाप्नुयात् ।
भस्मना गोमयस्यापि वालुकायास्तथा फलम् ॥३३॥

क्रीडन्तः पृथुका भूमौ लिङ्गं कृत्वा रजोमयम् ।
पूजयन्ति विनोदेन तेऽपि स्युः क्षितिनायकाः ॥३४॥

प्रातर्गोमयलिङ्गानि नित्यं यस्त्रीणि पूजयेत् ।
बृहतीविल्वयोः पत्रैर्नैवेद्यं गुडमर्पयेत् ॥३५॥

एवं मासत्रयं कुर्वन्नत्यल्पं लभते धनम् ।
एकादशैव लिङ्गानि गोमयोत्थानि यो यजेत् ॥३६॥

प्रातर्मध्याह्नयोः सायं निशीथे प्रतिवासरम् ।
स सर्वाः सम्पदो यायात् षण्मासादेवमादरात् ॥३७॥

एकादश यजेन्नित्यं शालिपृष्ठ(पिष्ट)मयानि यः ।
लिङ्गानि मासमात्रेण स कल्मषचयं दहेत् ॥३८॥

स्फाटिकं पूजितं लिङ्गमेनोनिकरनाशनम् ।
सर्वकामप्रदं पुंसामुदुम्बरसमुद्भवम् ॥३९॥

रेवाश्मजं सर्वसिद्धिप्रदं दुःखविनाशनम् ।
यथाकथञ्चिल्लिङ्गस्य पूजा नित्यं कृतेष्टदा ॥४०॥

यो यजेत् पिचुमन्दोत्थैः पत्रैर्गोमयजं शिवम् ।
क्रुद्धं महेश्वरं ध्यायन् स पराजयते रिपून् ॥४१॥

योलिङ्गं पूजयेन्नित्यं शिवभक्तिपरायणः ।
मेरुतुल्योऽपि तस्याशु पापराशिर्लयं व्रजेत् ॥४२॥
चतुर्दश्यां तथाऽष्टम्यां पौर्णमास्यां विधुक्षये ।
पयसा स्नापिते लिङ्गे धरादानफलं व्रजेत् ॥४३॥
दोग्ध्रीणान्तु गवां नित्यं यो दद्याद्वेदपारगे ।
पार्थिवं योऽर्चयेल्लिङ्गं तयोर्लिङ्गार्चको वरः ॥४४॥
लिङ्गपूजां विधायाऽग्रे स्तोत्रं वा शतरुद्रियम् ।
प्रजपेत्तन्मना भूत्वा शिवे स्व विनिवेदयेत् ॥४५॥

स्तोत्रं तु—

ॐ सर्वज्ञ ज्ञानविज्ञानप्रदानैकमहात्मने ।
नमस्ते देवदेवेश सर्वभूतहिते रत ! ॥४६॥
अनन्तकीर्त्तिसम्पन्न अनन्तासनसंस्थित ।
अनन्तकान्तिसम्भोग परमेश ! नमोऽस्तु ते ॥४७॥
परापरपरातीत उत्पत्तिस्थितिकारक ।
सर्वार्थसाधनोपाय विश्वेश्वर ! नमोऽस्तु ते ॥४८॥
स्वभावनिर्मलाभोग सर्वव्याधिविनाशन ।
योगियोगिमहायोगियोगेश्वर ! नमोऽस्तु ते ॥४९॥
कृत्वा लिङ्गप्रतिष्ठान्तु स्तवमेनमुदीरयेत् ।
लिङ्गस्तवमहापुण्यं यः शृणोति सदा नरः ॥५०॥
नोत्पद्यते च संसारे स्थानम्प्राप्नोति शाश्वतम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शृणुयाल्लिङ्गसंस्तवम् ॥५१॥
पापकञ्चुकनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमम्पदम् ।
यत्संख्याकं यजेल्लिङ्गं तन्मितं होममाचरेत् ॥५२॥
आज्यान्वितैस्तिलैरग्नौ घृतैर्वा पायसेन वा ।
शिवमन्त्रेण तस्यान्ते ब्राह्मणान् भोजयेत्ततः ॥५३॥
एवङ्कृते समस्तेष्टसिद्धिर्भवति निश्चितम् ।

तन्त्रसारे—

एकीकृत्य तु लिङ्गानि दशपञ्चशतानि वा ।
प्रत्येकं वा महेशानि बिल्वपत्रैः समर्चयेत् ॥५४॥

पदार्थक्रमेण काण्डक्रमेण वा पूजयेदिति **पूर्वमीमांसाधिकरणन्यायेन** इष्टव्यमिति दिक् ।]

इत्थं लिङ्गपूजां कृत्वा **द्वारपूजां** कुर्यात् ।

शारदातिलके—

यायादलङ्कृतो मौनी यागार्थं यागमण्डपम् ।
आचम्य विधिना तत्र सामान्यार्घं विधाय च ॥३६८॥

द्वारमस्त्राम्बुभिः प्रोक्ष्य द्वारपूजां समाचरेत् ।

सारसङ्ग्रहे—

द्वारमर्घाम्बुना प्रोक्ष्य विघ्नमूर्ध्वे समर्चयेत् ।
तद्दक्षिणे महालक्ष्मीं वामे चैव सरस्वतीम् ॥३६९॥

द्वारश्रियं च तन्मध्ये शाखयोर्दक्षिणान्ययोः ।
गणपं क्षेत्रपालं च शङ्खपद्मनिधी क्रमात् ॥३७०॥

मायाशक्तिं च चिच्छक्तिं गङ्गां च यमुनां तथा ।
धातारं च विधातारमूर्द्ध्वादिक्रमतो यजेत् ॥३७१॥

अधश्च देहलीमिष्ट्वा द्वारपालौ समर्चयेत् ।

शारदातिलके—

प्रतिद्वारमिति क्रमादित्युक्तेर्विघ्नादिदेहल्यन्तं प्रतिद्वारं सम्पूज्य तत्तद्द्वारपालार्चनं कुर्यात् ।

शारदातिलकटीकायाम्—

वक्रतुण्डैकदंष्ट्रौ च महोदरगजाननौ ।
लम्बोदराख्यविकटौ विघ्नराजश्च सप्तमः ॥३७२॥

धूम्रराजोऽष्टमो ज्ञेयो गाणपत्या इति क्रमात् ।

सारसङ्ग्रहे धूम्रवर्ण इति पाठः ।

नन्दः सुनन्दश्चण्डाख्यः प्रचण्डो बलनामकः ।
प्रबलो भद्रनामा च सुभद्रो वैष्णवा मताः ॥३७३॥

सारसङ्ग्रहे—

नन्दी चैव महाकालो गणेशो वृषभस्तथा ।
ततो भृङ्गिरिटिस्कंदावुमाचण्डेश्वरौ ततः ॥३७४॥

एते चाष्टौ महेशस्य द्वारपालौ (लाः) प्रकीर्तिताः ।
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥३७५॥

वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा च श्रिया सह ।
एता देव्याः क्रमादष्टौ शक्तयो द्वारपालिकाः ॥३७६॥

एता एव सौरद्वारपालिकाः । 'सौरं शक्तिमयं महो विजयते सौन्दर्यसीमास्पद'मिति **वामदेवतन्त्रोक्तेः** । आर्कमाश्वशिशिरं विश्वेशिकाया वपुरिति **सारसङ्ग्रहोक्तेश्च** ।

तन्त्रान्तरे—

प्रतिद्वारं पार्श्वयोस्तु द्वौ द्वावष्टाविति क्रमात् ।

अथ द्वारदेवानां ध्यानम्—

श्रीललितार्चनचन्द्रिकायाम्—

पाशाङ्कुशफलाम्भोजपाणिपाटलतुन्दिलम् ।
[1]वीरविघ्नेश्वरं वन्दे गजवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥३७७॥

पद्मद्वयवराभीतिभास्वत्पाणिचतुष्टया ।
निर्दग्धहेमगौराङ्गी महालक्ष्मीस्त्रिलोचना ॥३७८॥

ध्येयेति शेषः ।

अक्षस्रक्पुस्तकाभीतीर्दधानां बाहुभिर्वरम् ।
त्रिलोचनां स्मरेद्देवीं सर्वशुक्लां सरस्वतीम् ॥३७९॥

तप्तकार्तस्वराभासा दिव्यरत्नविभूषिता ।
द्वारश्रीरूर्द्ध्वपद्मस्था वराभयकराम्बुजा ॥३८०॥

सितो गजास्यः परशुं दन्तं पाशं त्रिशूलकम् ।
भुजैश्चतुर्भिर्बिभ्राणो मूषकोपरिसंस्थितः ॥३८१॥

कपालशूले बिभ्राणं कृपालुं कृष्णविग्रहम् ।
तीक्ष्णं त्र्यक्षं समर्चामि क्षेत्रेशं क्षतविद्विषम् ॥३८२॥

मुक्तामाणिक्यसङ्काशौ किञ्चित्स्मितमुखाम्बुजौ ।
अन्योन्यालिङ्गनपरौ शङ्खपङ्कजधारिणौ ॥३८३॥

विगलद्रत्नवर्षाभ्यां शङ्खास्यां मूर्ध्नि लाञ्छितौ ।
शङ्खासनसमासीनौ विश्वसङ्कल्पकल्पकौ ॥३८४॥

तुन्दिलं कम्बुकनिधिं वसुधरां[2] घनस्तनीम् ।
वामतः पङ्कजनिधिं प्रियया सहितं स्मरेत् ॥३८५॥

---

१. ख. वीरं० । २. ख. वसुधारां ।

सिन्दूराभौ भुजाश्लिष्टौ रक्तपद्मोत्पलान्वितौ ।
निःसरद्रत्नवर्षाभ्यां पद्माभ्यां मूर्ध्नि लाञ्छितौ ॥३८६॥

पद्मासनसमासीनौ विश्वसङ्कल्पकल्पकौ ।
तुन्दिलं पङ्कजनिधिं तन्वीं वसुमतीमपि ॥३८७॥

वराङ्कुशौ पाशमभीतिमुद्रां,
करैर्दधानां भवभावमूलाम् ।
घनाघनौघप्रभदेहकान्ति,
मायां त्रिनेत्रामनिशं स्मरामि ॥३८८॥

पाशाङ्कुशवराभीतीर्दधानामरुणप्रभाम् ।
त्रिनेत्रां चित्कलां वन्दे गौरीं रक्ताम्बरोज्वलाम् ॥३८९॥

वराभयकरां सौम्यां सोमकोटिसमप्रभाम् ।
भजे गङ्गां महादेवीं परां देवतरङ्गिणीम् ॥३९०॥

वामपादार्घसम्भूतां परां देवतरङ्गणीम् ।
वराभयकरां वन्दे कालिन्दीं कालविग्रहाम् ॥३९१॥

भर्त्तारं जगतां वन्दे शङ्खचक्रगदाम्बुजम् ।
बिभ्राणं गरुडारूढं धातारं कृष्णविग्रहम् ॥३९२॥

रक्तं रक्तारविन्दस्थं वराभयकमण्डलून् ।
हंसारूढं विधातारं वन्देऽक्षस्त्रक्समन्वितम् ॥३९३॥

सिंहारूढां श्यामवर्णां खड्गखेटकधारिणीम् ।
अधःस्थां देहलीं वन्दे पश्चिमास्यां सुरक्षिणीम् ॥३९४॥

सारसङ्ग्रहे—

पश्चिमद्वारमासाद्य तारत्रितयपूर्वकम् ।
द्वारमुद्घाट्य चास्त्रेण मन्त्रितान् सर्षपाक्षतान् ॥३९५॥

पुष्पयुक्तांस्तु विकिरेन्मण्डपाभ्यन्तरे बुधः
नाराचमुद्रया सम्यगस्त्रमन्त्रेण देशिकः ॥३९६॥

नारायणीये—

अपक्रामन्तु भूतानीत्येतन्मन्त्रद्वयं गुरुः।
पठित्वाऽक्षतसिद्धार्थपुष्पाणि विकिरेत्ततः ॥३९७॥

अस्त्रमन्त्रेण मन्त्रज्ञो मण्डपाभ्यन्तरे बुधः ।

मन्त्रद्वयं प्रयोगे वक्तव्यम्। अस्त्रेण स्वाराध्यमन्त्राङ्गभूतेन, न तु केवलं फट्कारेण।

हकाररेफौ च विसर्गवन्ता-
वस्त्राय फट्कारवचस्तदन्ते।
उक्त्वान्तरे सर्षपमक्षतांश्च,
पुष्पाणि मुञ्चेत्...... ...॥३९८॥

इति **भुवनेश्वरीपारिजातोक्तेः**। एतत्पद्योक्तोऽप्रमस्त्रमन्त्रस्तु भुवनेश्वर्याः। एवमन्यदीयोऽपि ग्राह्यः।

तूर्णापद्धतौ—

निर्गच्छतां तु विघ्नानां वर्त्म दद्यात् स्ववामतः।

सोमशम्भुः—

मण्डपाभ्यन्तरे विद्वान् वामपादपुरस्सरम्।
प्रविश्य विघ्नांस्त्रिविधानुत्सार्याऽस्त्रमनुं स्मरन्॥३९९॥

यामले—

पाखण्डकारिणो भूता भूमौ ये चान्तरिक्षगाः।
दिवि लोके स्थिता ये च ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥४००॥
इत्यन्तेऽस्त्रं समुच्चार्य पार्ष्णिघातादिभिस्त्रिभिः।

विघ्नानुत्सारयेदिति।

तूर्णायागे—

पार्ष्णिघातैस्त्रिभिर्भौमांस्तालैस्तानन्तरिक्षगान्।
विघ्नानुत्सारयेद्दिव्यानस्त्रतीक्ष्णावलोकनात्॥४०१॥

पार्ष्णिघातैर्वामपदस्य वामपार्ष्णेस्त्रिभिर्घातैर्भूमिष्ठानिति **सोमशम्भु**-वचनात्।

ललितार्चनचन्द्रिकायाम्—

कांस्यघण्टास्वनं कृत्वा द्वारमाच्छाद्य वाससा।
पञ्चगव्यार्घतोयाभ्यां प्रोक्षयेन्मण्डपान्तरम्॥४०२॥

पञ्चगव्यप्रमाणन्तु—

गौतमीये—

पलमात्रं दुग्धभागं गोमूत्रं तावदिष्यते।
घृतञ्च पलमात्रं स्याद् गोमयं तोलकद्वयम्॥४०३॥

दधि प्रसृतिमात्रं स्यात्पञ्चगव्यमिदं स्मृतम् ।
अथवा पञ्चगव्यानां समानो भाग इष्यते ॥४०४॥

श्रीकुलार्णवे—

सम्मार्जनोपलेपाद्यैर्दर्पणोदरवत्कृतम् ।
वितानधूपदीपादिपुष्पदामादिशोभितम् ॥४०५॥
पञ्चवर्णरजश्चित्रं स्थानशुद्धिरियं मता ।

सारसङ्ग्रहे—

नैर्ऋत्यामर्चयेद्वास्तुपुरुषं चन्दनादिभिः ।
ईशाने दीपनाथं च क्षेत्रपालाज्ञया ततः ॥४०६॥

संविशेदासने मन्त्रीति । क्षेत्रपालप्रार्थनमन्त्रः प्रयोगे वक्तव्यः ।

उत्तरतन्त्रे—

अः फडिति च मन्त्रेण पूजावेदीं ततो विशेत् ।
संस्कुर्यादासनस्थानं चतुर्भिर्वीक्षणादिभिः ॥४०७॥

संस्कारैस्तत्र सम्पूज्या वेद्यन्ताः पीठदेवताः ।
आधारशक्तिमारभ्य स्वासनं तत्र विन्यसेत् ॥४०८॥

आधारशक्तिमित्युपलक्षणं मण्डूकमारभ्येत्यर्थः ।

**इति श्रीगोस्वामिश्रीश्रीनिवासभट्टपौत्रश्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मज—
गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टविरचिते सिंहसिद्धान्तसिन्धौ
प्रथमस्तरङ्गः ॥१॥**

द्वितीयस्तरङ्गः

अथासनानि तत्र

पुरश्चरणचन्द्रिकायम्—

सर्वसिद्ध्यै व्याघ्रचर्म ज्ञानसिद्ध्यै मृगाजिनम् ।
वस्त्रासनं रोगहरं वेत्रजं श्रीविवर्द्धनम् ॥१॥

कौशेयं पौष्टिकं प्रोक्तं काम्बलं दुःखमोचनम् ।
अभिचारे कृष्णवर्णं रक्तं वश्यादिकर्मणि ॥२॥

शान्तिके धवलं प्रोक्तं चित्रकं सर्वकर्मसु ।
स्तम्भने गजचर्म स्यान्मारणे माहिषं तथा ॥३॥

मेषीचर्म तथोच्चाटे खड्गजं वश्यकर्मणि ।
विद्वेषे जाम्बुकं प्रोक्तं भवेद् गोचर्म शान्तिके ॥४॥

वंशासने च दारिद्र्यं दौर्भाग्यं दारुजासने ।
धरण्यां दुःखसम्भूतिः पाषाणे व्याधिसम्भवः ॥५॥

तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
इष्टकायामथाधिः स्यादेतत्साधारणे जये ॥६॥

नादीक्षितो विशेज्जातु कृष्णसाराजिने गृही ।
विशेद्यतिर्वनस्थश्च ब्रह्मचारी च स्नातकः ॥७॥

कुशाजिनाम्बरेणाढ्यं चतुरस्रं समन्ततः ।
एकहस्तं द्विहस्तं वा चतुरङ्गुलमुच्छ्रितम् ॥८॥

शारदातिलकटीकायाम्—

कौशेयं वाथ चैलं वा चार्मं तौलमथापि वा ।
वेत्रजं तालपत्रं वा काम्बलं दार्भमासनम् ॥९॥

वंशाश्मवीरुद्धरणीतृणपल्लवनिर्मितम् ।
वर्जयेदासनं मन्त्री दारिद्र्यव्याधिदुःखदम् ॥१०॥

धर्मार्थकाममोक्षाप्तिञ्चैलाजिनकुशोत्तरे ।

दार्वासनेऽन्यत्र विशेष उक्तः ।

यतीनामासनं श्लक्ष्णं कूर्माकारं तु कारयेत् ।
अन्येषां तु चतुष्पादं चतुरस्रं तु कारयेत् ॥११॥

गोशकृण्मृण्मयं भिन्नं तथा पालाशपिप्पलम् ।
लोहविद्धं सदैवार्कं वर्जयेदासनं बुधः ॥१२॥

व्यासः—

दौर्भाग्यं छिद्रदारुजे ।

नारदः—

कुशाजिनाम्बरैर्युक्तं चतुरङ्गुलमूर्ध्वतः ।
चतुरस्रं द्विहस्तं च सुदृढं मृदु निर्मलम् ॥१३॥
आसनं कल्पयित्वा तु जपकर्म समारभेत् ।

केवलवस्त्रासने दोषो

ब्रह्मयामले—

तृणपल्लवकाष्ठानि पाषाणं मृण्मयं तथा ।
वंशासनं च वस्त्रं च केवलं क्षितिमासनम् ॥१४॥
एवमष्टविधं देवि चासनं परिवर्जयेत् ।

उत्तरतन्त्रे—

वास्त्रेषु कम्बलं श्रेष्ठमासनं देवतुष्टये ।

ब्रह्मयामले—

तृणासने भवेद्रोगः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
पाषाणे च तथोच्चाटो ज्वरः स्यान्मृण्मयासने ॥१५॥

क्षित्यासने भवेत्पीडा पापविस्फोटदुःखदा ।
वंशासने दरिद्रः स्याद्वस्त्रे स्थानविनाशनम् ॥१६॥

चिन्ता च प्रबला हानिरुच्चाटो विविधो ज्वरः ।
शोकशूलादिका रोगा मृत्युः स्याद्दारुकासने ॥१७॥

पुरश्चरणचन्द्रिकायाम्—

स्वस्तिकादिक्रमेणाथ विशेत्तत्र निराकुलः ।

शारदातिलकटीकायाम्—

पद्मस्वस्तिकवीरादिष्वेकासनसमास्थितः ।
जपार्चनादिकं कुर्यादन्यथा निष्फलं भवेत् ॥१८॥

पुरश्चरणचन्द्रिकायाम्—

स्वस्तिकं पद्मकं वीरं सिद्धं चेति चतुष्टयम् ।

जपे प्रशस्तमिति । स्वस्तिकादिलक्षणानि—

गोरक्षसंहितायाम्—

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे[1] ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तदुदाहृतम् ।।१९।।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलः[2] ।।२०।।

सिद्धासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ।
एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितम् ।।२१।।

इतरस्मिंस्तथा चोरौ वीरासनमुदाहृतम् ।
वामपादमुपादाय दक्षिणोरौ प्रविन्यसेत् ।।२२।।

तथैव दक्षिणं पादं सव्यस्योपरि विन्यसेत् ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम् ।।२३।।

शारदातिलकटीकायाम्—

दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम् ।
प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायं चैव तर्पणम् ।।२४।।

आसनारूढपादस्तु जानुनोर्वाऽथ जङ्घयोः ।
कृत्वावसस्थिको यस्तु प्रौढपादः स उच्यते ।।२५।।

गौतमीतन्त्रे—

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि स्वस्तिकासनमास्थितः ।
रात्रावुदङ्मुखः कुर्याद्देवकार्यं सदैव हि ।।२६।।

शिवार्चनं सदाऽप्येवं शुचिः कुर्यादुदङ्मुखः ।[3]

उत्तरतन्त्रे—

उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा भूत्वा प्रयतमानसः ।
स्वस्तिकासनमासीनः पद्मासनमथापि वा ।।२७।।

---

१. ख. उभै । २. ख. सुनिश्चतः । ३. ख. पुस्तके विशेषः—

निबन्धे— तत्र कृष्णार्चकः प्रायो दिवसे प्राङ्मुखो भवेत् ।
उदङ्मुखो रजन्यां तु स्थिरमूर्त्तेश्च सम्मुखः ।।१।।

आपस्तम्बः—

पूजासनमथात्मीयं चेलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रोपविश्य विधिवत्स्मरेद्विष्णुं गुरुं मुदा ॥२८॥

विष्णुमित्युपलक्षणम् । स्वेष्टदेवमित्यर्थः । **योगिनीतन्त्रे** पृथ्वीमन्त्रेणासने सन्निविष्टः । मन्त्रः प्रयोगे वक्तव्यः ।

भैरवीतन्त्रे—

मेरुपृष्ठ ऋषिः प्रोक्तः सुतलं छन्द ईरितम् ।
पृथिवी देवता प्रोक्ता विनियोगो निजासने ॥२९॥

सारसङ्ग्रहे—

आसनस्य चतुष्कोणे गणेशं च सरस्वतीम् ।
दुर्गां क्षेत्रपतिं चापि वह्न्यादिषु समर्चयेत् ॥३०॥

स्थापयेद्दक्षिणे भागे पूजाद्रव्याणि चात्मनः ।
सुवासिताम्बुसम्पूर्णं सव्ये कुम्भं सुशोभनम् ॥३१॥

प्रक्षालनाय करयोः पात्रं पृष्ठे निधापयेत् ।
घृतादिज्वलितान् दीपान् स्थापयेत्परितः शुभान् ॥३२॥

दर्पणं चामरं छत्रं तालवृन्तं च पादुके ।
यथायथं तु संस्थाप्य संस्कुर्यात्तानि चात्मवान् ॥३३॥

उत्तरतन्त्रे—

पुष्पनैवेद्यगन्धादि हाँ हूँ फडिति मन्त्रकैः ।
नाराचमुद्रया दृष्ट्या समया च विलोकयेत् ॥३४॥

यदात्मना न विज्ञातं सम्यक् पुष्पादिदूषणम् ।
अस्पृश्यस्पर्शनं वापि यदन्यायार्जितं च वा ॥३५॥

तथा निर्माल्यसंस्पृष्टं कीटाद्यारोहणं च यत् ।
तत्सर्वं नाशमायाति नैवेद्याद्यवलोकनात् ॥३६॥

ततो रमिति मन्त्रेण शिखां दीपस्य संस्पृशेत् ।
स तु स्याच्छुभदो दीपो निष्क्रव्यादः सुखप्रदः ॥३७॥

पतङ्गकीटकेशादिदाहात् क्रव्यादसंहतेः ।
वसामज्जादिसम्भूतैर्यज्ञादावुपयोजने ॥३८॥

अज्ञातरूपं तत्सर्वं दोषः स्पर्शाद्विनश्यति ।
नारसिंहेन मन्त्रेण देवतीर्थेन संस्पृशेत् ॥३९॥

पानीयं घटमध्यस्थं वीक्षन् गुह्यं च याजकः ।
वामेन पाणिना धृत्वा वामपार्श्वस्थितं तदा ॥४०॥

पात्रमाधारमन्त्रेण संस्कुर्वन् संस्पृशेज्जलम् ।
यदज्ञानादपेयादिसंस्पृष्टिरिह सङ्गता ॥४१॥

यदन्यद्दूषणं पात्रे तोये वाऽज्ञानतो भवेत् ।
[1]जलाशयशिवस्पर्शाज्जलस्नानाच्च सङ्गतम् ॥४२॥
दूषणानि विनश्यन्ति तानि वै देवपूजने ।

नारसिंहो मन्त्र एकाक्षरः स तु प्रयोगे वक्तव्यः । आधारमन्त्रस्तु—

'स्वसंज्ञाद्यक्षरं बिन्दुचन्द्रार्द्धपरियोजितम्'

इति संज्ञाद्यक्षरं नामाद्यक्षरमित्यर्थः । तेन आँ इति ।

ज्ञानार्णवे—

आत्मस्थानद्रव्यदेवमन्त्रशुद्धिं तु पञ्चमीम् ।
यावन्न कुरुते देवि तावद्देवार्चनं कुतः ॥४३॥

पञ्चशुद्धिं विना पूजा अभिचाराय कल्पते ।
सुस्नातैर्भूतशुद्ध्याद्य च प्राणायामादिभिः प्रिये ॥४४॥

षडङ्गाद्यखिलन्यासैरात्मशुद्धिरितीरिता ।
ग्रथितं मातृकावर्णैर्मूलमन्त्राक्षराणि च ॥४५॥

क्रमोत्क्रमाद् द्विरावृत्त्या मन्त्रशुद्धिरितीरिता ।
पूजाद्रव्याणि मूलास्त्रैर्विशोध्य च विधानतः ॥४६॥

दर्शयेद्धेनुमुद्रादि द्रव्यशुद्धिरितीरिता ।
पीठे देवीं प्रतिष्ठाप्य सकलीकृत्य मन्त्रवित् ॥४७॥

मूलमन्त्रेण दीपादीन्माल्यादीनुदकेन च ।
त्रिवारं प्रोक्षयेद्धीमान् देवशुद्धिरितीरिता ॥४८॥

स्थानशुद्धिः प्रागुक्तैव ।

---

१. ख. जलाशयशवस्पर्शात्० ।

उत्तरतन्त्रे—

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः ।
नत्वा गुरुं गणेशानं पुरतः स्वेष्टदेवताम् ॥४६॥

सुगन्धपुष्पाण्यादाय चन्दनाक्तानि मन्त्रवित् ।
मर्दयित्वा करौ सम्यक् सुरभीकृत्य साधकः ॥५०॥

वामहस्ते समादाय निर्मुष्ट्याघ्राय[1] तत्पुनः ।
वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण चैशान्यां दूरतस्त्यजेत् ॥५१॥

सारसङ्ग्रहे—

क्षिपेदुत्तरतः पुष्पं मन्त्री नाराचमुद्रया ।

कालिकापुराणे—

कुसुमं विष्णुमन्त्रेण स्वाङ्गुल्यग्रेण साधकः ।
विमर्दनार्थं गृह्णीयात्करशोधनकर्मणि ॥५२॥

निर्मुष्ट्य[2] रोमबीजेन जिघ्रद् घ्राणेन तत्पुनः ।
प्रासादेन परित्यागो दिश्यैशान्यां विशेषतः ॥५३॥

एवं कृते तु करयोर्विशुद्धिरतुला भवेत् ।
अङ्गुल्यग्राणि शुद्धानि पुष्पाणां ग्रहणाद्भवेत् ॥५४॥

तलद्वयं मर्दनात्तु विशुद्धमति जायते ।
निर्मुञ्छनात्पाणिपृष्ठं घ्राणान्नासाग्रमुत्तमम् ॥५५॥

तीर्थानि च समायान्ति नासिकाग्रं करं प्रति ।
उपान्त्यः साग्निचन्द्रेण रञ्जितः शून्यसंयुतः ॥५६॥
रुद्रान्तोपरि संस्पृष्टो मन्त्रोऽयं वैष्णवः स्मृतः ।

उपांत्यो हकारः,मातृकायाः पञ्चाशदक्षरत्वेन द्वितीयलकारस्याग्रहणात् । अग्नी रेफः, चन्द्रः सकारः, शून्यं बिन्दुः, रुद्रान्तः ऐकारः, ह्स्रैमिति बीजं सिद्धम् ।

प्रान्तादिर्वासुदेवान्तवर्णेनापि च संहतः ।
शम्भुचूडाशिखाबिन्दुयुक्तः प्रासाद उच्यते ॥५७॥

प्रान्तादिर्हकारः । वासुदेवान्तः औकारः । शम्भुचूडशिखा अर्द्धचन्द्रः । बिन्दुरनुस्वारः, तेन हौँ, रोमबीजं रोमिति ।

---

१. ख. निर्मुञ्छ्याघ्राय । २, निर्मुञ्छ्य ।

नृसिंहकल्पे—

करशुद्धिं समापाद्य कुर्यात्तालत्रयं ततः ।
ऊर्द्ध्वोर्द्ध्वमस्त्रमन्त्रेण दिग्बन्धमपि देशिकः ॥५८॥
तेन सञ्जनितं तेजो रक्षां कुर्यात्समन्ततः ।

अस्त्रमन्त्रेणेत्यस्य करशुद्धचादिषु त्रिषु सम्बन्धः ।

पाणी विशोधयेदस्त्रमन्त्रेण मनुवित्तमः ।

इति **दक्षिणामूर्त्तिकल्पवचनात्** । अस्त्रमन्त्रस्तु तत्तदङ्गभूतः । न तु केवलं फट्कारः ।

रः अस्त्राय फट् प्रोक्ता भ्रामयेद्दक्षिणं करमिति ।

कुम्भसम्भववचनात् । दिग्बन्धस्वरूपमुक्तम् **प्रयोगसारे**—

आच्छाद्य दिक्षु तर्जन्या ज्येष्ठाग्रस्खलिताग्रया । इति ।

सारसङ्ग्रहे—

प्राकारत्रितयं वह्नेः कृत्वाऽस्त्रेण स्वमुद्रया ।

स्वमुद्रया । अग्निप्राकारमुद्रया । तल्लक्षणम् --

प्रयोगसारे—

त्रिशूलाढचौ करौ कृत्वा व्यत्यस्तावभितो नयेत् ।
अस्त्रमुद्रेयमाख्याता वह्निप्राकारलक्षणा ॥५९॥
परद्रोहोपशमनी नागाशनिभयापहा ।

सनत्कुमारीये गोपालकल्पे—

सुखासनेनोपविश्य प्राणायामं विधाय वै ।
भूतशुद्धिं ततः कृत्वा न्यासं कुर्यादनन्तरम् ॥६०॥

न्यासं मातृकायाः ।

शारदातिलके—

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः ।
नत्वा गुरुं गणेशानं भूतशुद्धिं समाचरेत् ॥६१॥

सारसङ्ग्रहे—

भूतशुद्धिं ततः कुर्यात्प्राणायामपुरःसरम् ।

ज्ञानार्णवे—

आसने सम्यगासीनो वामेनापूर्य चोदरम् ।
कुम्भकेन त्रिरावृत्य दक्षिणेन तु रेचयेत् ॥६२॥

कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम् ।
प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमे विना ॥६३॥

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

मूलमन्त्रेण देवेशि वामेनापूर्य चोदरम् ।
कुम्भकेन त्रिरावृत्त्य दक्षिणेन तु रेचयेत् ॥६४॥

त्रिरिति न्यूनसंख्याव्यवच्छेदकम् ।

कुम्भसम्भवः—

यावच्छक्यं नियम्यासून्मनसैव मनुं जपेत् ।
राम मुहुर्मुहुर्ध्यायन्पूर्वोक्तविधिना मुने ॥६५॥

असून्नियम्य कुम्भकं कृत्वा रामं ध्यायेत्, यावच्छक्यं मनुं जपेदिति सम्बन्धः । अतः कुम्भकसमय एव मन्त्रजपो ज्ञेयः ।

दक्षिणामूर्त्तिकल्पेऽपि—

प्राणापानौ समौ कृत्वा प्रविधाय च कुम्भकम् ।
हृत्पङ्कजे समासीनं मां ध्यायन् यतमानसः ॥६६॥
मूलमन्त्रं यथाशक्ति जपेद्भक्तिपरायणः ।

वामकेश्वरतन्त्रे—

कुम्भके चिन्तयेद्विद्वान् विद्यां मुक्तिकरीं शुभाम् ।
पूरकं कुम्भकं चैव रेचकं च विचिन्तयेत् ॥६७॥

ललितार्चनचन्द्रिकायाम्—

बाह्यादाधरणं[1] वायोरुदरे पूरको हि सः ।
सम्पूर्णं कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको मतः ॥६८॥

बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ।
युक्तं युक्तं पिबेद्वायुं युक्तं युक्तं च धारयेत् ॥६९॥

युक्तं युक्तं त्यजेदेनमेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ।
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वार्यः शनैः शनैः ॥७०॥

तथैव हि निजो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥७१॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ।

---

१. ख. बाह्यादापूरणं ।

जपपूजाङ्गभूतप्राणायामेषु यथाशक्ति मूलमन्त्रस्य जप एव कार्यः । न तु मात्रादिगणना । तस्या योगाङ्गप्राणायामपरत्वात् । उक्तञ्च—

कात्यायनीतन्त्रे—

मध्यामूलाद्यावदग्रमङ्गुष्ठेन निपीड्यते ।
मात्रा सा प्रोच्यते सद्भिर्योगेऽभीष्टं प्रयच्छतीति ॥७२॥

योगशास्त्रे—

जानुं प्रदक्षिणीकुर्याद्यावत्कालेन साधकः ।
तावत्कालमिता मात्रा स्वनिश्वाससमापि सा ॥७३॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्द्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥७४॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनो मुहुः ॥७५॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥७६॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्त क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढे भूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥७७॥

रुद्रयामले—

सगर्भश्च विगर्भश्च प्राणायामो द्विधा मतः ॥

योगिनीतन्त्रे—

अयम्प्राणायामः सकलदुरितध्वंसनकरो
विगर्भः प्रोक्तोऽसौ शतगुणफलो गर्भकलितः ।
जपध्यानापेतः स तु निगदितो गर्भरहितः,
सगर्भस्तद्युक्तो मुनिपरिवृढैर्योगनिरतैः ॥७८॥

त्रिपुरासारसमुच्चये—

अथेदं शरीरं स्वकीयाङ्गुलीभि—
र्बुधैः षण्णवत्यङ्गुलायामयुक्तम् ।
दिनेशाङ्गुलीभिः शरीरात् समीरो
ऽधिकः प्राणसंज्ञो मतो योगविद्भिः ॥७९॥

इति प्राणवायुं सदाऽभ्यासतो यो
नरो न्यूनभावं नयत्येनमङ्गात् ।

समत्वं शरीरेण वा भूतलेऽस्मिन् ।
स पूज्यो बुधैरुत्तमो योगवित्सु ॥८०॥

शुचिः प्राणायामान् प्रणवसहितान् षोडश वशी,
प्रभाते सायञ्च प्रतिदिवसमेवं वितनुते ।
द्विजो यस्तं भ्रूणप्रहरणकृतांहोऽभिकलित-
म्पुनन्त्येते मासादिह दुरिततूलौघदहनाः ॥८१॥

त्रायन्त्यमी षड्भिरपीह मासै-
र्जन्मान्तरोपार्जितपापपुञ्जात् ।
संवत्सराद्ब्रह्मपदं तदेक-
म्प्रकाशयन्त्येव यदच्युताख्यम् ॥८२॥

कुलार्णवे—

तपांसि तीर्थयात्राद्या मखदानव्रतादयः ।
प्राणायामस्य तस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८३॥

मानसं वाचिकं पापं कायिकं वापि यत्कृतम् ।
तत्सर्वं निर्दहेच्छीघ्रं प्राणायामत्रयेण वै ॥८४॥

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य संयमात् ॥८५॥

प्राणायामविशुद्धात्मा यद्यत्कर्म करोति हि ।
तत्तत्फलत्यसन्देहं त्वप्रयत्नेन वा कृतम् ॥८६॥

अगस्तिसंहितायाम्—

प्राणायामैर्विना यद्यत्कृतं कर्म निरर्थकम् ।
अतो यत्नेन कर्त्तव्याः प्राणायामाः शुभार्थिभिः ॥८७॥

सारसङ्ग्रहे—

पादतो जानुपर्यन्तं चतुरस्रं सवज्रकम् ।
लंयुतं पीतवर्णं च भुवः स्थानं विचिन्तयेत् ॥८८॥

जान्वोरानाभि चन्द्रार्द्धनिभं पद्मेन लाञ्छितम् ।
शुक्लवर्णं स्वबीजेन युक्तं ध्यायेदपां स्थलम् ॥८९॥

नाभितः कण्ठपर्यन्तं त्रिकोणं रक्तवर्णकम् ।
सस्वस्तिकं स्वबीजेन युक्तं वह्नेस्तु मण्डलम् ॥९०॥

कण्ठाद्भ्रूमध्यपर्यन्तं कृष्णं वायोस्तु मण्डलम् ।
षट्कोणं बिन्दुभिः षड्भिर्युक्तं बीजेन चिन्तयेत् ॥६१॥

भ्रूमध्याद्ब्रह्मरन्ध्रान्तं वर्त्तुलं ध्वजलाञ्छितम् ।
धूम्रवर्णं स्वबीजेन युक्तं ध्यायेन्नभःस्थलम् ॥६२॥

निबन्धे—

पद्धस्तपायूपस्थावाक् क्रमाद् ध्येया धरादिगाः ।
स्वकीयविषयैर्युक्ता गमनग्रहणादिभिः ॥६३॥

घ्राणं च रसना चक्षुः स्पर्शनं श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
क्रमाद् ज्ञेयं धरादिस्थं गन्धादिगुणसंयुतम् ॥६४॥

ब्रह्मविष्णुशिवेशानाः सदाशिव इतीरिताः ।
धरादिभूतसङ्घेशा ध्येयास्तन्मण्डलेषु ते ॥६५॥

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिश्चतुर्थिका ।
शांत्यतीतेति पञ्चैव कला ध्येया धरादिगाः ॥६६॥

समानोदानव्यानाश्चापानप्राणौ च वायवः ।
धरादिमण्डलगताः पञ्च ध्येयाः क्रमादिमे ॥६७॥

सारसङ्ग्रहे—

इति ध्यात्वा तु भूतानि स्वकाये देशिकोत्तमः ।
धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालं सुशोभनम् ॥६८॥

ऐश्वर्याष्टदलं चैव परवैराग्यकर्णिकम्[1] ।
स्वीयहृत्कमलं ध्यायेत्प्रणवेन प्रकाशितम् ॥६९॥

कृत्वा तत्कर्णिकासंस्थं प्रदीपकलिकानिभम् ।
सुषुम्णावर्त्मनात्मानं परमात्मनि योजयेत् ॥१००॥

योगयुक्तेन विधिना सोऽहं मन्त्रेण देशिकः ।
तत्रैव सर्वतत्वानि विलीनानि विचिन्तयेत् ॥१०१॥
ततः पापपुरुषं ध्यायेत्तत्प्रयोगे वक्तव्यम् ।

---

१. ख. परं वैराग्यकर्णिकम् ।

तथा—

ततः संशोषयेदेनं पूरकादिक्रमेण वै ।
विधाय प्राणसंरोध वायुबीजेन वायुना ॥१०२॥

वह्निबीजेन तेनैव सन्दहेत्सकलां तनुम् ।
भस्म तद्वाममार्गेण निर्गतं चिन्तयेत्सुधीः ॥१०३॥
ततो वमिति बीजेन प्लावयेत्सकलां तनुम् ।

डामरे—

बीजैश्चतुर्विधैर्वायोरग्नेर्वरुणशक्रयोः ।
यमिदं शोषकं बीजं रमिदं दाहक महत् ॥१०४॥

वं वै प्लावनबीजं[1] च लमैन्द्रममृतात्मकम् ।

लमिति बीजेन दग्धप्लावितशरीरस्य पुनः स्वस्थीकरणमुक्तम् ।

सञ्जाते सकले देहे देवतोपासनक्षमे ।
आत्मलीनानि तत्वानि स्वस्थानं प्रापयेत्ततः ॥१०५॥

आत्मनो हृदयाम्भोजमानयेत् परमात्मनः ।
हंसमन्त्रेण विधिवत्तेजोरूपकलेवरम् ॥१०६॥
देवताराधने योग्यमुत्पन्नमिति भावयेत् ।

अत्र केचित्—

संयोज्य जीवमथ दुर्गममध्यनाडी
मार्गेण पुष्करनिविष्टशिवे सुसूक्ष्मे ।

हंसेनेति **योगिनीतन्त्र**वचनात् ।

नेतव्यो हंसमन्त्रेण द्वादशान्ते सितः परः ।

इत्यन्यत्राप्युक्तत्वाद्धंसमन्त्रेण जीवस्योन्नयनम् ।

सोहं मन्त्रेण तामाद्यां नादान्ते सिद्धभाविताम् ।
ध्यात्वैवं ब्रह्मरन्ध्राच्च हृदि जीवकलां न्यसेत् ॥१०७॥

इति **वसिष्ठसंहिता**वचनात् ।

सोहं धियात्मचैतन्यं समानीय चिदम्बरात् ।

---

१. ख. प्लावनं बीजं ।

इति **गणेश्वरपरामर्शिणीवचनाच्च** सोहं मन्त्रेण जीवस्यानयनं वदन्ति । यथागुरूपदेशमत्र कर्त्तव्यम् । अत्र वायुबीजादिजपस्तत्तत्कर्मभावनापर्य्यन्तं विधेयः ।

ततो भूतात्मकं देहं वायुबीजेन वायुना ।
वायुमुत्तोल्य संशोष्य ज्ञात्वामुं दक्षया त्यजेत् ॥१०८॥

इति **कात्यायनीसंहितायाम्** ।

दक्षिणे वह्निबीजेन प्राग्दग्धमिति भावयेत् ।

इति **योगिनीतन्त्रे** च संख्यानुक्तेः ।

शारदातिलकटीकायाम्—

अत्र स्थानत्रये षोडश-चतुष्षष्टि-द्वात्रिंशत्संख्याक्रमेण जप इति केचित् । अन्ये द्वादश-पञ्चाशत्पञ्चविंशतिसंख्येत्यूचुः । तदुक्तम्—

संहितायाम्—

मरुदग्निसुधाबीजैः पञ्चाशन्मात्रमात्रकम् । इति ।

आचार्याश्च—

अथवा शोषणदहनप्लावनभेदेन शोधिते देहे ।
पञ्चाशद्भिर्मात्रा सदैव विधिवत्समापयेत्प्राणान् ॥१०९॥

इत्युक्तं यथागुरूपदेशं कर्त्तव्यम् ।

कुम्भसम्भवः—

भूतशुद्धिविहीनेन कृता पूजाऽभिचारवत् ।
विपरीतफलं दद्यादभक्त्या पूजनं यथा ॥११०॥

शारदातिलकटीकायाम्—

भूतशुद्धिं विना कर्मजपहोमार्चनादिकम् ।
भवेत्तन्निष्फलं सर्वप्रकारेणाप्यनुष्ठितम् ॥१११॥

श्रीकुलार्णवे—

आत्मस्थानमनुद्रव्यदेवशुद्धिश्च पञ्चमी ।
यावन्न कुरुते देवि तावद्देवार्चनं नहि ॥११२॥
सुस्नानभूतसशुद्धिप्राणायामादिभिः प्रिये ।
षडङ्गाद्यखिलन्यासैर्देहशुद्धिरितीरिता ॥११३॥

सारसंग्रहे—

भूतशुद्धिं विधायेत्थं ततो वै स्थापयेदसून् ।
तारं नारायणं सेन्दुं मायामङ्कुशमुद्धरेत् ॥११४॥

यादीन्सबिन्दून्सप्तार्णानुद्धृत्य वियदो युगम् ।
बिन्दुयुक्तं चाजपाख्यं परमात्ममनुं वदेत् ॥११५॥

अमुष्यशब्दमुद्धृत्य प्राणा इह इतीरयेत् ।
प्राणाः पाशादिकान्वर्णांस्तिथिसंख्यान् पुनर्वदेत् ॥११६॥

अमुष्य जीव इह च स्थित इहेत्युद्धरेत्ततः[1] ।
पुनः पञ्चदशार्णान्ते अमुष्येति पद वदेत् ॥११७॥

सर्वेन्द्रियाणि च ततः पुनः पञ्चदशार्णकान् ।
अमुष्य वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रघ्राणपदादथ[2] ॥११८॥

प्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु च द्विठः ।
इत्थं प्राणप्रतिष्ठाख्यमनुः प्रोक्तो मनीषिभिः ॥११९॥

चतुर्दशोत्तरशतवर्णैः सर्वार्थसिद्धिदः ।

तारः प्रणवः, नारायणः आकारः सः सेन्दुः सानुस्वारः । माया भुवनेश्वरीबीजं ह्रीमिति । अङ्कुशस्तद्बीजं क्रोमिति । वियत् हकारः, औस्वरूपम्, बिन्दुरनुस्वारः तेन हौमिति । अजपा हसः इति परमात्ममनुः । सोहमिति, द्विठः स्वाहाकारः । स्वीयप्राणप्रतिष्ठायाममुष्येति स्थाने ममेति पदं योज्यमेवं देवतादिप्रतिष्ठायां तत्तद्देवतानाम षष्ठ्यन्तं ग्राह्यम् ।

अत्र केचित्—

प्रत्यमुष्यपदं पूर्वं पाशाद्यानि प्रयोजयेत् ।
प्रयोगेषु समाख्यातः प्राणमन्त्रो मनीषिभिः ॥१२०॥

इति **शारदातिलकादि**दर्शनात्पाशबीजादिपञ्चदशवर्णानामादावेवोच्चारणं स्थानान्तरेषु न काम्यप्रयोगकाले तेषामुच्चारः; स्थानान्तरेषु न जपपूजादिष्विति वदन्ति तत्र स्वगुरुमतं प्रमाणम् ।

सारसङ्ग्रहे—

ऋषयो ब्रह्मविष्णवीशा मन्त्रस्यास्य समीरिताः ।
छन्दांसि ऋग्यजुःसामान्याहुरागमपारगाः ॥१२१॥

---

१. ख. इत्युद्धरेत्ततः । २. क. ० पदारथ ।

प्राणशक्तिर्देवता स्यात्सर्वप्राणिहृदि स्थिता ।
पाशो बीज शक्तिरेव शक्तिः कीलकमङ्कुशः ॥१२२॥

विनियोगस्तु विज्ञेयः प्राणस्थापनकर्मणि ।
श्रीकण्ठं बिन्दुसंयुक्तं कवर्गं बिन्दुसयुतम् ॥१२३॥

आकाशवाय्वग्निजलपृथिव्यात्मने च वदेत् ।
सबिन्द्वनतो हृन्मंत्रः सूक्ष्म बिन्दुयुतं वदेत् ॥१२४॥

बिन्दुयुक्तचवर्गान्ते शब्दस्पर्श च रूप च ।
रसगन्धात्मनेत्यन्ते त्रिमूर्त्तीशं सबिन्दुकम् ॥१२५॥

वदेदथ शिरोमन्त्रस्त्वमरेशं सबिन्दुकम् ।
टवर्गं च तथोद्धृत्य श्रोत्रत्वक्चक्षुरित्यथ ॥१२६॥

जिह्वाघ्राणात्मनेऽर्घीशो बिन्दुयुक्तः शिखामनुः ।
भिण्टीश बिन्दुसयुक्तं तवर्गं तादृशं वदेत् ॥१२७॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थात्मने बिन्दुभौतिके ।
[1]वर्माणुबिन्दुयुक् सद्यः पवर्गो बिन्दुसंयुतः ॥१२८॥

वचनादानविसर्गगमनानन्द चात्मने ।
अनुग्रहो बिन्दुयुतो नेत्रमन्त्र उदाहृतः ॥१२९॥

तिथिस्वरान्ते याद्यार्णान्[2] दशबिन्दुविभूषितान् ।
उक्त्वा मनोबुद्ध्यहङ्कारान्ते चित्तात्मने पदम् ॥१३०॥

विसर्ग एष सम्प्रोक्तो मनुरस्त्राभिधानकः ।
एवं षडङ्गमनवस्तारबीजत्रयादिकाः ॥१३१॥

न्यस्तव्या जातियुक्ताश्च मन्त्रिभिः स्वकराङ्गयोः ।
नाभितः पादयुग्मान्त कण्ठादानाभिमस्तकात् ॥१३२॥

कण्ठान्तमिति बीजानि पाशादीनि प्रविन्यसेत् ।
ततो हृत्पद्ममध्ये तु ध्यात्वा वसुदलाम्बुजम् ॥१३३॥

तस्य वाय्वग्निपूर्वेषु पश्चिमेशानयोरपि ।
नैऋतोत्तरयाम्येषु कर्णिकायां दलेषु च ॥१३४॥

---

१. ख. वर्माणुबिन्दुयुक् । २. ख. याद्यर्णान् ।

यादिक्षान्तान्यक्षराणि बिन्दुयुक्तानि विन्यसेत् ।
एकैकशो लवर्ज्यानि ततो देवीं हृदि स्मरेत् ॥१३५॥

ध्यानं प्रयोगे वक्ष्यते ।

इति ध्यात्वाऽर्चयित्वा च मानसैरुपचारकैः ।
हृदि हस्तमथो न्यस्य प्राणस्थापनमाचरेत् ॥१३६॥

एतत्प्रतिष्ठाप्रकारः प्रयोगे व्यक्तो भविष्यति ।

त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे—

प्राणायामं ततः कृत्वा मातृकान्यासमाचरेत् ।

कुम्भसम्भवः—

वामया पूरयेद्वायुं स्वरैः काद्यैश्च कुम्भयेत् ।
रेचयेद्यादिभिर्वर्णैस्ततः पिङ्गलया पुनः ॥१३७॥

प्राणायामत्रयं त्वेव कृत्वा व्यापकमाचरेत् ।
अकारादिक्षकारान्तैरापादतलमस्तकम् ॥१३८॥

इति मातृकाप्राणायामः । 'मातृकान्यासाः प्रयोगे वक्तव्याः । अत्र तेषां प्रमाणवचनानि लिख्यन्ते—'[1]

सारसङ्ग्रहे—

अथ सम्यङ्मातृकाया विधानमभिधीयते ।
अशेषदुःखशमनं समस्तज्ञानदीपनम् ॥१३९॥

प्रोक्तो ब्रह्मा मुनिश्छन्दो गायत्रं देवता मता ।
सरस्वती सर्वदेववन्दिताऽनिन्दितप्रभा ॥१४०॥

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

……………हलो बीजानि शक्तयः ।

स्वरास्तु परमेशानि जाता व्यक्तिस्तु कीलकम् ॥१४१॥ इति ।

सिद्धसारस्वततन्त्रे—

दक्षहस्ततले पृष्ठे करभेऽङ्गुष्ठकादिषु ।
कनिष्ठान्तासु वामे च कनिष्ठादितलावधि[2] ॥१४२॥

स्वरान् षोडश देवेशि केवलान्विन्यसेत्प्रिये ।
बिन्दुयुक्तान्विलोमेन वामहस्ततलात्प्रिये ॥१४३॥

---

१. '—' चिह्नगांशो नास्ति ख. पुस्तके । २. ख. ०तलाविधि ।

दक्षहस्ततलान्तन्तु न्यसेत्संहार ईरितः ।
दक्षहस्ततलाद्देवि वामहस्ततलावधि ॥१४४॥

न्यसेद्विसर्गसयुक्तान् सृष्टिरेषा प्रकीर्त्तिता ।
वामहस्तकनिष्ठादितत्तलावधि विन्यसेत् ॥१४५॥

बिन्दुसर्गयुतानष्टौ लृकारादीन्स्वरान्पुनः ।
दक्षहस्ततलाद्देवि तत्कनिष्ठावधि प्रिये ॥१४६॥

अकारादिऋकारान्तान् स्थितिन्यास उदाहृतः ।
वामहस्तकनिष्ठादिपञ्चस्वङ्गुलिषु क्रमात् ॥१४७॥

तकारादिशकारान्तान् पर्वस्वेकैकशो न्यसेत् ।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तास्वङ्गुलीषु तथा न्यसेत् ॥१४८॥

दक्षहस्ते च देवेशि कादिणांतान् स्थितिक्रमात् ।
षकारादीन्पञ्चवर्णान् युगपत्करयोर्न्यसेत् ॥१४९॥

अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु व्यापकत्वेन सुन्दरि ।
करशुद्धि विधायेत्थ मातृकार्णैर्महेश्वरि ॥१५०॥

षडङ्गानि[1] न्यसेत्पश्चाद्वक्ष्यमाणेन वर्त्मना ।

सारसङ्ग्रहे

ततश्चास्याः षडङ्गानि विन्यसेद्देशिकोत्तमः ।
अमांमध्ये कवर्ग स्यादिमींमध्ये चवर्गकः ॥१५१॥

उमूंमध्ये टवर्गः स्यादेमैंमध्ये तवर्गकः ।
अमौंमध्ये[2] पवर्गः स्यादनुस्वारविसर्गयोः ॥१५२॥

यशवर्गौ मलक्षौ[3] स्तो जातियुक्तानिमान्न्यसेत् ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

आदावभ्यन्तरे न्यस्य षडाधारेषु मन्त्रवित् ।
अकारादिक्षकारान्तां ततो देहे बहिर्न्यसेत् ॥१५३॥

तत्प्रकारमाह **दक्षिणामूर्त्तिसहितायाम्—**

कलापत्राम्बुजे कण्ठे स्वरान्सम्यक्प्रविन्यसेत् ।
हृद्यर्कपत्रे तद्वर्णान्नाभौ दशदले न्यसेत् ॥१५४॥

---

१. ख. षडङ्गादि । २. ख. ओमौंमध्ये । ३. ख. सलक्षौ ।

दशवर्णान् लिङ्गमूले षड्दले षट् तथेश्वरि ।
चतुर्दले तथाधारे चतुर्वर्णास्ततो न्यसेत् ॥१५३॥
भ्रूमध्ये द्विदले [1]हक्षावित्यन्तर्मातृकां न्यसेत् ।
इति तद्वर्णान्द्वादशवर्णान् ।

सारसङ्ग्रहे—

मस्तके मुखवृत्ते च नेत्रकर्णेषु विन्यसेत् ।
नासागण्डोष्ठदन्तेषु समूर्द्धास्येषु विन्यसेत् ॥१५४॥

पाणिपादयुगस्यापि सन्ध्यग्रेषु न्यसेत्क्रमात् ।
पार्श्वयोः पृष्ठसन्नाभिजठरेषु प्रविन्यसेत् ॥१५५॥

हृद्दोर्मूलककुद्वामदोर्मूलेषु हृदादि च ।
करपद्युगले चैव जठराननयोर्न्यसेत् ॥१५६॥

न्यसेद्विन्द्वन्तिकामेतां संहारेण विलोमतः ।
पूर्वोक्ता एव मुन्याद्याः षडङ्गं च तथा भवेत् ॥१५७॥

संचिन्त्य सृष्टिमार्गेण विन्यसेत्सर्गसंयुतान्[2] ।
बिन्दुसर्गयुतान्[3] स्थित्या [4]डादिढार्णान्तिकान्त्यसेत् ॥१५८॥
पूर्वोक्ता एव मुन्याद्याः षडङ्गं च तथा भवेत् ।

श्रीकुलार्णवे—

यतिवैखानसैः कार्यः संहारान्तः कुलेश्वरि ।
न्यासो गृहस्थैः स्थित्यन्तः सृष्ट्यन्तो वर्णिनां भवेत् ॥१५९॥

सारसङ्ग्रहे—

प्रणवोत्थकलायुक्तं मातृकां विन्यसेत्ततः ।
वर्णादिका नमोऽन्तास्ता न्यस्तव्या ध्रुवसंयुताः ॥१६०॥

ऋषिः प्रजापतिः प्रोक्तो गायत्री छन्द ईरितम् ।
सरस्वती कलारूपा देवता परिकीर्त्तिता ॥१६१॥
ह्रस्वदीर्घस्वरद्वन्द्वगतैरङ्गं ध्रुव[5] भवेत् ।

शारदातिलके—

तारस्य पञ्चभेदेभ्यः पञ्चाशद्वर्णगाः कलाः ।
सृष्टि ऋद्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मीर्द्युतिः स्थिरा ॥१६२॥

---

१. ख. दक्षावि० ।　२. ख. ०सर्गसंयुतम् ।　३. ख. ०सर्गयुतां ।
४. ख. सादिढार्णान्तिकान् ।　५. ख. ध्रुवैः ।

स्थितिः सिद्धिरिति प्रोक्ताः कचवर्गकलाः क्रमात् ।
अकाराद् ब्रह्मणोत्पन्नास्तप्तचामीकरप्रभाः ॥१६३॥

एताः करधृताक्षस्रक्पङ्कजद्वयकुण्डिकाः
जरा च पालिनी शान्तिरैश्वर्या रतिकामके ॥१६४॥

वरदाह्लादिनीप्रीतिदीर्घाः स्युष्टतवर्गजाः ।
उकाराद्विष्णुनोत्पन्नास्तमालदलसन्निभाः ॥१६५॥

अभीतिशङ्खचक्रेष्टबाहवः परिकीर्त्तिताः ।
तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा तंद्रा क्षुत्क्रोधिनी क्रिया ॥१६६॥

उत्कारी मृत्युरूपाः स्युः कथिताः पयवर्गजाः ।
रुद्रेण मार्णादुत्पन्नाः शरच्चन्द्रनिभप्रभाः ॥१६७॥

उद्वहन्त्योऽभय शूल कपाल बाहुभिर्वरम् ।
ईश्वरेणोदिता बिन्दोः पीता श्वेताऽरुणाऽसिता ॥१६८॥

अनन्ता च षवर्गस्था जपाकुसुमसन्निभा ।
अभय हरिणं दन्तं दधाना बाहुभिवरम् ॥१६९॥

निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्याद्विद्या शान्तिरनन्तरम् ।
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ॥१७०॥

सूक्ष्माऽसूक्ष्माऽमृता ज्ञानामृता चाप्यायिनी तथा ।
व्यापिनी व्योमरूपाः स्युरनन्ताः स्वरसंयुताः ॥१७१॥

सदाशिवेन सञ्जाता नादादेताः सितत्विषः ।
अक्षस्रवपुस्तकगुणकपालाद्यकराम्बुजाः ॥१७२॥

न्यासे तु योजयेदादौ षोडशस्वरजाः कलाः ।
इति पंचाशदाख्याताः कलाः सर्वसमृद्धिदाः ॥१७३॥

सारसङ्ग्रहे—

केशवादिहृदा युक्तां न्यसेत्तां कामपूर्विकाम् ।
यादीन्धातुयुतान्न्यस्येत्प्राणशक्त्यात्ममूर्त्तिभिः ॥१७४॥

साध्यनारायण ऋषिर्गायत्री छन्द उच्यते ।
लक्ष्मीनारायणो देवि देवता परिकीर्त्तिता[1] ॥१७५॥
षड्दीर्घयुक्तकामान्तैः प्राग्वद्वर्गैः षडङ्गकम् ।

---

१. ख. परिकीर्त्तितः ।

शारदातिलके—

केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णवः ।
मधुसूदनसंज्ञोऽन्यः स्यात्त्रिविक्रमवामनौ ॥१७६॥

श्रीधरश्च हृषीकेशः पद्मनाभस्ततः परम् ।
दामोदरो वासुदेवः सङ्कर्षण इतीरिताः ॥१७७॥

प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च[1] स्वराणां मूर्त्तयस्त्विमाः ।
पश्चाच्चक्री गदी शार्ङ्गी खङ्गी शङ्खी हली पुनः ॥१७८॥

मुसली शूलसंयुक्तः पाशी स्यादङ्कुशी पुनः ।
मुकुन्दो नन्दजो नन्दी नरो नरकजिद्धरिः ॥१७९॥

कृष्णः सत्यः सात्वतः स्याच्छौरिः शूरो जनार्द्दनः ।
भूधरो विश्वमूर्त्तिश्च वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः ॥१८०॥

बली बलानुजो बालो वृषघ्नश्च वृषः पुनः ।
हंसो वराहो विमलो नृसिंहो मूर्त्तयो हलाम् ॥१८१॥

केशवाद्या इमे श्यामाश्चक्रशङ्खलसत्कराः ।
कीर्त्तिः कान्तिस्तुष्टिपुष्टी धृतिः शान्तिः क्रिया दया ॥१८२॥

मेधा सहर्षा श्रद्धास्याऌज्जा लक्ष्मीः सरस्वती ।
प्रीती रतिरिमाः प्रोक्ताः क्रमेण स्वरशक्तयः ॥१८३॥

जया दुर्गा प्रभा सत्या चण्डा वाणी विलासिनी ।
विजया विरजा विश्वा विनदा सुनदा स्मृतिः ॥१८४॥

ऋद्धिः समृद्धिः स्याच्छुद्धिर्भुक्तिर्बुद्धिर्मतिः क्षमा ।
रमोमा क्लेदिनी क्लिन्ना वसुधा[2] वसुधाऽपरा ॥१८५॥

परा परायणा सूक्ष्मा संध्या प्रज्ञा प्रभा निशा ।
अमोघा विद्युता चेति कीर्त्याद्याः सर्वकामदाः ॥१८६॥

एताः प्रियतमाङ्केषु निषण्णाः सस्मिताननाः ।
विद्युद्दामसमानाङ्गचः पङ्कजाऽभयबाहवः ॥१८७॥

---

१. ख. ० श्चानिरुधाश्च । २. ख. वसुदा ।

सारसङ्ग्रहे—

न्यसेत्तार्त्तीयसंयुक्तां हृदन्तां रुद्रपूर्विकाम् ।
यादीन् धातुसमायुक्तान्प्राणशक्त्यात्मभिः सह ॥१८८॥

मुनिस्तु दक्षिणामूर्तिश्छन्दो गायत्रमुच्यते ।
अर्द्धनारीश्वरो देवि देवता परिकीर्त्तिता ॥१८९॥
षड्दीर्घयुक्ततार्त्तीयप्रान्तवर्गैः षडङ्गकम् ।

शारदातिलके—

श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मौ च त्रिमूर्त्तिरमरेश्वरः ।
अर्घीशो भारभूतिश्चातिथीशः स्थाणुको हरः ॥१९०॥

झिण्टीशो भौतिकः सद्योजातश्चानुग्रहेश्वरः ।
अक्रूरश्च महासेनः षोडशस्वरमूर्त्तयः ॥१९१॥

पश्चात्क्रोधीशचण्डीशपञ्चान्तकशिवोत्तमाः ।
अथैकरुद्रकूर्मैकनेत्रा ह्यचतुराननाः ॥२९२॥

अजेशशर्वसोमेशास्तथा लाङ्गलिदारुकौ ।
अर्द्धनारीश्वरश्चोमाकान्तश्चाषाढिदण्डिनौ ॥१९३॥

स्युरत्र मीनमेषाख्या लोहितश्च शिखी तथा ।
छगलण्डद्विरण्डेशौ समहाकालबालिनौ[1] ॥१९४॥

भुजङ्गेशपिनाकीशखड्गीशाख्या वकस्ततः ।
श्वेतभृग्वीशनकुलिशिवाः संवर्त्तकस्ततः ॥१९५॥

एते रुद्राः स्मृता रक्ता धृतशूकलपालकाः ।
पूर्णोदरी स्याद्विरजा शाल्मली तदनन्तरम् ॥१९६॥

लोलाक्षी वर्त्तुलाक्षी च दीर्घघोणा समीरिता ।
सुदीर्घमुखिगोमुख्यौ दीर्घजिह्वा तथैव च ॥१९७॥

कुण्डोदर्यूर्ध्वकेश्यौ च तथा विकृतमुख्यपि ।
ज्वालामुखी ततो ज्ञेया पश्चादुल्कामुखी स्मृता ॥१९८॥

---

१. ख. महाकालविलासिनी ।

सुश्रीमुखी च विद्यामुख्येताः स्युः स्वरशक्तयः ।
महाकालीसरस्वत्यौ सर्वसिद्धिसमन्विता ॥१६६॥

गौरी त्रैलोक्यविद्या स्यान्मत्रशक्तिस्ततः परम् ।
आत्मशक्तिर्भूतमाता तथा लम्बोदरी मता ॥२००॥

द्राविणी नागरी भूयः खेचरी चापि मञ्जरी ।
रूपिणी वीरिणी पश्चात्काकोदर्यपि पूतना ॥२०१॥

भद्रकाली योगिनी च शङ्खिनी गर्जिनी तथा ।
कालरात्रिश्च कुर्द्दिन्या कपर्द्दिन्यपि वज्रया ॥२०२॥

जया च सुमुखेश्वर्या रेवती माधवी ततः ।
वारुणी वायवी प्रोक्ता पश्चाद्रक्षोवधारिणी ॥२०३॥

ततश्च सहजा लक्ष्मीर्व्यापिनी माययान्विता ।
एता रुद्राङ्कपीठस्था सिन्दूरारुणविग्रहाः ॥२०४॥
रक्तोत्पलकपालाभ्यामलङ्कृतकराम्बुजाः ।

सारसङ्ग्रहे—

मायाद्यां मातृकां देवि न्यसेत्साधकसत्तम; ।
मुनिः शक्तिः समाख्यातो गायत्रीछन्द उच्यते ॥२०५॥

देवता जगतामादिर्देवता भुवनेश्वरी ।
षड्दीर्घयुक्तमायान्तैर्वर्गैः प्राग्वत्षडङ्गकम् ॥२०६॥

श्रीयुतां मातृकां न्यस्येद्विधिवत्परमेश्वरि ।
मुनिर्भृगु; समाख्यातो गायत्री छन्द ईरितम् ॥२०७॥

देवता जगतामादिर्लक्ष्मीः प्रोक्ता तु मातृका ।
षड्दीर्घभिन्नश्रीबीजप्रान्तैर्वर्गैः षडङ्गकम् ॥२०८॥

कामबीजयुतां न्यस्येन्मातृकां कमलेक्षणे ।
सम्मोहनो मुनिश्छन्दो गायत्री देवता प्रिये ॥२०६॥

सम्मोहिनी समाख्याता देवता विश्वमोहिनी ।
दीर्घयुक्तेन कामेन युतैर्वर्गैः षडङ्गकम् ॥२१०॥

मायालक्ष्मीस्मरारूढां मातृकां विन्यसेत्प्रिये ।
महासम्मोहनोऽस्य स्यान्मुनिश्छन्दस्तु कीर्त्तितम् ॥२११॥

गायत्रं देवता देवि महासम्मोहिनीरिता ।
द्विरक्तबीजत्रितयप्रान्तैर्वर्गैः षडङ्गकम् ॥२१२॥

प्रपञ्चयागकर्माऽथ वक्ष्यते भुक्तिमुक्तिदम् ।
पञ्चमन्त्रमयं सर्वसिद्धिसम्पत्प्रदायकम् ॥२१३॥

महागणपतिन्त्वादौ सऋषिच्छन्ददैवतम् ।
साङ्गन्यासं सावरणं ध्यात्वा तन्मन्त्रमष्टधा ॥२१४॥

जपेद्गाणपत बीजं सऋषिच्छन्ददैवतम् ।
चत्वारिंशच्च चत्वारि तथैव प्रजपेत्ततः ॥२१५॥

सकृद्गाणपतं मन्त्रं जप्त्वा वैदिकमप्यथ ।
मालामन्त्रं चतुर्वार सऋष्याद्य जपेत्ततः ॥२१६॥

मातृकां विन्यसेत्प्राग्वदृष्यादिसहितां त्रिधा ।
स्वरादिसप्तवर्गैस्तु ग्रहान्सप्त प्रविन्यसेत् ॥२१७॥

मुखे बाह्वोः पादयोश्च जठरे हृदये क्रमात् ।
तारो माया च हसश्च सोह स्वाहेति वै मनुः ॥२१८॥

प्रपञ्चयागमन्त्रोऽयमष्टार्णः समुदीरितः ।
प्रपञ्चयागमन्त्रस्य मुनिर्ब्रह्मा समीरितः ॥२१९॥

परमाद्या समाख्याता गायत्रीछन्द उत्तमम् ।
महः पर समाख्यात देवता चिन्मयी प्रिये ॥२२०॥

तृप्यन्ते बोधित नित्यं सर्वव्यापि निरञ्जनम् ।
विलोमगैः पञ्चमन्त्रैः सार्द्धं हरिहराक्षरैः ॥२२१॥

प्राग्वद्वर्गावसानस्थैस्तारमायादिकैः क्रमात् ।
षडङ्गानि प्रकुर्वीत जातियुक्तानि मन्त्रवित् ॥२२२॥

वेदादिमाययोरन्ते दत्वादीन्[1] क्रमतस्ततः ।
मन्त्रशेषं समुच्चार्य होम कुर्यात्समाहितः ॥२२३॥
प्रपञ्चयागनामायं होमः सर्वसमृद्धिदः ।

---
१. ख. तत्वादीन् ।

एतेषां ध्यानानि प्रयोगे वक्ष्यन्ते । अथ प्रपञ्चयागे यो विशेषः स च लिख्यते । तत्रादौ मन्त्रनिरुक्तिः ।

श्रीसारसङ्ग्रहे—

अकारादिस्तु शान्तान्तः प्रथमोऽत्र मनुर्मतः ।
शान्तान्तश्च हकाराद्यो द्वितीयो मन्त्र इष्यते ॥२२४॥

तृतीयोऽपि समाख्यातो हकाराकारबिन्दुभिः ।
सकारौकारसर्गैश्चेन्द्रियषट्कात्मको भवेत् ॥२२५॥

चतुर्थोऽपि [1]वसौकारहकाराकारबिन्दुभिः ।
[2]आत्मान्तःकरणात्मायं पञ्चवर्णो महामनुः ॥२२६॥

पञ्चमोपि सकारश्च वकाराकारकौ ततः ।
हकाराकारकौ चाथ पञ्चवर्णात्मको भवेत् ॥२२७॥

इति । अस्यार्थः-अकारादिरित्यादिभिः प्रत्येकं पञ्चमन्त्राणामवयवनिरूपणं करोति । अकारोकारमकारबिन्दुनादशक्तिशान्ताख्यसप्तभेदात्मकः प्रणवः प्रथममन्त्र इत्यर्थः । हकाररेफईकारबिन्दुनादशक्तिशान्तात्मकं भुवनेश्वरीबीजं द्वितीयमन्त्रः । हकाराकारबिन्दुसकाराकारसर्गैस्तृतीयमन्त्रः । सकाराकार-[3] हकाराकारबिन्दुभिश्चतुर्थः । सकारवकाराकारहकारात्मकः[4] पञ्चम इति ।

तथा—

बृहत्त्वयोगाद् ब्रह्माऽत्र मुनित्वेन निगद्यते ।
श्रेष्ठार्थवाचकं प्रोक्तं परमाख्यं परम्पदम् ॥२२८॥

गायन्तन्त्रायते [5]यस्माद्गायत्रं छन्द इत्यतः ।
यस्मादतिशयः क्वापि तेजसा[6] न च[7] विद्यते ॥२२९॥
परं पदेन तत्प्रोक्तं परं ज्योतिश्च देवता ।

ऋष्यादिशब्दनिरुक्तिमाह । वृहत्वादिति । यस्मादित्यस्यार्थः । वेदान्तादिषु विचारितेषु यदादित्यादिज्योतिषु यत्सर्वस्मादतिशायिचिल्लक्षणं ज्योतिः प्रतीयते तज्ज्योतिर्देवतेति ।

---

१. ख. च सौकार ० । २. ख. आत्मान्तःकारणात्मायं । ३. ख. सकारौकार ।
४. ख. ० हकाराकारात्मकः । ५. ख. तस्माद् ० । ६. ख. तेजसां । ७. ख. नैव ।

तथा—

स्वर्गार्थस्वेतिशब्दोऽयमात्मार्थोपि तथा भवेत् ।
[1]हाह्वानार्थोऽपि गत्यर्थः सर्वतोभावतस्ततः ॥२३०॥

स्वर्गात्मनोः स्वरूप या व्याप्ता तेजःपरम्परा ।
स्वाहाकारेण साख्याता हुतं यस्यां समीरितम् ॥२३१॥

तेजोरूप तु यद्व्याप्तं स-शब्देन तदुच्यते ।
अहं-पदेन चात्मापि द्वयोरैक्यं ततो भवेत् ॥२३२॥

सोहं मन्त्रो विधानेन हकारो हं वदेत्ततः ।
स इत्यनेन चिद्रूपं सर्वार्थस्यावभासकम् ॥२३३॥

नित्यं व्याप्तं च निर्लेप हंसमन्त्रो वदेत्ततः ।
चराचरस्य जगतः सारभूतं गुणात्मकम् ॥२३४॥

जनकं सर्वलोकानां मायाबीजेन चोच्यते ।
अकाराद्यैर्मकारान्तैस्त्रिभिर्भेदैर्गुणात्मकैः ॥२३५॥

भावसत्तां तु यः कुर्यात्प्रणवार्थः स उच्यते ।
हृद्धातुर्हरणार्थः स्यादनिष्टं मन्त्रिणस्तु यत् ॥२३६॥
संहरेत्तन्महः प्रोक्तं वर्णैर्हरिहरैर्ध्रुवम् ।

स्वर्गार्थ इत्यादि श्लोकानामयमर्थः । तत्र स्वाहाशब्देन स्व आ हा इति पदत्रयमस्ति, तत्र स्वशब्दः स्वर्गवाचकः आत्मवाचकश्च, आ इत्यक्षरं आततेत्यस्मिन्नर्थे अभिविधौ च भवति, हा इत्यक्षरमाह्वाने व्याप्तौ च वर्त्तते । तेनात्र स्वसमीपादारभ्य स्वर्गावधिकं व्याप्ता सर्व्वदेवगणान् हविर्भागार्थमाहूयानयति, यस्यां हुतं च समीरितं सा तेजःपरम्परा स्वाहाकारेणोच्यत इत्यर्थः । तेजोरूपमिति । सर्वतो व्याप्तं परमानन्दस्वभावतयोत्कृष्टलक्षणं ज्योतिर्जगत्कारणं सोहं मन्त्रेणोच्यत इत्यर्थः । सुगममन्यत् ।

अथ प्रपञ्चयागमन्त्रस्य प्रभावमाह—

सारसङ्ग्रहे—

प्रपञ्चयागमन्त्रोऽयं प्रपञ्चस्यादिकारणम् ।
प्रपञ्चयाग आख्यातो न्यासो येन तु यः कृतः ॥२३७॥

---

१. ख. आह्वानार्थोऽपि ।

अङ्गैर्ज्वलने द्रव्यैर्होमोऽत्र द्विविधो मतः ।
अकारादींस्तु संयोज्य यथापूर्वं विधानवित् ॥२३८॥

स्थानेषु मातृकोक्तेषु न्यसेदष्टाक्षरेण तु ।
साधकेन्द्रस्तु शुद्धात्मा पञ्चाशद्वारमन्वहम् ॥२३९॥

वर्णाः सर्वे तु विख्याता बाह्यज्ञानेन्द्रियात्मकाः ।
प्रत्येकेन्द्रियसङ्ग्राह्य जगद्व्याप्तं ततस्तु[1] तैः ॥२४०॥

परात्परतरं लोके ज्योतिरैशं तु यद्भवेत् ।
तस्मिन्ब्रह्मानले होमो ब्रह्मज्ञैर्मन्त्रिभिस्तु यः ॥२४१॥

कृतो ज्योतिर्मयैः सम्यङ्मनुभिस्तं प्रचक्षते ।
ब्रह्मात्मकहविर्द्रव्यैस्तद्विदो ब्रह्मगोर्प्पणम्[2] ॥२४२॥

वर्णानां भेदतो भिन्नमित्थं शिथिलतां गतम् ।
शरीरं चर्मसन्नद्ध [3]शोणितामिष्ठसवृतम् ॥२४३॥

मेदोमज्जास्थिसंयुक्त गत्वरत्वेन सम्मतम् ।
ब्रह्मानले महास्वस्थे सर्वव्याप्ते निरञ्जने ॥२४४॥

यो जुहोति कृती मन्त्री शुद्धात्मा महसां निधिः ।
अशेषमन्त्रसञ्जापे ध्याने पूजनकर्मणि ॥२४५॥

अधिकारी स एव स्यान्नेतरः फलभाजनम् ।
केवलोऽपि च बिन्द्वन्तः कलादिः केशवादिकः ॥२४६॥

श्रीकंठाद्यैश्च संयुक्तो मायाबीजसमन्वितः ।
लक्ष्म्याद्यः कामबीजाद्यो बीजत्रययुतोऽपि च ॥२४७॥

प्रपञ्चयागसंयुक्ता दशन्यासाः समीरिताः ।
वांछितार्थप्रदाः सर्वे सर्वमन्त्रेषु कल्पिताः ॥२४८॥

एतेषु श्रेष्ठ आख्यातः प्रपञ्चाह्वययागकः ।
ज्ञानदः पुष्टिदश्चाथ सर्वसम्पत्करस्तथा ॥२४९॥
विशेषतो ग्रहक्षुद्रप्रपञ्चज्ञाननाशकृत् । इति ।

---

१. ख. मतस्तु । २. ख. ब्रह्मगोर्प्पनां । ३. ख. शोणितामिष० ।

तथा—

प्रपञ्चयागमन्त्रेण यथा होमो विधीयते ।
यद्यद्द्रव्यैस्तथा तानि यदा यल्लभ्यते बुधैः ।।२५०।।

एतत्सर्वं विधानेन कथयामि यथातथम् ।
उक्तेनैव प्रकारेण गणपत्यवसानकम् ।।२५१।।

आज्येन जुहुयान्मन्त्री तद्वदेकाहुतिं हुनेत् ।
प्रपञ्चयागमन्त्रेण घृतेनैव ततः परम् ।।२५२।।
वटोदुम्बरसम्भूताः पर्कट्याः पिप्पलस्य च ।
[1]पर्प्पटी प्लक्षः—

समिधस्तिलसिद्धार्थहविराज्यानि च क्रमात् ।
एतद्द्रव्याष्टकं प्रोक्त हुनेदेतेन मन्त्रवित् ।।२५३।।

दशायुतं विधानेन तदर्द्धमथवा तु यः ।
[2]यथाभिललितानत्र भोगान् भुक्त्वा सुखं हि सः ।।२५४।।

देहान्ते मुक्तिमाप्नोति मुनिभिः प्रार्थितां ततः ।
चौरशत्रुग्रहव्याधिसर्प्पराक्षसदोषनुत् ।।२५५।।

चतुःशतं तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा हुतं मतम् ।
तत्तद्दोषानुसारेण होमसख्यां प्रवर्द्धयेत् ।।२५६।।

रविसंख्यसहस्राणि हुनेद्द्रव्याष्टकेन यः ।
एतद्द्विगुणतश्चाथ चतुर्गुणत एव वा ।।२५७।।

भूतावेशग्रहावेश-[3] जूर्त्यादीन्स विनाशयेत् ।
शास्त्रोक्तक्रमभङ्गेन जपपूजादिकृत्तु यः ।।२५८।।

स्मृतिभ्रंशो भवेत्तस्य होमं द्रव्याष्टकेन सः ।
सहस्रसंख्यया कुर्यात्स्वस्थो भवति तत्क्षणात् ।।२५९।।

प्रत्येकं द्विसहस्रं यो हुनेद् द्रव्याष्टकेन तु ।
अपस्मारं स्मृतिभ्रंशं शापदोषं स नाशयेत् ।।२६०।।

द्रव्याष्टकं त्रिमधुवक्तं लक्षमानं हुनेत्तु यः
प्रादुर्भूतेन महता तस्यैश्वर्येण तत्क्षणात् ।।२६१।।

१. ख. पर्कटी । २. ख. यथाभिलषितानत्र । ३. ख. जून्त्यादीन्स ।

देवेन्द्रस्य महालक्ष्मीः स्थिरा तुच्छतरा भवेत् ॥
लक्षं लक्षार्द्धकं वाथ मधुरत्रयलोलितम् ॥२६२॥

द्रव्याष्टकं हुनेद्यो वै वत्सरत्रयमध्यतः ।
त्रैलोक्यं सकल तस्य वशे तिष्ठति नान्यथा ॥२६३॥

वश्यादिसाधनं प्रोक्तं हुत द्रव्याष्टकेन यत् ।
ह्रासवृद्धयादिकं होमे जानीयात्कार्यगौरवात् ॥२६४॥

शुद्धैस्तिलैस्तु लक्षं यो होम कुर्याद्यथाविधि ।
महापापानि तस्याशु प्रलय यान्ति नान्यथा ॥२६५॥

लक्ष कमलहोमेन महालक्ष्मीः प्रजायते ।
हविषा पुष्टिदो होमो घृतहोमो यशस्करः ॥२६६॥

मालतीपुष्पहोमोऽपि सर्ववश्यप्रदो भवेत् ।
सामुद्र लवणं हुत्वा तथा वश्य प्रसाधयेत् ॥२६७॥

अथ शालिसमुद्भूतान् तंडुलान्सुष्ठु चूर्णयेत् ।
मधुरत्रयसयुक्ततच्चूर्णेनैव साधकः ॥२६८॥

साध्यप्रतिकृतिं कुर्यात्सम्यक् संपूज्य तां स्पृशन् ।
प्राणस्थापनमन्त्रं तु जपेत्साष्टशतं ततः ॥२७६॥

विभज्य जुहुयान्मन्त्री तान्न्यासक्रमतो निशि ।
सप्तरात्रं प्रकुर्वाणो नरं वा स्त्रियमेव वा ॥२७०॥

वशीकरोति झटिति नात्र कार्या विचारणा ।
सामुद्रलवणस्यापि पुत्तल्याः फलमीदृशम् ॥२७१

वर्णौषधविपक्वेन पञ्चगव्येन पूरिते ।
चुल्ल्यां सस्थापितेऽधस्ताद्वह्नि कुम्भे प्रदीपयेत्॥२७२॥

प्रादुर्भूते पुनस्तस्मिन् घटेग्नौ जुहुयाद्घृतम् ।
अष्टोत्तरशतं मन्त्री भसितं पतित च यत् ॥२७३॥

तावत्संख्यं च सञ्जप्य गृह्णीयात्सर्वसिद्धिदम् ।
भक्षणाद्गात्रलेपाच्च तिलकक्रियया तथा ॥२७४॥

मरतके धारणात्सद्यः सर्वे नश्यंत्युपद्रवाः ।
भूतप्रेतपिशाचादिविषरोगादिनाशनम् ॥२७५॥

सर्ववश्यकरं पुंसां श्रीसौभाग्यजयप्रदम् ।
सहस्रसंख्यके होमे तदानीं गुरवे बुधः ॥२७६॥

पलं पलार्द्धकं वापि दद्याद्धेम्नो वरस्य तु ।
कल्पवृक्षाद्यथा देवा लभन्ते वाञ्छितं फलम् ॥२७७॥
प्रपञ्चयागतोऽप्येवं साधकोऽभीष्टमश्नुते । इति ।

कादिमते—

मातृकायाः षडङ्गं च मातृकान्यासमेव च ।
सर्वासां प्रथमं कृत्वा पश्चात्तन्त्रोदितं न्यसेत् ॥२७८॥

अन्यत्रापि—

रुद्रैर्युक्तां केवलां वा मनूनां, कर्मारम्भे मातृकां विन्यसेद्यः
मन्त्राः सद्यः कुर्वते तस्य सिद्धिं, पापैः सार्द्धं याति नाशं जरा च ॥२७९॥

[1]कुलप्रकाशतन्त्रे—

मातृकायां तु सिद्धायां सिद्धाः स्युर्मन्त्रजातयः ।
सुसिद्धाः स्युर्न संदेहो यस्मात्सर्वं तदुद्भवम् ॥२८०॥

अतः परं स्वोपास्यमन्त्रस्य ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासान् कृत्वा योगपीठन्यासं कुर्यात् । उक्तं च—

गुहकल्पे—

एवं विन्यस्य देहे स्वे मातृकां विश्वमातरम् ।
प्रणायामत्रयं कृत्वा मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥२८१॥

विन्यस्य तदृषिच्छन्दोदैवतानि महामुने ।
कृत्वा कराङ्गविन्यासं योगपीठं न्यसेत् तनौ ॥२८२॥

---

१. इतः प्राक् ख. पुस्तके विशेषः पाठः—
गौतमीतन्त्रे—चतुर्द्धा मातृका प्रोक्ता केवला बिन्दुसंयुता ।
सविसर्गा सोभया च रहस्यं त्वथ कथ्यते ॥१॥
विद्याकरी केवला च सोभया भक्तिदायिनी ।
सविसर्गा पुत्रप्रदा सबिन्दुर्मोक्षदायिका ॥२॥

पदार्थादर्शे—

ऋषिच्छन्दोदेवतानां विन्यासेन विना यदा ।
जप्यते साधितोऽप्येष तस्य तुच्छं फलं भवेत् ॥२८३॥

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

ऋषिर्भृगुर्निवृच्छन्दस्तथा[1] श्रीर्देवता प्रिये ।
श-तुर्ये बीजशक्ती च कीलकं रेफ उच्यते ॥२८४॥

प्रपञ्चसारे—

ऋषिर्गुरुत्वाच्छिरसैव धार्यश्छन्दोक्षरत्वाद्रसनागतं स्यात् ।
धियावगन्तव्यतया सदैव हृदि प्रतिष्ठा मनुदेवतायाः ॥२८५॥

गौतमः—

महेश्वरमुखाज्ज्ञात्वा गुरुर्यस्तपसा मनुम् ।
संसाधयति शुद्धात्मा पूर्वं स ऋषिरीरितः ॥२८६॥

तथान्यत्रापि—

येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता च येन वै ।
मन्त्रेण तस्य तत्प्रोक्तमृषेर्भावस्तदार्षकमिति ॥२८७॥

छन्दःशब्दव्युत्पत्तिरुक्तान्यत्र—

छादनात् छन्द उद्दिष्टं वाससा इव चाकृतेः ।
आत्मा चाच्छादितो देवैर्मृत्योर्भीतैस्तु वै पुरा ॥२८८॥
आदित्यैर्वसुभी रुद्रैस्तेन छन्दांसि तानि वै ।

तथान्यत्रापि—

मृत्युभीतैः पुरा देवैरात्मनश्छादनाय च ।
छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमरा ॥२८९॥

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं[2] सर्वं छन्दोभिरावृतम् ।
यस्य यस्य तु मन्त्रस्य उद्दिष्टा देवता तु या २९०॥

तदाकारं भवेत्तस्य देवत्वं देवतोच्यते ।
पुरा कल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च ॥२९१॥

अनेन चेदं कर्त्तव्यं विनियोगः स उच्यते ।
दौर्बल्यं याति तन्मन्त्रो विनियोगमजानतः ॥२९२॥

---

१. ख. ०निचृच्छन्द० । २. क. उच्छिष्टं ।

याज्ञवल्क्यः—

आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगं तथैव च ।
वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः २६३॥

अविदित्वा तु यः कुर्याद्यजनाध्यापनं जपम् ।
होममन्यच्च यत्किंचित्तस्य चाल्पं फलं भवेदिति ॥२६४॥

योगिनीतन्त्रे—ऋष्यादीन्विन्यसेद्देवि चतुर्थीहृदयान्तिकान् ।
ऋषये नमः । छन्दसेनमः इत्यादि ।

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

षडङ्गानि न्यसेन्मन्त्री हृच्छिरश्च शिखा ततः ।
कवचं नेत्रमस्त्रं च नमः स्वाहा क्रमेण च ॥२६५॥
वषट्-हुं-वौषडन्तस्तु फडेभिः सह विन्यसेत् ।

शारदातिलके—

हृदयाय नमः प्रोक्तं शिरसे वह्निवल्लभा ।
शिखायै वषडित्युक्तं कवचाय हुमीरितम् ॥२६६॥

नेत्राय वौषडित्युक्तमस्त्राय फडिति क्रमात् ।
षडङ्गमन्त्रानित्युक्त्वा षडङ्गेषु नियोजयेत् ॥२६७॥

पञ्चाङ्गानि मनोर्यस्य तत्र नेत्रमनुं त्यजेत् ।
अङ्गहीनस्य मन्त्रस्य स्वेनैवाङ्गानि कल्पयेत् ॥२६८॥

तत्तत्कल्पोक्तविधिना न्यासानन्यान्समाचरेत् ।

अयं षडङ्गन्यासः करन्यासपूर्वकं कार्यः ।

आदौ कृत्वा करन्यासं षडंगेषु ततो न्यसेत्

इति **सारसंग्रहोक्तेः** । अत्र केचित् करन्यासे अंगुष्ठाभ्यां नमः, तर्ज्जनीभ्यां नमः 'इत्यादि न्यासं'[1] वदन्ति तदसंगतमिव प्रतिभाति **ज्ञानार्णवादिनानातन्त्रे**ष्वदर्शनात् । यथा—

ज्ञानार्णवे—

मूलविद्यां द्विरावृत्य पञ्चाङ्गुलितलेषु च ।
षडङ्गक्रमयोगेन विन्यसेत्परमेश्वरी ॥२६९॥ इति

---

१. ' ' ख. पुस्तके नास्ति ।

षडङ्गक्रमयोगेन हृदयाय नमः शिरसे स्वाहेत्यादिक्रमेणेत्यर्थः ।

शारदातिलकेपि—

अंगुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेदङ्गैः सजातिभिः ।
अस्त्रं तु तलयोर्न्यस्य············॥३००॥

इति सजातिभिर्नमःस्वाहेत्यादिसहितैः अङ्गैस्तत्तन्मन्त्रोक्तैस्तेन हृदयाय नमः शिरसे स्वाहेत्यादिक्रमो ज्ञेयः : जातिलक्षणं तु—

कारणागमे—

नमः स्वाहा वषट् हुँ च वौषट् फट्कार एव च ।
जातिषट्कमिदं प्रोक्तं हृदाद्यस्त्रान्तसङ्गतम् ॥३०१॥

नारदपञ्चरात्रेऽपि—

···············अथ चांगानि योजयेत् ।
कनिष्ठाद्यासु च ततो हृदयादिक्रमेण तु ॥३०२॥

इति हृदयादिक्रमेण हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहेत्यादि क्रमेण ।

योगिनीतन्त्रे—

उच्चरेत् प्रणवं पूर्वमाकारं बिन्दुसंयुतम् ।
खड्गाय हृदयायेति नमोयुक्तं कनीयसि ॥३०३॥

ईंकारं[1] प्रणवाद्देवि चन्द्रबिम्बसमायुतम् ।
सुखड्गाय ततो वाच्यं शिरसे तदनन्तरम् ॥३०४॥

स्वाहायुक्तं प्रविन्यस्येत्तर्जन्याऽनामिकाङ्गुलौ ।
ऊंकारं[2] प्रणवाद्देवि बिन्दुलाञ्छितमस्तकम् ॥३०५॥

श्रीवज्राय ततो वाच्यं शिखायै च ततः परम् ।
वषडन्तं प्रविन्यस्येन्मध्यया मध्यमांगुलौ ॥३०६॥

मात्रा द्वादशिका ताराद्बिन्दुपाशाय संयुता ।
कवचाय हुमित्येतत्तर्जन्यामप्यनामया ॥३०७॥

अकारादिविसर्गान्तं योजयेत्प्रणवाक्षरम् ।
असुरक्षयमाये च अस्त्राय तदनन्तरम् ॥३०८॥

---

१. ल. ईकारं । २. ख. ऊकारं ।

षडक्षरसमायुक्तं विन्यसेत्तलयोर्द्वयोः ।

इति स्पष्ट एवोक्तः । अत एव नमःस्वाहादीनां हृदयादिपदयोगेनाभिधानं नाङ्गुष्ठादिपदयोगेन । अन्यथा तदप्यभिधीयेत । पञ्चाङ्गपक्षे तु—

मंत्राभिमृष्टयोः पाण्योः पल्लवेऽङ्गानि विन्यसेत् ।
मूलाद्यग्रपदग्रान्तव्यापकत्वेन नारद ॥३०९॥

अङ्गुष्ठेनाचरेन्न्यासमन्याङ्गुलिसमाश्रयम् ।
अङ्गुष्ठविषयन्यासस्तर्ज्जनी शिरसैव हि ॥३१०॥

अत्र केचित् षडङ्गन्यासे नेत्रत्रयाय वौषडिति प्रयोगं वदन्ति वस्तुतस्तु—
हृदयशिरसोः शिखायां कवचाक्ष्यस्त्रेषु सह चतुर्थीभिरिति
प्रपञ्चसारवचनात् ।

षडङ्गं विन्यसेन्मन्त्री हृच्छिरश्च शिखा ततः ।
कवचं नेत्रमस्त्रं च .... ॥३११॥

इति **दक्षिणामूर्त्तिवचनात्** ।

हृदयं च शिरो देवि शिखा च कवचं ततः, ।
नेत्रमस्त्रं न्यसेन्ङेंऽन्तं.................... ।

इति **ज्ञानार्णवाच्च** नेत्रपदमात्रस्यैव दर्शनान्नेत्रायेति तत्वम् । अत एव ।

नेत्राय त्र्यरं पदम् ॥३१२॥

तदन्ते वौषडित्युक्तं नेत्रमन्त्रोऽप्ययं स्मृतः ।

इति **नारदपञ्चरात्रे** स्पष्ट एवोक्तः । अन्यथा द्विनेत्रदेवता पक्षे नेत्राभ्यामिति पदान्तरप्रक्षेपापत्तेः ।

अथ ऋष्यादिषडङ्गमुद्राः

सारसंग्रहे—

ऋषिच्छन्दो देवतानांन्यासे त्वङ्गुलयः स्मृता ।
चतस्रोऽङ्गुष्ठरहिता....................। इति ।

नारदपञ्चरात्रे—

अङ्गुष्ठवर्ज्यमङ्गुल्यश्चतस्रो हृदि मूर्द्धनि ।
शिखायां मुष्टिरेवस्यादङ्गुष्ठकृतनालिका ॥३१३॥

सर्वाङ्गुलय आनाभेः पाण्योः कवचबन्धने ।
तर्जनीमध्यमानामाः प्रोक्ता नेत्रत्रये क्रमात् ॥३१४॥
अंगुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां हस्तयोरभिशब्दयेदिति ।

पदार्थादर्शे—

यदा नेत्रद्वयं प्रोक्तं तदा तर्जनिमध्यमे । चतस्रः प्रसारिताः ।

प्रसारित तलेनैव पाणिना हृदयं शिरः ।

इति **कपिलवचनात्** । एता मुद्राः शक्तिमन्त्रव्यतिरिक्तमन्त्रपराः । शक्तिमन्त्राणां तु त्रिद्वचेकदशकत्रिमितांगुलिभिः । इति **ज्ञानार्णवात्** ।

अयमर्थः—कनिष्ठाङ्गुष्ठरहिताङ्गुलित्रयेण हृदयस्था हृदयमुद्रा, मध्यमानामाभ्यां शिरोमुद्रा, अङ्गुष्ठेन शिखामुद्रा, दशाङ्गुलिभिः कवचमुद्रा, तर्जनीमध्यमानामाभिर्नेत्रमुद्रा, तर्जनीमध्यमाभ्यां तालत्रयेणास्त्रमुद्रेति । आनाभेः स्कन्धात्तथाभूताभ्यां पाणिभ्यां कवचम् । 'वर्मस्कन्धादि नाभिग' मिति **तन्त्रराजवचनात्** ।

तन्त्रान्तरे शक्तिषडङ्गमुद्राः ।

हृदयं मध्यमानामातर्जनीभिः स्मृतं शिरः ।
मध्यमातर्जनीभ्यां स्यादङ्गुष्ठेन शिखा स्मृता ॥३१५॥

दशभिः कवचं प्रोक्तं तिसृभिर्नेत्रमीरितम् ।
प्रोक्ताङ्गुलिभ्यामस्त्रं स्यादङ्गक्लृप्तिरियं मता ॥३१६॥

शैवमन्त्राणां तु **शैवागमे** षडङ्गमुद्राविशेष उक्तः । यथा—

कृतमुष्टिपदौ हस्तौ कृत्वांगुष्ठौ हृदि न्यसेत् ।
हृन्मुद्रेयं समाख्याता शिरोमुद्रा प्रकीर्त्यते ॥३१७॥

ललाटाग्रे समाधाय कृतमुष्टिपुटाकृती ।
कुर्यादूर्ध्वप्रसक्ताग्रे तर्जन्यौ ज्येष्ठबाह्यतः ॥३१८॥

करौ शिखायां संयोज्य कृतमुष्टिपुटाकृती ।
ज्येष्ठावधः प्रसक्ताग्रौ कारयेदूर्ध्वतस्तथा ॥३१९॥

कुर्यात्सेयं शिखामुद्रा सर्वोपद्रवनाशिनी ।
कृत्वाङ्गुष्ठौ प्रसक्ताग्रौ तर्जन्यौ च त्रिकोणवत् ॥३२०॥

मूर्ध्नि पश्चान्मुखं कृत्वा नयेदुभयपार्श्वतः ।
करं हृदन्तं मुद्रेयं कवचस्याभयप्रदा ॥३२१॥

कृत्वा नेत्रोन्मुखं हस्तं सक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठकम् ।
प्रसार्य मध्यमां किंचिन्नमयेदितरांगुलीः ॥३२२॥

नेत्रमुद्रेयमुद्दिष्टा रक्षोभूतार्त्तिभञ्जनी ।
परस्परतलद्वन्द्वं पुनरास्फोटयेद् भृशम् ॥३२३॥
तर्जन्या शब्दयेत्ताभ्यां ज्येष्ठाग्रस्खलिताग्रया ।

इति ताभ्यां कराभ्याम् ।

पदार्थादर्शे—

पूजाजपार्चनाहोमाः सिद्धमन्त्रकृता अपि ।
अङ्गविन्यासविधुरा न दास्यन्ति फलन्त्वमी ॥३२४॥

प्रपञ्चसारे—

संदीक्षितो मनुमिमं प्रति जप्तुमिच्छ-
न्कुर्यान्निजेन वपुषैव तु योगपीठम् ।
अंसोरुयुग्मपदमाननाभिमूलं,
पार्श्वद्वयैर्विहितगात्रसमुज्वलं च ॥३२५॥

मध्येऽनन्ताद्यैरपि सज्ञानात्मान्तिकैर्यजेन्मत्री ।

पीठाख्यमन्त्रपश्चिममिति । आननवामपार्श्वनाभिमूलदक्षपार्श्वैरिति **पद्मपादाचार्याः** ।

ईशानशिवः—

आधाराख्यं यजेच्छक्तिं हृदयेंऽसे च दक्षिणे ।
धर्मं ज्ञानं च सव्यांसे ऊर्वोर्वामान्ययोरपि ॥३२६॥

वैराग्यसंज्ञमैश्वर्यमिति । अनन्ताद्यैरित्यादिपदेन पद्मसूर्यसोमवह्नि-सत्वरजस्तमआत्मान्तरात्मपरमात्मज्ञानात्मज्ञानतत्वमायातत्वकलातत्वविद्यातत्व-परतत्वानां ग्रहणम् ।

सारसङ्ग्रहे—

मूलाधारेऽथ मण्डूकं रुद्रं कालाग्निसंज्ञकम् ।
स्वाधिष्ठानेऽथ नाभ्यब्जे प्रकृतिं मूलपूर्विकाम् ॥३२७॥

आधारशक्तिं हृदये विन्यस्य मनुवित्तमः ।
कूर्मानन्तौ वराहं च धरणीं च सुधार्णवम् ॥३२८॥

रत्नद्वीपं च विन्यस्य तत्र स्वर्णमहीधरम् ।
तदूर्ध्वे नन्दनोद्यानं तन्मध्ये मणिमण्डपम् ॥३२९॥

कोटिसूर्यप्रभं हेमप्राकारपरिवेष्टितम् ।
रत्नमण्डपमध्यस्थां वेदिकां हेमनिर्मिताम् ॥३३०॥

विन्यस्य तस्या मध्यस्थं रत्नसिंहासनं शुभम् ।
शरीरे स्वस्य धर्माद्यैः पीठकल्पनमाचरेत् ॥३३१॥

दक्षिणांसे न्यसेद्धर्मं ज्ञानं वामांसके न्यसेत् ।
वामोरुमूले वैराग्यमैश्वर्यं दक्षिणे न्यसेत् ॥३३२॥

मुखेऽधर्मं वामपार्श्वे चाज्ञानं नाभिमण्डले ।
अवैराग्यं दक्षपार्श्वे चानैश्वर्यं न्यसेत्क्रमात् ॥३३३॥

धर्मादीन्पीठपादांश्च गात्राण्यन्यान् प्रकल्पयेत् ।
हृद्यनन्तं न्यसेत्तस्मिन्पद्मं तत्कर्णिकोपरि ॥३३४॥

अर्कं च केसरे सोमं पत्रे वीह्नं ततो न्यसेत् ।
तेषां कला न्यसेत्तत्तन्मण्डले तत्र तत्र वै ॥३३५॥

तत्र तत्र तत्तन्मण्डलन्याससमय एवेत्यर्थः । वै शब्दस्त्वेवकारार्थवाचकः ।
तथा—

न्यसेद् गुणत्रये पश्चात्सत्वादिकमतः परम् ।
आत्मान्तरात्मपरमात्मविज्ञानात्मकान्न्यसेत् ॥३३६॥

ज्ञानमायाकलाविद्यापरतत्वानि च क्रमात् ।
पीठमन्त्रं प्रविन्यसेत्ततो देशिकसत्तमः ॥३३७॥
देहात्मके ततः पीठे ध्यायेदिष्टां च देवताम् ।

अत्र पीठाख्यमन्त्रपश्चिममिति, पीठमन्त्रमनन्तरमिति, पीठमन्त्रं प्रविन्यसेदिति च । **प्रपञ्चसार-शारदातिलक-सारसङ्ग्रहाणां** वचनैः पीठशक्तिन्यासो नास्तीति प्रतीयते ।

पदार्थादर्शे तु—

मायातत्वं कलातत्वं विद्यातत्वं परं तथा ।
विन्यस्य पीठशक्तीश्च ततः पीठमनुं न्यसेत् ॥३३८॥

इत्युक्तम् । अत्र यथागुरूपदेशमाचरणीयम् ।

अथ मूलमन्त्रन्यासः । तत्र—

श्रीरुद्रयामले—

प्राणायामत्रयं कृत्वा मूलमन्त्रेण साधकः ।
विन्यसेत्तदृषिच्छन्दोदैवतानि यथाविधि ॥३३९॥

कराङ्गन्यासमुख्यांस्तु न्यासानन्यान्समाचरेत् ।
तत्तत्कल्पोदितान्मन्त्री ततो मुद्राः प्रदर्शयेत् ॥३४०॥

नारदपञ्चरात्रे—

एवं न्यासं पुरा कृत्वा करयोर्विग्रहे ततः ।
मूलमन्त्रादिसर्वस्य न्यस्तमन्त्रगणस्य च ॥३४१॥

मुद्राः प्रदर्शयेत्स्वस्वध्यानमन्त्रसमन्विताः ।
ततस्तु विग्रहे ध्यायेदात्मानं विष्णुरूपिणम् ॥३४२॥

सारसङ्ग्रहे—

ततः स्वोपास्यमन्त्रस्य न्यासान् ऋष्यादिकान् न्यसेत् ।
यस्य मन्त्रस्य ये न्यासाः कर्त्तव्याः सिद्धिमिच्छता ॥३४३॥

ततो मन्त्रपुटैर्वर्णैर्मातृकायाः सबिन्दुभिः ।
विन्यसेन्मन्त्रवित्सम्यक् शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥३४४॥

श्रीकुलार्णवे—

आगमोक्तेन मार्गेण न्यासान्नित्यं करोति यः ।
देवताभावमाप्नोति मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ॥३४५॥

यो न्यासकवचच्छन्नो मन्त्रं जपति तं प्रिये ।
दृष्ट्वा विघ्नाः पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः ॥३४६॥

अकृत्वा न्यासजातं यो मूढात्मा कुरुते जपम् ।
विघ्नैः स बाध्यते नूनं व्याघ्रैर्मृगशिशुर्यथा ॥३४७॥

कालिकापुराणे—

न्यासानां प्रचुरत्वे हि फलानामपि भूरिता ।
उक्तन्यासो न हि त्याज्यस्त्वधिकं तु समाचरेत् ॥३४८॥

वायवीयसंहितायाम्—

नाशिवः शिवमभ्यस्येन्नाशिवः शिवमर्चयेत् ।
नाशिवस्तु शिवं ध्यायेन्नाशिवः शिवमाप्नुयात् ।।३४९।।

शारदातिलके—

मंत्राक्षराणि विन्यस्येद्देवताभावसिद्धये ।

पदार्थादर्शे—

न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः ।
न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा यजेदिति ।।३५०।।[1]

अथ गणेशादिमुद्रालक्षणानि

लक्षणसङ्ग्रहे—

ततो गणेशमुद्राणामुच्यन्ते लक्षणान्यपि ।
उत्तानोर्द्ध्वमुखी मध्या सरला बद्धमुष्टिका ।।३५१।।

दन्तमुद्रा समाख्याता सर्वागमविशारदैः ।
वाममुष्टेस्तु तर्जन्यां दक्षमुष्टेस्तु तर्जनीम् ,।३५२।।

संयोज्याङ्गुष्ठकाग्राभ्यां तर्जन्यग्रे स्वके क्षिपेत् ।
एषा पाशाह्वया मुद्रा विद्वद्भिः परिकीर्त्तिता ।।३५३।।

ऋज्वीं च मध्यमां कृत्वा तर्जनीं मध्यपर्वणि ।
संयोज्याकुञ्चयेत्किञ्चिन्मुद्रैषाऽङ्कुशसंज्ञिका ।।३५४।।

तर्जनीमध्यमासंधिनिर्गताङ्गुष्ठमुष्टिका ।
अधोमुखी दीर्घरूपा मध्यमा विघ्नमुद्रिका ।।३५५।।

तले तलं तु करयोस्तिर्यक्संयोज्य चाङ्गुलीः ।
संहताः प्रसृताः कुर्यान्मुद्रा परशुसंज्ञिका ।।३५६।।

ऊर्ध्वास्थं[2] दक्षिणं हस्तमानम्रविरलाङ्गुलिम् ।
किञ्चिन्निम्नतलं कुर्यान्मुद्रैषा लड्डुकाभिधा ।।३५७।।

---

१. अतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—

गौतमीतन्त्रे—मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पापसन्ततेः ।
मुद्रास्ताः कथिताः सद्भिर्देवसान्निध्यदायिकाः ।।१।।

२. ख. ऊर्ध्वास्यं ।

उत्तानवाममुष्टस्तु बीजपूराह्वया मता ।
दन्तपाशाङ्कुशाविघ्नपर्शुलड्डुकसंज्ञिकाः ॥३५८॥
बीजपूराह्वया चेति गणेशस्य प्रिया मताः ।

अथ सौरमुद्रे

नाराणीये—

पद्माकारौ करौ कृत्वा प्रविशिष्टे तु मध्यमे ।
अङ्गुल्यौ धारयेत्तस्मिन् बिम्बमुद्रेति सोच्यते ॥३५९॥
दर्शयेदग्रतः पद्मबिम्बमुद्रे यथोचिते ।

अथ वैष्णवीमुद्राः[1] । तत्रैव—
एकोनविंशतिर्मुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शङ्खचक्रगदापद्मवेणुश्रीवत्सकौस्तुभाः ॥३६०॥

वनमाला तथा ज्ञानमुद्रा विल्वाह्वया तथा ।
गरुडाख्या तथा मुद्रा विष्णोः प्रीतिविवर्द्धिनी ॥३६१॥

नारसिंही च वाराही हयग्रीवी धनुस्तथा ।
बाणमुद्रा च परशुर्जगन्मोहिनिका तथा ॥३६२॥

काममुद्रा समाख्याता तासां लक्षणमुच्यते ।
वामाङ्गुष्ठं तु संगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना ॥३६३॥

कृत्वोत्तानां तथा मुष्टिमङ्गुष्ठं तु प्रसारयेत् ।
वामाङ्गुल्यस्तथा श्लिष्टाः संयुक्ताः संप्रसारिताः ॥३६४॥

दक्षिणाङ्गुष्ठसंस्पृष्टा मुद्रैषा शङ्खसंज्ञिका ।
विपर्यस्ते तले कृत्वा वामदक्षिणहस्तयोः ॥३६५॥

अङ्गुष्ठौ ग्रथयेच्चैव कनिष्ठानामिकान्तरे ।
चक्रमुद्रेयमुद्दिष्टा सर्वसिद्धिकरी शुभा ॥३६६॥

हस्तौ तु सम्मुखौ कृत्वा संलग्नौ संप्रसारितौ ।
अङ्गुल्यौ मध्यमे भूयः संलग्ने संप्रसारिते ॥३६७॥

---

१. ख. वैष्णवमुद्राः ।

गदामुद्रेयमाख्याता विष्णोः सन्तोषकारिणी ।
हस्तौ तु सम्मुखौ कृत्वा संहतावुन्नताङ्गुली ॥३६८॥

तलान्तर्मिलिताङ्गुष्ठौ मुद्रैषा पद्मसंज्ञिका ।
ओष्ठे वामकराङ्गुष्ठो लग्नस्तस्य कनिष्ठिका ॥३६९॥

दक्षिणाङ्गुष्ठसंलग्ना तत्कनिष्ठा प्रसारिता ।
तर्जनीमध्यमानामाः किञ्चित्सङ्कोच्य चालिताः ॥३७०॥

वेणुमुद्रा भवेदेषा सुगुप्ता प्रेयसी हरेः ।
अन्योन्यस्पृष्टकरयोर्मध्यमानामिकाङ्गुली ॥३७१॥

अङ्गुष्ठेन तु बध्नीयात्कनिष्ठामूलसंश्रिते ।
तर्जन्यौ कारयेदेषा मुद्रा श्रीवत्ससंज्ञिता ॥३७२॥

अनामापृष्ठसंलग्नां दक्षिणस्य कनिष्ठिकाम् ।
कनिष्ठिकान्यया बद्ध्वा तर्जन्या दक्षया तथा ॥३७३॥

वामानामां च बध्नीयाद्दक्षाङ्गुष्ठस्य मूलके ।
अङ्गुष्ठमध्यमे वामे संयोज्य सरला परा ॥३७४॥

चतस्रोऽप्यग्रसंलग्ना मुद्रा कौस्तुभसंज्ञिका ।
स्पृशेत्कण्ठादिपादान्तं तर्जन्याङ्गुष्ठनिष्ठया ॥३७५॥

करद्वयेन मालावन्मुद्रेयं वनमालिका ।
उन्नतं वाममङ्गुष्ठं दक्षाङ्गुष्ठेन वेष्टयेत् ॥३७६॥

दक्षिणाङ्गुष्ठकं चैव तदीयाभिर्निपीड्य च ।
अङ्गुलीभिर्वामहस्ताङ्गुलिभिश्च ताः पीडयेत् ॥३७७॥

गाढं हृदि क्षिपेदेषा बिल्वाख्या मुद्रिका मता ।
हस्तौ तु विमुखौ कृत्वा ग्रथयित्वा कनिष्ठिके ॥३७८॥

मिथस्तर्जनिके श्लिष्टे श्लिष्टावङ्गुष्ठकौ तथा ।
मध्यमानामिके द्वे तु द्वौ पक्षाविव चालयेत् ॥३७९॥

एषा गरुडमुद्रा स्याद्विष्णोः प्रीतिविवर्द्धिनी ।
तर्जन्यङ्गुष्ठकौ सक्तावग्रतो हृदि विन्यसेत् ॥३८०॥

वामहस्ताम्बुजं चैव वामजानुनि विन्यसेत् ।
ज्ञानमुद्रा भवेदेषा रामचन्द्रप्रियङ्करी ॥३८१॥

जानुमध्ये करौ कृत्वा चिबुकौष्ठौ समावुभौ ।
हस्तौ च भूमिसंलग्नौ कम्पमानः पुनः पुनः ॥३८२॥

मुखं च विवृतं कुर्याल्लेलिहानां च जिह्विकाम् ।
नारसिंही भवेदेषा मुद्रा तत्प्रीतिवर्द्धिनी ॥३८३॥

दक्षोपरि करं वामं कृत्वोत्तानमधः सुधीः ।
नामयेदिति संप्रोक्ता मुद्रा वाराहसंज्ञिका ॥३८४॥

वामहस्ततले कृत्वा दक्षाङ्गुलीरधोमुखीः ।
संरोप्य मध्यमां तासामुन्नम्याधो विकुञ्चयेत् ॥३८५॥
हयग्रीवप्रिया मुद्रा तन्मूर्त्तेरनुकारिणी ।

धनुर्बाणमुद्रेऽग्रे वक्ष्येते ।

मूर्ध्नि साङ्गुष्ठमुष्टी द्वे मुद्रा त्रैलोक्यमोहिनी ।
हस्तौ तु सम्पुटौ कृत्वा प्रसृतांगुलिकौ तथा ॥३८६॥

तर्जन्यौ मध्यमापृष्ठे अङ्गुष्ठौ मध्यमास्थितौ ।
काममुद्रेयमुदिता सर्वदेवप्रियङ्करी ॥३८७॥

पदार्थादर्शे वासुदेवमन्त्रस्याञ्जलिमुद्रोक्ता—
अञ्जल्याञ्जलिमुद्रा स्याद्वासुदेवाभिधाय सेति ।

अथ शैवमुद्राः । तत्र

शिवरहस्ये—

शैवीनामथ मुद्राणां दशानां षण्मुख शृणु ।
महादेवप्रियाणां ते कथ्यन्ते लक्षणानि वै ॥३८८॥

उच्छ्रित दक्षिणाङ्गुष्ठं वामाङ्गुष्ठेन रुन्धयेत् ।
वामाङ्गुलीर्दक्षिणाभिरङ्गुलीभिश्च वेष्टयेत् ॥३८९॥
लिङ्गमुद्रा समाख्याता शिवसान्निध्यकारिणी ।
मिथः कनिष्ठिके बद्ध्वा तर्जनीभ्यामनामिके ॥३९०॥

अनामिकाद्वयाश्लिष्टदीर्घमध्यमयोरधः ।
अङ्गुष्ठाग्रद्वयं न्यसेद्योनिमुद्रेयमीरिता ॥३९१॥

अङ्गुष्ठेन कनिष्ठाग्रं बद्ध्वा शिष्टाङ्गुलीत्रयम् ।
प्रसारयेत् त्रिशूलाख्या मुद्रैषा परिकीर्त्तिता ॥३९२॥

अङ्गुष्ठतर्जन्यग्रं तु ग्रथयित्वाङ्गुलित्रयम् ।
प्रसारयेदक्षमालामुद्रेयं गुहकीर्त्तिता ॥३९३॥

अधःकृतो दक्षहस्तः प्रसृतो वरमुद्रिका ।
ऊर्ध्वीकृतो वामहस्तः प्रसृतोऽभयमुद्रिका ॥३९४॥

मिलितानामिकाङ्गुष्ठमध्यमाग्राणि योजयेत् ।
शेषाङ्गुल्यावुच्छ्रिताग्रे मृगमुद्रेयमीरिता ॥३९५॥

पञ्चाङ्गुल्यो दक्षिणास्तु मिलितास्तूर्ध्वमुच्छ्रिताः ।
खट्वाङ्गमुद्रा षड्वक्त्रशिवस्यातिप्रिया मता ॥३९६॥

पात्रवद्वामहस्तं च कृत्वाङ्के वामके तथा ।
विधायोच्छ्रितवत्कुर्यान्मुद्रा कापालिनी मता ॥३९७॥

मुष्टिं च शिथिलां बद्ध्वा ईषदुच्छ्रितमध्यमा ।
दक्षिणामूर्ध्वमुन्नम्य[1] कर्णदेशे प्रचालयेत् ॥३९८॥

एषा मुद्रा डमरुका सर्वविघ्नविनाशिनी ।
लिङ्गयोनित्रिशूलाक्षमालेष्टाभिमृगात्मिका ॥३९९॥
खट्वाङ्गा च कपालाख्या डमरुः शिवतोषदा ।

अथ शक्तिमुद्राः—

शाक्तेयीनां च मुद्राणां कथ्यन्ते लक्षणानि तु ।
पाशाङ्कुशवराभीतिखड्गचर्मधनुःशराः ॥४००॥

मौशली मुद्रिका दौर्गी मुद्राः शक्तिप्रिया मताः ।
लक्ष्मीमुद्रार्चने लक्ष्म्या वाग्वादिन्यास्तु पूजने ॥४०१॥

अक्षमाला तथा व्याख्या वीणापुस्तकमुद्रिका ।
मातङ्गिन्यास्तु वीणाख्या मुद्रा चातिप्रिया मता ॥४०२॥

लक्ष्मीमुद्रा तु सर्वासां शक्तीनां प्रीतिदा मता ।
पाशाङ्कुशाख्ये प्रोक्ते च कथ्यन्तेऽन्या यथाक्रमम् ॥४०३॥

---

१. क. ० मुन्नस्य ।

उत्तानं दक्षिणं हस्तं कृत्वाऽधो नामयेच्छनैः ।
संहताङ्गुलिकं मुद्रा वराख्या परिकीर्त्तिता ।।४०४।।

पराङ्मुखं वामहस्तमुच्छ्रिताङ्गुलिकं भवेत् ।
अभयस्य तु मुद्रैषा कथिता चाभयप्रदा ।।४०५।।

कनिष्ठानामिके बद्ध्वा स्वाङ्गुष्ठेनैव दक्षतः ।
शिष्टाङ्गुली तु प्रसृते सम्पुटे खड्गमुद्रिका ।।४०६।।

वामहस्तं तथा तिर्यक् कृत्वा चैव प्रसार्य च ।
आकुञ्चिताङ्गुलिं कुर्याच्चर्म्ममुद्रेयमीरिता ।।४०७।।

वामस्य मध्यमाग्रं तु तर्जन्यग्रे नियोजयेत् ।
अनामिकां कनिष्ठां च तस्याङ्गुष्ठेन पीडयेत् ।।४०८।।

दर्शयेद्वामके स्कन्धे धनुर्मुद्रेयमीरिता ।
दक्षमुष्टेस्तु तर्जन्या दीर्घया बाणमुद्रिका ।।४०९।।

मुष्टिं कृत्वा तु हस्ताभ्यां वामस्योपरि दक्षिणम् ।
कुर्यान्मुशलमुद्रेयं सर्वविघ्नविनाशिनी ।।४१०।।

मुष्टिं कृत्वा कराभ्यां च वामस्योपरि दक्षिणम् ।
कृत्वा शिरसि संयोज्या दुर्गामुद्रेयमीरिता ।।४११।।

चक्रमुद्रां तथा बद्ध्वा मध्यमे द्वे प्रसार्य च ।
कनिष्ठिके तथानीय तदग्रेऽङ्गुष्ठकौ क्षिपेत् ।।४१२।।

लक्ष्मीमुद्रा परा ह्येषा सर्वसम्पत्प्रदायिनी ।
दक्षिणाङ्गुष्ठतर्जन्यावग्रलग्ने पराङ्गुलीः ।।४१३।।

प्रसार्य दर्शयेदेषा मुद्रा स्यादक्षमालिका ।
एषैव सन्नतोत्ताना व्याख्यामुद्रा समीरिता ।।४१४।।

वीणावादनवद्धस्तौ कृत्वा सञ्चालयेत्ततः ।
वीणामुद्रेयमाख्याता सरस्वत्याः प्रियङ्करी ।।४१५।।
वाममुष्टिं स्वाभिमुखीं कुर्यात्पुस्तकमुद्रिका ।

लक्षणसङ्ग्रहे—

अथ गायत्र्या द्वात्रिंशन्मुद्राः

सम्मुखं सम्पुटं चैव विततं विस्तृतं तथा ।
द्विमुखं त्रिमुखं चैव चतुःपञ्चमुखं तथा ॥४१६॥

षण्मुखमधोमुखं च व्यापकाञ्जलिका तथा ।
शकटं यमपाशं च ग्रथितं सम्मुखोन्मुखम् ।।४१७॥

विलम्बं मुष्टिकं चैव मत्स्यः कूर्मवराहकौ ।
सिंहाक्रान्तं महाक्रान्तं मुद्‌गरं पल्लवं तथा ॥४१८॥

एता मुद्राश्चतुर्विंशद्‌गायत्र्यास्तु प्रतिष्ठिताः ।
वृथा मन्त्रजपश्चैव स्नानं भोजनमेव च ॥४१९॥

तथा वै तीर्थयात्रा च मुद्राहीने वृथा हि सा ।
यज्ञश्च निष्फलस्तेषां होमो देवार्चनं तथा ॥४२०॥

तस्मान्मुद्रा सदा ज्ञेया विद्वद्भिर्यत्नमास्थितैः ।
आकुञ्चिताङ्गुलिकरौ सम्मुखौ सम्मुखं भवेत् ॥४२१॥

कोशाकारौ तु साङ्गुष्ठौ तत्सम्पुटमुदाहृतम् ।
विरलाङ्गुलिकौ तौ तु विततं परिकीर्त्तितम् ॥४२२॥

विस्तीर्णं विस्तृतौ हस्तावन्योन्याञ्जलिसंयुतौ ।
कनिष्ठेनामिके युक्ते चेदेतद्विमुखं भवेत् ॥४२३॥

तदेव मध्यमायुक्तं त्रिमुखं परिकीर्त्तितम् ।
तदेव तर्जनीयुक्तं चतुर्मुखमुदीरितम् ॥ ४२४॥

तदेव स्यात्पञ्चमुखं मिलिताङ्गुष्ठकं यदि ।
तदेव षण्मुखं प्रोक्तं तथा व्यक्तकनिष्ठिकम् ॥४२५॥

अधोमुखयुतौ हस्तावधोमुखमुदीरितम् ।
व्यापकाञ्जलिका सा स्यादव्यस्ताङ्गुलिकरौ युतौ ॥४२६॥

अङ्गुष्ठकद्वययुतं मुष्टिद्वयमधोमुखम् ।
भवेद्यदि तदा प्रोक्तं शकटं मुनिसत्तमैः ॥४२७॥

मुष्टिं कृत्वा करौ योज्य तर्जनीं च प्रसार्य च ।
आकुञ्च्याग्रौ तु संयोज्य यमपाशं विदुर्बुधाः ॥४२८॥

अन्योन्यान्तरमाश्लिष्टदशाङ्गुलिकरावुभौ ।
अन्योन्यमपि बध्नीयाद् ग्रथितं परिकीर्त्तितम् ॥४२९॥
चुलुकाग्रौ करौ कृत्वा चोर्ध्वे वामकरे सुधीः ।
अधोमुखेन दक्षेण योजयेत्सम्मुखोन्मुखम् ॥४३०॥
अधःकोशाकृतिकरौ विलम्बं विदुषो विदुः ।
युतं मुष्टिद्वयं चैव सम्यङ्मुष्टिकमीरितम् ॥४३१॥
अन्योन्यानामिकामध्यमन्योन्येन च संस्पृशेत् ।
कनिष्ठिकायुगेनैव मत्स्यमुद्रा समीरिता ॥४३२॥
अधोमुखे करे वामे तादृशो दक्षिणः करः ।
पृष्ठदेशसमाक्रान्तः कूर्ममुद्रा समीरिता ॥४३३॥
मुष्टिं कृत्वा वामहस्तं मध्यमां तत्प्रसार्य च ।
निवेशयेद्वामकक्षे वराहस्य समीरिता ॥४३४॥
प्रसारिताङ्गुलिकरौ समीपं कर्णयोर्नयेत् ।
सिंहाक्रान्तं समुद्दिष्टं गायत्रीजपतत्परैः ॥४३५॥
दर्शयेच्छ्रोत्रयोर्हस्तौ संयुक्ताङ्गुलिपञ्चकौ ।
महाक्रान्तं भवेन्मुद्रा गायत्रीहृदयङ्गता ॥४३६॥
तर्जनीं दक्षहस्तस्य वामे करतले न्यसेत् ।
बध्नीयाद्वामहस्तेन मुद्गरं समुदीरितम् ॥४३७॥
दक्षिणेन करेणैव चालिताङ्गुलिना शिरः ।
वदनाभिमुखेनैव पल्लवं मुनिभिः स्मृतम् २४ ॥४३८॥
सुरभी ज्ञानसिंहौ च योनिः कूर्मोऽथ पङ्कजम् ॥
लिङ्गं निर्याणमुद्रेति जपान्तेऽष्टौ प्रदर्शयेत् ॥४३९॥

निर्याणं प्रयाणं, तेन प्रयाणकाले दर्शनीया संहारमुद्रा लक्ष्यते ।

मणिबन्धस्थितौ कृत्वा प्रसृताङ्गुलिकौ करौ ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठयुगलं मिलित्वान्तः प्रसारयेत् ॥४४०॥
सप्तजिह्वाख्यमुद्रेयं प्रिया वैश्वानरस्य हि ।

कुलार्णवे—

सर्वाभिरंगुलीभिश्च दद्याद्भूतबलिं प्रिये ।

पद्मवाहिन्याम्—

वृद्धाभ्यामङ्गुलीर्बध्वा तर्ज यौ दंडवत्सृजेत् ।
अग्रे वामं ततः पृष्ठे दक्षमाकर्षयेच्छनैः ॥४४१॥
नाराचमुद्रा सम्प्रोक्ता योज्या बलिविसर्जने ।

लक्षणसंग्रहे—

अधोमुखे वामहस्ते ऊर्द्ध्वास्यं दक्षहस्तकम् ।
क्षिप्त्वाङ्गुलीरङ्गुलीभिः संयोज्य परिवर्त्तयेत् ॥४४२॥
एषा संहारमुद्रा स्याद्विसर्जनविधौ मता ।
ऊर्द्धास्यां वामतर्जन्यामधोवक्त्रां परां न्यसेत् ॥४४३॥
तिर्यङ्मध्ये भवेदेषा शनिमुद्राऽरिमर्दिनी ।
अङ्गुष्ठावुन्नतौ मुष्ट्योः कृत्वा संलग्नयोर्द्वयोः ॥४४४॥
तावेवाभिमुखौ कुर्यान्मुद्रैषा कालकर्णिका ।
दक्षिणा निविडा मुष्टिर्नासिकार्पिततर्जनी ॥४४५॥
मुद्रा विस्मयसंज्ञा स्याद्विस्मयावेशकारिणी ।
मुष्टिरूर्ध्वकृताङ्गुष्ठा दक्षिणा नादमुद्रिका ॥४४६॥
तर्जन्यङ्गुष्ठसंयोगादग्रतो बिन्दुमुद्रिका ।
वाग्भवस्य द्वितीयेन कामराजेन भैरव ॥४४७॥
मुद्राया बन्धनं कार्यं मूलमन्त्रेण दर्शनम् ।
परित्यागं तु मुद्रायास्ताराबीजेन चाचरेत् ॥४४८॥
प्रान्तादि च द्रबिन्दुभ्यां षष्ठस्वरसमन्वितम् ।

ताराबीजमिति प्रोक्तमिति । प्रान्तादिर्हंकारः, सुबोधमन्यत् ।[1]

सारसंग्रहे—

ध्यानं कुर्यात्ततो मन्त्री तत्तत्कल्पोक्तवर्त्मना ।
ध्यानमात्मेष्टदेवस्य वेदनं मनसा मतम् ॥४४९॥
तदपि द्विविधं प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं तथा ।
आत्मनो हृदयाम्भोजं कर्णिकाकेसरोज्वलम् ॥४५०॥

---

१. अतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—
निबन्धे—गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा मुद्राः सर्वत्र योजयेत् ।
योऽन्यथा कुरुते मूढो न सिद्धिफलभाग्भवेत् ॥

प्रफुल्लं सोमसूर्याग्निमण्डलेन विराजितम् ।
स्वीयेष्टदेवतां तत्र ध्यायेदागमबोधिताम् ॥४५१॥

एवं यद्वेदनं तद्धि सगुणं ध्यानमुच्यते ।
यज्जीवब्रह्मणोरैक्यं सोहं स्यामिति वेदनम् ॥४५२॥

तदेव निर्गुणं ध्यानमिति ब्रह्मविदो विदुः ।
ध्यानं तु तत्तत्कल्पेषु वक्ष्यते ।

योगनीतंत्रे—

अथान्तर्यजनं वक्ष्ये यथावदवधारय ।
वामनाडीं समाकृष्य किञ्चिदाकुञ्चयेद् गुदम् ॥४५३॥
रेचयेत्सव्यमार्गेण जिह्वां तालुगतां चरेत् ।
शक्तिः शिवपदे योज्या किञ्चिदाकुञ्चयेदधः ॥४५४॥
अन्तर्यागमिदं देवि कथितं गुरुभाषितम् ।

फेत्कारिणीतन्त्रे—

आराध्य मनसा भक्त्या बाह्यपूजामथाचरेत् ।

गौतमीये—

पूजां च मानसीं कुर्यात्ततोऽर्घस्थापनं चरेत् ।

सारसङ्ग्रहे—

ध्यात्वा ह्यन्तर्यजेत्पीठं न्यासमार्गेण मन्त्रवित् ।
तस्मिन्पीठे स्थितामिष्टदेवतामुक्तविग्रहाम् ॥४५५॥

ध्यात्वा यजेच्चन्दनाद्यैर्मानसैर्भोजनान्तिकैः ।
भोजनावसरे चान्तर्वैश्वदेवं समाचरेत् ॥४५६॥

मूलाधारे स्मरेत्कुण्डं कुण्डल्यग्निसमुज्वलम् ।
आत्मान्तरात्मपरमज्ञानात्मचतुरस्रकम् ॥४५७॥

धर्माधर्मान्वितं तत्र मूलमन्त्रपुरःसरम् ।
अमुं जुहोमि स्वाहेति प्रत्येकं जुहुयात्ततः ॥४५८॥

अहन्तासत्यपैशुन्यकामक्रोधादिकं हविः
मन एव स्रुवः प्रोक्तः सुषुम्णा स्रुगुदीरिता ॥४५९॥

तदन्ते तन्मयो भूत्वा यथाशक्ति जपेन्मनुम् ।
तज्जपं सर्वसम्पत्त्यै देवतायै निवेदयेत् ॥४६०॥

जपनिवेदनमन्त्रस्त्वग्रे वक्ष्यते ।

लक्षणसागरे[1]—

इत्थं जपं यथाशक्ति कृत्वा देवि समर्प्य तत् ।
गुरुं प्रणम्य विधिवत्पूजाचक्रं समुद्धरेत् ॥४६१॥

सिद्धेश्वरीतन्त्रे—

प्रणम्य श्रीगुरुं भक्त्या साधकः कुङ्कुमादिभिः ।
स्वर्णादिरचिते पीठे पूजाचक्रं समुद्धरेत् ॥४६२॥

संस्थाप्य पुरतो देवि शुभे पीठे सुरेश्वरि ।
दद्यात्पुष्पाञ्जलिं तत्र मूलमन्त्रेण साधकः ॥४६३॥

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

श्रीखण्डरक्तश्रीखण्डश्रीपर्णीसम्भवे पुटे ।
चक्रं संस्थापयेद्देवि नान्यत्र वरवर्णिनि ॥४६४॥

श्रीरुद्रयामले—

ततः कुङ्कुमसिन्दूरैः कार्यं यन्त्रं तु योगिना ।
सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके वैद्रुमे तथा ॥४६५॥
चक्रे यथोक्तविधिना पूज्या देवी नरोत्तमैः ।

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

गण्डकीभवपाषाणे स्वर्णे रजतताम्रयोरिति ।

लक्षसागरे—

यावज्जीवं सुवर्णे स्याद्रूप्ये द्वाविंशतिः प्रिये ।
ताम्रे द्वादशकं वर्षं तदर्द्धं भूर्जपत्रके ॥४६६॥

सारसङ्ग्रहे—

ताम्रे द्वादशकं वर्षं स्फाटिकादौ तु सर्वदा ।
तेषां मध्ये स्फाटिकं तु सर्वसिद्धिप्रदं भवेत् ॥४६७॥

लक्षसागरे—

भूमौ सिन्दूररजसा रचितं सर्वकामदम् ।
सुवर्णरचितं यन्त्रं सर्वराजवशङ्करम् ॥४६८॥

---

१. ख. लक्षसागरे ।

रजतेन कृतं यन्त्रमायुरारोग्यकामदम् ।
ताम्रेण रचितं यन्त्रं सर्वैश्वर्यप्रदं मतम् ॥४६९॥

यन्त्रं तु स्फटिके देवि मनोभिलषितप्रदम् ।
माणिक्यरचितं यन्त्रं राज्यदं मुक्तिदं मतम् ॥४७०॥

गोमेदरचितं यन्त्रं सर्वैश्वर्यप्रदं मतम् ।
क्लृप्तं मरकते यन्त्रं सर्वशत्रुविनाशनम् ॥४७१॥

लोहत्रयोद्भवं यन्त्रं सर्वसिद्धिकरं मतम् ।
लोहत्रयविभागं तु कथयामि तवानघे ॥४७२॥

भागा दश सुवर्णस्य रजतस्य च षोडश ।
ताम्रस्य रविभागेन पीठं कुर्यान्महेश्वरि ॥४७३॥

तस्मिन्पीठे तु निर्माणं पूजाचक्रस्य कारयेत् ।
शान्तिदं पुष्टिदं प्रोक्तं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ॥४७४॥
आयुरारोग्यजनकं कान्तिदं पुष्टिदं मतम् ।

तन्त्रराजे—

सीसकांस्यादिषु पुनः पूर्वोक्तविपरीतकृत् ।
फलकायां पटे भित्तौ स्थापयेन्न कदाचन ॥४७५॥

स्थापितं यदि मोहेन लोभेनाज्ञानतोऽपि वा ।
कुलं वित्तमपत्यं च निर्मूलयति सर्वदा ॥४७६॥

कुलमूलावतारे—

अग्निरङ्गुलविस्तारं प्राक्प्रत्यग्दक्षिणोत्तरम् ।
पलप्रमाणं कर्त्तव्यमर्चापीठं मनोहरम् ॥४७७॥

यवार्द्धोच्चं प्रकुर्वीत चतुरस्रं समन्ततः ।
तस्मिन्पीठे च निर्माणं पूजाचक्रस्य कारयेत् ॥४७८॥

सौत्रामणीतन्त्रे—

ऋजुरेखा भवेल्लक्ष्मीर्वक्ररेखा दरिद्रता ।

लक्षसागरे—

अग्निरङ्गुलहेमस्य रजतस्य तथैव च ।
ताम्रस्य पूर्वसंख्यैव माणिक्यादौ यथेच्छया ॥४७९॥

हेमस्येति । अग्निरङ्गुलविस्तारमिति च छान्दसम्, अङ्गुलविस्तारायाममित्यर्थः । पलं विंशत्युत्तरत्रिशतगुञ्जापरिमितम् । अंगुलविस्तारस्तु मानान्तराङ्गुलमानेन ।

वेदिकापीठशिविकारथादीनां विधिः पुनः
मानान्तराङ्गुलेनैव भवेन्नान्येन केनचित् ॥४८०॥

इति **महाकपिलपञ्चरात्र**वचनात् । पूजाचक्रस्य पीठशब्दवाच्यत्वात् ।

मानान्तराङ्गुललक्षणं तु—

महाकपिलपञ्चरात्रे—

विन्यस्तैस्तिर्यगष्टाभिर्यवैर्मानान्तराङ्गुलम् ।
शालिभिर्वा ऋजुन्यस्तैस्त्रिभिर्मानान्तरं भवेत् ॥४८१॥

तन्त्रराजे—

चक्रे देव्यां तथा शिष्ये प्रतिष्ठा त्रिविधोच्यते ।
सा च तत्वविदा कार्या सम्प्रदायानुरोधिना ॥४८२॥

चक्रे पूजाचक्रे । देव्यां देवीमूर्त्तौ देवीत्युपलक्षणम्, तेन स्वेष्टदेवतामूर्त्तौ संप्रदायानुरोधिना नित्यनैमित्तिकोपास्तिनिरतेन ।

तथा—

स्थिरे शुभग्रहोपेतेऽनुकूले गुणशालिनि ।
मुहूर्ते कारयेद्विद्वान्पूर्णायां वा शुभोदये ॥४८३॥ इति ।

तथा—

क्षौद्राज्यदुग्धैः प्रथमं नालिकेराम्भसा ततः ।
अभिषिच्याथ तोयेन क्वथितेनाक्षरौषधैः ॥४८४॥

आवाह्याभ्यर्च्य तल्लग्ने चक्रे संस्थाप्य पूजयेत् ।
गन्धैः पुष्पैर्नैवेद्यैर्धूपैर्दीपैर्नैवेद्यतर्पणैः ॥४८५॥

त्रिरात्रं पूजयेद्देवीं योगिनीयोगिभिः सह ।
एवं दिनत्रयं कृत्वा ततो नित्यक्रमं भजेत् ॥४८६॥
एवंदेवी प्रतिष्ठायां क्रमः सान्निध्यकारकः ।

लक्षसागरे—

आदौ वेदोदितैर्मन्त्रैरग्न्युत्तारणमाचरेत् ।
धातुनिर्मितचक्राणां मूर्त्तीनां च विशेषतः ॥४८७॥

अग्न्युत्तारणप्रकारस्तु प्रयोगे वक्ष्यते । वर्णौषधयस्तु—

प्रपञ्चसारे—

चन्दनकुचन्दनागुरुकर्पूरोशीररोगजलघुसृणाः ।
कक्कोलजातिमांसीमुरचोरग्रन्थिरोचनापत्राः ॥४८८॥

पिप्पलबिल्वगुहारुणकत्तृणलवङ्गाह्व[1]-कुम्भिवन्दिन्यः ।
सोदुम्बरकाश्मरिकास्थिराह्वदरपुष्पिकामयूरशिखाः ॥४८९॥

प्लक्षाग्निमन्थसिंहीकुशाह्वदर्भोऽथ कृष्णदरपुष्पी ।
रोहिणटुण्डुक[2]-बृहतीपाटलचित्रातुलस्यपामार्गाः ॥४९०॥

शतमखलताद्विरेफो विष्णुक्रान्ता मुसल्यथांजलिनी ।
दूर्वा श्रीदेविसहे तथैव लक्ष्मीसदाभद्रे ॥४९१॥

आदीनामिति कथिता वर्णानां क्रमवशादिहौषधयः ।
गुटिकाकषायभसितप्रभेदतो निखिलसिद्धिदायिन्यः ॥४९२॥

अथैतासां नामानि सुबोधानि लिख्यन्ते—चन्दन[1]रक्तचन्दना[2]-ऽगुरु[3]कर्पूरो[4]-शीर[5]कुष्ठ[6]बाल[7]कुङ्कुम[8]कक्कोल[9]जातीफल[10]जटामांसी[11]मुर[12]चोर[13] ग्रंथि[14] रोचना[15] पत्र[16] पिप्पल[17] बिल्व[18] पृष्णिपर्णी[19] चित्रक[20] कत्तृण[21] लवङ्ग[22] कच्चुल[23]वन्दि[?]यु-[24]दुम्बर[25] पाषाणभेद[26] पद्म[27]शङ्खपुष्पी[28]मयूर शिखा[29]प्लक्षा[30]ऽग्निमन्थ[31]सिंही[32]कुश[33]कृष्णशंखपुष्पी[34]रोहिण[35]श्योनाक[36] बृहती[37]पाटल[38]मूषकपर्णी[39]तुलस्य[40]पामार्ग[41]-न्द्रवल्ली[42]भृङ्गराजा[43]ऽपरा-जिता[44]तालमूली[45]कृताञ्जलि[46]दूर्वा[47] श्रीदेवी[48]कुमारी[49]भार्गी[50] भद्र-मुस्ते[51]त्येकपञ्चाशदक्षरौषधयः क्रमादकारादिक्षकारान्तैकपञ्चाशद्वर्णानाम् ।

[3][**निबन्धे—**

अथ वक्ष्ये देवतानां सुप्रतिष्ठाविधिक्रमम् ।
पुण्यक्षेत्रे पुण्यकाले शैलादिविहितस्थले ॥४९३॥

मन्त्री कल्पानुसारेण पूर्वेद्युरधिवासयेत् ।
सायं सङ्कल्प्य विधिवद् घटस्थापनपूर्वकम् ॥४९४॥

---

१. पदार्थादर्शे ०तृणकलवङ्गह्व' इति पाठः । २. ख. दुण्डुक०

३. [—] कोष्ठगतांशो त्रिणवत्युत्तरचतुःशतश्लोकादारभ्य त्रयोविंशोत्तरपञ्च—शतश्लोकादधःस्थित-'गोरश्मे ते चन्द्राणी' ति-चन्द्रमन्त्रपर्य्यन्तो नास्ति क. पुस्तके ।

गणेशादीन् समभ्यर्च्य दिक्पालान् परिपूजयेत् ।
यथाशक्त्युपचाराद्यैः पूजयेन्मूलदेवताम् ॥४९५॥

सुगन्धितैलगन्धाद्यैर्दिव्यैस्तमधिवासयेत् ।
चन्द्र इत्यादिमन्त्रेण जयघोषपुरस्सरम् ॥४९६॥

इत्यधिवासनं कृत्वा संयतो विजितेन्द्रियः ।
प्रातर्नित्यं तु निर्वर्त्य क्लृप्ते यागस्थले विशेत् ॥४९७॥

पताकाध्वजसङ्कीर्णे दिव्यमण्डलमण्डिते ।
वितानचामरच्छत्रपुष्पमालाविराजिते ॥४९८॥

मङ्गलाङ्कुरपात्राद्यैः कलशैः परिभूषिते ।
मण्डलं सर्वतोभद्रं वेद्या उपरि संलिखेत् ॥४९९॥

प्राङ्मुखो वाग्यतो भूत्वा सङ्कल्प्याभीष्टसिद्धये ।
पञ्चशुद्धिं समाचर्य कूर्चमक्षतसंयुतम् ॥५००॥

संस्थाप्य मण्डले तत्र यजेदाधारशक्तिकाः ।
पीठमन्त्रान्तमास्तीर्य स्थापयेत्कलशं बुधः ॥५०१॥

दीक्षाक्रमोक्तविधिनाऽभिषेककलशं तथा ।
पञ्चगव्यं ततः कृत्वा शिवमन्त्रविशोधितम् ॥५०२॥

तेन सुस्नापयेन्मन्त्री प्रतिमां प्रणवं जपन् ।
पञ्चामृतेन हविषा दध्ना च पयसा क्रमात् ॥५०३॥

तत उद्वर्त्तनं कुर्याज्जलेन स्नापयेदपि ।
वाससा जलमुत्तोल्य गन्धलेपं विधापयेत् ॥५०४॥

नयेत् स्थापितकुम्भस्य समीपे देवतां बुधः ।
ततो ध्यात्वा यथोक्तां तां मुद्रयाऽऽवाहयेत् क्रमात् ॥५०५॥

लेलिहामुद्रया हस्तं विन्यसेद्देवताहृदि ।
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रन्तु दशधा प्रजपेत्ततः ॥५०६॥

ततो दैवतगायत्रीं शतमष्टोत्तरं तथा ।
ततः कल्पोक्तविधिना परिवारसमन्विताम् ॥५०७॥

पूजयेद्देवतां पश्चात् स्ववामे स्नानमण्डले ।
अष्टपत्रसमायुक्ते पीठे परिनिधाय च ॥५०८॥

सुगन्धिदिव्यतैलेन दद्यादभ्यङ्गमेव हि ।
मूलेन पावमानेन सहस्रशीर्षया बुधः ॥५०९॥

स्नापयेद् भक्तिभावेन अभिषेकघटामृतैः ।
कर्पूरागरुकस्तूरीप्रसूनचन्दनोदकैः ॥५१०॥

नानातीर्थोदकेनापि स्वर्णरत्नोदकैर्जलैः ।
सर्वौषधिजलैर्गन्धजलैर्यत्नेन सेचयेत् ॥५११॥

ततः शुद्धदुकूलेन जलमुत्तोल्य साधकः ।
परिधाय दुकूले द्वे स्वर्णनिर्मितदोलया ॥५१२॥

मण्डले तां समानीय गीतनृत्यजयस्वनैः ।
षोडशैरुपचारैस्तु पूजयेत् कल्पमानसः ॥५१३॥

कुण्डे वा स्थण्डिले मन्त्री हविषा संस्कृतेऽनले ।
शतमष्टोत्तरं हुत्वा श्रपयित्वा चरुं ततः ॥५१४॥

यथाविधि विधानेन श्रुचा होमं समाचरेत् ।
ग्रासप्रमाणं चरुकं मूलेनाहुत्य मन्त्रवित् ॥५१५॥

घृतप्लुतं ततो हुत्वा जुहुयादग्निसम्मुखे ।
पञ्चविंशतिवारं च देवमुद्दिश्य यत्नतः ॥५१६॥

चरुणा दिक्पतिभ्यश्च दद्यात् पूर्वादितो बलिम् ।
तत्र आवृतिदेवेभ्यो घृतेनाहुतिमाचरेत् ॥५१७॥

अथवा चरुणा तद्वत्ततो देवसमीपगे ।
गन्धपुष्पाञ्जलिं पञ्च प्रदद्याच्छत्रचामरे ॥५१८॥

अष्टोत्तरशतं मूलमन्त्रं जप्त्वा समाहितः ।
अभिषिञ्चेत्ततो देवीं पूजाकुम्भस्थपल्लवैः ॥ ५१९॥

मातृकायुक्तमन्त्रं च जपञ्जयजयस्वनैः ।
गत्वा होमसपीपं च दद्यात्पूर्णाहुतिं ततः ॥५२०॥

दक्षिणां गुरवे दद्यात् सुवर्णं कर्षमानतः ।
अथवा तच्चतुर्थांशं यथाविभवपूर्वकम् ॥ ५२१॥

गुञ्जाद्वादशको माषस्तदष्टौ कर्ष उच्यते ।
ततः सन्तोषयेद्विप्रान् गृहीत्वा चाशिषो द्विजात् ॥५२२॥

इति देवप्रतिष्ठानमुक्तं सर्वसमृद्धिदम् ।
यः करोति प्रतिष्ठानं दैवतस्य महाजनः ॥५२३॥

वसेद्दिवि सहस्राणि वर्षाणि देवमानतः ।
ततो वर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ॥५२४॥
अथवा कोटि कल्पान्ते मोदते चाच्युते पदे ।

'चन्द्र' इत्यादिमन्त्रस्तु **यजुर्वेदे**— 'चन्द्रं त्वां चन्द्रेण क्रीणामि शुक्रं शुक्रेणामृतममृतेन सग्मेते गोरश्मे ते चन्द्राणि' इति ।]

देवस्य यन्त्ररूपस्य यन्त्रव्याप्तिमजानता ।
कृतार्चनादिकं सर्वं व्यर्थं भवति शाम्भवि ॥५२५॥

यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं देवता मन्त्ररूपिणी ।
यन्त्रे सम्पूजिता देवि सहसैव प्रसीदति ॥५२६॥

कामक्रोधादिदोषोत्थसर्वदुःखनियन्त्रणात् ।
यंत्रमित्याहुरेतस्मिन्देवः प्रीणाति पूजितः ॥५२७॥

शरीरमिव जीवस्य दीपस्य स्नेहवत्प्रिये ।
सर्वेषामपि देवानां तथा यन्त्रं प्रतिष्ठितम् ॥५२८॥

तस्माद्यन्त्रं लिखित्वा वा ध्यात्वा वा भजते शिवम् ।
ज्ञात्वा गुरुमुखात्सर्वं पूजयेद्विधिना शिवे ॥ ५२९॥

एकपीठे पृथक्पूजां विना यन्त्रं करोति यः ।
अङ्गाङ्गित्वमपि त्यक्त्वा देवताशापमाप्नुयात् ॥५३०॥

एकपीठे सुरेशानि स्वे स्वे यन्त्रे पृथक् पृथक् ।
यजेदावरणोपेतान् देवांस्तत्तद्विधानतः ॥५३१॥

आवाह्य देवतामेकामर्च्चयेच्चान्यदेवताम् ।
उभाभ्यां लभते शापं मन्त्री चञ्चलमानसः ॥५३२॥

कुलप्रकाशतन्त्रे—

खण्डिते स्फुटिते दग्धे भ्रष्टे मानविवर्जिते ।
व्यङ्गेऽनर्हपशुस्पृष्टे पतिते दुष्टभूमिषु ॥५३३॥

अन्यमन्त्रार्चिते चैव पतितस्पर्शदूषिते ।
दशस्वेतेषु नो कुर्युः सन्निधानं दिवौकसः ।।५३४।।

रुद्रयामले—

तेषां लिङ्गे मणौ कुम्भे मण्डले च प्रपूजनम् ।
शालग्रामे च तद्बुध्या यन्त्रादौ च प्रपूजयेत् ।।५३५।।
भूमावेव कृता पूजा पुत्रायुर्द्धननाशिनी ।

[1][**शातातप—**

भूमावप्सु तथाग्नौ च दिवि सूर्ये च देवताः ।
नित्यमन्त्रे हिरण्ये च ब्राह्मणेषु च गोषु च ।।५३६।।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम् ।
काष्ठलोष्ठेषु मूर्खाणां मुमुक्षोरात्मनि देवता ।।५३७।।

निबन्धे—

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवाः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्रपूजापदानि मे ।।५३८।।

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोषु वै यवसादिना ।।५३९।।

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ।।५४०।।

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ।।५४१।।]

सोमशम्भुः—

शालग्रामशिलायां तु तत्तद्बुध्या समर्चयेत् ।

कुलार्णवे—

लिङ्गस्थण्डिलयोर्वन्हौ सूर्यकुड्यपटेषु च ।
मण्डले फलके मूर्ध्नि हृदये दश कीर्त्तिताः ।।५४२।।

एषु स्थानेषु देवेशि यजन्ति परमं शिवम् ।

शिवमित्युपलक्षणं तेषामित्युक्तेः । तेषां पंचायतनदेवतानाम् । यंत्रादावित्यादिपदं प्रतिमापरम् ।

---

१ [—] कोष्ठबद्धोंऽशः ख. पुस्तके दृश्यते ।

सालग्रामे मणौ यन्त्रे स्थण्डिले प्रतिमासु च ।
हरेः पूजा तु कर्त्तव्या केवले न तु भूतले ॥५४३॥

इति **त्रैलोक्यसम्मोहन**वचनात् ।

निबन्धे—

अग्नौ चैवाथवा सूर्ये प्रतिमायां जलेऽपिवा ।
पूजयेद्भक्तिभावेन प्रत्यहं परमेश्वरम् ॥५४४॥

प्रतिमा तु तत्तद्ध्यानोक्तरूपा कार्या ।[1]

कपिलपञ्चरात्रे—

मात्राङ्गुलप्रमाणेन दशपञ्चदशाङ्गुला ।
गृहे तु प्रतिमा पूज्या नाधिका तु प्रशस्यते ॥५४५॥

दशाङ्गुलमिता पञ्चदशाङ्गुलमिता वेत्यर्थः ।

दशाङ्गुलप्रमाणा वा तिथ्यङ्गुलमितापि वा ।
अभ्यर्च्या प्रतिमा विष्णोर्गृहेषु गृहमेधिभिः ॥५४६॥

इति **हयशीर्षपञ्चरात्र**वचनात् ।

वाराहपुराणे—

नार्च्या गृहेऽश्मजा मूर्त्तिश्चतुरङ्गुलतोऽधिका ।
न वितस्त्यधिका धातुसम्भवा श्रेय इच्छता ॥५४७॥

पदार्थादर्शे—

अङ्गुष्ठपर्व आरभ्य वितस्तिर्यावदेव तु ।
गृहे तु प्रतिमा कार्या नाधिका हि प्रशस्यते ॥५४८॥

[2]मात्राङ्गुललक्षणं तु—

महाकपिलपञ्चरात्रे—

आचार्यदक्षिणकरे मध्यमाङ्गुलिमध्यमम् ।
पर्वणोरन्तरं दीर्घं मात्राङ्गुलमुदाहृतम् ॥५४९॥

---

१. इतःपरमयमंशोऽभ्यधिकोऽवलोक्यते ख० पुस्तके—

कुलार्णवे—गवां सर्वाङ्गगं क्षीरं स्रवेत्स्तनमुखाद्यथा ।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥१॥
आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य तु विश्वासात् सान्निध्यं देवता भजेत् ॥२॥

२. इतः पूर्वमयमंशोदृश्यते ख० पुस्तके—*क्वचित्*-शैलजा न गृहे पूज्या । शैलजा पाषाणजा ।

यत्तु—

सौम्या तु हस्तमात्रा वसुदा हस्तद्वयोच्छ्रिता प्रतिमा ।
क्षेमसुभिक्षाय भवेत् त्रिचतुर्हस्तप्रमाणा वा ॥५५०॥

इति वचनं तद्गृहव्यतिरिक्तस्थलस्थापितप्रतिमाविषयम् ।[1]

ज्ञानमालायाम्—

गिरिजारतसौख्याय जाता विघ्नपराः सुराः ।
तच्छ्रुत्वा चरितं देव्या शापो दत्तोऽतिदारुणः ॥५५१॥

पार्वतीशापसंयुक्ता देवा अश्मत्वमागताः ।
विष्णुना शङ्करेणापि तथान्यैः सुरसत्तमैः ॥५५२॥

संस्तुता वरदा जाता पाषाणत्वेऽपि भो सुराः ।
स्वस्थाने पूजयिष्यन्ति पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥५५३॥

दातुं समर्था मद्वाक्यादेष एव वरोऽर्पितः ।
तस्मात्पूजा विधातव्या पाषाणप्रतिमासु च ॥५५४॥

हयशीर्षपञ्चरात्रे—

मृण्मयी दारुघटिता लोहजा रत्नजा तथा ।
शैलजा गन्धजा चैव कौसुमी सप्तधा स्मृता ॥५५५॥

कौसुमी गन्धजा चैव मृण्मयी प्रतिमा हिता ।
तत्कालपूजिताश्चैताः सर्वकामफलप्रदाः ॥५५६॥

---

१. ख० पुस्तकेऽधःस्थोऽयमंशो विशेषः—

गौतमीतन्त्रे—शिल्पिना कृष्णभक्तेन विश्वकर्मोक्तिजानता ।
दशपञ्चाङ्गुला मुख्या मध्यमा द्वादशाङ्गुला ॥१॥
अष्टाङ्गुलाऽधमा सा तु न्यूनाधिक्यं न कारयेत् ।
अज्ञानेनापि मोहेन यदि कुर्य्यान्नराधमः ॥२॥
प्रतिष्ठा विकला तस्य पूजनान्न फलं भवेत् ।
मानाङ्गुलविहीना या प्रतिमा यत्र तिष्ठति ॥३॥
राजानं पीडयत्येव गृहस्थो निरयं व्रजेत् ।
मानाङ्गुलेन सा कार्या नान्यथा मुनिसत्तम ॥४॥
पर्वताग्रे नदीतीरे चत्वरे गोष्ठभूमिषु ।
समुद्रतीरेऽरण्येवा मानहीना न दुष्यति ॥५॥

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—

शैलजा लोहजा वापि रत्नजा वाथ दारुजा ।
मृण्मयी चैति पञ्चैताः प्रतिमाः परिकीर्त्तिताः ॥५५७॥

सर्वेषामेव देवानां महानीला यशःप्रदा ।
दारुजा कामदा प्रोक्ता सौवर्णी भुक्तिमुक्तिदा ॥५५८॥

राजती स्वाराज्यदात्री ताम्री ह्यायुर्विवर्द्धिनी ।
कांस्या बह्वापदं हन्ति रैतिकी शत्रुनाशिनी ॥५५९॥

सर्वभोगप्रदा शैली स्फाटिकी दीप्तिकारिका ।
महाभोगप्रदा ख्याता मृण्मयी खलु शोभना । ५६०॥

मृण्मय्यां तत्रैव विशेष उक्तः—

मृण्मयीं प्रतिमां वक्ष्ये यथावत्तां निबोध मे ।
पक्वाऽपक्वा द्विधा प्रोक्ता मृण्मयी प्रतिमा क्रमात् ॥५६१॥

सर्वलोका न शंसन्ति प्रतिमां दग्धमृण्मयीम् ।
अपक्वा प्रतिमा शस्ता सैव कार्या विचक्षणैः ॥५६२॥

सुधया नैव कर्त्तव्या नाश्मचूर्णैः कदाचन ।
मृदैव मृण्मयीं कुर्याद्यथावदनुपूर्वशः ॥५६३॥

ब्राह्मणस्य सिता मृद्वै क्षत्रियस्यारुणा स्मृता ।
विशाम्पीता भवेन्मृद्वै कृष्णा शूद्रस्य कीर्तिता ॥५६४॥

इति [1] । अन्यत्र विशेषः—

नृपभयमत्यङ्गायां हीनाङ्गायामकल्पता कर्त्तुः ।
क्षामोदर्यां क्षुद्भयमर्थविनाशः कृशाङ्गायाम् ॥५६५॥

मरणं तु सक्षतायां शस्त्रनिपातेन निर्दिशेत्कर्त्तुः ।
वामे विनता पत्नीं दक्षिणविनता हिनस्त्यायुः ॥५६६॥

---

१. अतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके— तथा मृण्मयमूर्त्तिपूजने फलाधिक्यश्रवणात् ।
देवीमाहात्म्ये—
तौ तस्मिन्पुलिने देव्याः कृत्वा मूर्तिं महीमयीम् ।
अर्हणां चक्रतुस्तस्याः पुष्पधूपाग्नितर्पणैः ॥१॥ इति दिक् ।

अन्धत्वमूर्ध्वदृष्टौ करोति चिन्तामधोमुखी दृष्टिः ।
सर्वप्रतिमास्वेवं शुभाऽशुभं भास्करोक्तमवगच्छेत् ।।५६७।।

इति **तथान्यत्रापि—**

नाधिकाङ्गी न हीनाङ्गी कर्त्तव्या देवता क्वचित् ।
अधिका शिल्पिनं हन्यात्कृशा चैवार्थनाशिनी ।।५६८।।

कृशोदरी तु दुर्भिक्षं निर्मांसा धननाशिनी ।
वक्रनासाऽतिदुःखाय संक्षिप्ताङ्गी भयङ्करी ।।५६९।।

चिपिटा दुःखशोकाय अनेत्रा नेत्रनाशिनी ।
दुःखदा हीनवक्त्रा तु पाणिपादकृशा तथा ।।५७०।।

हीनांसा हीनजङ्घा च भ्रमोन्मादकरी नृप ।
शुष्कवक्त्रा च राजान कटिहीना च मारयेत् ।।५७१।।

पाणिपादविहीनायां जायते म(न)रको महान् ।
जङ्घाहीना च या मूर्तिः शत्रुकल्याणकारिणी ।।५७२।।

पुत्रमित्रविनाशाय हीना वक्षःस्थलेन या ।
सम्पूर्णावयवा या तु आयुर्लक्ष्मीप्रदा सदा ।।५७३।।
एवं लक्षणमासाद्य कर्त्तव्या मूर्त्तिरुत्तमा । इति ।

तथान्यत्र—

खण्डितां स्फुटितां जीर्णामवलीढां च वह्निना ।
प्रतिमां वर्जयेद्यत्नाद्भग्नां स्वाल्लक्षणाच्च्युताम् ।।५७४।।
निःक्षिपेद्दारुजामग्नौ तथान्यामप्सु निःक्षिपेत् ।इति।

तन्त्रसारे—

दग्धं च स्फुटितं यन्त्रं हृतं चौरेण वा पुनः ।
उपवासम्प्रकुर्वीत दिनमेकमतन्द्रितः ।।५७५।।

लक्षमात्रं जपेद्विद्यां होमतर्पणपूर्विकाम् ।
भक्त्या चैव गुरुं तोष्य ब्राह्मणानपि भोजयेत् ।।५७६।।
लक्षमयुतमित्येके ।

कदाचिल्लुप्तचिह्नं वा स्फुटिता दिवि दूषणम् ।
भग्नं करोति यो मूर्खो मृत्युस्तस्य ध्रुवं[1] भवेत् ।।५७७।।

---
१. ख. द्रुतम् ।

तस्मात्तु तीर्थराजे वा गङ्गादिसरितां वरे ।
समुद्रे वा क्षिपेद्देवि चान्यथा मृत्युमाप्नुयात् ॥५७८॥

तथा—

एकाहपूजाविहतौ कुर्याद् द्विगुणमर्चनम् ।
द्विरात्रे तु महापूजां सम्प्रोक्षणमतः परम् ॥५७९॥

मासादूर्ध्वमनेकाहपूजा यदि विहन्यते ।
प्रतिष्ठैवेष्यते कैश्चित्कैश्चित्सम्प्रोक्षणक्रमः ॥ ५८०॥

सम्प्रोक्षणलक्षणं यथा तत्रैव—

सम्प्रोक्षणं तु देवस्य देवमुद्वास्य पूर्ववत् ।
पञ्च पञ्चक्रमेणैव स्नापयित्वा मृदम्भसा ॥५८१॥

गवाञ्चैव रसैः स्नाप्य दर्भतोये विशोध्य च ।
प्रोक्षयेत्प्रोक्षणीतोयैर्मूलेनाष्टोत्तरं शतम् ॥५८२॥

सपुष्प सकुशं पाणि न्यस्य देवस्य मस्तके ।
पञ्चवारं जपेन्मूलमष्टोत्तरशतोत्तरम् ॥५८३॥

ततो मूलेन मूर्द्धादिपीठान्तं संस्पृशेदपि ।
तत्वन्यासं लिपिन्यासं मन्त्रन्यासं च विन्यसेत् ॥५८४॥

प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण प्रतिष्ठापनमाचरेत् ।
पूजां च महतीं कुर्यात्स्वतन्त्रोक्तां यथाविधि ॥५८५॥
यागहीनादिषु प्रायः सम्प्रोक्षणविधिः स्मृतः । इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रे—

आदिमूर्त्तिर्वासुदेवः सङ्कर्षणमथासृजेत्[1] ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च स्वयमेवासृजत्प्रभुः ॥५८६॥

चतुर्मूर्त्तिः परम्प्रोक्त एकैको भिद्यते त्रिधा ।
केशवादिप्रभेदेन मूर्त्तिद्वादशकं स्मृतम् ॥५८७॥

पङ्कजं दक्षिणे दद्यात्पाञ्चजन्यं तथोपरि ।
वामोपरि गदा यस्य चक्रं चाधोव्यवस्थितम् ॥५८८॥

---

१. ख.० सृजत् ।

आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं [1][केशवेति प्रकीर्त्यते ।
अधरोत्तरभावेन कृतमेतत्तु यत्र वै ॥५८८॥

नारायणाख्या सा मूर्त्तिः स्थापिता भुक्तिमुक्तिदा ।
सव्याधःपङ्कजं यस्य पाञ्चजन्यं तथोपरि] ॥५८९॥

दक्षिणोर्ध्वे गदा यस्य चक्रं चाधोव्यवस्थितम् ।
आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं माधवेति प्रकीर्त्तितः ॥५९०॥

दक्षिणाधःस्थितं चक्रं गदा यस्योपरि स्थिता ।
वामोर्ध्वे संस्थितं पद्मं शंखं चाधोव्यवस्थितम् ॥५९१॥

सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं गोविन्देति प्रकीर्त्यते ।
'दक्षिणोपरि पद्मं तु गदा चाधोव्यवस्थिता ॥५९२॥

वामोर्ध्वे पाञ्चजन्यं च चक्रं चाधोव्यवस्थितम् ।'[2]
सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं विष्णुरित्यभिधीयते ॥५९३॥

दक्षिणोपरि शंखं च चक्रं चाधः प्रदृश्यते ।
वामोर्ध्वे पङ्कजं यस्य गदा चाधोव्यवस्थिता ॥५९४॥

मधुसूदननामाऽयं भेदः सङ्कर्षणस्य तु ।
दक्षिणोर्ध्वे गदा यस्य पङ्कजं चाप्यधःस्थितम् ॥५९५॥

वामोर्ध्वे संस्थितं चक्रमधःशंखः प्रदृश्यते ।
ब्रह्माण्डगं वामपादं दक्षिणं शेषपृष्ठगम् ॥५९६॥

बलिवञ्चनसंसक्तं वामनं चाप्यधःस्थितम् ।
वामोर्ध्वे कौमुदी यस्य पुण्डरीकमधःस्थितम् ॥५९७॥

दक्षिणोर्ध्वे सहस्रारं पाञ्चजन्यमधःस्थितम् ।
सप्ततालप्रमाणेन वामनं कारयेत्सदा ॥५९८॥

ऊर्ध्वं दक्षिणतश्चक्रमधः पद्मं व्यवस्थितम् ।
वामोर्ध्वे कौमुदी यस्य पांचजन्यमधःस्थितम् ॥५९९॥

पद्मा पद्मकरा वामपार्श्वे यस्य व्यवस्थिता ।
स्थितो वाप्युपविष्टो वा सानुरागो विलासवान् ॥६००॥

---

१. [—] कोष्ठबद्धोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके । २. '—' चिह्नान्तर्गतोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके ।

प्रद्युम्नस्य हि भेदोऽयं श्रीधरेति प्रकीर्त्यते ।
दक्षिणोर्ध्वे महाचक्रं कौमुदी तदधःस्थिता ॥६०१॥

वामोर्ध्वे नलिनं यस्य त्वधः शंखो विराजते ।
हृषीकेश इति ज्ञेयः स्थापितः सर्वकामदः ॥६०२॥

दक्षिणोर्ध्वे पुण्डरीकं पाञ्चजन्यमधस्तथा ।
वामोर्ध्वे संस्थितं चक्रं कौमुदी तदधःस्थिता ॥६०३॥

पद्मनाभेति सा मूर्त्तिःस्थापिता मोक्षदायिनी ।
दक्षिणोर्ध्वे पाञ्चजन्यमधस्तात्तु कुशेशयम् ॥६०४॥

सव्योर्ध्वे कौमुदी देवी हेतिराजमधःस्थितम् ।
अनिरुद्धस्य भेदोऽयं दामोदर इति स्मृतः ॥६०५॥

एतेषां तु कार्ये पद्मवीणाधरे शुभे ।

सिद्धार्थसंहितायां तु चतुर्विंशतिमूर्त्तय उक्ताः ।

वासुदेवो गदाशंखचक्रपद्मधरो मतः ।
पद्मं शङ्खं तथा चक्रं गदां वहति केशवः ॥६०६॥

शंखं पद्मं गदां चक्रं धत्ते नारायणः सदा ।
गदां चक्रं तथा शंखं पद्मं वहति माधवः ॥६०७॥

चक्रं पद्मं तथा शखं गदां च पुरुषोत्तमः ।
पद्मं कौमोदकीं शङ्खं चक्रं धत्तेऽप्यधोक्षजः ॥६०८॥

सङ्कर्षणो गदाशङ्खपद्मचक्रधरः स्मृतः ।
चक्रं गदां पद्मशङ्खौ गोविन्दो धरते भुजैः ॥६०९॥

गदां पद्मं तथा शङ्खं चक्रं विष्णुर्बिभर्त्ति यः ।
चक्रं शंखं तथा पद्मं गदां च मधुसूदनः ॥६१०॥

गदां सरोजं चक्रं च शङ्खं धत्तेऽच्युतः सदा ।
शङ्खं कौमोदकीं चक्रमुपेन्द्रः पद्ममुद्वहेत् ॥६११॥

चक्रशङ्खगदापद्मधरः प्रद्युम्न उच्यते ।
पद्मं कौमोदकीं चक्रं शङ्खं धत्ते त्रिविक्रमः ॥६१२॥

शंखं चक्रं गदां पद्मं वामनो वहते सदा ।
पद्मं चक्रं गदां शङ्खं श्रीधरो वहते भुजैः ॥६१३॥

चक्रं पद्मं गदां शङ्खं नरसिंहो बिभर्त्ति यः ।
पद्मंसुदर्शनं शङ्खं गदांधत्ते जनार्दनः ॥६१४॥

अनिरुद्धश्चक्रगदाशङ्खपद्मलसद्भुजः ।
हृषीकेशो गदां चक्रं पद्मं शङ्खं च धारयन् ॥६१५

पद्मनाभो वहेच्छङ्खं पद्मं चक्रं गदां तथा ।
पद्मं चक्रं गदां शङ्खं धत्ते दामोदरः सदा ॥ ६१६

शङ्खं चक्रं सरोजं च गदां वहति यो हरिः ।
शङ्खं कौमोदकीं पद्मं चक्रं कृष्णो विभर्त्ति यः ॥६१७
एताश्च मूर्त्तयो ज्ञेया दक्षिणाधःकरक्रमात् ।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मजगोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टविरचिते
सिंहसिद्धान्तसिन्धौ
द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

अथ शालग्रामलक्षणानि

स्कन्दपुराणे—

स्निग्धा कृष्णा पाण्डुरा च पीता नीला तथैव च ।
रक्ता रूक्षा च वक्रा च महास्थूला च लाञ्छिता ॥१॥

कपिला कर्बुरा भग्ना बहुचक्रैकचक्रिका ।
बृहन्मुखी बृहच्चक्रा लग्नचक्राऽथवा पुनः ॥२॥
बद्धचक्राऽथवा काचिद्भग्नचक्रा त्वधोमुखी ।

अथ तासां वर्णादिभेदेन **गुणदोषौ** तत्रैव—

स्निग्धा सिद्धिकरी मन्त्रे कृष्णा कीर्तिं ददाति च ।
पाण्डुरा पापदहनी पीता पुत्रफलप्रदा ॥३॥
नीला [1]सन्दिशते लक्ष्मीं रक्ता रोगप्रदायिनी ।
रूक्षा चोद्वेगदा नित्यं वक्रा दारिद्र्यदायिका ॥४॥

स्थूला निहन्ति चैवायुर्निःफला तु अलांछिता ।
कपिला कर्बुरा भग्ना बहुचक्रैकचक्रिका ॥५॥

बृहन्मुखी वृहच्चक्रा लग्नचक्राऽथवा पुनः ।
बद्धचक्राऽथवा या स्याद्भग्नचक्रा त्वधोमुखी ॥६॥
पूजयेद्यः प्रमादेन दुःखमेव लभेत सः ।

अग्निपुराणे च—

तथा व्यालमुखी भग्ना बिषमा बद्धचक्रिका ।
विकारावर्त्तनाभिश्च नारसिंही तथैव च ॥७॥

कपिला विभ्रमावर्त्ता रेखावर्त्ता च या शिला ।
दुःखदा सा तु विज्ञेया सुखदा न कदाचन ॥८॥

स्निग्धा श्यामा तथा शुक्ला पूजिता समचक्रिका ।
घोणिमूर्त्तिरनन्ताख्या गम्भीरा सम्पुटा तथा ॥९॥

---

१. ख. सा दिशते ।

सूक्ष्ममूर्त्तिश्च सुमुखी पूजिता सिद्धिदायिका ।
धात्रीफलप्रमाणा या करेणोभयसम्पुटा ॥१०॥

पूजनीया प्रयत्नेन भक्त्या तां तु प्रपूजयेत् ।
पूजिते फलमाप्नोति इह लोके परत्र वै ॥११॥

दोषाश्चैते सकामार्चनविषयाः । अत उक्तं **श्रीभगवता स्कन्देन—**

खण्डितं स्फुटितं भग्नं सालग्रामे न दोषभाक् ।
इष्टा तु यस्य या मूर्त्तिः सतां यत्नेन पूजयेत् ॥१२॥

चक्रं वा केवलं तत्र पद्मेन सह संयुतम् ।
केवला वनमाला वा हरिर्लक्ष्म्या सह स्थितः ॥१३॥

मुख्याः स्निग्धादयस्तत्रामुख्या रक्तादयो मताः ।
मुख्याभावे त्वमुख्या हि पूज्या इत्युच्यते परैः ॥१४॥

अथैतासामेव लक्षणविशेषेण संज्ञाविशेषः । **ब्राह्मे श्रीभगवद्ब्रह्मसंवादे भगवद्वाक्यम्—**

निवसामि सदा ब्रह्मन् सालग्रामाख्यवेश्मनि ।
तत्रैव मुखचक्राङ्कभेदे नामानि मे शृणु ॥१५॥

द्वारदेशे समे चक्रे दृश्येते नान्तरीयके ।
वासुदेवः स विज्ञेयः शुक्लाभश्चातिशोभनः ॥१६॥

द्विचक्रे एकलग्ने तु पूर्वभागस्तु पुष्कलः ।
सङ्कर्षणाख्यो विज्ञेयो रक्ताभश्चातिशोभनः ॥१७॥

प्रद्युम्नः सूक्ष्मचक्रस्तु पीतदीप्तिस्तथैव च ।
शुषिरं छिद्रबहुलं दीर्घाकारं तु तद्भवेत् ॥१८॥

अनिरुद्धस्तु नीलाभो वर्त्तुलश्चातिशोभनः ।
रेखात्रयं तु तद्द्वारि पृष्ठ पद्मेन लाञ्छितम् ॥१९॥

सौभाग्यं केशवो दद्याच्चतुःकोणो भवेत्तु यः ।
श्यामं नारायणं विद्यान्नाभिचक्रं तथोन्नतम् ॥२०॥

दीर्घरेखासमोपेतं दक्षिणे शुषिरं पृथु ।
ऊर्ध्वे मुखं विजानीयाद्द्वारे च हरिरूपिणम् ॥२१॥

कामदं मोक्षदं चैव अर्थदं च विशेषतः ।
परमेष्ठी च शुक्लाभः पद्मचक्रसमन्वितः ॥२२॥

बिल्वाकृतिस्तथा पृष्ठे शुषिरं चापि पुष्कलम् ।
कृष्णवर्णस्तथा विष्णुः स्थूले चक्रे सुशोभने ॥२३॥

द्वारोपरि तथा रेखा दृश्यते मध्यदेशतः ।
कपिलो नरसिंहस्तु पृथुचक्रः सुशोभनः ॥२४॥

ब्रह्मचर्येऽधिकारी स्यान्नान्यथा पूजनं भवेत् ।
ब्रह्मचर्येण पूज्योऽसावन्यथा विघ्नदो भवेत् ॥२५॥

क्वचिन्न—

कपिलोऽधस्त्रिबिन्दुः स्यात् कपिलः पञ्चबिन्दुकः ।
ब्रह्मचर्येण पूज्यः स्यादन्यथा सर्वविघ्नदः ॥२६॥

स्थूलं चक्रद्वयं मध्ये गुडलाक्षासवर्णकम् ।
द्वारोपरि तथा रेखा पूजा कार्या सुशोभन ॥२७॥

स्फुटितं विषमं चक्रं नारसिंहं तु कापिलम् ।
सम्पूज्य मुक्तिमाप्नोति संग्रामे विजयी भवेत् ॥२८॥

पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये—

यस्य दीर्घमुखं पूर्वं कथितैर्लक्षणैर्युतः ।
रेखाश्च केसराकारा नारसिंहो मतो हि सः ॥२९॥

ब्राह्मे—

वाराहं शक्तिलिङ्गं च चक्रे च विषमे स्मृते ।
इन्द्रनीलनिभं स्थूलं त्रिरेखालाञ्छितस्थलम् ॥३०॥

पाद्मे च—

वराहाकृतिराभुग्नश्चक्ररेखास्वलंकृतः ।
वाराह इति सम्प्रोक्तः...............॥३१॥

ब्राह्मे च—

दीर्घा काञ्चनवर्णा या बिन्दुत्रयविभूषिता ।
मत्स्याख्या सा शिला ज्ञेया भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ॥३२॥

क्वचिच्च—

मत्स्यरूपं च देवेशं दीर्घाकारं तु यद्भवेत् ।
बिन्दुत्रयसमायुक्तं कांस्यवर्णं सुशोभनम् ।।३३।।

ब्राह्मे—

कूर्म्मस्तथोन्नतः पृष्ठे वर्त्तुलः परिपूरितः ।
हरितं वर्णमाधत्ते कौस्तुभेन च चिह्नितः ।।३४।।

पाद्मे च—

कूर्माकारा च चक्राङ्का शिला कूर्मा प्रकीर्त्तिता[1] ।

ब्राह्मे—

हयग्रीवोंऽकुशाकारे रेखा चक्रसमीपगा ।
बहुबिन्दुसमायुक्तं पृष्ठं नीरदनीलकम् ।।३५।।

क्वचिच्च—

हयग्रीवेऽङ्कुशाकारे रेखाः पञ्च भवन्ति हि ।
बहुबिन्दुसमाकीर्णो दृश्यते नीलरूपकः ।।३६।।

पाद्मे च—

हयग्रीवा यथा लम्बा रेखाङ्का या शिला भवेत् ।
तथा सौम्यो हयग्रीवः पूजितो ज्ञानदो भवेत् ।।३७।।

किञ्च—

अ ाकृति मुखं यस्य साक्षमाल शिरस्तथा ।
प ृति भवेद्वापि हयशीर्षास्त्वसौ मतः ।।३८।।

ब्राह्मे—

बैकु नीलवर्णाभं चक्रमेकं तथा ध्वजम् ।
द्वारोपरि तथा रेखा पूजा कार्या सुशोभना ।।३९।।

श्रीधरस्तु तथा देवश्चिह्नितो वनमालया ।
कदम्बकुसुमाकारो रेखापञ्चकभूषितः ।।४०।।

वर्त्तुलश्चातिह्रस्वश्च वामनः परिकीर्त्तितः ।
अतसीकुसुमप्रख्यो बिन्दुनोपरि शोभितः ।।४१।।

अन्यत्र च—

वामनाख्यो भवेद्देवो ह्रस्वो यः स्यान्महाद्युतिः ।
ऊर्ध्वचक्रोऽप्यधश्चक्रः सोऽभीष्टार्थप्रदोऽर्चितः ।।४२।।

---

१. ख. शिला कूर्मः प्रकीर्त्तितः ।

ब्राह्मे—

सुदर्शनस्तथा देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे गदाचक्रे रेखे चैव तु दक्षिणे ॥४३॥

पाद्मे च—

चक्राकारेण पङ्क्तिः सा यत्र रेखामयी भवेत् ।
स सुदर्शन इत्येवं ख्यातः पूजाफलप्रदः ॥४४॥

दामोदरस्तथा स्थूलो मध्ये चक्रम्प्रतिष्ठितम् ।
दूर्वाभं द्वारि सङ्कीर्णं पीता रेखा तथैव च ॥४५॥

उपर्यधश्चक्रे द्वे नातिदीर्घं मुखे बिलम् ।
मध्ये च रेखा लम्बैका सा च दामोदरः स्मृतः ॥४६॥

अन्यत्र च—

स्थूलो दामोदरो ज्ञेयः सूक्ष्मरन्ध्रो भवेत्तु यः ।
चक्रे च मध्यदेशस्थे पूजितः सम्मुखः सदा ॥४७॥

नानावर्णो ह्यनन्ताख्यो नागभोगेन चिह्नितः ।
[1]अनेकचिह्नसम्भिन्नः सर्वकामफलप्रदः ॥४८॥

पाद्मे च—

अनेकचक्रो बहुभिश्चिह्नै रप्युपलक्षितः ।
अनन्तः स तु विज्ञेयः सर्वपूजाफलप्रदः ॥४९॥

ब्राह्मे—

विदिक्षु दिक्षु सर्वासु यस्योर्ध्वे दृश्यते मुखम् ।
पुरुषोत्तमः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥५०॥

दृश्यते शिखरे लिङ्गं शालग्रामसमुद्भवम् ।
तस्य योगेश्वरो नाम ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥५१॥

आरक्तं पद्मनाभाख्यं पङ्कजच्छत्रसंयुतम् ।
तुलस्या पूजयेन्नित्यं दरिद्रस्त्वीश्वरो भवेत् ॥५२॥

चन्द्राकृति हिरण्याख्यं रश्मिज्वालं विनिर्दिशेत् ।
सुवर्णरेखाबहुलं स्फटिकद्युतिशोभितम् ॥५३॥

---

१. ख. अनेकचक्रसम्भिन्नः ।

पाद्मे—

वज्रकीटोद्भवा रेखाः पङ्क्तीभूताश्च यत्र वै ।
शालग्रामशिला या सा विष्णुपञ्जरसंज्ञिका ॥५४॥

नागवत्कुण्डलीभूतरेखापङ्क्तिसशेषकः ।
पद्माकारे तु पङ्क्ती द्वे मध्ये लम्बा च रेखिका ॥५५॥

गरुडः स तु विज्ञेयश्चतुश्चक्रो जनार्दनः ।
चतुश्चक्रः सूक्ष्मद्वारो वनमालाङ्कितोदरः ॥५६॥

लक्ष्मीनारायणः श्रीमान् भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।
अर्द्धचन्द्राकृतिर्देवो हृषीकेश उदाहृतः ॥५७॥

अभ्यर्च्य[1] लभते स्वर्गं विषयांश्च समीहितान् ।
वामपार्श्वे समे चक्रे कृष्णवर्णः सबिन्दुकः ॥५८॥

लक्ष्मीनृसिंहो विख्यातो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।
त्रिविक्रमस्तथा देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ॥५९॥

वामपार्श्वे तथा चक्रे रेखा चैव तु दक्षिणे ।
प्रदक्षिणावर्त्तकृतवनमालाविभूषिता ॥६०॥

या शिला कृष्णसंज्ञा सा धनधान्यसुखप्रदा ।
चतस्रो यत्र दृश्यन्ते रेखाः पार्श्वसमीपगाः ॥६१॥

द्वे चक्रे मध्यदेशे तु सा शिला तु चतुर्मुखा ।
एतल्लक्षणयुक्तास्तु सालग्रामशिलाः शुभाः ॥६२॥
याश्च तास्वपि सूक्ष्माः स्युस्ताः प्रशस्ततराः स्मृताः ।

तथा च **श्रीभगवद्ब्रह्मसंवादे तत्रैव—**

यथा यथा शिला सूक्ष्मा महत्पुण्यं तथा तथा ।
तस्मात्तां पूजयेन्नित्यं धर्म्मकामार्थसिद्धये ॥६३॥

तत्राऽप्यामलकीतुल्या सूक्ष्मा चातीव या भवेत् ।
तस्यामेव सदा ब्रह्मन् श्रिया सह वसाम्यहम् ॥६४॥

---

१. ख. तमर्च्य ।

[1]अथ श्रीसालग्रामशिलायां हरिपूजामाहात्म्यम्—

पाद्मे माघमाहात्म्ये—

य: पूजयेद्धरिं चक्रे सालग्रामशिलोद्भवे ।
राजसूयसहस्रेण तेनेष्टं प्रतिवासरम् ॥६५॥

यदामनन्ति वेदान्ता ब्रह्म निर्गुणमच्युतम् ।
तत्प्रसादो भवेन्नॄणां सालाग्रामशिलार्चनात् ॥६६

महाकाष्ठस्थितो वह्निर्मथ्यमान: प्रकाशते ।
अपि पापसमाचारा: कर्मण्यनधिकारिण: ॥६७॥

सालग्रामार्चका वैश्य नैव यान्ति यमालयम् ।
न तथा रमते लक्ष्म्यां न तथा स्वपुरे हरि: ॥६८॥

सालग्रामशिलाचक्रे यथा स रमते सदा ।
अग्निहोत्रं हुतं तेन दत्ता पृथ्वी ससागरा ॥६९॥

येनार्चितो हरिश्चक्रे सालग्रामशिलोद्भवे ।
कामै: क्रोधैर्मदैर्लोभैर्व्याप्तो योऽत्र नराधम: ॥७०॥

सोऽपि याति हरेर्लोकं सालग्रामशिलार्चनात् ।
य: पूजयति गोविन्दं सालग्रामे सदा नर: ॥७१॥

आभूतसम्प्लवं यावन्न स प्रच्यवते दिव: ।
विना तीर्थैर्विना दानैर्विना यज्ञैर्विना व्रतै: ॥७२॥

मुक्तिं यान्ति नरा वैश्य शालग्रामशिलार्चनात् ।
नरकं गर्भवासं च तिर्यक्त्वं कृमियोनिकम् ॥७३॥

---

१. इत: पूर्वं ख. पुस्तके विशेष:—
हेमाद्रौ—ब्राह्मणैर्वासुदेवस्तु नृपै: सङ्कर्षणस्तथा ।
प्रद्युम्न: पूज्यते वैश्यैरनिरुद्धस्तु शूद्रजै: ॥१॥
विष्णुधर्मोत्तरे—पञ्चवक्त्रो वासुदेव: षड्भि: प्रद्युम्नक: स्मृत: ।
सङ्कर्षण: सप्तवक्त्रोऽनिरुद्ध एकादशै: स्मृत: ॥२॥
चत्वारो ब्राह्मणै: पूज्यास्त्रयो राजन्यजातिभि: ।
वैश्यैर्द्वाविव सम्पूज्यौ तथैक: शूद्रजातिभि: ॥३॥
स्मृत्यन्तरे—एकमूर्त्तिर्न पूज्यैव गृहिणा भूतिमिच्छता ।
अनेकमूर्त्तिसम्पन्न: सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥४॥

न याति वैश्य पापोऽपि सालग्रामेऽच्युतार्चकः ।
दीक्षाविधानमन्त्रज्ञश्चक्रे यो बलिमाहरेत् ॥७४॥

स याति वैष्णवं धाम सत्यं सत्यं मयोदितम् ।
नैवेद्यैर्विविधैः पुष्पैर्धूपदीपैर्विलेपनैः ॥७५॥

गीतवादित्रस्तोत्राद्यैः शालग्रामशिलार्चनम् ।
कुरुते मानवो यस्तु कलौ भक्तिपरायणः ॥७६॥

कल्पकोटिसहस्राणि रमते सन्निधौ हरेः ।
लिङ्गैस्तु कोटिभिर्दृष्टैर्यत्फलं पूजितैस्तु तैः ॥७७॥

सालग्रामशिलायास्तु एकेनापीह[1] तत्फलम् ।
सालग्रामशिलारूपो यत्र तिष्ठति केशवः ॥७८॥

तत्र देवासुरा यक्षा भुवनानि चतुर्दश ।
शालग्रामशिलायां तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ॥७९॥

पितरस्तस्य तिष्ठन्ति तृप्ताः कल्पशतं दिवि ।
सालग्रामसमीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः ॥८०॥

कीकटेऽपि मृतो याति वैकुण्ठभवनं नरः ।
सालग्रामशिलाचक्रं यो दद्याद्दानमुत्तमम् ॥८१॥

भूचक्रं तेन दत्तं स्यात् सशैलवनकाननम्[2] ।[3]

स्कान्दे कार्त्तिकमाहात्म्ये श्रीशिवस्कन्दसंवादे—

सालग्रामशिलायां तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
मया सह महासेन लीनं तिष्ठति सर्वदा ॥८२॥

दृष्टा प्रणमिता येन स्थापिता पूजिता तथा ।
यज्ञकोटिसमं पुण्यं गवां कोटिफलं भवेत् ॥८३॥

---

१. ख. एका नापीह । २. पुस्तकद्वयेऽपि०'वनकातनम्' इति पाठः ।
३. इतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—

सालग्राममयी मुद्रा संस्थिता यत्र कुत्रचित् ।
वाराणस्या यवाधिक्यं समता योजनत्रये ॥१॥
यो मृतस्तत्समीपे तु मृतो वा नीयतेऽन्तिकम् ।
सर्वो मोक्षमवाप्नोति सत्यं सत्यं न चान्यथा ॥२॥

कामासक्तोऽपि यो नित्यं भक्तिभावविवर्जितः ।
सालग्रामशिलां पुत्र सम्पूज्यैवाऽच्युतो भवेत् ॥८४॥

सालग्रामशिलाबिम्बं हत्याकोटिविनाशनम् ।
स्मृतं सङ्कीर्त्तितं ध्यातं पूजितं च नमस्कृतम् ॥८५॥

सालग्रामशिलां दृष्ट्वा यान्ति पापान्यनेकशः ।
सिंहं दृष्ट्वा यथा यान्ति वनेमृगगणा भयात् ॥८६॥

मनः करोति मनुजः सालग्रामशिलार्चने ।
पापानि विलयं यान्ति तमःसूर्योदये यथा ॥८७॥

कामासक्तोऽथवा क्रुद्धः सालग्रामशिलार्चनम् ।
भक्त्या वा यदि वाऽभक्त्या कृत्वा मुक्तिमवाप्नुयात् ॥८८॥

वैवस्वतभयं नास्ति तथा मरणजन्मनोः ।
यः कथां कुरुते विष्णोः शालग्रामशिलाग्रतः ॥८९॥

गीतैर्वाद्यैस्तथा स्तोत्रैः सालग्रामशिलार्चनम् ।
कुरुते मानवो यस्तु कलौ भक्तिपरायणः ॥९०॥

कल्पकोटिसहस्राणि रमते विष्णुसद्मनि ।
सालग्रामे नमस्कारे भावेनापि नरैः कृतैः ॥९१॥

भयं नैव करिष्यन्ति तद्भक्त्या[1] ये नरा भुवि ।
मद्भक्तिबलदर्पिष्ठा मत्प्रभुं न नमन्ति ये ॥९२॥

वासुदेवं न ते ज्ञेया मद्भक्ताः पापिनो हि ते ।
सालग्रामशिलायां तु सदा पुत्र वसाम्यहम् ॥९३॥

दत्तं देवेन तुष्टेन स्वस्थानं मम भक्तितः
पद्मकोटिसहस्रैस्तु पूजिते मयि यत्फलम् ॥९४॥

तत्फलं कोटिगुणितं सालग्रामशिलार्चने ।
पूजितोऽहं न तैर्भक्तैर्नमितोऽहं न तैर्नरैः ॥९५॥

न कृतं मर्त्यलोके यैः सालग्रामशिलार्चनम् ।
शालग्रामशिलाग्रे तु यः करोति ममार्चनम्॥९६॥

---

१. ख. तद्भक्ता ।

तेनाऽर्चितोऽहं सततं युगानामेकसप्ततिः ।
किमर्चितैर्लिङ्गशतैर्विष्णुभक्तिविवर्जितैः ।।९७।।

सालग्रामशिलाबिम्बं नार्चितं यदि पुत्रक ।
अनर्हं मम नैवेद्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।।९८।।

सालग्रामशिलालग्नं सर्वं याति पवित्रताम् ।
यो हि माहेश्वरो भूत्वा वैष्णवं लिङ्गमुत्तमम् ।।९९।।

द्वेष्टि वै याति नरकं यावदिन्द्राश्चतुर्दश ।
सकृदभ्यर्चिते बिम्बे सालग्रामसमुद्भवे ।।१००।।

मुक्तिं प्रयान्ति मनुजा नूनं सांख्येन वर्जिताः ।
मल्लिङ्गैः कोटिभिर्दृष्टैर्यत्फलं पूजितैस्तु तैः ।।१०१।।

शालग्रामशिलायां तु एकेनापि हि तद्भवेत् ।
तस्माद्भक्त्या च मद्भक्तैः प्रीत्यर्थं मम पुत्रक ।।१०२।।

कर्त्तव्यं सततं भक्त्या सालग्रामशिलार्चनम् ।
सालग्रामशिलारूपो यत्र तिष्ठति केशवः ।।१०३।।

तत्र देवासुरा यक्षा भुवनानि चतुर्दश ।
सालग्रामशिलाग्रे तु सकृत्पिण्डेन तर्प्पिताः ।।१०४।।

वसन्ति पितरस्तस्य न संख्या तत्र विद्यते ।
प्रमाणमस्ति सर्वस्य सुकृतस्य हि पुत्रक ।।१०५।।

फलं प्रमाणहीनं तु शालग्रामशिलार्चने ।
यो ददाति शिलां विष्णोः सालग्रामसमुद्भवाम् ।।१०६।।

विप्राय विष्णुभक्ताय तेनेष्टं बहुभिर्मखैः ।
मानुष्ये दुर्लभा लोके सालग्रामोद्भवा शिला ।।१०७।।

प्राप्यते न विना पुण्यैः कलिकाले विशेषतः ।
स धन्यः पुरुषो लोके सफलं तस्य जीवितम् ।।१०८।।

सालग्रामशिला शुद्धा गृहे यस्य च पूजिता ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सालग्रामशिलार्चनम् ।।१०९।।

यः कुर्यान्मानवो भक्त्या स याति परमम्पदम् ।
भक्त्या वा यदि वाऽभक्त्या यः करोति स पुण्यभाक् ॥११०॥

द्वेषेणापि च लोभेन दम्भेन कपटेन वा ।
सालग्रामोद्भवं देवं दृष्ट्वा पापात् प्रमुच्यते ॥१११॥

अशुचिर्वा दुराचारः सत्यशौचविवर्जितः ।
सालग्रामशिलां स्पृष्ट्वा सद्य एव शुचिर्भवेत् ॥११२॥

तिलप्रस्थशतं भक्त्या यो ददाति दिने दिने ।
तत्फलं समवाप्नोति सालग्रामशिलार्चने ॥११३॥

पत्रं पुष्पं फलं मूलं तोयं दूर्वाक्षताः सुत ।
जायते मेरुणा तुल्यं सालग्रामशिलार्पितम् ॥११४॥

विधिहीनोऽपि यः कुर्यात् क्रियां मन्त्रविवर्जितः ।
चक्रपूजामवाप्नोति सम्यक् शास्त्रोदितं फलम् ॥११५॥

तत्रैवान्यत्र—

स्कन्धे कृत्वा तु योऽध्वानं वहते शैलनायकम् ।
तेनोढ तु भवेत्सर्वं त्रैलोक्य सचराचरम् ॥११६॥

ब्रह्महत्यादिकं पापं यत्किञ्चित्कुरुते नरः ।
तत्सर्वं निर्द्दहत्याशु सालग्रामशिलार्चनम् ॥११७॥

न पूजनं न मन्त्राश्च न जपो न च भावना ।
न स्तुतिर्नोपचारश्च सालग्रामशिलार्चने ॥११८॥

सालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं योजनत्रयम् ।
तत्र दानं च होमं च सर्वं कोटिगुणं भवेत् ॥११९॥

शालग्रामशिलायां तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ।
पितरस्तस्य तिष्ठन्ति तृप्ताः कल्पशतं दिवि ॥१२०॥

सालग्रामसमीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः ।
कीकटेपि मृतो याति वैकुण्ठभवनं नरः ॥१२१॥

सालग्रामशिलाचक्रं यो दद्याद्दानमुत्तमम् ।
भूचक्रं तेन दत्तं स्यात्सशैलवनकाननम् ॥१२२॥

गरुडपुराणे—

तिष्ठन्ति नित्यं पितरो मनुष्या—
स्तीर्थानि गङ्गागयपुष्कराणि ।

यज्ञाश्वमेधा ह्यपि पुण्यशैला—
अक्राङ्किता यस्य वसन्ति गेहे ॥१२३॥

पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये यमधूम्रकेतुसंवादे—

सालग्रामशिलायां तु यैर्नरैः पूजितो हरिः ।
संशोध्य तेषां पापानि मुक्तये बुद्धिदो भवेत् ॥१२४॥

कार्त्तिके मथुरायां तु सारूप्यं दिशते हरिः ।
सालग्रामशिलायां वै पितॄनुद्दिश्य पूजितः ॥१२५॥
कृष्णः समुद्धरेत्तस्य पितॄन्नेता स लोकताम् ।

बृहन्नारदीये च यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

सालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः ।
न बाधन्ते सुरास्तत्र भूतवेतालकादयः ॥१२६॥
सालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं तत्तपोवनम् ।
शतं वा पूजिता भक्त्या तदा स्यादधिकं फलम् ॥१२७॥

अथ तासां बाहुल्ये विशेषः—

पाद्मे माघमाहात्म्ये देवदूतविकुण्डलसंवादे—

सालग्रामा युगाः पूज्या युगेषु द्वितयं नहि ।
अयुग्मा नैव पूज्यन्ते विषमेष्वेक एव हि ॥१२८॥
शिला द्वादश भो वैश्य सालग्रामसमुद्भवाः ।
विधिवत्पूजिता येन तस्य पुण्यं वदामि ते ॥१२९॥

कोटिद्वादशलिङ्गैस्तु पूजितैः स्वर्णपङ्कजैः ।
यत्स्याद् द्वादशकल्पैस्तु दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥१३०॥

यः पुनः पूजयेद्भक्त्या सालग्रामशिलाशतम् ।
तत्फलं नैव शक्तोऽहं वक्तुं कल्पशतैरपि ॥१३१॥

इत्यास्तां विस्तरः । इति तल्लक्षणं माहात्म्यं च—

विष्णुधर्मोत्तरे—

शालग्रामशिलां वापि चक्राङ्कितशिलां तथा ।
ब्राह्मणः पूजयेन्नित्यं क्षत्रियादिर्न पूजयेत् ॥१३२॥

आपस्तम्बः—

प्रणवोच्चारणाद्धोमाच्छालग्रामशिलार्चनात् ।
ब्राह्मणीगमनाच्चैव शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत् ॥१३३॥

लैङ्गे—

ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहं शुचेरप्यशुचेरपि ।
स्त्रीशूद्रकरसंस्पर्शो वज्रस्पर्शाधिको मम ॥१३४॥

बृहन्नारदीये—

स्त्रीणामनुपनीतानां शूद्राणां च नराधिप ।
स्पर्शने नाऽधिकारोऽस्ति विष्णोर्वा शङ्करस्य च ॥१३५॥

शूद्रो वाऽनुपनीतो वा स्त्री वापि [1]पतितोऽथवा ।
केशवं वा शिवं वापि स्पृष्ट्वा नरकमश्नुते ॥१३६॥

स्त्रीशूद्रपतितादीनां षण्ढादीनां विकर्मिणाम् ।
नैवाऽधिकारो विज्ञेयः शालग्रामशिलार्चने ॥१३७॥

दीक्षायुक्तैस्तथा शूद्रैर्मद्यपानविवर्जितैः ।
कर्त्तव्यं ब्राह्मणद्वारा शालग्रामशिलार्चनम् ॥१३८॥

अथ शिवलिङ्गनिर्माणप्रकारः

शिल्पशास्त्रे—

लिङ्गमस्तकमध्यात्तु सूत्रं स्यादाप्रणालकम् ।
लिङ्गप्रणालीपुष्टत्व तावदेव प्रकीर्त्तितम् ॥१३९॥

उच्चत्वे च तथा पीठे पञ्चसूत्रं प्रचक्षते ।
पञ्चसूत्रसमायुक्तं शिवलिङ्गं समर्चयेत् ॥१४०॥
भुक्तिदं मुक्तिदं चैव धनारोग्यसुखप्रदम् ।

कालोत्तरे—

अङ्गुलादिवितस्त्यन्तं लिङ्गं गेहे प्रपूजयेत् ।
प्रासादे तु तदूर्ध्वं स्यात्पूजनीयं प्रयत्नतः ॥१४१॥

लिङ्गमस्तकविस्तारं पूज्यभागसमं नयेत् ।
नाहं तत्त्रिगुणं कुर्यान्नाहवत्पीठविस्तृतिः ॥१४२॥

---

१. ख. यतितोऽथवा ।

पूज्यांशद्विगुणं कुर्यात्तच्च पीठं समुन्नतम् ।
वृत्तं वा चतुरश्रं वा मध्ये कण्ठसमन्वितम् ॥१४३॥

द्विगुणं लिङ्गनाहाच्च कण्ठनाहं समाचरेत् ।
त्रिमेखलमधश्चोर्द्ध्वं समं वापि द्विमेखलम् ॥१४४॥

लिङ्गमस्तकविस्तारं षड्भागं विभजेत्ततः ।
मेखलामेकभागेन कुर्यात्खातं च तत्समम् ॥१४५॥

लिङ्गदैर्घ्यसमं कुर्यात्प्रणालं तस्य बाह्यतः ।
विस्तारं तत्समं मूले तदग्रं च तदर्धतः ॥१४६॥

जलमार्गः प्रकर्त्तव्यस्तस्य मध्ये त्रिभागतः ।
कुर्यात्पीठार्द्धदीर्घं वा प्रणालं श्रीशिवोदितम् ॥१४७॥

सर्वेषां रत्नलिङ्गानां[1] सपीठानां विशेषतः ।
लोहादीनां च लिङ्गानामिदं लक्षणमाचरेदिति ॥१४८॥

अस्यार्थः—स्वाभिमतमानेन लिङ्गं कृत्वा तस्य मस्तकस्य विस्तारं पूज्यस्य लिङ्गस्य यो भागः उच्चता तत्समं नयेत्कुर्यादित्यर्थः ।

लिङ्गमस्तकविस्तारो लिङ्गोच्छ्रायसमो भवेत् ।

इति **शैवागम**वचनात् ।

ततो लिङ्गमस्तकविस्तारो यावान् तत्रिगुणसूत्रवेष्टनयोग्यं लिङ्गस्य नाहं स्थौल्यं कृत्वा लिङ्गस्य यो नाहस्तत्सूत्रमानविस्तारम्, पूज्यस्य लिङ्गस्य यः अंश उच्चता तद्द्विगुणौन्नत्ययुक्तं वृत्ताकारं चतुरश्रं वा पीठं विधाय, ततस्तस्य पीठस्य मध्ये लिङ्गस्य नाहसूत्रस्य स्थौल्यसूत्रस्य द्विगुणसूत्रवेष्टनयोग्यस्थूलं कण्ठं कृत्वा, कण्ठस्योर्ध्वमधश्च समांशेन मेखलात्रयं मेखलाद्वयं वा विधाय, लिङ्गमस्तकविस्तारं षोढा विभज्य, तेष्वेकांशप्रमाणेन पीठस्योपरिभागे सर्वबाह्यांशेन मेखलां कृत्वा, तदन्तस्तन्मानेन तत्संलग्नांशेन खातं विरच्य, पीठाद्बहिर्लिङ्गदैर्घ्यसमानदैर्घ्यं पीठमानस्यार्द्धमानदीर्घं वा मूलदेशे दीर्घांशसमानविस्तारमग्रदेशे तदर्द्धांशमानविस्तारं, तन्मध्ये मूलादग्रावधिप्रणालविस्तारस्य तृतीयांशमानविस्तारखातरूपजलमार्गयुक्तं पीठवत्समेखलं प्रणालं च कुर्यादिति स्फटिकादिरत्नविशेषैः,

---

१. ख. रत्नसिंहानां ।

स्वर्णादिधातुविशेषैः, पाषाणादिभिर्वा शिवलिङ्गनिर्माणे साधारणोऽयं विधिरिति **शिवलिङ्गनिर्माणप्रकारः** । रत्नलिङ्गादौ लक्षणाभावेऽपि न दोषः । तदुक्तम्—

हयशीर्षपञ्चरात्रे—

न कुर्याल्लक्षणोद्धारं रत्नजानां चलात्मनाम् ।
सुप्रभा लक्षणं त्वेषां स्वर्णजानामपि द्विज ॥१४६॥

तस्मान्न लक्षणोद्धारं कुर्यात्पाषाणलिङ्गवत् ।
अचलानां तैजसानां कचिदिष्येत लक्षणम् ॥१५०॥

लक्षणं कल्पनीयं तु स्थाप्यलिङ्गे यथाविधि ।
चललिङ्गे कुशाग्रेण लक्षणं कल्पयेद् गुरुः ॥१५१॥

मनसा चिन्तयेद्वापि लक्षणं लिङ्गसंस्थितम् । इति ।

सोमशम्भुनाप्युक्तम्—

रत्नजे लक्षणोद्धारो न लौहे न सरिद्भवे ॥१५२॥

भविष्ये—

बाणलिङ्गानि राजेन्द्र ख्यातानि भुवनत्रये ।
न प्रतिष्ठा न संस्कारस्तेषामावाहनं तथा ॥१५३॥

कालोत्तरे—

त्रिः सप्त पञ्च वारं वा तुलासाम्यं न जायते ।
तदा बाणं समाख्यातं शेषं पाषाणसम्भवम् ॥१५४॥
नद्यां वा प्रक्षिपेद् भूयो यदा तदुपलभ्यते ।

पद्मपुराणेप्युक्तम्[1]**—**

बाणलिङ्गं च रुद्राक्षं शालिग्रामादिकं च यत् ।
पूजनीया यथोक्तेन तण्डुलादीनि तोलयेत् ॥१५५॥[2]

रात्रौ जागरणं कृत्वा प्रभाते स्नानमाचरेत् ।
पुनस्तुलादिकं कृत्वा तण्डुलाच्चाधिका शुभा ॥१५६॥[3]

बाणलिङ्गं तदा विद्धि नूनं सुखविवर्द्धनम् ।
बाणः सदाशिवो देवो बाणो बाणासुरोऽपि च ॥१५७॥

---

१. ख. नास्ति । २. ३. पद्यद्वयी नास्ति ख. पुस्तके ।

तेन तस्मै कृतं यस्माद्बाणं लिङ्गमुदाहृतम् ।
सदा सन्निहितस्तत्र शिवः सर्वार्थसाधकः ॥१५८॥
कृतप्रतिष्ठं तल्लिङ्गं बाणाख्येन शिवेन च ।
पक्वजम्बूफलाकारं कुक्कुटाण्डसमाकृति ॥१५९॥
भुक्तिमुक्तिप्रदं चैव बाणलिङ्गमुदाहृतम् ।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं विप्रादिपूजितम् ॥१६०॥
स्वभावात्कृष्णवर्णं वा सर्वजातिषु सिद्धिदम् ।

रेवाखण्डे—

नर्मदाजठरमध्यस्थं बाणलिङ्गमिति स्मृतम् ॥१६१॥
सर्वतीर्थानि यज्ञाश्च साङ्गा वेदा व्रतानि च ।
सुरसङ्घा योगिनश्च बाणलिङ्गे व्यवस्थिताः ॥१६२॥
बाणासुरार्चितं लिङ्गं बाणलिङ्गं तदुच्यते ।
तदर्च्य विधिवद्भक्त्या शिवलोके महीयते ॥१६३॥
बाणलिङ्गे न चण्डांशो न च निर्माल्यकल्पना ।
सर्वं बाणार्पितं ग्राह्यं भक्त्याऽभक्त्या न दोषभाक् ॥१६४॥
ग्राह्याग्राह्यविचारोऽयं बाणलिङ्गे न विद्यते ।
तदर्पितं जलं वाऽन्नं ग्राह्यं प्रसादसंज्ञया ॥१६५॥

पदार्थादर्शे—

गृहे लिङ्गद्वयं नार्च्यं गणेशद्वयमेव च ।
शक्तित्रयं तथा शङ्खं मत्स्यादिदशकाङ्कितम् ॥१६६॥
द्वौ शङ्खौ नार्चयेच्चैव शालग्रामशिलाद्वयम् ।
द्वे चक्रे द्वारकायास्तु तथा सूर्यद्वयं बुधः ॥१६७॥
एतेषामर्च्चनान्नित्यमुद्वेगं प्राप्नुयाद् गृही ।

सारसङ्ग्रहे—

अथेष्टदेवताप्रीत्यै यजेदायतनान्यपि ॥१६८॥

आयतनानि चतुरायतनानि । तानि तु मध्यस्थस्वेष्टदेवताया अङ्गभूतानि ।
तत्स्थापनक्रमो—

विज्ञानमालायाम्—

यदा तु शङ्करं मध्ये ईशान्यां श्रीपतिं यजेत् ।
आग्नेय्यां च तथा हंसं नैर्ऋत्यां पार्वतीसुतम् ॥१६९॥

वायव्यां च सदा पूज्या भवानी भक्तवत्सला ।
यदा तु मध्ये गोविन्दमैशान्यां शङ्करं यजेत् ॥१७०॥

आग्नेय्यां गणनाथं च नैर्ऋत्यां तपनं तथा ।
वायव्यामम्बिकां चैव यजेन्मन्त्री समाहितः ॥१७१॥

सहस्रांशु यदा मध्ये ईशान्यां पार्वतीपतिम् ।
आग्नेय्यामेकदन्तं च नैर्ऋत्यामच्युत तथा ॥१७२॥

वायव्यां पूजयेद्देवीं भोगमोक्षैकभूमिकाम् ।
भवानीं तु यदा मध्ये ईशान्यां माधवं यजेत् ॥१७३॥

आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम् ।
प्रद्योतनं तु वायव्यामाचार्यस्तु प्रपूजयेत् ॥१७४॥

हेरम्बं तु यदा मध्ये ईशान्यामच्युतं यजेत् ।
आग्नेय्यां पञ्चवक्त्रं तु नैर्ऋत्यां जगदम्बिकाम् ॥२७५॥

वायव्यां द्युमणिं चैव यजेन्मन्त्री ह्यतन्द्रितः ।
स्वस्थानवर्जिता देवाः शोकदुःखभयप्रदाः ॥१७६॥
तन्मण्डलस्थितो राजा साधकश्च प्रणश्यति ।

अन्यत्रापि—

शम्भौ मध्यगते हरीनहरभूदेव्यो हरौ शङ्करे —
भास्येनागसुता रवौ हरगणेशाजाम्बिकाः स्थापिताः ।
देव्यां विष्णुहरैकदन्तरवयो लम्बोदरेजेश्वरे—
नार्याः[1] शङ्करभावतोऽतिसुखदा व्यस्तास्तु ते हानिदाः ॥१७७॥

इति । आग्नेयादिक्रमेणापि स्थानमुक्तम्—

पदार्थादर्शे—

सूर्यैकदन्ताच्युतशक्तिरुद्रा विघ्नेश्वरेशाद्रिसुतार्ककृष्णाः ।
श्रीनाथविघ्नेशभगाम्बिकेशाश्चण्डीशहेरम्बपतङ्गकृष्णाः ॥१७८॥
श्रीशम्भुसूर्याखुरथाम्बकृष्णाः प्रदक्षिणं मध्यविदिक्षु पूज्याः ।

---

१. ख० र्येगाः ।

मध्येऽभ्यर्च्य हरिं गणेननगजाशर्वा गणं मध्यतः,
शम्भ्वार्यारविविष्णवो रविमथो विघ्नाजशक्तीश्वराः ।
मध्ये शक्तिमथेशविघ्नरवयो विष्णुश्च मध्ये हरं,
सूर्यभास्यशिवाच्युता हि विहिता आग्नेयकोणादिगाः ।।१७९।।

अत्रेशानादिक्रमेणाग्नेयादिक्रमेण वा स्थापनक्रमे चतुरायतनदेवतानां तत्तद्दिगवस्थानेन फलं सममेव । ईशानादिदिश आग्नेयादिदिशश्च स्थापितदेवताग्रस्य प्राचीत्वकल्पनानुसारेण कल्पनीयाः ।

यष्टुरभिमुखा देवा देवाभिमुखतो दश ।
प्राच्यादिहरितो ज्ञेयाः पूजाहोमादिकर्मसु ।।१८०।।

इति **पद्मवाहिनी**वचनात् ।

देवस्य मुखमारभ्य दिशं प्राचीं प्रकल्पयेत् ।
तदादिपरिवाराणामङ्गाद्यावरणस्थितिः ।।१८१।।
पूज्यपूयकयोर्मध्ये प्राची प्रोक्ता विचक्षणैः ।
देवसाधकयोरन्तः पूर्वा सा दिगिहोच्यते ।।१८२।।
देवाग्रे स्वस्य चाप्यग्रे प्राची प्रोक्ता तु देशिकैः ।
प्राच्येव प्राची चोद्दिष्टामुक्त्वा तु देवातार्चनन् ।।१८३।।

इति मन्त्रशास्त्रोक्तैः । किञ्च मध्यस्थापितदेवताया अङ्गित्वेनान्यासां चतसृणामङ्गत्वेन च **रत्नसागर**वचनेन पूजनोक्तेः । वचनन्तु—

आग्नेयादिषु कोणेषु स्थाप्याश्चाङ्गाङ्गिभावतः ।
पूज्याश्चैव महेशानि·········।।१८४।।

इति । पूजनं तु गणपतिमारभ्य यत्र गणपतेर्मुख्यत्वं तत्र सूर्यमारभ्य कार्यम् ।

मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्वा गणेशाद्यर्चनं भवेत् ।
गणेश एव मुख्यश्चेत्तत्र सूर्यक्रमाद्भवेत् ।।१८५।।

इति मन्त्रशास्त्रोक्तैः ।

अथार्घादिपात्राणि । तत्रार्घादिपात्रसंख्या

गौतमीये—

अर्घस्य त्रीणि पात्राणि पाद्यस्यापि त्रयं भवेत् ।
तथैवाचमनीयानि पात्राणि च विशेषतः ।।१८६।।
तथा करणदौर्बल्यादेकमेव प्रशस्यते ।

नवरत्नेश्वरे—

एकपात्रं न कर्त्तव्यं यदि साक्षान्महेश्वरः ।
मन्त्राः पराङ्मुखं यान्ति त्वापदश्च पदे पदे ।।१८७।।
इह लोके दरिद्रः स्यान्मृतश्च निरयं व्रजेत् ।

पृथक्पृथगर्घादिपात्रस्थापनाशक्तावेकेनापि पात्रेणार्घ्यपाद्यादि विधेयम् ।

तदुक्तम्—

पदार्थादर्शे—

एकस्मिन्नथवा पात्रे पाद्यार्घादीनि कल्पयेदिति ।

निबन्धे—

हेमराजतताम्राणां सर्वेषामर्घभाजनम् ।
शिवसूर्यौ परित्यज्य शङ्खोऽन्यत्र प्रशस्यते ।।१८८।।

स्कन्दपुराणे[1]—

सुप्रतिष्ठितशङ्खस्य तोर्थैः पञ्चामृतैरपि ।
अभिषिच्य महादेवं रुद्रसूक्तैः समाहितः ।।१८९।।

इत्युक्तम् । तेन सूर्यस्यैव शङ्खनिषेधः ।

सारसङ्ग्रहे—

शङ्खमानं तु प्रादेशं चतुरङ्गुलमुच्छ्रितम् ।[2]

तन्त्रराजे—

त्रिलोहकाचमृत्पात्रेष्वेकस्मिन्नर्घकल्पनम् ।

भैरवीतन्त्रे—

पात्रं काञ्चनकाचरूप्यजनितं मुक्ताकपालोद्भवं,
विश्वामित्रमयं[3] च कामफलदं हैमं श्रिये स्फाटिकम् ।
तारम्प्रीतिदमिष्टसिद्धिजनकं श्रीनालिकेरोद्भवं,
कापालं स्फुटमन्त्रसिद्धिजनकं मुक्तिप्रदं मौक्तिकम् ।।१९०।।

---

१. ख. स्कन्दपुराणे ब्रह्मोत्तरखण्डे । २. इतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—

क्रियासारे—प्रस्थाम्बुप्रमितः शङ्खः श्रेष्ठस्तत्र्यंशपूर्वकः ।
मध्यस्तदर्द्धप्रमितः कनिष्ठः क्रमतो भवेत् ।।१।।

३. क. विश्वामित्रयमं ।

हेमादीनि बुभुक्षूणामिति ।

कुलार्णवे--

स्वर्णरूप्यशिलाताम्रकाचाऽलाबुजमृण्मयम् ।
नालिकेरं च शङ्खं च मुक्ताशुक्तिसमुद्भवम् ॥१९१॥
पुण्यवृक्षकृतं रम्यं पात्रं सल्लोलितं शुभम् ।

भैरवयामले—

नरपात्रं वरारोहे विज्ञेयं चोत्तमोत्तमम् ।
नालिकेरोद्भवं देवि ज्ञेयं चोत्तममध्यमम् ॥१९२॥

काचपात्रं तु सुश्रोणि ज्ञेयं चोत्तमकन्यसम् ।
मध्यमोत्तमकं हैमं तारं मध्यममध्यमम् ॥१९३॥

ताम्रपात्रादिकं चैव प्रोक्तं मध्यमकन्यसम् ।
कन्यसोत्तमकं बैल्वं ब्रह्मवृक्षजमेव च ॥१९४॥
कन्यसे मध्यमं प्रोक्तं मृण्मयं कन्यसाधमम् ।

महाहारकतन्त्रे—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नालिकेरविधिं शुभम् ।
पुरा वै निर्मितं पात्रं विश्वामित्रेण धीमता ॥१९५॥

विश्वामित्रकपात्रं तु सर्वपात्रोत्तमोत्तमम् ।
तस्मिन् सम्पूजयेच्चैव सिद्धदेवीश्च सर्वशः ॥१९६॥

तस्य दर्शनमात्रेण चैकविंशतिकं कुलम् ।
उद्धरिष्यत्यसन्देहो गृहस्थो भवति प्रिये ॥१९७॥

ब्रह्महत्यादिपापानि तथा विश्वासघातकम् ।
दृष्ट्वा पात्रं नालिकेरं सर्वपापं प्रणश्यति ॥१९८॥

कन्याकोटिप्रदानानि तथा हेमशतानि च ।
यो ददाति महेशानि राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥१९९॥

तत्फलं कोटिगुणितं नालिकेरार्घदानतः ।
अलाभे तस्य पात्रस्य चान्यपात्रैस्तु पूजयेत् ॥२००॥

दृष्ट्वार्घपात्रं देवेशि ब्रह्माद्या देवतागणाः ।
नृत्यन्ति सर्वयोगिन्यः प्रीताः सिद्धिं ददन्ति च ॥२०१॥

देवीपुराणे—

हेमराजतताम्राणि काष्ठमृच्छैलजानि च ।
रत्नादीनि च पात्राणि शुभरेखाङ्कितानि च ॥२०२॥
अर्घनैवेद्यपूजार्थं बलिदाने प्रकल्पयेत् ।

शिवरहस्ये—

हेमपात्रेण सर्वाणि ईहितानि भवन्त्युमे ।
अर्घं दत्वा तु रौप्येण आयूराज्यसुतान् लभेत् ॥२०३॥

ताम्रपात्रेण सौभाग्यं धर्मं देवेशि मृण्मये ।
सर्वालाभे तु माहेयं स्वहस्तघटितं यदि ॥२०४॥

आसनं चार्घपात्रं च भग्नमासादयेन्न तु ।
सर्वत्र स्वर्णवत्ताम्रमर्घपात्रे[1] ततोऽधिकम् ॥२०५॥

पात्राणामादरः कार्यः पात्राण्येवोत्तमानि तु ।
बलिहोमक्रियार्थं हि विना पात्रं न सिध्यति ॥२०६॥

षट्त्रिंशदङ्गुलं पात्रमुत्तमं परिकीर्त्तितम् ।
मध्यमं तु त्रिभागोनं कनिष्ठं द्वादशांगुलम् ॥ २०७॥[2]

वस्वङ्गुलविहीनं तु न पात्रं कारयेत्क्वचित् ।[3]
नाभीविवररूपाणि पुण्डरीकाकृतीनि च ॥ २०८॥
शङ्खनीलोत्पलाभानि पात्राणि परिकल्पयेत् ।

देवीयामले—

वश्याकर्षणकर्माणि हेमपात्रे सुरेश्वरि ।
शान्तिके पौष्टिके चैव राजतं कारयेत्प्रिये ॥२०९॥

लोहपात्रं समानेयं मारणोच्चाटने तथा ।
स्तम्भकार्येषु पाषाणं विशेषेण तु मृण्मयम् ॥२१०॥

सर्वकार्येषु कर्त्तव्यं वैश्वामित्रं च सुव्रते ।
काष्ठपात्रं विजानीयान्मन्त्राराधनकर्मणि ॥२११॥

[विना पात्रेण यः कुर्यात्प्रतिष्ठां याज्ञिकीं क्रियाम् ।
विकला जायते सर्वा वाहनानि धनानि च ॥२१२॥

---

१. ख. ० ताम्रसर्वपात्रे । २. ख. पद्यमदो नास्ति । ३. ख. पादद्वयं नास्ति ।

बलिहीने च दौर्भाग्यं गन्धहीने ह्यभोगता ।
धूपहीने तथोद्वेगो वस्त्रहीने धनक्षयः ॥२१३॥

रत्नहीने म्रियेतैव विपताके ह्यनायकः ।
छत्रहीने हृतं छत्रमविताने तु नारकी ॥२१४॥

विद्याहीने तु नाशः स्यादात्मनो नगरस्य च ।
दीपादाने तु दौर्भाग्यं प्राप्नुयात् कारकः सदा ॥२१५॥

दक्षिणाहीने तु सर्वं व्यर्थं स्यान्नात्र संशयः ।
मन्त्रविद्याविहीने तु सम्पूर्णमपि नश्यति ॥२१६॥
पात्रमन्त्रसमायुक्तं सर्वदोषापहं भवेत् ।][1]

नारदीये—

देवाग्रतः स्ववामाग्रे त्रिकोणं चन्दनाम्भसा ।
वृत्तेन वेष्टितं बाह्ये चतुरस्रेण चैव हि ॥२१७॥
विरच्य मुद्रया मत्स्यरूपया साधको भुवि ।

सारसंग्रहे—

त्रिकोणं वृत्तसंवीतं चतुरस्रेण वेष्टितम् ।
गन्धलिप्ते स्ववामाग्रे विदध्यान्मत्स्यमुद्रया ॥२१८॥

सम्पूज्य गन्धैर्देवार्घ्यमण्डलाय नमोऽणुना ।
अंगानि चतुरस्रस्य कोणेषु पुरतस्तथा ॥२१९॥

दिक्षु चास्त्रं समभ्यर्च्य शङ्खाधारं प्रविन्यसेत् ।
मूलेन क्षालितं शङ्खाधारं संस्थापयामि च ॥२२०॥

कालं सबिन्दुकं तद्वद् भुजङ्गेशं समुद्धरेत् ।
वह्न्यन्ते मण्डलायेति तथा धर्मप्रदेति च ॥२२१॥
दशकलात्मने प्रोक्त्वा नमो गन्धादिभिर्यजेत् ।

कालं मकारम्, भुजङ्गेशं रेफम् ।

वह्नेर्दशकलास्तत्र प्रादक्षिण्येन पूजयेत् ॥२२२॥

कुलार्णवे—

आधारेण विना भ्रंशो न च तृप्यन्ति मातरः ।
तस्माद्विधिवदाधारं कल्पयेत् कुलनायिके ॥२२३॥

---

१. [—] कोष्ठबद्धोंऽशः ख. पुस्तके विशेषोऽवलोक्यते ।

आधारं त्रिपदम्प्राहुः षट्पदं वा चतुष्पदम् ।
अथवा वर्त्तुलाकारं कुर्याद् देवि मनोहरम् ॥२२४॥

यामले—

धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे तथा ।।२२५।।
वह्नेर्दशकला ज्ञेया दशकर्मफलप्रदाः ।[1]

सारसङ्ग्रहे—

अस्त्रेण क्षालितं शङ्खं तत्र संस्थाप्य पूजयेत् ।
अर्घपात्रमिति प्रोक्त्वा स्थापयामीति मन्त्रतः ॥२२६॥
अहमर्थप्रदायान्ते वदेद् द्वादश इत्यथ ।
कलात्मने-पदं प्रोक्त्वा अर्घपात्राय हृन्मनुः ।२२७।
अनेन शङ्खमभ्यर्च्य कलाः सूर्यस्य पूजयेत् ।

यामले—

तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः ।
सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥२२८॥
एता द्वादश सम्पूज्या रवेरर्थप्रदाः कलाः ।

[2]सारसंग्रहे—

ततः सुधामयैस्तोयैर्मूलान्तां मातृकाम्पठन् ।
विलोमाम्पूरयेत्तस्मिन् पूजको मनुनाऽमुना ॥२२९॥
अर्घपात्रं पूरयामीत्युक्त्वा सम्पूरयेत्ततः ।

शारदातिलके—

..............बिन्दुस्रुतसुधामयैः ।
तोयैः सुगन्धपुष्पाढ्यैः पूरयेत्तं यथाविधि ॥२३०॥

बिन्दुर्भ्रूमध्यं तत्र चन्द्रमण्डलस्य विद्यमानत्वादिति ।

सारसङ्ग्रहे—

कर्णाचन्द्रौ बिन्दुयुतौ कामप्रदपदं ततः ।
षोडशान्ते कलाशब्दमात्मने नम इत्यथ ॥२३१॥
गन्धपुष्पैस्तमभ्यर्च्य कलाषोडशकं यजेत् ।

---

१. इतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—
शारदातिलके—यादीनां दशवर्णानां कला धर्मप्रदा इमाः ।

१. इतः प्रागयमंशो विशेषः ख पुस्तके—
शारदातिलके—कभाद्या वसुदाः सौराष्ठडान्ता द्वादशेरिताः ।

कर्णः उ, चन्द्रः स, बिन्दुः अनुस्वारः, तेन इं सं इति ।

यामले—

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ।
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ॥२३२॥

पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्यः स्वरगाः कलाः ।
सोममण्डलमध्यस्थाः ………………॥२३३॥

नारदीये—

प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीत कलानां तत्र तत्र च ।

तत्र तत्रेति तत्तत्कला आवाह्य तासां तासां प्राणप्रतिष्ठां विधाय तास्ताः पूजयेदिति ।

सारसंग्रहे—

प्राग्वत्तीर्थं समावाह्य मूलमन्त्रेण तत्र च ।
संयोज्य नेत्रमन्त्रेण पुष्पं न्यस्य शिखाणुना ॥२३४॥

प्रदर्श्य गालिनीं मुद्रां मुद्रया धेनुसंज्ञया ।
अमृतीकृत्य विधिवत्सुधाबीजेन साधकः ॥२३५॥

ध्यात्वेष्टदेवतां तत्र सकलीकृत्य देशिकः ।
अङ्गन्यासेन चास्त्रेण कलयेच्च दिशो दश ॥२३६॥

नेत्रमन्त्रेण संवीक्ष्य मुद्रया शङ्खसंज्ञया ।
अवष्टभ्य ततोद्दीप्य मुद्रया योनिरूपया ॥२३७॥

गन्धपुष्पादिभिस्तत्र पूजयेदिष्टदेवताम् ।
षडङ्गानि च सम्पूज्य मन्त्रयेन्मूलमन्त्रतः ॥२३८॥
अष्टकृत्वस्ततश्चार्घं छादयेन्मत्स्यमुद्रया ।

गालिनीमुद्रालक्षणं तु—

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ सक्तौ करयोरितरेतरम् ।
तर्जनीमध्यमानामाः संहता भुग्नवर्जिताः ॥२३९॥

मुद्रैषा गालिनी श्चेक्ता शङ्खस्योपरि चालिता ।
संहताः परस्परं संयुक्ताः, भुग्नवर्जिताः अकुटिलाः ।

मत्स्यमुद्रालक्षणम्

लक्षणसङ्ग्रहे—

अधोमुखे वामहस्ते तादृशं दक्षहस्तकम् ।
विन्यस्याङ्गुष्ठयुग्मं तु पार्श्वयोः सम्प्रसार्य च ॥२४०॥
दर्शयेदर्घपात्रे तु मत्स्यमुद्रेयमीरिता ।

नारदीये—

वीक्षणं नेत्रमन्त्रेण न चेन्मूलेन मन्त्रवित् ॥२४१॥

मूलेनेति पञ्चाङ्गपरं तत्र नेत्रमन्त्राभावात् । अत्रापि सर्वत्र तत्तदङ्गमन्त्राणामेवोपादानं हृदयादिपदैरिति ।

अगस्त्यः—

कवचेनावगुण्ठये ति तन्मुद्रयेति शेषः ।

सारसंग्रहे—

तच्छङ्खस्थं जलं किञ्चित् कुम्भतोये विनिक्षिपेत् ।

शारदातिलके—

अर्घस्योत्तरतः कार्यं पाद्यं साचमनीयकम् ।

शौनकः—

अर्घस्योत्तरदिग्भागे पाद्यं साचमनीयकम् ।
मधुपर्कं च संस्थाप्य त्रिकोणेषु यथाक्रमम् ॥ २४२ ॥
एकैकपात्रं मन्त्रेण ह्यष्टकृत्वोऽभिमन्त्रयेत् ।

विष्णुधर्मोत्तरे—

मधुपर्कं तु सक्षौद्रं दधि प्रोक्तं मनीषिभिः ।[1]
दध्यभावे पयः कार्यं मध्वभावे तथा गुडः ॥ २४३ ॥
घृतप्रतिनिधिर्नास्ति तत्र यत्नं समाचरेत् ।

---

१. ख. पुस्तकेऽतो विशेषः—
फेत्कारीतन्त्रे—माक्षिकं शर्करासर्पिर्दधिक्षीरयुतं तथा ।
मधुपर्कं कल्पयित्वा प्रदद्याद्विधिपूर्वकम् ॥१॥ इति
उत्तरतन्त्रे तु—दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सितैलाभिस्तु पञ्चभिः ।
प्रोच्यते मधुपर्कस्तु सर्वदेवौघतुष्टये ॥ २ ॥
जलन्तु सर्वतः स्वल्पं सितादधिघृतं समम् ।
सर्वेषामधिकं क्षौद्रं मधुपर्के प्रयोजयेदिति ॥३॥

[1]मधुपर्के पात्रमुक्तम्

उत्तरतन्त्रे—

तद्द्यात्कांस्यपात्रेण रौक्मश्वेतभवेन वा ।

श्वेतं रूप्यम्[2]

वराहपुराणे—

परमं यत्पदं राम मधुसंज्ञं तदुच्यते ।
तदाप्यते यदा तेन मधुपर्कस्ततः स्मृतः ॥२४४॥

शारदातिलके—

दक्षिणे प्रोक्षणीपात्रमाधायाद्भिः प्रपूरयेत् ।
किञ्चिदर्घाम्बु संगृह्य प्रोक्षण्यम्भसि योजयेत् ॥२४५॥

नारदपञ्चरात्रे—

पुनराचमनीयार्थं पात्रं संस्थापयेत्ततः ।

प्रपञ्चसारे—

गन्धपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपाः ।
दूर्वा चेति क्रमादर्घद्रव्याष्टकमुदीरितम् ॥२४६॥

अक्षतास्तण्डुलाः । अत्र केचिदक्षतशब्देन यवा उच्यन्त इत्याहुः । तत्र प्रमाणं चिन्त्यम् । वस्तुतस्तु गन्धपुष्पाक्षतयवा इति यवग्रहणादक्षतशब्देन तण्डुला एव ग्राह्याः । अत एव **नारदपञ्चरात्रे** 'सयवाः सिततण्डुला' इत्युक्तम् । एवमेव-**लिङ्गपुराणे**ऽपीति 'नाक्षतैरर्चयेद्विष्णु' मिति वचनविरोधस्तस्य केवलाक्षतार्चानि-षेधात् ।

नारदपञ्चरात्रे श्रीविष्णोरर्घे—

सिद्धार्थकास्तिला दूर्वाः सयवाः सिततण्डुलाः ।
तोयक्षीरघृतोपेतमिदमर्घमुदाहृतम् ॥२४७॥

इत्युक्तत्वात् तन्त्रान्तरे पुष्पाभावे तण्डुलैः पूजनमपि श्रीविष्णोरुक्तं यथा—

पुष्पाभावे जलेनापि दूर्वया तण्डुलेन च ।
नित्यं पूजा हरेः कार्या भक्तिभावेन सुन्दरि ॥२४८॥

---

१. इतः पूर्वं ख. पुस्तके विशेषः—

निबन्धे—घृतालाभे तु सुश्रोणि लाजैश्च सह मिश्रयेत् ।
विष्णुधर्मोत्तरे तु— घृताभावे तु सुश्रोणि जलैस्तु सह मिश्रयेदिति ॥

२. ख. पुस्तकेऽधिकोऽयमंशः—

श्राद्धविवेके—दधि सर्पिर्मधुसमं पात्रे चौदुम्बरे मम ।

[1]सिद्धार्थाः सर्षपाश्चैव[2] दूर्वाः पत्त्रत्रयान्विताः ।
पत्त्रत्रयान्विता दूर्वाः प्रशस्ता अर्घकर्मणि ॥२४९॥

इति **सोमशम्भुवचनात्** ।

प्रपञ्चसारे—

पाद्यं श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरुच्यते ।
जातीलवङ्गकक्कोलैर्मतमाचमनीयकम् ॥ २५० ॥

जाती जातीफलम् ।

तथाचमनपात्रेऽपि दद्याज्जातीफलं मुने ।

इत्य**गस्तिसंहितावचनात्** जातीफलादीनि चूर्णितानि देयानि ।

चूर्णयित्वा यथान्यायं क्षिपेदाचमनीयके ।

इति **फेत्कारीतन्त्रवचनात्** ।

लिङ्गपुराणे—

कुशाग्राण्यक्षतांश्चैव यवव्रीहितिलानि च ।
आज्यसिद्धार्थपुष्पाणि भसितं चार्घपात्रके ॥२५१॥
कुशपुष्पयवव्रीहिबहुमूलतमालकम् ।
दापयेत् प्रोक्षणीपात्रे भसितं प्रणवेन च ॥२५२॥
उसीरं चन्दनं चैव पाद्ये च परिकल्पयेत् ।
जातीकक्कोलकर्पूरबहुमूलतमालकम् ॥२५३॥
चूर्णयित्वा यथान्यायं क्षिपेदाचमनीयके ।

प्रपञ्चसारे—

शुद्धाभिरद्भिर्विहितं पुनराचमनीयकम् ॥२५४॥

शुद्धाभिरित्युक्तेर्जात्यादि न देयमित्यवगम्यते । अर्घादिद्रव्यालाभे तु—

शौनकः—

एषामभावे पुष्पादि तत्तद्भावनया न्यसेत् ।

---

१. इतः पूर्वं ख: पुस्तके विशेषः—
वैशाखमाहात्म्ये—**अलाभे पत्रपुष्पाणामन्नाद्येनापि पूजयेत् ।
शालितण्डुलगोधूमैर्यवैर्वापि हरं सदा ॥**

२. ख. 'चैव' इति नास्ति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—

द्रव्याभावे प्रदातव्याः क्षालितास्तण्डुलाः शुभाः ।

भसितं तु शिवपूजायामेव । [पूजामध्ये स्थापितशङ्खादिपत्रस्खलने प्रणवं जपित्वा पुनर्यथाविधि पात्रं स्थापनीयम् । तदुक्तम्—

त्रैपुरपद्धत्याम्—

शङ्खादिपात्रस्खलने पूर्ववत्पूर्वं शोधयेत् ।
निष्कलं शतधा जप्त्वा शेषं यागं समाचरेत् ॥२५५॥][1]

शारदातिलके—

आत्मानं यागवस्तूनि मण्डलं प्रोक्षयेद्गुरुः ।
प्रोक्षणीपात्रतोयेन मनुनान्यान्यपि क्रमात् ॥२५६॥

श्रीकुलार्णवे—

पूजाद्रव्याणि सम्प्रोक्ष्य मूलास्त्राभ्यां विधानवित् ।
दर्शयेद्धेनुमुद्रां च द्रव्यशुद्धिः प्रकीर्त्तिता ॥२५७॥

रुद्रयामले—

अप्रोक्षितं नैव दद्यान्नाप्रोक्षितः समर्चयेत् ।

शारदातिलके—

न्यासक्रमेण देहे स्वे धर्मादीन् पूजयेत्ततः ।
पुष्पाद्यैः पीठमन्वन्तं तस्मिंश्च परदेवताम् ॥२५८॥

पञ्चकृत्वः पुनः कुर्यात्पुष्पाञ्जलिमनन्यधीः ।
उत्तमाङ्गे हृदाधारे पादे सर्वाङ्गके क्रमात् ॥२५९॥

विना निवेद्यं गन्धाद्यैरुपचारैः समर्चयेत् ।
गुरूपदिष्टविधिना शेषमन्यत्समापयेत् ॥२६०॥
सर्वमेतत्प्रयुञ्जीत प्रोक्षण्यद्भिः समाहितः ।

धर्मादीनित्युपलक्षणम् । तेन मण्डूकादिपीठमन्त्रान्ता योगपीठदेवता योगपीठन्यासस्थानेषु पूज्या इत्यर्थः । शेषं जपादिकम् ।

---

१. [—] कोष्ठान्तर्गतोऽशः क. पुस्तके नास्ति ।

सारसङ्ग्रहे—

मूलाधारगते कुण्डे पूर्वोक्ते चतुरस्रके ।
पूर्ववज्जुहुयान्मन्त्री धर्माधर्मादिकं हविः ॥ २६१ ॥

प्रकाशोदये—

अथ चाभ्यन्तरे कार्यमग्निकार्यं ब्रवीमि तत् ।
चिदग्निमण्डले दण्डमूले कुण्डलिरूपिणि ॥ २६२ ॥

त्र्यस्रकुण्डे हुनेदुद्यत्सूर्यमण्डलवर्चिषि ।
वासनेन्धनसन्दीप्ते पञ्चभिश्च समीरणैः ॥ २६३ ॥

सन्धुक्षिते प्रजुहुयादक्षवृत्तीरनन्तरम् ।
मूलविद्यां समुच्चार्य हुनेत्सप्ताहुतीस्ततः ॥२६४॥

मन्त्ररूपं पठन् श्लोकम्परं गुरुतरं परात् ।
धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा श्रुचा ॥२६५॥

सुषुम्णावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम् ।
स्वाहान्तेनाहुतिं दत्वा हुनेत्पूर्णाहुतिं गुरुः ॥२६६॥

मूलविद्यां समुच्चार्य श्लोकमन्यं पठन्नमुम् ।
प्रकाशामर्षहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुचम् ॥२६७॥

धर्माधर्मकलास्नेहं पूर्णवह्नौ जुहोम्यहम् ।
स्वाहान्तेनाहुतिं दत्वा प्राणापाननिरोधतः ॥२६८॥
निरस्तनिखिलोपाधिमात्मानं चिन्मयं स्मरेत् ।

ज्ञानार्णवे—

पुण्यपापे हविर्देवि कृत्याकृत्ये हविः प्रिये ।
सङ्कल्पश्च विकल्पश्च धर्माधर्मौ हविः प्रिये ॥२६९॥

हवनप्रकारस्तु प्रयोगे वक्ष्यते ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

अष्टोत्तरसहस्रं तु कृत्वान्तर्यागमादरात् ।
जपेत् प्रतिदिनं मन्त्री.....................॥२७०॥

इत्यन्तः देहे यागः पूजा ।

सारसङ्ग्रहे—

आत्मपूजां विधायेत्थं यथाशक्ति मनुं जपेत् ।
स्वेष्टदैवतमात्मानं भावयन्यतमानसः ॥२७१॥

अष्टोत्तरसहस्रं तु शक्तपरम् ।

अथ योगपीठपूजा । तत्र

श्रीसारसङ्ग्रहे—

अर्घोदकेन सम्प्रोक्ष्य मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ।
पूजाचक्रं ततस्तत्र पीठपूजां समाचरेत् ॥२७२॥

देवस्योत्तरतः पूज्या गुरुपंक्तिस्ततः परम् ।
महागणपतिः पूज्यो दक्षिणे चन्दनादिभिः ॥२७३॥

उत्तरतः उत्तरदिशि, तेन देवस्य दक्षिणभुजसमीप इत्यायातम् । उत्तरत्र तथा वक्ष्यति—

रुद्रयामले—

सर्वाधो मण्डूकाधारे रुद्रः कालानलो विभुः ।
रक्षां करोतु मे नित्यं या मूलप्रकृतिः सदा ॥२७४॥

ततश्चाधारशक्तिर्या मम रक्षां करोतु सा ।
कूर्मस्तु सतत पायादनन्तो रक्षयेत्सदा ॥२७५॥

तस्य मूर्ध्नि स्थितश्चक्री वराहः परिरक्षतु ।
दन्ते तस्य स्थिता पृथ्वी पातु नित्यं वसुन्धरा ॥२७६॥

समुद्रः सवदा पातु सुरत्नैरमृतैर्जलैः ।
रत्नद्वीपश्च मे रक्षां करोतु स्वर्णपर्वतः ॥२७७॥

पातु मां न न्दनोद्यानं रक्षन्तु कल्पपादपाः ।
अधस्तेषां सदा पातु विचित्रा रत्नभूमिका ॥२७८॥
श्रीरत्नमन्दिरं पातु सततं पातु वेदिका । इति ।

भैरवयामले—

रत्नवर्णं महाकायं मण्डूकं प्रथमं यजेत् ।
तत्र कालाग्निरुद्रं च दशबाहुसमन्वितम् ॥२७९॥

पञ्चवक्त्रं रक्तकृष्णवर्णंदक्षापराङ्गकम् ।
तदूर्ध्वे मूलप्रकृतिं बन्धूकाभां वराभयाम् ॥२८०॥

सारसंग्रहे—

अधः पीठस्य रक्ताभां पाशाङ्कुशवराभयान् ।
हस्ताब्जैर्दधतीं सम्यग्यजेदाधारशक्तिकाम् ॥२८१॥

तस्या उपरि सम्पूज्यः कूर्मः स्वर्णरुचिर्दृढः ।
सहस्रशिरसं तत्र शुक्लवर्णमलङ्कृतम् ॥२८२॥

नीलवस्त्रं महाकायमनन्तं सम्यगर्चयेत् ।
पीताम्बरधरं तत्र नीलवर्णं सुभूषणम् ॥२८३॥

शंखचक्रगदापद्मधारिणं पोत्रिणं यजेत् ।
व्रीह्यग्रशुकहस्ताब्जां वराभयधरां शुभाम् ॥२८४॥
तद्दंष्ट्रोपरि नीलाभां धरां धीरः समर्चयेत् ।

रत्नद्वीपः नवरत्नमयद्वीपः । उक्तं च—

तन्त्रराजे—

नवरत्नमयं द्वीपं नवखण्डविराजितम् ।
पुष्पं नीलं च वैदूर्यं[1] विद्रुमं मौक्तिकं तथा ॥२८५॥
ईशान्मरकतं वज्रं गोमेदं पद्मरागकम् ।

ईशात् ईशे ईशानकोणे मरकतरत्नखण्डं यथा भवति तथा पश्चिमादि-विलोमेन नवरत्नमयानि खण्डानि मध्यान्तानि ध्येयानीत्यर्थः । तत्रैव—

कुरुकुल्लापटले—

पश्चिमं पुष्परागं तु सम्प्राप्यावतरेत्ततः ।

इत्युक्तत्वात् ।रत्नमन्दिरं नवरत्नमयं माणिक्यमयं वा स्वर्णप्राकार-वेष्टितं विचित्रमण्डपमिति **सारसङ्ग्रहात्** ।

अमृताब्धौ मणिद्वीपे कल्पवृक्षवनोज्वले ।
स्वर्णप्राकारसंवीतं स्मरेन्माणिक्यमण्डपम् ॥२८६॥

इति **देवीयामल**वचनाच्च । वेदिका स्वर्णमयी ।

विचित्रमण्डपं तत्र पूजयेत् स्वर्णवेदिकाम् ।

इति **सारसङ्ग्रहात्** ।

सारसङ्ग्रहे—

रत्नसिंहासनं तत्र पूजयेन्मण्डलान्वितम् ॥२८७॥
मण्डलान्वितं तत्तत्पूजाचक्ररूपं मण्डलसमन्वितमित्यर्थः ।

---

१. ख. वैडूर्यं ।

तत्पादेषु यजेत्सम्यगाग्नेयादिशिवान्तकम् ।
धर्मं वृषतनुं रक्तवर्णमादौ समर्चयेत् ॥२८८॥

सिंहाकारं ततो ज्ञानं श्यामवर्णं समाहितः ।
भूताकारं च वैराग्यं पीतवर्णं यजेत्ततः ॥२८९॥

कृष्णवर्णं गजाकारमैश्वर्यं साधु पूजयेत् ।
अग्रदेशं समारभ्य चतुर्दिक्षु समर्चयेत् ॥२९०॥
अधर्मादींश्च पीठस्य चित्रगात्रधिया बुधः ।

वामकेश्वरतन्त्रे—

मध्ये मायां तथा विद्यां पूजयेत्साधकोत्तमः ।

सारसङ्ग्रहे—

तल्पाकारं ततोऽनन्तं पीठमध्ये समर्चयेत् ।
तस्य मूर्ध्नि यजेत्पद्मं सर्वलक्षणसंयुतम् ॥२९१॥

आनन्दकन्दमभ्यर्च्य संविन्नालमनन्तरम् ।
प्रकृत्यात्मकपत्राणि विकारात्मककेसरान् ॥२९२॥
तत्वरूपां कर्णिकां च मातृकावर्णविग्रहाम् ।

लिङ्गपुराणे—

तस्य पूर्वदलं साक्षादणिमामयमक्षरम् ।
लघिमा दक्षिणं चैव महिमा पश्चिमं तथा ॥२९३॥

प्राप्तिश्चैवोत्तरं पत्रं प्राकाम्यं पावकस्य तु ।
ईशित्वं नैर्ऋतं पत्रं वशित्वं वायुगोचरम् ॥२९४॥

सर्वज्ञत्वं तथैशानं कर्णिका सोम उच्यते ।
सोमस्याधस्तथा सूर्यस्तस्याधः पावकः स्वयम् ॥२९५॥

सारसङ्ग्रहे—

पत्रकोशेषु पद्मस्य सत्वादीन् क्रमतो यजेत् ।
सत्वपूर्वान् गुणान् सूर्य्येन्द्वग्नीनां मण्डलानि च ॥२९६॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यानात्मादींस्त्रीन्यथाक्रमम् ।

सम्मोहनतन्त्रे—

बोधरूपः सत्वगुणो रजः प्रकृतिरूपकम् ।
तमोगुणो मोहरूपः प्रोक्ता ह्येवं गुणास्त्रयः ॥२९७॥

वामकेश्वरतन्त्रे—

ज्ञानतत्वात्मकं चैव क्रमेण परिपूजयेत् ।
चतुर्दिक्षु च मध्ये च················॥२९८॥ इति ।

प्रपञ्चसारे—

मध्येऽनन्तं पद्ममस्मिंश्च सूर्यं सोमं वह्निं तारवर्णैर्विभक्तैः ।
सत्वादींश्च त्रीन् गुणानात्मयुक्तान् शक्तीः किञ्जल्केषु मध्ये यजेच्च ॥२९९॥

सारसङ्ग्रहे—

केसरेषु ततो मध्ये पूर्वादिषु यथाक्रमम् ।
तत्तन्मन्त्रोक्तपीठस्य नवशक्तीः प्रपूजयेत् ॥३००॥
पीठमन्त्रेण गन्धाद्यैः पीठं मध्ये ततो यजेत् ।

सनत्कुमारः—

प्रागाद्यष्टसु पत्रेषु कर्णिकायां यजेन्मुने ।
चतुर्थ्या नमसा युक्तैः स्वैः स्वैरेव तु नामभिः ॥३०१॥
मध्ये पुष्पांजलिं दद्यात्पीठमन्त्रेण मन्त्रवित् ।

यजेत्प्रादक्षिण्येन । 'एताः प्रदक्षिणं पूज्या' इति **मन्त्रतन्त्रप्रकाशवचनात्** । पूर्वादिष्वत्यत्र पश्चिमस्यैव पूर्वत्वम् ।

स्वराः षोडश देवेशि युग्मयुग्मप्रभेदतः ।
दलाष्टके तु[1] संलेख्याः पश्चिमादि प्रदक्षिणम् ॥३०२॥

इति **ज्ञानार्णवे** यन्त्रे[2] वर्णविन्यासदर्शनादावरणार्चायां देवाग्रे प्राच्यभिधानाच्च तथा कल्पनात् । 'दक्षिणे च तथा गुरु मिति **सङ्कर्षणवचनाच्च** ।

नारदपञ्चरात्रेऽपि गुर्वर्चायाम्—

मण्डले देवदेवस्य दक्षिणे मण्डलोपरि ।

गुरून् समर्चयेदिति । अत एव देवस्योत्तरतः । इति पूर्वोक्तस्यापि पूजामण्डलस्योपर्येव पूजा ज्ञेया । धर्मादिपूजायामप्येवमेव देवाग्रे कल्पितप्राच्यनुसारेणैवाग्नेयादि कल्पयेत् । अत्र भाविनि भूतवदुपचारः । 'आवाह्य मंत्रेण मुने' इत्यनन्तरमावाहनोक्तेः । भूताकारमिति, भूतः देवयोनिः । 'भूतोऽमी देवयोनय' इति कोशात् । तत्स्वरूपं तु—

---

१. ख. पु । २. 'तन्त्रे' इत्यपि पाठ ।

रक्तवस्त्रधराः कृष्णा नखदंष्ट्राः सुदंष्ट्रकाः ।
कर्त्रीखट्वाङ्गहस्ताश्च राक्षसा घोररूपिणः ॥३०३॥
भूतास्तथैव दीनास्याः............ ।

इति **भूतडामरतन्त्रोक्तस्वरूपाः**। पीठशक्तयः पीठमन्त्राश्चाग्रे तत्तत्प्रकरणे वक्ष्यन्ते ।

सारसङ्ग्रहे—

पीठशक्तीर्नवाभ्यर्च्चेत्केसरेषु च मध्यतः ।
वरदाभयधारिण्यः पीठं पीठाणुना यजेत् ॥३०४॥

मूलमन्त्रं समुच्चार्य षष्ठ्यन्तं देवनाम च ।
मूर्त्तिं च कल्पयामीति मूर्त्तिमध्ये विनिक्षिपेत् ॥३०५॥

पुनर्मूलं समुच्चार्य देवनाम च पूर्ववत् ।
मूर्त्तिं च पूजयामीति तां पुष्पेण समर्चयेत् ॥३०६॥

पूजामूर्त्तेः शिरः कुर्यात्कुसुमोपहितं सदा ।
पूजाकालं विना तस्या नोपरि भ्रामयेत्करम् ॥३०७॥

अथ मध्यस्थापितमूर्त्तौ स्वेष्टदेवतामावाह्य पूजयेत् । तत्र मूर्त्तिस्तु तत्तद्ध्यानोक्तरूपा । सा तु शिवलिङ्गसालग्रामादावपि भावनीया । शिवलिङ्गादीनां सर्वदैवतपूजाधिकरणत्वात् । एतद्विषयकानि वचनानि पूर्वमेवोपन्यस्तानि सालग्रामशिलायां विष्णोरावाहनं न कार्यमिति केचिद्वदन्ति—

सालग्रामे स्थावरे वा नावाहनविसर्जनम् ।
सालग्रामशिलादौ यन्नित्यं सन्निहितो हरिः ॥३०८॥

उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ।
अस्थिरायां विकल्पः स्यात्स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम् ॥३०९॥
शालग्रामार्चने नैव ह्यावाहनविसर्जने ।

वस्तुतस्तु **स्कन्दपुराणादि**दर्शनादावाहनं कार्यम् । यथा—

स्कन्दपुराणे—

विप्रः पूर्वं निजे देहे स्मृत्युक्तेन न्यसेद्बुधः ।
ततस्तु प्रतिमायाञ्च सालग्रामे विशेषतः ॥३१०॥

क्रमेण च ततः पश्चात्कुर्यादावाहनादिकम् ।
आवाहयेच्च पुरतो ध्यानसेव्यं द्विजोत्तम ॥३११॥

इति । अत्र एवावाहनाद्युद्वासनान्तमर्चनमभिधायोक्तं **बौधायनेन**—'सालग्रामे प्रतिमास्वस्वाग्नावप्यावाहनविसर्जनमिति' । तथा **त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रेऽपि**—'सालग्राम' इत्युपक्रम्य 'विसर्जनान्ता' पूजोक्ता । अत्र—

शालग्रामशिलायां तु प्रतिष्ठां नैव कारयेत् ।

इति प्रतिष्ठामात्रनिषेधादावाहनमवश्यं विष्णोरन्यदेवतानां वा अविरुद्धमिति

'आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत्' ।

इति **भागवतेऽपि** भगवता स्वयमभिधानात् । आदिपदेन सालग्रामयन्त्रादयो गृह्यन्ते । आवाहनस्वरूपमुक्तम् ।

सिद्धान्तशेखरे—

स्वत एवाभिपूर्णस्य तत्वस्येहार्चनादिषु ।
सादरं सम्मुखीभावस्तदावाहनमिष्यते ॥३१२॥

इति तत्पर्यायमाह—

शारदातिलके—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य सुषुम्णावर्त्मणा सुधीः ।
आनीय तेजः स्वस्थानान्नासिकारन्ध्रनिर्गतम् ॥३१३॥

करस्थमातृकाम्भोजे चैतन्यं पुष्पसञ्चये ।
संयोज्य ब्रह्मरन्ध्रेण मूर्त्तावावाहयेत्सुधीः ॥३१४॥

सुषुम्णावर्त्मना ब्रह्मरन्ध्रेण दक्षिणनासारन्ध्रनिर्गतमिति ।

वैहायसीमन्त्रकोशे—

अथार्क्कतो वा हृदयारविन्दादावाहयेन्नन्दसुतं सुवेषम् । इति ।

अन्यत्रापि—

आवाहयेन्महादेवीं हृदयाम्बुजगह्वरात् ।
सूर्यमण्डलतो वापि स्वीयाद्वा द्वादशान्ततः ॥३१५॥ इति।

गरुडपुराणे—

आगच्छेति प्रयोगेण मूलमन्त्रेण शङ्कर ।
आवाहनं प्रकर्त्तव्यं ········ ॥३१६॥ इति ।[1]

---

१. अस्याग्रे 'नृसिंहपुराणे' इत्यारभ्य एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशतश्लोकान्तः [—] कोष्ठकान्तर्गतोंऽशो नास्ति क. पुस्तके ।

[नृसिंहपुराणे—आगच्छ नरसिंहेति ।

मन्त्रमहोदधावावाहनश्लोकाः—

आत्मसंस्थमजं शुद्धं त्वामहं परमेश्वरम् ।
अरण्यामिव हव्यांशं मूर्त्तावावाहयाम्यहम् ॥३१७॥

तवेयं महिमामूर्त्तिस्तस्यां त्वां सर्वगं प्रभो ।
भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत्स्थापयाम्यहम् ॥३१८॥

ऊहः कार्यो भवान्यादौ श्लोकेष्वावाहनादिषु ।
मूलश्लोकौ पठन् कुर्यादासनं चोपवेशनम् ॥३१९॥

सर्वान्तर्यामिणे देव सर्वबीजमयं शुभम् ।
स्वात्मस्थाय परं शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम् ॥३२०॥

अस्मिन् परासने देव सुखासीनोऽक्षरात्मकः ।
प्रतिष्ठितो भवेश त्वं प्रसीद परमेश्वर ॥३२१॥

अनन्या तव देवेश मूर्त्तिशक्तिरियम्प्रभो ।
सान्निध्यं कुरु तस्यां त्वं भक्तानुग्रहतत्परः ॥३२२॥

अज्ञया तव देवेश कृपाम्भोधे गुणावधे ।
आत्मानन्दैकतृप्तं त्वां निरुणध्मि पितर्गुरो ॥३२३॥

अज्ञानाद् दुर्मनस्त्वाच्च वैकल्यात्साधकस्य च ।
यदपूर्णं भवेत्कृत्यं तदप्यभिमुखो भव ॥३२४॥

दृशा पीयूषवर्षिण्या पूरयन् यज्ञविष्टरम् ।
मूर्त्तौ वा यज्ञसम्पूर्त्तेः स्थितो भव महेश्वर ॥३२५॥

अभक्तवाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रदूरापतद्युते ।
स्वतेजःपञ्जरेणाशु वेष्टितो भव सर्वतः ॥३२६॥

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः स्वाभीष्टसिद्धये ।
तस्मै परेशाय स्वागतं स्वागतं प्रभो ॥३२७॥

कृतार्थोऽनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं मम ।
आगतो देवदेवेश सुस्वागतमिदम्पुनः ॥३२८॥

यद्भक्तिलेशसम्पर्कात् परमानन्दसम्भवः ।
तस्मै ते चरणाब्जाय पाद्यं शुद्धाय कल्पये ॥३२९॥

वेदानामपि वेदाय देवानां देवतात्मने ।
आचामं कल्पयामीश शुद्धानां शुद्धिहेतवे ॥३३०॥

तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम् ।
तापत्रयविनिर्मुक्त तवार्घं कल्पयाम्यहम् ॥३३१॥

सर्वकालुष्यहीनाय परिपूर्णसुखात्मने ।
मधुपर्कमिमं देव कल्पयामि प्रसीद मे ॥३३२॥

उच्छिष्टोऽप्यशुचिर्वापि यस्य स्मरणमात्रतः ।
शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनीयकम् ॥३३३॥

स्नेहं गृहाण स्नेहेन लोकनाथ महाशय ।
सर्वलोकेषु शुद्धात्मन् ददामि स्नेहमुत्तमम् ॥३३४॥

परमानन्दबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्त्तये ।
साङ्गोपाङ्गमिदं स्नानं कल्पयाम्यहमीश ते ॥३३५॥

मायाचित्रपटच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे ।
निरावरणविज्ञानवासस्ते कल्पयाम्यहम् ॥३३६॥

यमाश्रित्य महामाया जगत्सम्मोहनी सदा ।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम् ॥३३७॥

यस्य शक्तित्रयेणेदं सम्प्रोतमखिलं जगत् ।
यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये ॥३३८॥

स्वभावसुन्दराङ्गाय नानाशक्त्याश्रयात्मने ।
भूषणानि विचित्राणि कल्पयाम्यमरार्चित ॥३३९॥]

सारसङ्ग्रहे—

आवाहनं स्थापनं च सन्निधापनमेव च ।
सन्निरोधमित्युक्तं सम्मुखीकरणं ततः ॥३४०॥

[1]अथवाऽवगुण्ठनं प्रोक्तं सकलीकरणं ततः ।
अमृतीकरणं चैव परमीकरणं तथा ॥३४१॥
विधाय स्वस्वमुद्राभिः प्राणस्थापनमाचरेत् ।

---

१. क. अथावगुण्ठनं ।

सकलीकरणस्वरूपं च—

सिद्धान्तशेखरे—

अपि भिन्नस्वभावानां यदभिन्नप्रयोजनम् ।
अङ्गानामङ्गिना सार्द्धं सकलीकरणं त्विदम् ।।३४२ इति ।।

आवाहनादिमुद्रालक्षणानि

लक्षणसङ्ग्रहे—

हस्ताभ्यामञ्जलिं बद्ध्वाऽनामिकामूलपर्वणोः ।
अङ्गुष्ठौ निक्षिपेत्सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ।।३४३।।

अधोमुखी त्वियं चेत्स्यात्स्थापनीति निगद्यते ।
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योस्तु संयोगात्सन्निधापनी ।।३४४।।

अन्तःप्रवेशिताङ्गुष्ठा सैव संरोधिनी मता ।
उत्तानमुष्टियुगला सम्मुखीकरणीभवेत् ।।३४५।।

देवताङ्गे षडङ्गानां न्यासः स्यात्सकलीकृतिः ।
सव्यहस्तकृता मुष्टिर्दीर्घाधोमुखतर्जनी ।।३४६।।

अवगुण्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता मता ।
अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टकनिष्ठाऽनामिका पुनः ।।३४७।।

तथैव तर्जनी मध्या धेनुमुद्रेयमीरिता ।
अमृतीकरणं कुर्यात्तया साधकसत्तमः ।।३४८।।

अन्योन्यग्रथिताङ्गुष्ठा प्रसारितकरांगुली[1] ।
महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे प्रिये ।।३४९।।
प्रयोजयेदिमा मुद्रा देवताह्वानकर्मणि ।

श्रीकुलार्णवे—

पीठे देवं प्रतिष्ठाप्य सकलीकृत्य मन्त्रवित् ।
मूलमन्त्रेण दीपन्या मालिन्याऽर्घोदकेन च ।।३५०।।

त्रिवारं प्रोक्षयेद्विद्वान् देवशुद्धिरियं प्रिये ।
पञ्चशुद्धिं विधायेत्थं पश्चाद्यजनमारभेत् ।।३५१।।
सा पूजा सफला देवि चान्यथा निष्फला भवेत् ।

---

१. क. प्रसारिसकराङ्गुली ।

तथा—

वाग्भवं वद-युग्मान्ते वाग्वादिनि च वाग्भवम् ।
कामराजं ततः क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदयेति च ॥३५२॥

महाक्षोभं कुरुयुगं कामराजमतः परम् ।
तार्त्तीयं मोक्षशब्दान्ते कुरुयुग्मं वदेत्ततः ॥३५३॥

स्यात्प्रासादपरा चान्ते सप्तत्रिंशद्भिरक्षरैः ।
दीपनीमनुरित्युक्तः सर्वसिद्धिकरः प्रिये ॥३५४॥

चकारात्कुरुयुग्मान्ते तार्त्तीयादनु पराप्रासादबीजमित्यर्थः, सप्तत्रिंशदक्षर-इत्युक्तेः । वाग्भवकामराजतार्त्तीया बालाविद्याया एव । सा त्वग्रे वक्ष्यते । पराप्रासादबीजं तु पुरस्तात्प्रयोगेऽस्यैव मन्त्रस्यान्ते द्रष्टव्यम् ।

तथा—

सकलीकृत्य तत्प्राणांस्तदीयानीन्द्रियाणि च ।
प्रतिष्ठाप्याऽर्चयेद्देवमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥३५५॥

सारसङ्ग्रहे—

मुद्राः प्रदर्श्य विधिवदुपचारान्प्रकल्पयेत् ।

मुद्रास्तु पूर्वमेवोक्ताः ।

कुलमूलावतारे—

मुदं स्वरूपलाभाभ्यां देहद्वारेण चात्मनः ।
याह्यर्पयन्त्ययत्नेन मुद्रास्ताः शक्तयो मताः ॥३५६॥

मोचयन्ति ग्रहादिभ्यः पापौघं द्रावयन्ति च ।
मोदनं द्रावणं यस्मान्मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥३५७॥

इति मुद्राशब्दनिरुक्तिः ।

अथोपचाराः—

उपचारशब्दार्थो ज्ञानमालायामुक्तः—

भक्त्या चैते कृता देवे साधकं देवसन्निधिम् ।
चारयन्ति यतस्तस्मादुच्यन्ते ह्युपचारकाः ॥३५८॥

समीपे चारणाद्वापि फलानां ते तथोदिता । इति ।

तत्रैव—

आसनं प्रथमं तेषामावाहनमुपस्थितिः ॥३५९॥

सान्निध्यमाभिमुख्यं च स्थिरीकृतिः प्रसाधनम् ।
अर्घं पाद्याचमने मधुपर्कमुपस्पृशम् ॥३६०॥

स्नानं नीराजनं वस्त्रमाचमं चोपवीतकम् ।
पुनराचमभूषे च दर्प्पणालोकनं ततः ॥३६१॥

गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं च ततः क्रमात् ।
पानीयं तोयमाचामं हस्तवासस्ततः परम् ॥३६२॥

ताम्बूलमनुलेपं च पुष्पदानं पुनः पुनः ।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं स्तुतिं चैव प्रदक्षिणाम् ॥३६३॥
पुष्पाञ्जलिनमस्कारावष्टत्रिंशत्समीरिता इति ।

निबन्धे—

आसनावाहने चार्घं पाद्यमाचमनीयकम् ।
स्नानं वस्त्रं चोपवीतं भूषणानि च सर्वतः ॥३६४॥

गन्धं पुष्पं तथा धूपं दीपमन्नेन तर्प्पणम् ।
माल्यानुलेपनं चैव भूषणानि च सर्वशः ॥
अष्टादशोपचारैस्तु नित्यं पूजां समाचरेत् ॥३६५॥

प्रपञ्चसारे—

आसनस्वागते सार्घपाद्ये साचमनीयके ।
मधुपर्काचमस्नानवसनाभरणानि च ॥३६६॥

सुगन्धसुमनोधूपदीपनैवद्यवन्दनाः ।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांस्तु षोडश ॥३६७॥

अर्घपाद्ये साचमने मधुपर्काचमान्यपि ।
गन्धादयो निवेद्यांता उपचारा दश क्रमात् ।

प्रयोगसारे—

अर्घ्यं गन्धं ततः पुष्पमक्षतं धूपमेव च ।
दीपो निवेद्यं सप्ताङ्गी सपर्येत्यपरे जगुः ॥३६८॥ इति ।

पदार्थादर्शे—

गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं पञ्च संस्मृताः ।
अत्र पञ्चोपचारपूजापक्षे त्वर्घादिपात्रस्थापनं नास्ति प्रयोजनाभावात् ।

भैरवीतन्त्रे—

एकैकस्यान्ततो मन्त्री प्रणम्य तु निवेदयेत् ।

तन्निवेदनप्रकारमाह—

नारदपञ्चरात्रे—

प्रणवान्ते त्रिधा कृत्वा प्राणं व्योमविभूषितम् ।
इदमिदमिदं पश्चात्पदं दद्यात् षडक्षरम् ॥३७०॥

गृहाण च ततः स्वाहा मन्त्रः पञ्चदशाक्षरः ।
योज्यः सर्वोपचारेषु पाद्यादिषु सदैव हि ॥३७१॥

प्राणो हकारः, व्योम बिन्दुः । अत्र तृतीयहकारोपरिस्थबिन्दोरिकारेण सह सन्धिः कार्यः तदा मि भवति ।

सारसङ्ग्रहे—

मूलेनैवासनं दद्यात्तेन स्वागतमीरयेत् ।
ततोऽर्घं मूर्ध्नि दद्याच्च स्वाहामन्त्रेण मन्त्रवित् ॥३७२॥

पादाब्जे देवतायास्तु हृदा पाद्यं प्रकल्पयेत् ।
दद्यादाचमनं वक्त्रे देवतायाः सुधाणुना ॥३७३॥
सुधामन्त्रेण दद्याच्च मधुपर्कं मुखाम्बुजे ।

अत्रार्घाचमनीयमधुपर्कपुष्पेष्वपि शूद्रैर्नमःपदमेव स्वाहादिस्थाने प्रयोक्तव्यम् अथात्र—

वैदिको मिश्रितो वापि विप्रादीनां विधीयते ।
तांत्रिको विप्रभक्तस्य शूद्रस्यापि प्रकीर्त्तितः ।३७४॥

इति । **पद्मपुराणवचनाद्** ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैर्गणेशादिपञ्चदेवताना वा पूजा कार्या । केवलतांत्रिकयजनस्य शूद्रविषयत्वात् । उक्तवचनात्—तत्र वैदिकमन्त्रास्तु 'गणानां त्वे' ति गणपतेः, 'गौरीर्मि माये' ति भुवनेश्वर्यादि-गौरीभेदानां, 'यद्वागि' ति भारत्याः, श्रीसूक्तं लक्ष्म्याः, 'जातवेदसे सुनवाम' इति दुर्गायाः, विष्णोः पुरुषसूक्तं, रवे 'राकृष्णेने'ति, शिवस्य 'नमः शम्भवे'ति 'त्र्यम्बकं यजामहे' इति वा । गणानां त्वेति मंत्रस्य गृत्समदो ऋषिः, जगती छंदः । गौरीर्मिमायेति मन्त्रस्य दीर्घतमा ऋषिः, उमा जगती छन्दः । आकृष्णेनेति मन्त्रस्य हिरण्यस्तूप ऋषिः सविता, त्रिष्टुप् ।

अथोपचारकल्पना तत्रादावासनानि ।

सारसङ्ग्रहे—

देवस्य वामभागे तु दद्यान्मूलेन चासनम् ।
पौष्पं दारुमयं वास्त्रं चार्मं कौशं च तैजसम् ॥३७५॥
षड्विधं चासन प्रोक्त·················। इति ।

उत्तरतन्त्रे—

पौष्पं पुष्पादिरचितं कुशसूत्रादिसंयुतम् ।
अतिप्रीतिकरं देव्या ममाप्यन्यस्य भैरव ॥३७६॥

यज्ञदारुसमुद्भूतमासनं चाव्रणं शुभम् ।
अन्यदारुभवं वापि दद्यादासनमुत्तमम् ॥३७७॥

सकण्टकक्षीरयुतं दारु सारविवर्जितम् ।
चैत्यं श्मशानसम्भूतं वर्जयित्वा बिभीतकम् ॥३७८॥

चैत्यः ग्रामप्रसिद्धिभूतो महावृक्षः । दारुमयासने विशेषमाह—

रुद्रयामले—

शाण्डिल्यभद्रसारस्य चासनं हस्तमात्रकम् ।
सप्ताङ्गुलोच्छ्रितं दद्याद्विष्टरं वा विचक्षणः ॥३७९॥

शाण्डिल्यो बिल्वः ।

बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि ।

इत्यमरः । भद्रसारश्चन्दनः ।

भद्रसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियात् ॥३८०॥

इत्यमरकोशाद् । विष्टरो दर्भमुष्टिः ।

डामरे—

सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता ।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्त्तितम् ॥१८१॥

इति । यद्वा विष्टरशब्दस्त्वासनमात्रवाची ।

विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम् ॥१८२॥

इति हि कोशः ।

उत्तरतन्त्रे—

यच्चासनं कुशमयं तदासनमनुत्तमम् ।
योगपीठस्य सदृशमासनं कौशमुच्यते ॥३८३॥

तथा—

सर्वेषां तैजसानां चाप्यासनं श्रेष्ठमुच्यते ।
वर्जयित्वा लोहमयं कांस्यं सीसकमेवच ॥३८४॥

इति अतः परमर्घ्यदानम् । तच्च देवस्य शिरोऽर्हणायैव देयम् ।

सोमशम्भुः—

आगताय तथार्च्चायां स्नातुमासनगाय च ।
पूजातो गन्तुकामाय दद्यादर्घ्यं विचक्षणः ॥३८५॥

आगते स्नानकाले च नैवेद्योपक्रमे तथा ।
पाद्यस्यापि समुद्दिष्टः समयस्त्रिविधो बुधैः ॥३८६॥

पाद्ये च मधुपर्के च स्नाने वस्त्रोपवीतयोः ।
भोजने चाचमं दद्यात्............॥३८७॥ इति

[1]स्वर्णायागे—

सुगन्धतैलैरभ्यज्य सुगन्धामलकादिभिः ।
उद्वर्त्तनं विधायाथ स्नापयित्वोष्णवारिणा ॥३८८॥
गन्धोदकैश्च मूलेन यथाशक्त्यभिषेचयेत् ।

महाकपिलपञ्चरात्रे—

रजनी सहदेवी च शिरीषो लक्ष्मणाऽपि च ।
सदा भद्रा कुशाग्राणि उद्वर्त्तनमिहोच्यते ॥३८९॥

मन्त्रप्रकाशे—

शुद्धतोयाद् गन्धतोयं श्रेष्ठं शतगुणोत्तमम् ।
गङ्गादितीर्थतोयानां फलं शास्त्रप्रणोदितम् ॥३९०॥

---

१. इतः पूर्वं निम्नांशो विशेषः ख. पुस्तके—

कालिकापुराणे—धर्मार्थकाममोक्षाणां स्थानं पाद्यमिहोच्यते ।
अर्घ्येण लभते कामानर्घेण लभते धनम् ॥१॥
पुत्रायुःसुखमोक्षाणि दानादर्घस्य वै लभेत् ।
आयुर्बलं यशोवृद्धिं दद्यादाचमनीयकम् ॥२॥
लभते साधको नित्यं कामांश्चैव हृदुस्थितान् ।

नाहरेन्मलिनं तोयं केशकीटादिदूषितम् ।
मलिनेनाऽपि भाण्डेन व्यङ्गेनाऽशुचिना तथा ॥३६१॥

तूर्णयागे—

महाभिषेकं सर्वत्र शङ्खेनैव प्रकल्पयेत् ।
सर्वत्रैव प्रशस्तोऽब्जः शिवसूर्यार्चनं विना ॥३६२॥

अब्जः शङ्खः ।

अगस्त्यः—

स्नानं पुरुषसूक्तेन शुद्धशङ्खोदकेन च ।
क्षीरदध्याज्यमधुभिः खण्डेन च पृथक् पृथक् ॥३६३॥

नालिकेरोदकेनापि तथा तालफलाम्बुना।
गन्धद्रव्यैश्च बहुभिस्तथा गन्धोदकेन च ॥३६४॥

ऐक्षवेणोदकेनापि सकर्पूरादिगन्धिना ।
कदलीपनसाम्रोत्थजलेनाऽपि सुगन्धिना ॥३६५॥

शतं सहस्रमयुतं शक्त्या वाप्यभिषेचयेत् ।
शङ्खं सम्पूर्य तेनैव सपुष्पेण रघूत्तम ॥३६६॥

सकृष्णागुरुधूपेन धूपयेदन्तरान्तरा ।
ततः शुद्धजलेनैव स्नापयेत्तमनन्यधीः ॥३६७॥

तन्त्रान्तरे—

प्रतिमापटपात्राणां नित्यस्नानं न कारयेत् ।
कारयेत्पर्वदिवसे तथा मलनिवारणम् ॥३६८॥

यामले—

पीतकौशेयवसनं विष्णुप्रीत्यै प्रकीर्त्तितम् ।
रक्तं शक्त्यर्कविघ्नानां शिवस्य च सितं प्रियम् ॥३६६॥
मलहीनं तथाऽच्छिद्रं क्षौमं कार्पासमेव च ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

तैलादिदूषिताद्रोगः सच्छिद्राद्दाच्यता भवेत् ।
जीर्णाद्दरिद्रता कर्त्तुर्मलिनात्कान्तिहीनता ॥४००॥

कालिकापुराणे—

निर्दशं मलिनं जीर्णं छिन्नं गात्रावलम्बितम् ।
परकीयं चाखुदग्धं सूचीविद्धं तथाऽसितम् ॥४०१॥

उप्तकेशमधौतं च श्लेष्ममूत्रादिदूषितम् ।
प्रदाने देवताभ्यश्च देवे पित्रे च कर्म्मणि ॥४०२॥
वर्जयेत्स्वोपयोगे च यज्ञादावुपयोजने ।

सारसङ्ग्रहे—

यज्ञोपवीतं दत्वाऽथ भूषणानि समर्पयेत् ।
तानि नानाविधानि स्युर्मुकुटादिप्रभेदतः ॥४०३॥
स्त्रीपुम्प्रभेदतश्चापि विज्ञेयानि विचक्षणैः ।

तत्वसारे—

यावत् सूर्यश्च चन्द्रश्च यावत्तिष्ठन्ति देवताः ।
न निर्माल्यं भवेत्तावत्स्वर्णरूप्यविभूषणम् ॥४०४॥
वस्त्रमभ्युक्षणाच्छुध्येदपरं च दिने दिने ।

योगिनीतन्त्रे

गन्धः पुष्पं तथा धूपो दीपो नैवेद्यमेव च ।
यस्य यद्दीयते वस्त्रमलङ्कारादिकाञ्चनम् ॥४०५॥

तेषां दैवतमुच्चार्य कृत्वा प्रोक्षणपूजने ।
उत्सृज्य मूलमन्त्रेण प्रतिनाम्ना निवेदयेत् ॥४०६॥

वरुणस्य तु बीजेन तेषां प्रोक्षणमाचरेत् ।
अन्नस्य देवता लक्ष्मीरथवाऽपि प्रजापतिः ॥४०७॥

सुवर्णं चाग्निदैवत्यं रजतं चन्द्रदैवतम् ।
हीरकं वारुणं ज्ञेयं रसानां पृथिवी तथा ॥४०८॥

जलस्य वरुणो देवः पेयानां वरुणस्तथा ।
कृसरस्य स्मृता[1] देवी परमान्नस्य चैव हि ॥४०९॥

घृतप्रदीपके विष्णुस्तैलयोगे वनस्पतिः ।
गन्धर्वश्च तथा धूपो ह्याज्यं चैवाग्निदैवतम् ॥४१०॥

---

१. ख. रमा ।

मधु वै वारुणं ज्ञेयं दधि क्षीरं च वैष्णवम् ।
वानस्पत्यं तथा पुष्पं वैष्णवो गन्ध ईरितः ॥४११॥
मालायाश्च तथा दुर्गा सर्वं वा विष्णुदैवतम् ।

अत्र पूजन एव दैवतोच्चारः ।

तेषां दैवतमुच्चार्य पूजयेत्तु विचक्षणः ॥४१२॥

स्वयमभिधानात् उत्सर्गस्तु मूलमन्त्रेण ।

इष्टेन मूलमन्त्रेण तथोत्सर्गनिवेदने ।

इति स्वयमभिधानात् ।

इति श्रीगोस्वामिश्रीजगन्निवासात्मज—
गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टविरचिते
सिंहसिद्धान्तसिन्धौ तृतीयस्तरङ्गः ॥३॥

चतुर्थस्तरङ्गः

कालिकापुराणे—

चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा दाहकर्षित एव वा ।
रसः सम्मर्दजो वापि प्राण्यङ्गोद्भव एव वा ॥१॥

गन्धः पञ्चविधः प्रोक्तो देवानाम्प्रीतिदायकः ।
गन्धचूर्णं गन्धपत्रचूर्णं सुमनसस्तथा ॥२॥

प्रशस्तगन्धयुक्तानां पत्रचूर्णानि यानि च ।
तानि गन्धाह्वयानि स्युश्चूर्णजः प्रथमः स्मृतः ॥३॥

घृष्टो मलयजो गन्धः सरलश्च नमेरुणा ।
अगुरुप्रभृतिश्चैव यस्य पङ्कः प्रदीयते ॥४॥
घृष्टेन घृष्टो गन्धोऽयं द्वितीयः परिकीर्त्तितः ।

शारदातिलके—

गन्धश्चन्दनकर्पूरकालागुरुभिरीरितः ।[1]

तथा—

देवदार्वगुरुब्रह्मसानसारात्तु चन्दनात् ।
प्रियादीनां च यो दग्ध्वा गृह्यते दाहजो रसः ॥ ५॥

सदाहकर्षितो गन्धस्तृतीयः परिकीर्त्तितः ।
सुगन्धकरवीराढ्यं सुगन्धलतिका तथा ॥६॥

सुगन्धान्यरसो योऽसौ निष्पीड्य परिगृह्यते ।
स सम्मर्दोद्भवो गन्धः सम्मर्दज इतीष्यते ॥७॥

मृगनाभिसमुद्भूतस्तत्कोशोद्भव एव वा ।
गन्धः प्राण्यङ्गजः प्रोक्तो मोददः स्वर्गवासिनाम् ॥८॥

पदार्थादर्शे—

शङ्खपात्रस्थितं गन्धं मन्त्रैर्दद्यात्कनिष्ठया ।

---

१. ख. पुस्तके विशेषः—

गन्धेभ्यश्चन्दनं पुण्यं चन्दनादगुरुर्वरः ।
कृष्णागरुस्ततः श्रेष्ठः कुङ्कुमञ्च ततो वरम् ॥

तन्त्रान्तरे विशेषः—

मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैरङ्गुल्यग्रेण पार्वति ।
दद्याच्च विमलं गन्धं मूलमन्त्रेण साधकः ॥९॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

पुष्पं पञ्चविधं प्रोक्तं मुनिभिर्नारदादिभिः ।
परापरोत्तमं चैव मध्यमं च तथाधमम् ॥१०॥

सौवर्णं परमित्युक्तमपरं चित्रवस्त्रजम् ।
वृक्षगुल्मलतापुष्पमुत्तमं परिकीर्त्तितम् ॥११॥

अधमं पत्रतोयादि मध्यमं तु फलात्मकम् ।
उत्सृष्टं न क्रियायोग्यं सदा योग्ये परापरे ॥१२॥

सारसङ्ग्रहे—

शुक्ला कृष्णा च तुलसी शुक्लं रक्तं च पङ्कजम् ।
केतकीयुगलं जातीद्वयं द्वन्द्वं हयारिजम् ॥१३॥

पुष्पानां दशकं ह्येतत् प्रशस्तं परिकीर्तितम्
[1]रक्तनीलोत्पले शस्ते मल्लिकाकुमुदं तथा ॥१४॥

कुन्दं कह्लारकं चैव मन्दारं तगरं पुनः ।
अर्जुनं किंशुकं रक्तमन्दारं नागचम्पकम् ॥१५॥

अशोकबिल्वपुष्पाणि पाटला नवमल्लिका ।
चम्पकं कर्णिकारं च पारिजाततरूद्भवम् ॥१६॥

शतवर्गोद्भवं पुष्पं कोरण्टकुसुमानि च ।
इत्यादीनि सुपुष्पाणि गन्धवन्ति लसन्ति च ॥१७॥

तत्तन्मन्त्रविधानेषु विहितानि समर्पयेत् ।
म्लानानि चाङ्गलग्नानि शीर्णानि क्षमागतानि च ॥१८॥

यानि पर्युषितानि स्युः कृमिभिर्भक्षितानि च ।
कोरकानि च दुष्टानि समाघ्रातानि नार्पयेत् ॥१९॥[2]

---

१. ख. रत्न० । २. ख. पुस्तकेऽतः परं विशेषः—

अगस्तिसंहितायाम्—

मुकुलैः पतितैश्चैव खण्डितैः शोषितैरपि ।
अनर्हैरपि पुष्पैश्च दलैः पत्रैश्च नार्चयेत् ॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

पत्रेषु तुलसी श्रेष्ठा बिल्वं दामनकं शुभम् ।
मरुको देवकल्हारी विष्णुक्रान्ता तथैव च ॥२०॥

अपामार्गोऽथ गान्धारी पत्री सुरभिसंज्ञिका ।
नागवल्लीदलं दूर्वा कुशपत्रं तथा मतम् ॥२१॥
पत्रं चागस्त्यवृक्षस्य पुष्पं धात्रीदलं तथेति ।

भविष्यत्पुराणे—

जाती शमी कुशाः कङ्कुमल्लिकाकरवीरजम् ।
नागपुन्नागकाशोकरक्तनीलोत्पलानि च ॥२२॥

चम्पकं वकुलं चैव पद्मं वा बिल्वपत्रकम् ।
एतानि सर्वदेवानां विहितानि समानि च ॥२३॥

कङ्कु कुब्जकम् । नागो नागकेसरम् ।

ज्ञानमालायाम्—

गणेशाय च सूर्याय रक्तपुष्पमतिप्रियम् ।

अथ सूर्यस्य विहितानितत्र—

भविष्यत्पुराणे—

मालती मल्लिका चैव दूर्वा काशोऽतिमुक्तकः ।
पाटला करवीराणि जपा जयन्तिरेव च ॥२४॥

चम्पको रोतकः कन्दोषाणो बर्बरमल्लिका ।
अशोककर्णिकारौ च तथैव चाटरूषकः ॥२५॥

शतपत्राणि चान्यानि वकुलं च विशेषतः ।
अगस्तिकिंशुकौ तद्वत्पूजार्थं भास्करस्य च ॥२६॥

विहितानीति शेषः ।

॥ अथ पत्राणि ॥

बिल्वपत्रं शमीपत्रं भृङ्गराजस्य पत्रकम् ।
तमालपत्रं च हरेसद्यस्तुष्टिकरं हरेः ॥२७॥

तुलसी कालतुलसी तथा रक्तं च चन्दनम् ।
केतकीपत्रकुसुमं सदैव तपनप्रियम् ॥२८॥

हरिपदद्वयं सूर्यविष्णुपरम् । **अथ विष्णोः ।**

नरसिंहपुराणे—

मल्लिका मालती जाती केतक्यशोकचम्पकैः ।
पुन्नागनागवकुलैः पद्मकैरुत्पलादिभिः ॥२९॥
एतैरन्यैश्च कुसुमैः प्रशस्तं पूजनं हरेः ।

वामनपुराणे—

जाती शताह्वा सुमनाः कुन्दं चाम्बुपुटस्तथा ।
बाणं चम्पकाशोकं करवीरं च यूथिका ॥३०॥

पारिभद्रं पाटला च वकुलं गिरिशालिनी ।
तीलकं[1] जासुवनजं पीतजं त्वगरं त्वपि ॥३१॥

एतानि हि प्रशस्तानि कुसुमान्यच्युतार्चने ।
सुरभीनि तथान्यानि वर्जयित्वा तु केतकीम् ॥३२॥

केतकीं [2]धत्तूरमिति केचित्, वनकेतकीत्यपरे । शताह्वा शोफ इति प्रसिद्धा । सुमनाः सुवर्णजाती, अम्बुपुटः कर्णिकारः, जसुवनजं जपा, गिरिशालिनी-श्वेतकुटजम् ।

अथ पत्राणि—

अपामार्गस्य प्रथमं भृङ्गराजमतः परम् ।
तस्माच्च खादिरं श्रेष्ठं शमीपत्रं ततः परम् ॥३४॥

दूर्वापत्रं तथा श्रेष्ठं ततोऽपि कुशपत्रकम् ।
तस्माद्दामनं श्रेष्ठं ततो बिल्वस्य पत्रकम् ॥३४ ।

बिल्वपत्रादपि हरेस्तुलसीपत्रमुत्तमम् ।
एतेषां तु यथालाभं पत्रैर्यश्चार्चयेद्धरिम् ॥३५॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ।

बिल्वपत्रस्य निषेधः —

---

१. ख. तिलकं । २. ख. धत्तूर० ।

गौतमीये—

न रक्तचन्दनं जातु गृह्णीयाद्रक्तपुष्पकम् ।
बिल्वपत्रैस्तत्प्रसूनैर्नार्चयेद्देवकीसुतम् ॥३६॥

नरसिंहपुराणे—

कृष्णमूर्द्धनि विन्यस्ता तुलसीपत्रमञ्जरी ।
सुवर्णकोटिपुष्पाणां पुण्यं यच्छत्यतोऽधिकम् ॥३७॥

अगस्तिकुसुमैर्देवं योऽर्चयेच्च जनार्दनम् ।
दर्शनात्तस्य देवर्षे नरकान् को नु यास्यति ॥३८॥

वकं वकुलम् ।

द्रोणपुष्पं खादिरं च शमी बिल्ववकं तथा ।
नन्द्यावर्त्तं करवीरं तथा श्वेतं च किंशुकम् ॥३९॥

कुशपुष्पं तमालं च चम्पकाशोककेतकीः ।
त्रिसन्ध्यं मालतीपुष्पं त्रिसन्ध्यं श्वेतजा तु या ॥४०॥

कुन्दं च शतपुष्पं च मल्लिकाजातिपुष्पकम् :
पूर्वपूर्वसहस्रेभ्योऽधिकं स्यादुत्तरोत्तरम् ॥४१॥

जातीपुष्पसहस्रेण यच्छेन्मालां सुशोभनाम् ।
विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥४२॥

कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च ।
वसेद्विष्णुपुरं श्रीमान् विष्णुतुल्यपराक्रमः ।४३॥

मञ्जरीं सहकारस्य केशवोपरि नारद ।
यच्छन्ति ते महात्मानो गोकोटिफलभागिनः ॥४४॥

पुरंध्रिपुष्पं यो दद्यादेकमप्यथ पण्डितः ।
तिलपात्रप्रदानस्य फलमाप्नोत्यसंशयम् ॥४५॥

पुरंध्रिः पूर्वदेशे पङ्गुरिति प्रसिद्धा ।[1]

मदनपारिजाते—

पद्मेनैकेन देवेशमभ्यर्च्य कमलापतिम् ।
वर्षायुतसहस्रस्य पापस्य कुरुते क्षयम् ॥४६॥

---

१. ख. अतः परमयमंशो विशेषः—
दमनेनापि गोविन्दं पूजयित्वा च माधवम् ।
कपिलाशतस्य च मुने दानस्य लभते फलम् ॥

अगस्तिवृक्षसम्भूतैः कुसुमैरसितैः सितैः ।
येऽर्चयन्ति च देवेशं तैः प्राप्तं परमं पदम् ॥४७॥

सुवर्णकेतकीपत्रं यो ददाति जनार्दने ।
कोटिजन्मार्जितं पापं दहते गरुडध्वजः ॥४८॥

सकृत्कदम्बपुष्पेण हेलया हरिरर्चितः ।
सप्त जन्मानि देवर्षे 'तस्य लक्ष्मीर्न दूरगा'[1] ॥४९॥

कुम्भीपुष्पं तु देवर्षे यः प्रयच्छति केशवे ।[2]
सुवर्णपलमात्रं हि पुष्पे पुष्पे भवेन्मुने ॥५०॥

गारुडपुराणे—

धात्रीफलेन यत्पुण्यं जयन्त्याः समुपोषणे ।
खगेन्द्र यल्लभेन्मर्त्यस्तुलसीपूजनेन तत् ॥५१॥

यथाकथंचिदाहृत्य कुसुमैः पूजयेद्धरिम् ।
नाकपृष्ठमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥५२॥

[3]**अथ शिवस्य विहितानि—**

भविष्यत्पुराणे—

करवीरो वकश्चैव अर्क उन्मत्तकस्तथा ।
पाटला बृहती चैव तथा च गिरिकर्णिका ॥५३॥
तथा काशस्य पुष्पाणि मन्दारश्चापराजिता ।
शमीपुष्पाणि चान्यानि कुब्जकं शिखिनी तथा ॥५४॥

---

१. '—' ख. यः प्रयच्छति केशवे । २. ख. पादद्वयं नास्ति । ३. ख. इतः पूर्वमयमंशो विशेषः—

गारुडे—नार्कं नोन्मत्तकं किञ्चित्तथैव गिरिकर्णिकाम् ।
न कण्टकारिकापुष्पमच्युताय निवेदयेत् ॥१॥
कुटजं शाल्मलीपुष्पं शिरीषं च जनार्दने ।
निवेदितं भयं शोकं निःस्वतां च प्रयच्छति ॥२॥
निबन्धे— काञ्चनारमयैः पुष्पैर्येऽर्चयन्त्यसुरद्विषम् ।
दारिद्र्यं दुःखबहुलं तेभ्यो विष्णुः प्रयच्छति ॥३॥
गिरिकर्णिकया विष्णुं येऽर्चयन्त्यबुधा नराः ।
तेषां कुलक्षयं घोरं कुरुते मधुसूदनः ॥४॥
नरसिंहस्य पूजायां निषिद्धं केतकीद्वयम् ।

अपामार्गस्तथा पद्मं शमीपत्रं सरोचकम् ।
चम्पकोशीरतगरं तथा वै नागकेसरम् ॥५५॥

पुन्नागं किंकिरातं च द्रोणपुष्पन्तथा शुभम् ।
शिंशपोदुम्बरश्चैव जपा मल्ली तथैव च ॥५६॥

पुष्पाणि यक्षवृक्षस्य तथा बिल्वं प्रियं शुभम् ।
कुङ्कुमस्य च पुष्पाणि तथा वै कङ्कतस्य च ॥५७॥

नीलं च कुमुदं चैव तथा रक्तोत्पलानि च ।
सुरभीणि च सर्वाणि स्थलजान्यौदकानिच ॥५८॥
गृह्णामि शिरसा देवि यो भक्त्या विनिवेदयेत् ।

शिखिनी मयूरशिखा ।

नीलोत्पलसहस्रस्य यो मालां सम्प्रयच्छति ॥५९॥

शिवाय विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ।
कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च ॥६०॥
वसेच्छिवपुरे श्रीमान् शिवतुल्यपराक्रमः ।[1]

अथ दुर्गायाः

देवीपुराणे—

शृणु शुक्र प्रवक्ष्यामि पुष्पाध्यायं समासतः ।
ऋतुकालोद्भवैः पुष्पैर्मल्लिकाजातिपुष्पकैः ॥६१॥

सितरक्तैस्तथा पुष्पैः पद्मैश्च पाण्डुरैस्तथा ।
किंशुकैस्तगरैश्चैव किंकिरातैश्च चम्पकैः ॥३२॥

वकुलैश्चैव मन्दारैः कुन्दपुष्पैस्तिरीटकैः ।
करवीरार्कपुष्पैश्च शैंशिपैश्चापराजितैः ॥६३॥

---

१. इतः परं ख. पुस्तके विशेषः—
लिङ्गपुराणे सूतसंहितायाञ्च बिल्वपत्रसमर्पणे विशेषः—

वामपत्रे वसेद्ब्रह्मा पद्मनाभश्च दक्षिणे ।
मध्यपत्रे वसेत् साक्षात् साम्बः सर्वार्थदायकः ॥१॥
इन्द्रादयो लोकपाला वृन्ताग्रे परिकीर्त्तिताः ।
यक्षाः पिशाचा रक्षाश्च पृष्ठभागे प्रकीर्त्तिताः ॥२॥
तस्माद्वै पूर्वभागेन अर्चयेद् गिरिजापतिम् ।

सितरक्तैस्तथा पीतैः कृष्णैश्चैव चतुर्विधैः ।
धत्तूरकातिपुष्पैश्च बन्धूकागस्तिसम्भवैः ॥६४॥

दमनैः[2] सिन्दुवारैश्च सुरभिमरुवकैस्तथा ।
लताभिर्ब्रह्मवृक्षस्य दूर्वाकुन्दैः सुशोभनैः ॥६५॥

मञ्जरीभिः कुशानां च बिल्वपत्रैः सुशोभनैः ।
रक्तान्वितैस्तथा सर्वैर्जलजैः स्थलसम्भवैः ॥६६॥

पत्रैः पुष्पैर्यथान्यायं सर्वौषधिमयैः शुभैः ।
धान्यानां सर्वपत्रैश्च पुष्पैश्चैव प्रपूजयेत् ॥६७॥

बिल्वपत्रैः पूजनेन राजसूयफलम्, करवीरस्रजा अग्निष्टोमफलम्, बकुलस्रजा वाजपेयफलं, द्रोणस्रजा राजसूयफलम् ।

योगिनीतन्त्रे—

तुलसीश्वेतमन्दारैः- कह्लारैश्च तमालकैः ।
नार्चयेत्तु महालक्ष्मीं कुशकाशोद्भवेन च ॥६८॥

देवीमधिकृत्य तत्रैव—

नार्चयेज्झिण्टिपुष्पेण पीतेन तगरेण च ।
श्वेतोढ्रेण च कृष्णेन वर्जयेत्पूजने तथा ॥६९॥

त्रिपुरामधिकृत्य—

वाराहीये—

पलाशकाशपुष्पैस्तु नार्चयेद्दूरतस्त्यजेत् ।
धात्रीतमालजैः पत्रैः तुलसीद्वितयैस्तथा ॥७०॥

पूजनात्पातकी च स्यान्मृत्युश्चापि श्रियं हरेत् ।
त्रिपुरापूजने वर्ज्या तुलसी सर्वदा बुधैः ॥७१॥
तुलसीगन्धमात्रेण क्रुद्धा भवति सुन्दरी ।

कुलावलीये—

यत्रापराजितापुष्पं जपापुष्पं च विद्यते ।
करवीरे शुक्लरक्ते द्रोणं वा यदि तिष्ठति ॥७२॥
तत्र, देवी वसेन्नित्यं.......................इति ।

ज्ञानमालायाम्—

फलेऽप्यामलकं श्रेष्ठं वादरं तिन्तिडीफलम् ।
दाडिमं मातुलुङ्गं च जम्बीरं पनसोद्भवम् ॥७३॥

---

२. ख. मदनैः ।

कदलीचूतसम्भूतं श्रेष्ठं जम्बूफलं तथा ।
यजेदेतैः सदा विष्णुं पत्रैः पुष्पैः फलैरपि ॥७४॥

विष्णुमित्युपलक्षणम् ।

दिवसे दिवसोत्फुल्लैः पुष्पैः पूजा तथा निशि ।
पुष्पाभावे प्रवालैर्वा कारयेच्च न कोरकैः ॥७५॥

पत्रं वा यदि वा पुष्पं फलं नेष्टमधोमुखम् ।
दुःखदं तत्समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम् ॥७६॥

चित्रपूजासु सर्वासु न विरुद्धस्य दूषणम् ।
अधोमुखार्पणं नेष्टं पुष्पाञ्जलिविधौ न सः ॥७७॥

लक्षपूजासु सर्वासु पुष्पमेकैकमर्पयेत् ।
समुदाये न चेत्पूजा लक्षपुष्पार्पणं न तत् ॥७८॥

भविष्यत्पुराणे—

मुकुलैर्नार्चयेद्देवमपक्वं न निवेदयेत् ।
फलं च कृमिबद्धं च प्रयत्नात्तद्विवर्जयेत् ॥७९॥

अलाभे तु सुपुष्पाणां पत्राण्यपि निवेदयेत् ।
पत्राणामप्यलाभे तु फलान्यपि निवेदयेत् ॥८०॥

फलानामप्यलाभे तु तृणगुल्मौषधीरपि ।
औषधीनामलाभे तु भक्त्या भवति पूजितः ॥८१॥

प्रत्येकमुक्तपुष्पेण दशसौवर्णिकं फलम् ।
स्रग्भिश्च नृपशार्दूल तदेव द्विगुणं भवेत् ॥८२॥

अथ निषिद्धानि—

ज्ञानमालायाम्—

नाक्षतैरर्चयेद्विष्णुं न तुलस्या गणाधिपम् ।
न दूर्वया यजेद् दुर्गां बिल्वपत्रैर्दिवाकरम् ॥८३॥

उन्मत्तमर्कपुष्पं च विष्णौ वर्ज्यं सदा बुधैः ।
देवीनामर्कमन्दारावादित्ये तगरं तथा ॥८४॥

शिवे कुन्दं मदन्तीं च यूथीं बन्धूककेतके ।
जपां रक्तां त्रिसन्ध्ये द्वे सिन्दूरं कुटजानि च ॥८५॥

मालतीं घुसृणं रक्तहयारिं बर्बरीं त्यजेत् ।
उग्रगन्धमगन्धं च कृमिकेशादिदूषितम् ॥८६॥

अशुद्धपात्रपाण्यङ्गवासोभिः कुत्सितात्मभिः ।
आनीतं नार्पयेच्छम्भोः प्रमादादपि दोषकृत् ॥८७॥

कलिकाभिस्तथा नेज्यं विना चम्पकपङ्कजैः ।
शुष्कैर्न पूजयेच्छम्भुं पत्रैः पुष्पैः फलैरपि ॥८८॥
वर्जयेद्बृहतीपुष्पं काञ्चनारं कुरण्टकम् ।

लिङ्गपुराणे—

केतकी शंखतोयं च रक्तपुष्पं जपादिकम् ।
वर्जयेच्छिवपूजायां तेन पापं महद्भवेत् ॥८९॥

विष्णौ तु विष्णुः । नोग्रगन्धानि, न कण्टकितम्, कण्टकितमपि शुक्लसुगन्ध्यपि दद्यात् । न रक्तं दद्यात् । रक्तमपि कुङ्कुमजं जलजं च दद्यात् । अजलजमपि पाटलानि सन्ध्याकरवीरपरिभद्रशमीपत्रपलाशाशोककुशवर्जं न दद्यात् ।

विष्णुधर्मोत्तरे—कुटजशाल्मलीपुष्पशैरीषक्रकचधत्तूरकृष्णपुष्पार्कं च विष्णौ निषिद्धम् ।

ज्ञानमालायाम्—

सर्वपुष्पैः सदा पूजा विहिताविहितैरपि ।
कर्त्तव्या सर्वदेवानां भक्तिरेवात्र कारणम् ॥९०॥

धर्मार्जितधनक्रीतैर्यः कुर्यात्केशवार्चनम् ।
उद्धरिष्यत्यसन्देहात्सप्त पूर्वांस्तथा परान् ॥९१॥

इति विप्रातिरिक्तपरम् ।

समित्पुष्पकुशादीनि ब्राह्मणः स्वयमाहरेत् ।
शूद्रानीतैः क्रयक्रीतैः कर्म कुर्वन् पतत्यधः ॥९२॥

इति **भविष्ये** ब्राह्मणग्रहणात् । लक्षपुष्पार्चनादौ तु क्रयक्रीतमिति **मन्त्रकोशकारः** ।

सारसङ्ग्रहे—

परारोपितवृक्षेभ्यः पुष्पाण्यानीय चार्चयेत् ।
अविज्ञाय च तैर्यस्तु निष्फलं तस्य पूजनम् ॥९३॥

परोपवनादपि ग्रहणे तत्स्वामिन्यज्ञातेऽपि न चौर्यदोषः ।

'देवतार्थे च कुसुममस्तेयं **मनुरब्रवीत्**'

इति वचनात् पूजार्थं पुष्पादि न याचेत ।

याचितैः पत्रपुष्पाद्यैर्यः करोति ममार्चनम् ।

इति **वाराहे** तस्यापराधिषु गणितत्वात् ।

भूगतैर्नार्चयेत्पुष्पैः शेफालीं वकुलं वि

ज्ञानमालायाम्—

स्नात्वानीतैः पर्युषितैर्याचितैः कृष्णवर्णकैः ।
स्वयं विकासितैः पुष्पैः स्वयं च पतितैर्भुवि ॥९४॥

पूजनं कार्यमित्यर्थः । अत्र स्नात्वानीतैर्मध्याह्नस्नानोत्तरमानीतैरित्यर्थः।

प्रातरुत्थानादि प्रथमप्रहरकृत्यमुक्त्वा—

ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत् ।

इति द्वितीयप्रहरकृत्यत्वेन **नारदपञ्चरात्रे** पुष्पाहरणस्योक्तत्वात् ।

योगिनीतन्त्रे—

मलिनं भूमिसंस्पृष्टं कृमिकेशादिदूषितम् ।
पर्युषितानि पुष्पाणि वर्जयेद्देवतार्चने ॥९५॥

विष्णुक्रान्ता जपा नागकेसरं नागवल्लभम् ।
बन्धूकं चैव मन्दारं सवृन्तेन समर्चयेत् ॥९६॥

न स्पृशेद्वृन्तवर्जं च भूगतं च न संस्पृशेत् ।
शेफालि वकुलं भद्रे भूगते न समर्चयेत् ॥९७॥
मालूरं भूगतं देयं तस्य काष्ठस्य चन्दनम् ।

विष्णुधर्मोत्तरे—

देवोपरि धृतं यच्च वामहस्ते धृतं च यत् ।
अधोवस्त्रधृतं यच्च जलेऽन्तःक्षालितं च यत् ॥९८॥
देवतास्तन्न गृह्णन्ति पुष्पं निर्माल्यतां गतम् ।

निबन्धे—

ताम्रपात्रे तथा भूमौ पुष्पं नैव तु रक्षयेत् ।
स्थापयेद्यदि मोहेन देवता न प्रसीदति ॥९९॥

ज्ञानार्णवे—

पुष्पैः पर्युषितैर्देवि नार्चयेत्स्वर्णजैरपि ।
निर्माल्यभूतैः कुसुमैरुच्छिष्टैः परमेश्वरि ॥१००॥

इति । उच्छिष्टैः पूजावशिष्टैः ।

भविष्यत्पुराणे—

प्रहरं तिष्ठते जाती करवीरमहर्निशम् ।
तुलस्यां बिल्वपत्रेषु जलजेषु च सर्वशः ॥१०१॥
न पर्युषितदोषोऽस्ति मालाकारगृहेषु च ।

निबन्धे—

न पर्युषितदोषोऽस्ति जलजोत्पलचम्पके ।
तुलस्यगस्तिवकुले बिल्वे गङ्गाजले तथा ॥१०२॥

पदार्थादर्शे—

सद्यः पर्युषिता वापि निर्माल्या नैव दुष्यति ।
तथान्यैर्न हरेस्तुष्टिस्तुलस्या तुष्यते यथा ॥१०२॥

[1]स्मृतिरत्नावल्याम्—

जलजानां तु सर्वेषां पत्राणां दमनस्य च ।
कुशपुष्पस्य रजतसुवर्णकृतयोरपि ॥१०४॥
न पर्युषितदोषोऽस्ति तीर्थतोयस्य चैव हि ।

बृहन्नारदीये—

वर्ज्यं पर्युषितं नैव बिल्वं तु त्रिदिनावधि ।
पद्मं पञ्चदिनात्त्याज्यं शेषं पर्युषितं विदुः ॥१०५॥

स्कन्दे[2]—

पलाशं दिनमेकं तु चम्पकं तु दिनत्रयम् ।
पञ्चाहं बिल्वपत्रं च दशाहं तुलसीदलम् ॥१०६॥

बिल्वस्य खदिरस्यैव तथा धात्रीदलस्य च ।
तमालस्य च पद्मस्य छिन्नभिन्नं न दुष्यति ॥१०७॥

तन्त्रान्तरे—

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु चक्रे पुष्पं निवेदयेत् ।

अतः परमावरणपूजा तत्र पुष्पोपचारान्ते—

---

१. ख. इतः पूर्वमयमशो दृश्यते—

तत्वसागरसंहितायाम्—

यद्वा पर्युषितैश्चापि पुष्पाद्यैरविकारिभिः ।
गन्धोदकेन चैतानि त्रिः प्रोक्ष्यैव तु पूजयेत् ॥

२. ख. नास्ति ।

सारसङ्ग्रहे—

मन्त्रसम्पुटितैर्वर्णैर्मातृकायाः सबिन्दुकैः ।
क्रमेण गन्धपुष्पाद्यैर्देवस्याङ्गे समर्च्चयेत् ॥१०८॥
लयाङ्गमर्चयेद्देहे देवस्य मनुवित्तमः ।

ज्ञानार्णवेऽपि—

लयाङ्गमर्चयेद्देहे ……………इति ।

पद्मवाहिन्यामपि लयाङ्गमर्चयेद्देहे न्यासस्थानेषु मन्त्रविदिति ।—

शारदातिलके—

अङ्गादि लोकपालान्तं यजेदावारणान्यपि ।
केसरेष्वग्निकोणादि हृदयादीनि पूजयेत् ॥१०९॥

नेत्रमग्रे दिशास्वस्त्रं ध्यातव्याश्चाङ्गदेवताः ।
तुषारस्फाटिकश्यामली(नी)लकृष्णारुणार्चिषः ॥११०॥
वरदाभयधारिण्यः प्रधानतनवः स्त्रियः ।

अंगादीति विशेषानभिधाने । लोकपालशब्देन तदस्त्राणामप्यादानम् । अत्राग्निकोणादीत्यादिपदस्य क्रमग्राहित्वादग्निराक्षसवायव्येशानकोणेष्वङ्गचतुष्टयं यजेदिति वदन्ति । तन्न । अग्नीशासुरवायव्यमध्यदिक्ष्वङ्गपूजनमिति **ज्ञानार्णव-दक्षिणामूर्त्तिसंहितयोर्व**चनात् ।

हृदयं चाग्निदिग्भागे ईशान्यां च शिरो यजेत् ।
शिखां निर्ऋतिदिग्भागे वायव्ये कवच तथा ॥१११॥
अस्त्रमन्त्रं यथा दिक्षु नेत्रमग्रे प्रपूजयेत् ।

इति **दक्षिणामूर्त्ति**वचनात् ।

वह्नौ हृदयमीशान्यां शिरो रात्रिञ्चरे शिखाम् ।
वायौ वर्म पुरो नेत्रमस्त्रं दिक्षु चतुर्ष्वपि ॥११२॥

इति **कपिलपञ्चरात्र**वचनात् । चतुर्ष्वपीति दिव्यत्वात् चतसृष्वित्यर्थः ।

इष्ट्वा हृदयमाग्नेय्यामीशान्यां च शिरो यजेत् ।
नैर्ऋत्यां च शिखा पूज्या वायव्यां कवचं यजेत् ॥११३॥
अभ्यर्च्य पुरतो नेत्रमस्त्रं दिक्षु समर्चयेत् ।

इति **सोमशम्भु**वचनात् ।

पूर्वयाम्यान्तरे[1] विष्णोर्हृदयं विनिवेदयेत्[2] ।
शिरः पूर्वोत्तरे दद्याच्छिखां पश्चिमदक्षिणे ॥११४॥

पश्चिमोत्तरदिङ्मध्ये कवचं विन्यसेद्धरेः ।
अग्रतः केसरोद्देशे नेत्रं दिक्ष्वस्त्रराट् तथा ॥११५॥

इति **नारदपञ्चरात्र**वचनाच्चेति । अत्र पूर्वोक्तवचनैर्देवाग्रं प्राचीं परिकल्प्य तदनुसारेणाग्नेयादिकं कल्पयित्वाङ्गानि पूजयेत् । आवरणदेवताश्चैवमेव पूजयेत् ।

महाकपिलपञ्चरात्रे—

शिरःप्रभृतिमन्त्रेषु पूजायां तु नमोऽन्तता ।
शिरोभिन्नेषु मन्त्रेषु होमे स्वाहान्तता भवेत् ॥११६॥

आवरणदेवतास्तत्तत्कल्पे वक्ष्यन्ते ।

विजयमालिनीतन्त्रे—

स्वे स्वे स्थाने स्वाभिमुखान् पूजयेत्प्रोक्षणादिभिः ।

अभिमुखान् देवस्य श्रीविद्यावरणपूजायां **दक्षिणामूर्त्तिसंहितायां** 'श्रीविद्या सम्मुखीः स्मरेत्' इत्युक्तेः । तथा—

सिद्धेश्वरीतन्त्रे—

अधृष्यश्च समर्थश्च मार्त्तण्डः स्वमरीचिभिः ।
तद्वदङ्गैर्निजैर्देवो ध्यातव्यः स्वमरीचिभिः ॥११७॥

तूर्णयागे—

देवीं ध्यात्वा तच्छरीरान्मयूखनिकरं बहिः ।
विनिःसृत्य स्थिरीभूतं परिवारं विचिन्तयेत् ॥११८॥

अभ्यर्च्यावरणं त्वाद्यं मूलमुच्चार्य मन्त्रवित् ।
सम्पूज्य देवीं सम्बोध्य वदेन्मन्त्रमिमं ततः ॥११९॥

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले ।
भक्त्या समर्प्पये तुभ्यम्प्रथमावरणार्चनम् ॥१२०॥

१. ख. पूर्वयाभ्यन्तरे ।   २. ख. विनिवेशयेत् ।

इति पुष्पाञ्जलिं दत्वा प्रणमेदतिभक्तितः ।
प्रत्यावरणमेवन्तु तत्तन्नाम्ना समर्पयेत् ॥१२१॥

इत्थमावरणं सम्यगभ्यर्च्य मनुवित्तमः ।
अन्ते यजेल्लोकपालांस्तेषामस्त्राणि च क्रमात् ॥१२२॥

इन्द्रं सुराधिपम्पीतं वज्रहस्तं सवाहनम् ।
अग्निं तेजोऽधिपं रक्तं शक्तिहस्तं सुभूषणम् ॥१२३॥

यमं प्रेताधिपं कृष्णं दण्डहस्तं समर्चयेत् ।
रक्षोधिपं च निर्ऋतिं खड्गहस्तं सुधूम्रकम् ॥१२४॥

पाशहस्तं सुशुभ्राङ्गं वरुणं यादसाम्पतिम् ।
वायुम्प्राणाधिपं धूम्रमङ्कुशाढ्यकरं यजेत् ॥१२५॥

[1]यक्षःपतिं कुबेरं च शुक्लवर्णं गदाकरम् ।
विद्याधिपं तथेशानं स्वच्छं शूलकरं यजेत् ॥१२६॥

नागाधिपं तथानन्तं गौरं चक्रकरं यजेत् ।
लोकाधिपं विधातारं रक्तं पद्मकरं यजेत् ॥१२७॥

ऐरावतं तथा मेषं महिषं मृतपूरुषम् ।
मकरं मृगमत्स्यौ च वृषं च विपहंसकौ[3] ॥१२८॥

इन्द्रादिलोकपालानां वाहनानि विदुर्बुधाः ।
वज्रं पीतं सितां शक्तिं[2] दण्डं कृष्णं समर्चयेत् ॥१२९॥

खड्गमाकाशसङ्काशं पाशं विद्युन्निभं यजेत् ।
अङ्कुशं रक्तवर्णं च शुक्लवर्णां गदां यजेत् ॥१३०॥

त्रिशूलं नीलवर्णं च यजेन्मन्त्री ततः परम् ।
रथाङ्गं करवन्दाभं पद्मं रक्तं समर्चयेत् ॥१३१॥
लोकपालायुधान्येवं क्रमेण परिपूजयेत् ।

अत्र केचित्—

अन्ते यजेल्लोकपालान्मूलपारिषदान्वितान् ।
हेतिजात्यधिपोपेतान् दिक्षु पूर्वादितः क्रमात् ॥१३२॥

---

१. ख. वक्षःपति । २. खः सिंक्ति । ३. अत्र 'विप' स्थाने 'विष' अथवा 'द्विप' शब्दोऽपि संभाव्यः ।

इतिशारदातिलकवचनात् । यथास्थितपूर्वादिदिक्ष्विन्द्रादिपूजनमिति वदन्ति । तन्न । चतुरायतनदेवतास्थापनप्रकरणोक्तः[1] सर्वेषामावरणानां देवताग्रत आरम्भाल्लोकपालावरणस्याप्यावरणत्वाच्च । कल्पितप्राच्यनुसारेणैव पूजनं युक्तमिति प्रतिभाति विचारत इति ।

पुनर्मूलं समुच्चार्य साङ्गायै सपरीति च ।
वारायै नाम देव्याश्च चतुर्थ्यन्तमुदीर्य च ।।१३३।।

*नम इत्यर्चयेद् गन्धपुष्पाद्यैः साधकस्त्रिधा ।
ततो यजेद्धूपदीपनैवेद्यैः सुमनोहरैः ।।१३४।।

प्रपञ्चसारे—

सगुग्गुल्वगुरूशीरसिताज्यमधुचन्दनैः ।*
सारांगारविनिक्षिप्तैर्मन्त्री नीचैः प्रधूपयेत् ।।१३५।।

कुलमूलावतारे—

शैलेयं मलयोद्भवं जतुनखं सर्जं च कुष्ठं समं,
[2]सल्पाख्यागुरुयुक् जटा द्विगुणिता प्रत्येकसंचूर्णितम् ।
षड्भागा वरमाक्षिकस्य सुसिता चाथाष्टभागान्विता,
धूपोऽयं भुवि शङ्करेण कथितः श्रीसुन्दरीवल्लभः ।।१३६।।

[मुस्ता तथेन्दुर्भूतेशः शर्कराया ददेत्त्रयम् ।
इत्येषोऽनन्तधूपश्च कथितो देवसत्तम ।।१३७।।

तथा—

कृष्णागुरुं सिल्लकं च वालकं वृषणं तथा ।
चन्दनं तगरं मुस्ता प्रबोधः शर्कराम्वितः ।।१३८।।

तथा—

कर्पूरं चन्दनं कुष्ठमुशीरं सिह्लकं तथा ।
ग्रन्थिकं वृषणं भीमा कुङ्कुमं गृञ्जनं तथा ।।
हरीतकी यथोशीरं यक्षधूप उदाहृतः ।

१. ख० प्रकरणोक्तयुक्तेः । *—* चिह्नान्तःस्थोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके । २.ख.सिल्पाख्या० ।

तथा—

वृषणं सिह्लकं बिल्वं श्रीखण्डमगुरुं तथा ।
कर्पूरं च तथा मुस्ता शर्करा सत्वचा द्विज ॥१४०॥
इत्येष विजयो धूपः स्वयं देवेन निर्मितः ।

वृषणं कस्तूरिकेति **समयप्रदीपः ।**

तिथितत्वे कालिकापुराणे—

मधु मुस्ता घृतं गन्धो गुग्गुल्वगुरुशैलजम् ।
सरलं सिद्धसिद्धार्था दशाङ्गो धूप इष्यते ॥१४१॥

मदनरत्ने—

षड्भागकुष्ठं द्विगुणो गुडश्च,
लाक्षात्रयं पञ्च नखस्य भागाः ।
हरीतकी सर्जरसश्च मांसी,
भागैकमेकं त्वथ शैलजस्य ॥१४२॥
घनस्य चत्वारि पुरस्य चैकं,
धूपो दशाङ्गः कथितो मुनीन्द्रैः ।

भविष्ये—

अगुरुं चन्दनं मुस्ता सिह्लकं वृषणन्तथा ।
समभागं तु कर्त्तव्यं धूपोऽयममृताह्वयः ॥१४३॥

तथा—

श्रीखण्डं ग्रन्थिसहितमगुरुं सिह्लकं तथा ।]

शैवागमे—

धूपभाजनमस्त्रेण प्रोक्ष्याभ्यर्च्य हृदाणुना ।
अस्त्रेण पूजितां घण्टां वादयन् गुग्गुलुं दहेत् ॥१४४॥

अन्यत्रापि—

ततः समर्पयेद्धूपं घण्टावाद्यजयस्वनैः ।

नारदपञ्चरात्रे—

आवाहनेऽर्घे धूपे च पुष्पनैवेद्ययोजने ।
नित्यमेव प्रयुञ्जीत तन्मन्त्रामन्त्रितामपि ॥१४५॥

[—] कोष्ठबद्धोंऽशः क. पुस्तके नास्ति ।

चकाराद् दीपेऽपि ।[1]

तथा—

पूजाकालं विनाऽन्यत्र हितं नास्याः प्रचालनम् ।
नानया च विना पूजां कारयेत्सिद्धिलालसः ॥१४६॥

दद्यात्तारावसाने च जगद्ध्वनिपदं ततः ।
मन्त्रमताः पदं चैव स्वाहाक्षरसमन्वितम् ॥१४७॥
एकादशाक्षरो मन्त्रो घण्टायाः सर्वसिद्धिदः ।

उद्धारः सुगमः ।

ज्ञानमालयाम्—

सर्वनादप्रिया देवा नैकः कर्त्तुं च तान् क्षमः ।
सर्वनादमयी घण्टा रवात्मा सर्वनादकृत् ॥१४८॥

[2]पदार्थादर्शे—

धूपस्थानं समभ्यर्च्य तर्ज्जन्या वामया स्पृशन् ।
सङ्कल्प्यैव ततः पुष्पाञ्जलिं दत्वा प्रसम्पठेत् ॥१४९॥

बह्वृचपरिशिष्टे—

धूपस्तु व्यजनेनैव धूपेनाङ्गविधूपनम् ।

कालिकापुराणे—

वामतस्तु तथा धूपमग्रे वा न तु दक्षिणे ।
न धूपं वितरेद्भूमौ नासने न घटे तथा ॥१५०॥

यथा तथाधारगतं कृत्वा तं विनिवेदयेत् ।
मेदोमज्जासमायुक्तान्न धूपान्विनिवेदयेत् ॥१५१॥
न यक्षधूपं वितरेन्माधवाय कदाचन ।

यक्षधूपस्तु राल इति लोके प्रसिद्धः । विष्णुः-धूपार्थे न जीवजातमिति ।

---

१. इतः परं ख. पुस्तके विशेषः—
विष्णुधर्मे—यस्तु वादयते घण्टां वैनतेयेन चिह्निताम् ।
धूपे नीराजने स्नाने पूजाकाले विलेपने ॥

२. इतः पूर्वमंशोऽयं विशेषः ख. पुस्तके—
सर्ववाद्यमयी घण्टा देवदेवस्य वल्लभा ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन घण्टानादं तु कारयेत् ॥
शब्दब्रह्ममयी घण्टा हस्तोत्सेधप्रमाणिका ।

तन्त्रान्तरे—

मध्यमानामिकाभ्यान्तु मध्यपर्वणि देशिकः ।
अङ्गुष्ठाग्रेण देवेशि धृत्वा धूपं निवेदयेत् ॥१५२॥

प्रपञ्चसारे—

गोसर्पिषा वा तैलेन वर्त्या च लघुगर्भया ।
दीपितं सुरभिं शुभ्रं दीपमुच्चैः प्रदर्शयेत् ॥१५३॥

वा शब्देनोभयोरमिश्रणमुक्तम् ।

न मिश्रीकृत्य दद्यात्तु दीपे स्नेहान् घृतादिकान् ।
कृत्वा मिश्रीकृतं स्नेहं तामिस्रं नरकं व्रजेत् ॥१५४॥

इति कालिकापुराणवचनात् ।

प्रयोगसारे—

तैलेन कपिलाज्येन सिक्थकेनापरेण च ।
स्नेहेन वर्त्तिसंयुक्तं दीपमुच्चैः प्रदर्शयेत् ॥१५५॥

तूर्णायागे—

पारावतभ्रमाकारं दीपं नेत्रादि दर्शयेत् ।
दक्षिणे सर्पिषा दीपं तिलतैलेन वामतः ॥१५६॥
सिता वर्त्तिर्दक्षिणतो रक्ता वर्त्तिस्तु वामतः ।

कालिकापुराणे—

वृक्षेषु दी दातव्यो न तु भूमौ कदाचन ।
कुर्वंस्तु पृथिवीतापं यो दीपमुत्सृजेन्नरः ॥१५७॥
स ताम्रतापं नरकमाप्नोत्येव शतं समाः ।

रुद्रयामले—

नैव निर्वापयेद्दीपं साधकस्तु कदाचन ।
यस्तु निर्वापयेद्दीपं तस्य लक्ष्मीर्विनश्यति ॥१५८॥

कूष्माण्डच्छेदिका नारी दीपनिर्वापकः पुमान् ।
विधवा च दरिद्रश्च भवेत् सप्तसु जन्मसु ॥१५९॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

पाद्यमाचमनीयं च दत्वा नैवेद्यमर्पयेत् ।

नैवेद्यदानपात्राणि तु—

यामले—

तैजसेषु तु पात्रेषु सौवर्णे राजते तथा ।
ताम्रे वा प्रस्तरे वापि पद्मपत्रेऽथवा पुनः ॥१६०॥

यज्ञदारुमये वापि नैवेद्यं कल्पयेद्बुधः ।
सर्वाभावे च माहेयं स्वहस्तघटितं यदि ॥१६१॥[1]

सनत्कुमारकल्पे—

इत्थं कृष्णं समभ्यर्च्य पञ्चावरणसंयुतम् ।
कदलीदलसंयुक्तं पायसं विनिवेदयेत् ॥१६२॥

सारसङ्ग्रहे—

सघृतं पायसं शुद्धं सुपक्वं श्रद्धया सह ।
शर्करादधिसंयुक्तं सोपदंशं समोचकम् ॥१६३॥
सुसंस्कृत्य विधानेन नैवेद्यं तु समर्पयेत् ।

ज्ञानार्णवे—

शुद्धस्फटिकशं(सं)काशं चन्द्ररश्मिसमप्रभम् ।
लसत्सुवर्णजे पात्रे चारु मृद्वोदनं प्रिये ॥१६४॥

हिङ्गुजीरमरीचाद्यैरार्द्रकै रचितः शुभः ।
वटकः कुङ्कुमाकारः पायसं हेमसन्निभम् ॥१६५॥

दुग्धमावर्त्तितं सम्यक् शर्करासारपूरितम् ।
कपिलाघृतसंयुक्तं भूर्जत्वक्शोभिमण्डकाः॥१६६॥

शर्करा [1]फाणिताश्चैव सूपं मुद्गोद्भवं तथा ।
नानाविधानि पेयानि व्यंजनानि बहूनि च ॥१६७॥

सारसङ्ग्रहे—

निधाय स्वर्णजे पात्रे साधारं तच्च मण्डले ।
संस्थाप्य चतुरश्रे च[2] संस्कुर्याच्छास्त्रमार्गतः ॥१६८॥

---

१. ख. अतः परमयं विशेषः—पात्रप्रमाणन्तु—
देवीपुराणे—षट्त्रिंशदङ्गुलं पात्रमुत्तमं परिकीर्त्तितम् ।
मध्यमं तु त्रिभागोनं कनिष्ठं द्वादशाङ्गुलम् ॥
वस्वङ्गुलविहीनं तु न पात्रं कारयेत् क्वचित् ।

१. ख. फणिताश्चैव । २. ख. य ।

अस्त्रमन्त्रेण सम्प्रोक्ष्य चक्रमुद्राभिरक्षितम् ।
वायुबीजेन संशोष्य वह्निबीजेन तं दहेत् ॥१६९॥
स्पृशन् दक्षकराग्रेण सुधाबीजेन मन्त्रवित् ।
अमृतीकृत्य तत्सर्वं मूलमन्त्रेण तत्पुनः ॥१७०॥
स्पृशन् कराभ्यां विधिवदष्टधा चाभिमन्त्रयेत् ।
धेनुमुद्रां प्रदर्श्याथ गन्धपुष्पैः समर्चयेत् ॥१७१॥
देवमभ्यर्च्य कुर्यात्तु पुष्पाञ्जलिमनन्यधीः ।
हेमपात्रस्थितं दिव्यं परमान्नं सुसंस्कृतम् ॥१७२॥
पञ्चधा षड्रसोपेतं गृहाण मम सिद्धये ।
मूलमन्त्रं समुच्चार्य स्वाहान्तं जलमर्पयेत् ॥१७३॥
कराभ्यां तत्समुद्धृत्य पूजितं च सुधात्मकम् ।
निवेदयामि भवते सानुगाय जुषाण तत् ॥१७४॥
सर्वपूजासु तन्नाम्ना नैवेद्यस्य मनुस्त्वयम् ।
प्राणसंज्ञस्तथाऽपानो व्यानोदानमनू ततः ॥१७५॥
समानो ङेयुताः सर्वे प्रणवाद्या द्विठान्तकाः ।
पञ्चमन्त्रा भवन्तीह क्रमेण परिकीर्त्तिताः ॥१७६॥

प्राणादीनां मुद्रास्तु वक्ष्यन्ते । नैवेद्यसंस्कारस्तन्निवेदनप्रकारश्चाग्रे प्रयोगे वक्ष्यते ।

स्मृतिसमुच्चये—

त्रिषु वर्णेषु दातव्यं विष्णवे पाकभोजनम् ।
खण्डाज्यादिकृतं पाकं न दूष्येच्छूद्रजन्मनः ॥१७७॥

श्राद्धकल्पे—

शूद्रैस्त्वामान्नेनैव दशाहिकं पिण्डं देयमित्युक्तं, तेन देवतानैवेद्यमप्यामान्नेनैव देयं तुल्यन्यायादिति ।

अथासनादिमुद्राः । तत्र

लक्षणसङ्ग्रहे—

आसने पद्ममुद्रा स्यद्धस्तद्वयमधोमुखम् ।
मुद्रैषा कुशलप्रश्ने तदेवोर्द्ध्वमुखं पुनः ॥१७८॥
मुद्रा स्यात्स्वागते पाद्यमुद्रा चाञ्जलिरुच्यते ।
अनामाङ्गुष्ठयोगात्सा प्रोक्ता चार्घस्य मुद्रिका ॥१७९॥

उत्तानं दक्षहस्तं तु कृत्वा निम्नतलं सुधीः ।
कनिष्ठहीनाः संयुक्ताश्चतस्रोऽङ्गुल्य उन्नताः ॥१८०॥

मुद्रैषाऽऽचमने प्रोक्ताऽधोमुखी सा त्वनामया ।
स्पृष्टाङ्गुष्ठा भवेन्मुद्रा मधुपर्के वरानने ॥१८१॥

अधोमुखी दक्षहस्तकृता मुष्टिः कनिष्ठया ।
विमुक्ता स्नानमुद्रैषा गदिता परमेश्वरि ॥१८२॥

उत्तानं दक्षिणं हस्तं कृत्वा तन्मध्यमां पुनः ।
अङ्गुष्ठेन स्पृशेदेषा मुद्रा वस्त्रस्य कीर्त्तिता ॥१८३॥

एषैवाऽनामिकास्पर्शान्मुद्रा भूषणसंज्ञिका ।
कनिष्ठास्पर्शतो ह्येषा उपवीतस्य मुद्रिका ॥१८४॥

ज्येष्ठाग्रेण कनिष्ठाग्रं स्पृशेद् गन्धस्य मुद्रिका ।
अधोमुखं करं कृत्वा तर्जन्यग्रे तु योजयेत् ॥१८५॥

अङ्गुष्ठाग्रं तु मुद्रेयं पुष्पाख्या परमेश्वरि ।
अङ्गुष्ठाग्रेण तर्जन्याः स्पृशेदग्रं महेश्वरि ॥१८६॥

धूपमुद्रेयमाख्याता सर्वदेवप्रिया शिवे ।
ज्येष्ठाग्रेण स्पृशेदग्रं मध्यमायाः सुरार्चिते ॥१८७॥

दीपमुद्रेयमुदिता सर्वदेवप्रिया शिवे ।
अनामाग्रं स्पृशेद्देवि ज्येष्ठाग्रेण तु देशिकः ॥१८८॥
नैवेद्यमुद्रा कथिता देवानां तृप्तिदायिनी ।

नारदपञ्चरात्रे—

ग्रासमुद्रां सव्यहस्ते प्रफुल्लकमलाकृतिम् ।
दर्शयेत्पञ्चवायूनामन्यहस्तेन दर्शयेत् ॥१८९॥

कनिष्ठानामिके सम्यगङ्गुष्ठाग्रेण योजयेत् ।
प्राणमुद्रा समाख्याता प्रथमं दर्शयेदिमाम् ॥१९०॥

योजयेत्तर्जनीमध्यामपानस्याथ मुद्रिका ।
मध्यमानामिके तद्वद्व्यानमुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥१९१॥

तर्जनीमध्यमानामास्तद्वन्मुद्रा तुरीयका ।
सर्वाभिरङ्गुलीभिश्च पञ्चमी मुद्रिका मता ॥१९२॥

स्वकीयैर्मनुभिर्युक्ताः पञ्चमुद्राः प्रकीर्त्तिताः ।
प्राणसंज्ञस्तथाऽपानो व्यानोदानमनुस्ततः ॥१९३॥

समानसंयुताः सर्वे प्रणवाद्या द्विठान्तिकाः ।
पञ्चमुद्रा भवन्तीह क्रमणैवं समीरिताः ॥१९४॥

ज्ञानार्णवे—

संकल्प्य परमेशान्यै नित्यहोमविधिं चरेत् ।

संकल्प्य नैवेद्यम् ।

सारसङ्ग्रहे—

इत्थं तु संस्कृते वह्नौ देवमावाह्य मन्त्रवित् ।
सम्पूज्य मूलमनुना पञ्चविंशतिमाहुतीः ॥१९५॥

हुनेदाज्येन हविषा तिलैर्वा पायसैः शुभैः ।
तण्डुलैस्तिलमिश्रैर्वा केवलैर्वाथ पुष्पकैः ॥१९६॥

[1]अङ्गावरणदेवानामेकैकामाहुतिं हुनेत् ।
उद्वास्य देवं वह्निं च पूजास्थानं यजेत्ततः ॥१९७॥

उपविश्यासने मन्त्री दद्याद् भूतबलिं ततः ।
ईशाने मण्डलं कृत्वा साधारं तत्र निक्षिपेत् ॥१९८॥

अन्नव्यञ्जनतोयाढ्यपात्रं पुष्पादिपूजितम् ।
ध्यात्वा भूतानि सम्पूज्य ततस्तेभ्यो बलिं हरेत् ॥१९९॥

भूतानां ध्यानं प्रागेव पीठपूजाप्रकरणे प्रोक्तम् । बलिमन्त्रो बल्युत्सर्गप्रकारश्च प्रयोगे वक्ष्यते । 'उद्वास्य पूजाचक्रे देवं स्वात्मनि वह्निं चे'ति अग्निसंस्कारो दीक्षाप्रकरणे वक्ष्यते । ततोऽपि संक्षेपप्रकारः प्रयोगे वक्ष्यते—

वसिष्ठः—

अग्न्याधानादिकं कर्म नित्यहोमे न विद्यते ।

नारदीये—

पुनराचमनं दद्यात् करोद्वर्त्तनमेव च ॥२००॥

पुनराचमनं, उत्तरापोशनं, चकाराद् गण्डूदन्तशोधनादीन्युक्तानि—

---

१. ख. इतः पूर्वमयं पाठो विशेषः—
तन्त्रराजे—सर्वत्र नित्यहोमन्तु कुर्यादन्नाज्यतोऽपि वा ।
तिलतण्डुकैर्वापि प्रोक्तद्रव्यानुदीरणे ॥

प्रपञ्चसारे—

पुनर्निवेद्यमुद्धृत्य पुरोवत् परिपूज्य च ।
सुमुखवासादिकं दत्वा............।।२०१।। इति ।

नारायणीये—

सकर्पूरं च ताम्बूलं दद्यान्नीराजनं तथा ।
समर्प्य मुकुटादीनि भूषणानि विचक्षणः ।।२०२।।
आदर्शयेत्तथाऽऽदर्श कल्पयेच्छत्रचामरे ।

अगस्त्यः—

कर्पूरशकलोन्मिश्रं नागवल्लीदलैर्युतं ।
सुधाबिन्दुसमायुक्तं पूगीफलं मनोहरम् ।।२०३।
ताम्बूलं रघुनाथाय दत्त्वा कामानवाप्नुयात् ।

सुधाबिन्दुश्चूर्णम् । **नीराजनमाह—**

सोमशम्भुः—

शिवस्यारोप्य देवस्य दूर्वाक्षतपवित्रकम् ।
इति । अत्र नीराजनशब्देनारात्रिकमप्युच्यते । तत्र

ज्ञानार्णवे—

आरात्रिकं ततः कुर्यात्सर्वकामार्थसिद्धये ।
सौवर्णे राजते कांस्ये लोकनेत्रमनोरमम् ।।२०४।।

कुङ्कुमेन लिखेत्पद्मं वसुपत्रं वरानने ।
दीपमेकं कर्णिकायां वसुपत्रेऽष्टदीपकान् ।।२०५।।

यवगोधूमरचिताञ्छर्करादुग्धसंयुतान् ।
वलयाञ्चितशोभाभिः शोभितान् घृतपूरितान् ।।२०६।।

अभिमन्त्र्य ततो मन्त्री रत्नेश्वर्या ततः परम् ।
मूलमन्त्रेण चाभ्यर्च्य ततश्चारात्रिकं चरेत् ।।२०७।।

तत्पात्रं तु समुद्धृत्य मस्तकान्तं पुनः पुनः ।
नववारं महादेव्यास्ततो नीराजनं चरेत् ।।२०८।।

आरात्रिके महादेव्याश्चक्रमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
श्रीबीजं च पराबीजं संलिखेन्मन्त्रवित्तमः ।।२०९।।

गसौचमपनान् पश्चादिन्द्रस्थान् क्रमतो लिखेत् ।
वामकर्णसमायुक्तान् बिन्दुनादविभूषितान् ॥२१०॥

बीजपञ्चकमेतद्धि पञ्चरत्नमुदीरितम् ।
पूर्वबीजे विलोमेन रत्नेशीयं नवाक्षरी ॥२११॥

पराबीजं भुवनेश्वरीबीजम्, गसौचमपना इति गकार-सकार-मकार-पकार-नकाराः । एते प्रत्येकं लकारोपरि स्थिताः । ऊकारबिन्दुनादयुक्ताः पञ्चरत्नबीजानि भवन्ति । तानि तु—

"ग्लूं स्लूं म्लूं प्लूं न्लूं" इति । पूर्वबीजे विलोमेन मायाश्रीक्रमेण ।

पदार्थादर्शे—

आरात्रिकं तु विषमं बहुवर्त्तिसमन्वितम् ।[1]

कात्यायनीतन्त्रे—

इत्थमारात्रिकं कृत्वा प्रणम्य परदेवताम् ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा मूलमन्त्रेण साधकः ॥२१२॥

न्यासं कृत्वा यथापूर्वं ध्यात्वा देवीं हृदम्बुजे ।
मूलमन्त्रं यथाशक्ति जपेत्तद्गतमानसः ॥२१३॥

श्रीकुलार्णवे—

ग्रथित्वा मातृकावर्णैर्मूलमन्त्राक्षराणि च ।
क्रमोत्क्रमात्त्रिरावृत्या मन्त्रशुद्धिरितीरिता ॥२१४॥

शारदातिलके—

सहस्रकृत्वः संजप्य[2] मूलमन्त्रमनन्यधीः ।
तं जपं सर्वसम्पत्त्यै देवतायै समर्पयेत् ॥२१५॥

नित्यहोमकालान्तरमाह—

दक्षिणामूर्त्तिः—

यथाशक्ति जपं कृत्वा नित्यहोमं समाचरेत् ।

---

१. ख. अयमंशो विशेषः—
मन्त्रमहोदधौ—ततो लवणमुत्तार्य कुर्यादारात्रिकं सुधीः ।

२. ख. संजप्य ।

शैवागमे—

अष्टोत्तरसहस्रं तु तदर्द्धं त्रिशतं तु वा ।
अष्टोत्तरशतं वापि जपेन्नित्यमतन्द्रितः ॥२१६॥

जपो जपसमर्पणप्रकारश्च पुरश्चरणप्रकरणे वक्ष्यते ।

तथा—

इत्थं जपं समर्प्याथ घण्टावादनपूर्वकम् ।
स्तुवीत स्तुतिभिः सम्यक् साधको भक्तिसंयुतः ॥२१७॥

उत्तरतन्त्रे—

पौराणिकैर्वैदिकैश्च मूलमन्त्रेण चैव हि ।
प्रदक्षिणां प्रणामं च कुर्याद्धर्मार्थसाधकम् ॥२१८॥

[१]एकां चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्याद्विनायके ।
चतस्रः केशवे दद्यात् शिवे त्वर्धम्प्रदक्षिणम् ॥२१९॥

पूर्वं प्रदक्षिणं प्रणामं च कुर्यादिति वाक्ये प्रणाम उक्तः स द्विविधः- अष्टाङ्गः पञ्चाङ्गश्च । तथा च—

सारसङ्ग्रहे—

सोऽष्टाङ्गश्चाथ पञ्चाङ्गः पूजाकर्मसु सम्मतः ।
हस्ताभ्यां चरणाभ्यां च जानुभ्यां वक्षसा तथा ॥२२०॥

मूर्द्धना दृष्ट्या तथा वाचा चित्तेनाऽष्टाङ्ग ईरितः ।
हस्तजानुशिरोवाक्यधीभिः पञ्चाङ्ग ईरितः ॥२२१॥

उत्तरतन्त्रे—

ततः क्षमापयेन्मन्त्रैर्वक्ष्यमाणैर्महेश्वरीम् ।

क्षमापनमन्त्राः प्रयोगे वक्ष्यन्ते । अत्र पौराणिकैर्वैदिकैरिति त्रैवर्णिकपरं, मूलमन्त्रेणेति शूद्रपरं ज्ञेयं, शूद्राणां पौराणिकादिस्तवपाठेऽपि निषेधात् । यदुक्तम्-

कालिकापुराणे—

मोहाद्वा कामतः शूद्रः पुराणं संहितां स्मृतिम् ।
पठन्नरकमाप्नोति पितृभिः सह पापकृत् ॥२२२॥

इति । पञ्चरात्राणां तु श्रवणेऽपि नाधिकारः । यदुक्तम्—

---

१. ख. "तन्त्रान्तरे" इत्ययं विशेषः ।

नारदपञ्चरात्रे—

ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्पञ्चरात्रं विधीयते ।
शूद्रादीनां न तच्छ्रोत्रपदवीमधिरोहति ॥२२३॥

शैवागमे—

अर्घ्यपात्रं समुद्धृत्य मूलमुच्चार्य मन्त्रवित् ।
साधु वाऽसाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया ॥२२४॥

तत्सर्वं भगवञ्शम्भो गृहाणाराधनम्परम् ।
इत्यर्घोदकमुत्सृज्य किञ्चिद्देवस्य दक्षिणे ॥२२५॥
करे समर्प्पयेद्विद्वान् कृतमाराधनं शिवे ।

श्रीकुलार्णवे—

कृतार्चनादिकं सर्वं समन्त्रोदपुरःसरम् ॥
इतः पूर्वादिमनुना देवतायै समर्पयेत् ॥२२६॥

सारसंग्रहे—

वदेदितः परं पूर्वं प्राणबुद्धि ततो वदेत् ।
देहधर्माधिकारं चातो जाग्रत्स्वप्नसुष्विति ॥२२७॥

वदेत् प्त्यवस्थासु मनसा वाचा पदमुच्चरेत् ।
कर्मणा चैव हस्ताभ्यां पद्भ्यामुक्त्वोदरेण च ॥२२८॥

वदेच्छिश्ना च यच्छब्दं स्मृतं यत्पदमुच्चरेत् ।
उक्तं च यत्कृतं तच्च सर्वं ब्रह्मार्पणम्भवतु ॥२२९॥
स्वाहान्तश्चैव सम्प्रोक्तो ब्रह्मार्पणमनूत्तमः

मंत्रः प्रयोगे स्पष्टयितव्यः ।

सनत्कुमारः—

उद्वासयेत्ततो देवं परिवारगणैः सह ॥२३०॥

प्रपञ्चसारे—

स्तुत्वेन्दुखण्डपरिमण्डितमौलिमेव-
।मुद्वासयेत्पुनरमुं हृदयाम्बुजे स्वे ॥

शिवरहस्ये—

रश्मिरूपा महेशस्य पूजिता याश्च देवताः ।
श्रीशिवाङ्गे विलीनास्ताः सन्तु सर्वशुभावहाः ॥२३१॥

इति पुष्पाञ्जलिं दत्वा प्रणम्य परिभावयेत् ।
देवस्याङ्गे विलीनं तद्रश्मिवृन्दमशेषतः ॥२३२॥
तेजोरूपं शिवं ध्यात्वा क्षमस्वेति पुनः पुनः ।
क्षमाप्याऽरोपयेत्स्वीयहृदम्भोजे महेश्वरि ॥२३३॥
गच्छ गच्छ परं स्थानं स्वस्थानम्परमेश्वर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा न विदुः परमम्पदम् ॥२३४॥
विसृज्याऽनेन मन्त्रेण ततः पूरकवायुना ।
ध्यायंस्तु मन्त्रेणानेन नत्वा तं स्थापयेद्धृदि ॥२३५॥
तिष्ठ तिष्ठ परे स्थाने स्वस्थाने परमेश्वर ।
यत्र ब्रह्मादयः सर्वे सुरास्तिष्ठन्ति मे हृदि ॥२३६॥

विसृजेत्संहारमुद्रया ।

संहारमुद्रां बद्ध्वाऽथ तेजोरूपां महेश्वरीम् ।
विभाव्य पुष्पेनोद्धृत्य वहछ्वासाध्वना शिवे ॥२३७॥
प्रवेश्य द्वादशान्तस्थसहस्रारसरोरुहे ।
विश्राम्य मध्यनाड्या तामानीय हृदयाम्बुजे ॥२३८॥
संस्थाप्य सम्यक् सम्पूज्य स्वात्मानं तन्मयं स्मरेत् ।

इतिहंसपारमेश्वरवचनात् ।

कुलमूलावतारे—

ऐशान्यां मण्डलं कुर्याद् द्वारपद्मविवर्जितम् ।
विसर्जनार्थं निर्माल्यधारिण्याः पूजनाय वै ॥२३९॥
निक्षिप्य तस्मिन्निर्माल्यं मन्त्रेण तु समर्चयेत् ।
चण्डेश्वरीं महादेवि निर्माल्यैश्चन्दनादिभिः ॥२४०॥
लेह्यचोष्यान्नपानादिनिर्माल्यस्रग्विलेपनम् ।
निर्माल्यभोजिन्यै तुभ्यं ददामि श्रीशिवाज्ञया ॥२४१॥
इति नैवेद्यशेषं तु दत्वा नत्वा विसर्जयेत् ।

गणेश्वरपरामर्शिन्याम्—

लम्बोदराय निर्माल्यमैशान्यां मण्डले न्यसेत् ।

सम्मोहनपञ्चरात्रे—

विष्वक्सेनाय निर्माल्यं नैवेद्यं च निवेदयेत् ॥२४२॥

शैवागमे—

पूर्वोत्तरदिशि प्राज्ञश्चण्डेशं मण्डलेऽर्चयेत् ।
देवदेवस्य निर्माल्यैर्ध्यायंस्तं चन्द्रशेखरम् ॥२४३॥

वामदेवतन्त्रे—

तेजश्चण्डोऽस्य निर्माल्यभोक्ता देवेशि तत्ततः ।
तस्मै समर्पयेन्नित्यं नाजिघ्रेन्नाक्रमेच्च तत् ॥२४४॥

उत्तरतन्त्रे—

ततो भास्करबीजेन सहितेनामुना पुनः ।
मन्त्रेण भास्करायार्घमच्छिद्रार्थं निवेदयेत् ॥२४५॥

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे ।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने ॥२४६॥

ततः कृताञ्जलिर्भूत्वा पठित्वा मन्त्रमीरितम् ।
एकाग्रमनसा वाग्भिराच्छिद्रमवधारयेत् ॥२४७॥

ॐ यज्ञच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं पूजने मम ।
सर्वं तदच्छिद्रमस्तु भास्करस्य प्रसादतः ॥२४८॥

भास्करबीजं त्र्यक्षरमन्त्रः, स मन्त्रस्तत्प्रकरणे वक्ष्यते ।

विजयमालिनीतन्त्रे—

अर्घतोयेन देवेशि गन्धं पूजावशेषितम् ।
आलोड्य किञ्चिन्मूलेन मन्त्रयेदष्टधा शिवे ॥२४९॥

प्रोक्षयेत्तेन तोयेन स्वात्मानं मूलमन्त्रत. ।
निर्माल्यं मस्तके धार्यं मूलमन्त्रेण मन्त्रिणा ॥२५० ।

प्राश्य पादोदकं देवि नैवेद्यं विभजेत्प्रिये ।
तद्भक्तेभ्यः स्वयं भुक्त्वा तन्मयो विहरेत्सुखम् ॥२५१॥

ननु शिवादिप्रसादस्वीकारे निषेधः श्रूयते[1]—

पवित्रं विष्णुनैवेद्यं सुरसिद्धर्षिभिः स्मृतम् ।
अन्यदेवस्य नैवेद्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥२५२॥

---

१. ख. 'बह्वृचपरिशिष्टे' इत्यंशो विशेषः ।

अग्राह्यं शिवनिर्माल्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
सालग्रामशिलास्पर्शात्सर्वं याति पवित्रताम् ॥२५३॥

इति । अस्य निषेधस्याऽशुचिपरत्वाच्छुचिना ग्राह्य एव । तथा च—

स्कन्दपुराणे—

ब्रह्महापि शुचिर्भूत्वा निर्माल्यं यस्तु धारयेत् ।
तस्य पापं महच्छीघ्रं नाशयिष्ये महाव्रते ॥२५४॥

स्नापयित्वा विधानेन यो लिङ्गस्नपनोदकम् ।
त्रिः पिबेत्त्रिविधम्पापं तस्येहापि प्रणश्यति ॥२५५॥

लिङ्गस्नपनवार्भिर्यः कुर्यान्मूर्धन्यभिषेचनम् ।
गङ्गास्नानफलं तस्य जायतेऽत्र विपाप्मनः ॥२५६॥ इति ।

तथा—

निर्माल्यं हि तु यो भक्त्या शिरसा धारयिष्यति ।
अशुचिर्भिन्नमर्यादो नरः पापसमन्वितः ॥२५७॥

नरके पतते घोरे तिर्यग्योनौ प्रजायते ।

इति च । किञ्च, अभेदज्ञानवतां न कोऽपि दोषः । तथा च—

वराहपुराणे—

विष्णुरुद्रान्तरं ब्रूयाच्छ्रीगौर्योरन्तरं तथा ।
नास्तिकानां हि मूर्खाणां वाक्यं शास्त्रविगर्हितम् ॥२५८॥

भविष्यत्पुराणे—

यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा ह्युमा ।
उमा यथा तथा गङ्गा चतूरूपं न भिद्यते ॥२५९॥

विष्णुरुद्रान्तरं यच्च श्रीगौर्योरन्तरं तथा ।
गङ्गागौर्योरन्तरं च यो ब्रूते मूढधीस्तु सः ॥२६०॥
रौरवादिषु घोरेषु नरकेषु पतत्यधः ।

भविष्योत्तरे—

यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः ।
महेश्वरः स्मृतः सूर्यः सूर्यः पावक उच्यते ॥२६१॥

पावकः कार्त्तिकेयोऽसौ कार्त्तिकेयो विनायकः ।
गौरी लक्ष्मीश्च सावित्री शक्तिभेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥२६२॥

देवं देवीं समुद्दिश्य यः करोति व्रतं नरः ।
न भेदस्तत्र मन्तव्यः शिवशक्तिमयं जगत् ॥२६३॥

पद्मपुराणे—

सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षापः सागरं यथा ॥२६४॥

एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीडया नामभिः किल ।
देवदत्तो यथा कश्चित्पुत्राद्याह्वाननामभिः ॥२६५॥

इति **विष्णुवचनम्—**

गीतासु—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

कालिकापुराणे—

फलं पुष्पं च ताम्बूलमन्नपानादिकं च यत् ।
अदत्वा तन्महादेव्यै न भोक्तव्यं कदाचन ॥२६६॥

पथि वा पर्वताग्रे वा सभायामपि साधकः ।
तथा तस्यै निवेद्यैव स्वमर्थमुपकल्पयेत् ॥२६७॥

नारदपञ्चरात्रे—

यत्किञ्चित्स्वयमश्नीयात् पुरो विप्रानिवेदितम् ।
विष्णोर्वाक्कायमनसा मूलं साष्टशतं जपेत् ॥२६८॥

इत्यनिवेदितभक्षणे प्रायश्चित्तमपि । तस्मादिष्टदेवतायै निवेद्यैव भक्षणीय-मित्यलम् ।[1]

तन्त्रान्तरे—

विक्षेपादथवाऽलस्याज्जपहोमर्चनान्तरा ।
उत्तिष्ठति तदा न्यासं षडङ्गं विन्यसेत्पुनः ॥२६९॥

तन्त्रान्तरे—

अबुद्धिपूर्वं विहिते निषिद्धे कर्मणि द्रुतम् ।
विद्यां जपेच्छतं तेन तत्पापान्मुच्यते ध्रुवम् ॥२७०॥

नित्यातिक्रमदोषाणां शान्त्यै विद्यां शतं जपेत् ।
नैमित्तिकातिक्रमणे सहस्रं प्रजपेत्तदा ॥२७१॥

---

१. निम्नांशोऽयमतः परं विशेषः ख. पुस्तके—

मन्त्रमहोदधौ—एवं यः पूजयेदेवं त्रिकालं धर्ममाचरेत् ।
न जातु वैरिभिर्दुःखैः पीड्यते हरिरक्षितः ॥१॥

हरिरित्युपलक्षणम् ।

त्रिकालपूजनाशक्तैः कार्यं द्विः सकृदप्यदः ।
विशेषेणार्चयेद्देवं सङ्क्रान्त्यादिषु पर्वसु ॥२॥
दशभिः पञ्चभिर्वापि पूजयेदुपचारकैः ।

याज्ञवल्क्यः—

विधिदृष्टं तु यत्कर्म करोत्यविधिना नरः ।
फलं न किञ्चिदाप्नोति क्लेशमात्रं हि तस्य तत् ॥२७२॥

नित्यपूजायां संक्षेपप्रकारस्तु प्रयोगे वक्ष्यते ।

उत्तरतन्त्रे—

प्रवासे पथि दुर्गे वा स्थानाप्राप्तौ जलेऽपि वा ।
कारागारनिबद्धो वा प्रायोवेशगतोऽपि च ॥२७३॥

मनोभये समुत्पन्ने सिंहव्याघ्रसमाकुले ।
परचक्रागमे चैव कुर्यान्मानसपूजनम् ॥२७४॥

मनसा हृदयस्यान्तर्ध्यात्वा योगाख्यपीठकम् ।
तत्रैव पृथिवीमध्ये पूजां तत्र समाचरेत् ॥२७५॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनकर्म वै ।
अन्यच्च सर्वं मनसा ध्यात्वा कुर्याच्च पूजनम् ॥२७६॥

यथा पुष्पादिभिः पूजा बहिर्देहे विधीयते ।
तथा हृद्यपि कर्त्तव्या सर्वाश्च प्रतिपत्तयः ॥२७७॥

जले प्रवहणादौ, प्रायोवेशगतः गृहीतानशनव्रतः, अन्यच्च सर्वमिति मैत्रप्रसाधनव्यतिरिक्तमित्यर्थः, मैत्रादीनां मनसाऽसम्भवात्, मैत्रं शौचम् ।[1]

तत्वसारसंहितायाम्—

आतुरी सौतकी चैव त्रासी दौर्बोधकी तथा ।
साधना भाविनी चेति पञ्चधा भिद्यते पुनः ॥२७८॥

यदि लङ्घनपर्यन्तो व्याधिरात्मनि दृश्यते ।
तदा पूजा न कर्त्तव्या स्थण्डिले प्रतिमासु च ॥२७९॥

न स्नानं दन्तकाष्ठं वा कुर्याद्धोममथापि वा ।
रविमण्डलमालोक्य प्रतिमामथवा पुनः ॥२८०॥

---

१. ख. अतः परमयमंशो विशेषः—

शैवागमे—अत्यन्तरोगयुक्तेऽङ्गे राजचौरभयादिषु ।
गुर्वग्निदेवकृत्येषु नित्यहानौ न पापभाक् ॥१॥

प्रयोगपारिजाते—देशभङ्गे प्रवासे च व्याधिषु व्यसनेष्वपि ।
रक्षेदेव स्वमात्मानं पश्चाद्धर्मं समाचरेत् ॥२॥

मूलमन्त्रं सकृज्जप्त्वा पुष्पं साक्षतमुत्क्षिपेत् ।
श्रान्तो व्याधिभिरत्युग्रैः क्रान्तश्चैवोपवासकैः ॥२८१॥

निजसामयिकैर्वापि स्वकर्त्तव्यं समापयेत् ।
स्नात्वा देवमथाग्नींश्च गुरून् विप्रान्प्रपूज्य च ॥२८२॥

एतावत्कालविच्छिन्ना पूजा युष्मत्प्रसादतः ।
न दोषोऽस्त्विति सम्प्रार्थ्य पुनः पूर्ववदाचरेत् ॥२८३॥

सम्प्रार्थ्य जपहोमादिकं च कार्यम् ।

यस्तु रोगवशान्मोहवशाद्दोष उपागतः ।
जपेन क्षालनीयः स्याद्दानेन हवनेन च ॥२८४॥
ध्यानेनापि मुनिश्रेष्ठ ज्ञात्वा कर्म बलाबलम् ।

इति नारदपञ्चरात्रवचनात् ।

तथा—

अथ सूतकिनः पूजां वदाम्यागमबोधिताम् ।
स्नात्वा नित्यं च निर्वर्त्य मानस्या क्रियया तु वै ॥२८५॥

बाह्यपूजाक्रमेणैव स्थानयोगेन पूजयेत् ।
यदि कामी न चेत्कामी नित्यं पूर्ववदाचरेत् ॥२८६॥

त्रासिनो वक्ष्यते पूजा यथैवागमबोधिता ।
लब्धं वा यदि वाऽलब्धमर्घपात्रादिसाधनम् ॥२८७॥

पूजोदकेन कर्त्तव्या न चेत्तोयं च विद्यते ।
तदा सम्पूजयेद्देवं भावनाकुसुमादिभिः ॥२८८॥

दौर्बोधकीं प्रवक्ष्यामि पूजामागमबोधिताम् ।
मूर्खस्त्रीबालवृद्धाद्या दुर्बोधा इति भाविताः ॥२८९॥

रत्नमण्डपधर्मादिचतुष्कमुरगोऽम्बुजम् ।
मूलमूर्त्तिः षडङ्गानि तेषां पूजा विधीयते ॥२९०॥

अन्येषामपि सर्वेषां प्रोक्ता संक्षेपकर्मणि ।
सर्वेषामेव वस्तूनामलाभे भावनैव हि ॥२९१॥

निर्मलेनोदकेनाथ पूर्णतेत्याह नारदः ।[1]
तथा पुनस्त्रिधा पूजा उत्तमाऽधममध्यमा ॥२९२॥

अधिकारिनिमित्ताभ्यां भिद्यते शतधा पुनः ।
यागोपकरणैः कृत्स्नैः क्रियमाणोत्तमा मता ॥२९३॥

यथालब्धैर्विनिष्पाद्या द्रव्यैः पूजा तु मध्यमा ।
पत्रपुष्पाम्बुनिष्पाद्या पूजा चाधमसंज्ञका ॥२९४॥

विदिताखिलवेदार्थैर्ब्रह्मर्षिभिरकल्मषैः ।
क्रियमाणा तु या पूजा सात्विकी सा विमुक्तिदा ॥२९५॥

राजर्षिभिस्तपोनिष्ठैर्भगवत्तत्ववेदिभिः ।
या पूजा क्रियते सम्यग्राजसी सा सुखप्रदा ॥२९६॥

स्त्रीबालवृद्धमूर्खाद्यैर्भक्तैरक्षुद्रमानसैः ।
या पूजा क्रियते नित्यं तामसी सा प्रकीर्त्तिता ॥२९७॥

तथा सारसङ्ग्रहे—

आराधनासमर्थश्चेद्द्यादर्चनसाधनम् ।
दातुं नैव शक्नोति कुर्यादर्चनदर्शनम् ॥२९८॥

नैकं तु यस्य विद्येत सोऽधो यात्येव नान्यथा ।
यस्तु भक्त्या प्रयत्नेन स्वयं सम्पाद्य चाखिलम् ॥२९९॥

साधनं चार्चयेद्विद्वान् स समग्रफलं भजेत् ।
योऽर्चयेद्विधिवद्भक्त्या परानीतैश्च साधनैः ॥३००॥
पूजाफलार्द्धमेवास्य न समग्रफलं लभेत् ।

कुम्भसम्भवः—

सुस्थः समर्थः कुर्वीत चोत्तमैरेव साधनैः ।
मध्यमो मध्यमैरेव न्यूनो न्यूनैस्तपोधन ॥३०१॥

आपन्नश्चेत्समर्थोऽपि न्यूनैरेव समाचरेत् ।
पूजाकर्म विशेषेण देशकालानुसारतः ॥३०२॥

---

१. ख. अतोऽग्रे निम्नांशोऽयं विशेषः—
प्रयोगपारिजाते—पुष्पाद्यसम्भवे देवं पूजयेत् सिततण्डुलैः ।
व्रीहिभिर्वा यवैर्वापि तिलैः कृष्णैर्विशेषतः ॥१॥
यद्वा पर्युषितैश्चापि पुष्पाद्यैरविकारिभिः ।

भविष्यपुराणे—

विभवे सति यो मोहान्न कुर्याद्विधिविस्तरम् ।
न तत्फलमवाप्नोति प्रलोभाक्रान्तमानसः ॥३०३॥

शिवयामले—

शिवपितृवनलिङ्गवृक्षशुद्ध—
ह्रदजलसङ्गमचत्वरे स्वदेशे ।
अपि शिवगदितं विमुच्य शस्तं,
निजगृह एव तु पूजनं मुमुक्षोः ॥३०४॥

अरण्ये स्वल्पकामानां सिद्ध्यर्थं पूजनं हितम् ।
निष्कामानां मुमुक्षूणां गृहे शस्तं सदार्चनम् ॥३०५॥

तत्वसारसंहितायाम्—

अनिर्माल्यं सनिर्माल्यमर्चनं द्विविधं मतम् ।
दिव्यैर्मनोभवैर्द्रव्यैर्गन्धपुष्पैः स्रगादिभिः ॥३०६॥

यदर्चनमनिर्माल्यं दिव्यभोगापवर्गदम् ।
ग्राम्यारण्यादिसम्प्रेतैर्यागद्रव्यैर्मनोरमैः ॥३०७॥

भक्तैर्यत् क्रियते सम्यक् सनिर्माल्यं तदर्चनम् ।
जातमात्राणि पुष्पाणि घ्रातान्येव निसर्गतः ॥३०८॥

पञ्चभिश्च महाभूतैर्भानुना शशिना तथा ।
प्राणिभिश्च द्विरेफाद्यैः पौष्पैरेव न संशयः ॥३०९॥

अतो निर्माल्यमित्युक्तमिति ।

अत्र चादौ यतीनामधिकारः । यदाह—

अगस्त्यः—

द्विविधं स्याल्लब्धमनोर्बाह्यान्तरमुपासनम् ।
संन्यासिनामान्तरं प्रोक्तम्……………॥३१०॥ इति ॥

यत्तु—

मनसा पूजयेद्योगी पुष्पैर्वारण्यसम्भवैः ।
शिवार्थं पुष्पहिंसायां न भवेत्स तु हिंसकः ॥३११॥

इति शिवरहस्यवचनम् । तदजितेंद्रिययतिपरं वस्तुतस्तु—

परिव्राड् ज्ञानमात्रेण होमदानादिभिर्विना ।
सर्वदुःखपिशाचेभ्यो मुक्तो भवति नान्यथा ॥३१२॥

परिव्राडविरक्तश्च विरक्तश्च तथा गृही ।
कुम्भीपाके तु मज्जेते तावुभौ कमलानने ॥३१३॥

पुण्याः स्त्रियो गृहस्थाश्च मङ्गलैर्मङ्गलार्थिनः ।
पूजोपकरणैः कुर्युर्दद्युर्दानानि चार्हणाम् ॥३१४॥

वानप्रस्थाश्च यतयो यद्येवं कुर्युरन्वहम् ।
संसारान्न विवर्त्तन्ते विध्यन्ति क्रमदोषतः[1] ॥३१५॥
आरूढपतिता ह्येते भवेयुर्दुःखभाजनम् ।

इति । **कुम्भसम्भववचनादेव** यतीनामसंयतेन्द्रियत्वं दोषायैव, अतस्तेषां मानसपूजनमेव विहितमिति । यद्वा सर्वेषामेवाधिकारः । यदुक्तम्—
पद्मपुराणे—

स्मरणे कीर्त्तने विष्णोस्तथा मानसपूजने ।
सदाधिकारः सर्वेषां महापातकिनामपि ॥३१६॥

इति । अन्यत्र तु गृहस्थानामेवाधिकारः । यदुक्तं **अगस्त्येन—**

'अन्येषामुभयं तथेति' । अन्येषां गृहस्थानाम्, उभयं आभ्यन्तरं बाह्यं च । अत्राभ्यन्तरयजनं बाह्यार्चनस्यांगत्वेनोक्तं केवलमानसार्चने निषेधदर्शनात् ।
यदाह स्वयमेव—

न गृही ज्ञानमात्रेण परत्रेह च मङ्गलम् ।
प्राप्नोति चन्द्रवदने दानहोमादिभिर्विना ॥३१७॥

गृहस्थो यदि दानादि दद्यान्न जुहुयादपि ।
पूजयेद्विधिना नैव कः कुर्यादितदन्वहम् ॥३१८॥

न ब्रह्मचारिणो दातुमधिकारोऽस्ति भामिनि ।
नारण्यवासिनां शक्तिर्न ते सन्ति कलौ युगे ॥३१९॥

गुरुभ्योऽपि च सर्वेभ्यः को वा दद्यादपेक्षितमिति ।
प्रातपुष्पात्फलं सिद्धचेदल्पं नो मानसाद्यथा ॥३२०॥

---

१. ख. ० तोषतः ।

तस्मादपरिहार्यत्वादन्यथा चानुपायतः ।
अल्पबुद्धित्वतो नृणां बाह्यपुष्पैर्भवेत्क्रिया ॥३२१॥

इति । **यत्तत्त्वसारसंहितावचनं** तत्तदङ्गभूतस्याभ्यन्तरयजनस्यात्यन्तमावश्यकत्वं गृहस्थानामुपपादयतीति । तस्माद् गृहस्थानां बाह्यपूजैव मुख्या सा, च पञ्चविधा । यदुक्तम्—

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

पूजा पञ्चविधा प्रोक्ता पञ्चरात्रादितन्त्रके ।
ताश्चाभिगमनं चोपादानेज्याध्याययोगकाः ॥३२२॥

तत्राभिगमनं नाम मन्त्रिभिः परिकीर्त्यते ।
सम्मार्जनोपलेपादिसंस्कारो देवमन्दिरे ॥३२३॥

उपादानं भवेद्देवपूजासाधनमेलनम् ।
ततश्चापि भवेदिज्या गन्धपुष्पादिभिः पुनः ॥३२४॥

पीठपूजा च देवस्य साङ्गावरणपूजनम् ।
मन्त्रार्थभावना पूर्वं जपो मन्त्रस्य कीर्त्तनम् ॥३२५॥

तच्छास्त्राध्ययनं सम्यक् स्वाध्यायो मन्त्रिभिः स्मृतः ।
गुरुदेवात्मनामैक्यभावना योग उच्यते ॥३२६॥

सालोक्यमपि सारूप्यं सामीप्यं सार्ष्टिनामकम् ।
सायुज्यमपि पञ्चानां फलान्येवं विदुः क्रमात् ॥३२७॥

इति । सार्ष्टिः समानैश्वर्यम् ।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मजगोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टविरचिते सिद्दसिद्धान्तसिन्धौ चतुर्थस्तरङ्गः ॥४॥

पञ्चमस्तरङ्गः

॥अथ नित्यपूजाप्रयोगः ॥

तत्र श्रीमान् साधकः प्रमाणोक्तलक्षणे ब्राह्मे मुहूर्त्ते दक्षिणावयवेन शय्यायाः समुत्थाय, स्वेष्टं देवं स्मृत्वा, वामचरणं विन्यस्योत्थाय, स्वभवनाद्बहिर्निर्गत्यावश्यकं विधाय, हस्तपादं प्रक्षाल्य, निशापरिहितं वसनं परित्यज्य, प्रक्षालिते वस्त्रे धृत्वाऽचम्य, यागमन्दिरं सम्मार्ज्ज्य, गोमयेनोपलिप्य, वितानादिभिरलङ्कृत्य, तत्र निजविष्टरे समुपविश्य, सपर्यामूर्त्तेर्निर्माल्यमपकृष्य, मूर्त्ति प्रक्षाल्य, पुरतः पीठे संस्थाप्य, प्राणायामत्रयऋष्यादिन्यासत्रयपूर्वकं पूर्वदिवसपूजावशिष्टपुष्पपत्रादिना तां मूर्त्ति मूलमन्त्रेण त्रिः सम्पूज्य, पाद्याचमनीये दत्वा, परदेवतायै घनसारखण्डैर्द्दन्तधावन कारयित्वा, सुगन्धिजलैर्गण्डूषास्यप्रक्षा लनादिकं च कारयित्वा, पुनराचमनीयं दत्वा, पाणिवदनप्रोञ्छनाय निर्म्मलं शुभ्रवस्त्रं दत्वा, स्वमूर्द्धनि शुभ्रसहस्रदलसरोजकर्णिकायां श्रीगुरुं शुभ्रवसनं भूषणभूषितं श्वेतपुष्पमालिकालङ्कृतमिन्दुकान्तसन्निभं वराभयज्ञानमुद्रापुस्तककरं सुप्रसन्नं वामाङ्कोपविष्टया शोणवर्णया शोणवसनभूषणगन्धमाल्यालङ्कृतया वामपाणिधृतलीलापद्मया देव्या दक्षिणभुजेनाश्लिष्टं त्रिलोचनं शान्तमन्तर्म्मुखं श्रीशिवरूपिणं ध्यात्वा तत्पदपयोजयुगलस्रुतामृतधारया स्वशरीरं सिक्तं सञ्चिन्त्य 'श्रीअमुकानन्दनाथश्रीपादुकां पूजयामीति' स्वगुरुसङ्केतनाम्ना तदज्ञाने "श्रीगुरुभ्योनमः, श्रीगुरुपादुकाभ्यो नमः" इति मन्त्रेण वा गन्धाद्यैरुपचारैर्बाह्यैर्म्मानसैर्वाभ्यर्च्य—

आनन्दमानन्दकरम्प्रसन्नं,
ज्ञानस्वरूपं निजभावयुक्तम् ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं,
श्रीमद्गुरु नित्यमहं नमामि ॥१॥

इति प्रणम्य हृन्मन्त्रेण स्वहृदि लयं भावयेत् । ततो मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तमुदितसहस्रांशुसहस्रप्रभं सुषुम्णान्तस्तेजोदण्डसन्निभं मूलमन्त्रं ध्यात्वा, तन्महसा व्याप्तं स्वदेहं सञ्चिन्त्य, स्वमूलमन्त्रेण प्राणायामत्रयं ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासं च विधाय, हृदयारविन्दे यथोक्तरूपं निजेष्टदेवं ध्यात्वा, मानसोपचारैरभ्यर्च्य, मूलमन्त्रं यथाशक्ति जपित्वा, जपं समर्प्य, स्तुत्वा, प्रणम्य—

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव श्रीदेव युष्मच्चरणाज्ञयैव ।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये ॥२॥

संसारयात्रामनुवर्त्तमानं त्वदाज्ञया श्रीपरदेवदेव ।
स्पर्धातिरस्कारकलिप्रमादभयानि मां माऽभिभवन्तु नाथ ॥३॥
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
त्वयेन्द्रियाणामधिदैवतेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥४॥

इति श्लोकत्रयं पठित्वा, देवाज्ञामादाय, अत्रैते श्लोकाः साधकैर्द्देवादिपदस्थाने निजाराध्यदेवतानामोच्चार्यं पठनीयाः । ततः—

समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥५॥

इति भूमिं प्रार्थ्यं, प्रवहच्छ्वासानुसारेण [तस्यां चरणं निधाय 'श्रीपरदेवते' इत्युक्त्वोत्थाय, पदे पदेऽस्त्रमन्त्रं स्मरन् ग्रामाद्बहिर्नैर्ऋत्यां याम्यां वा दिशि शरप्रक्षेपमात्रां भूमिमतीत्य—][1]

उत्तिष्ठन्त्वृषयो देवा गन्धर्वा यक्षराक्षसाः ।
परितस्त्यज्यतां स्थानं विण्मूत्रोत्सर्जनाय मे ॥६॥

इति मन्त्रं पठित्वा तृणलोष्ठप्रक्षेपेण तत्र स्थितदेवादीनुद्वास्य, प्रमाणोक्तविधिना मूत्रमलोत्सर्गशौचाचमनादिकं विधाय, दन्तकाष्ठमादाय, "क्लीं कामदेवाय सर्वजनप्रियाय नमः" इति मन्त्रेण दन्तधावनं विधाय, दन्तकाष्ठं प्रक्षाल्य, पुरतः शुद्धदेशे परित्यज्य, मूलेन मुखं प्रक्षाल्य, कुशतिलयवगन्धाक्षतकुसुमधौतवस्त्राण्यादायाऽस्त्रमन्त्राभिमन्त्रितशङ्कुना शुचिस्थानान्मृत्तिकां गृहीत्वा, जलाशयं गत्वाऽस्त्रमन्त्राभिमन्त्रितनीरेण तटम्प्रक्षाल्य, तत्रास्त्राभिमन्त्रितं कुशादिकं निधाय, निष्कासितसलिलेन तीर्थाद्बहिः कटिशौचं विधाय, स्वशाखोक्तविधिना वैदिकं स्नानं तदङ्गभूतं तर्प्पणं च कृत्वा, तटं गत्वाऽस्त्रमन्त्रेण मृदमादाय तेनैवाभिमन्त्र्य, शिखामन्त्रेण तत्रस्थं तृणादिकं दूरीकृत्य, मूलेन त्रिरभिमन्त्र्य, तया मृदा मूर्द्धादिचरणान्तं विलिप्य—

आधारः सर्वभूतस्य विष्णोरतुलतेजसः ।
तद्रूपाश्च ततो जाता आपस्ताः प्रणमाम्यहम् ॥७॥

इति तीर्थजलं प्रणम्य, यथोक्तलक्षणां सम्मुखीकरणमुद्रां बद्ध्वा,

१. [—] कोष्ठगतोऽशो नास्ति ख. पुस्तके ।

प्राणवायुं निरुन्धन् जलान्तः प्रविश्य, तूष्णीं निमज्ज्योन्मज्ज्य, नाभिमात्रे जले स्थित्वा, 'अद्येत्यादिमासतिथ्याद्युल्लेखनपूर्वकं श्रीपरदेवताप्रीत्यर्थं तान्त्रिक-स्नानमहं करिष्ये' इति सङ्कल्पं कृत्वा, मूलमन्त्रेणप्राणायामत्रयं ऋष्यादिकर—षडङ्गन्यासं च कृत्वा, स्वपुरतो जले हस्तमात्रं चतुरश्रं तीर्थं परिकल्प्य—

ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करैः स्पृष्टानि ते रवे! ।
तेन सत्येन देवेश तीर्थं देहि दिवाकर! ॥८॥

इति दिवाकरात्तीर्थं प्रार्थ्य, 'क्रों' इत्यङ्कुशमुद्रया सूर्यबिम्बं भित्त्वा—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु ॥९॥

इति सूर्यमण्डलात्तीर्थमावाह्य, पुरःकल्पिते तीर्थमण्डले संयोज्य —

"ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः सर्वानन्दमये तीर्थशक्ति एह्येहि स्वाहा" इति मन्त्रेण तीर्थशक्तिमावाह्य तत्र तां ध्यायेत्—

सर्वानन्दमयीमशेषदुरितध्वंसां मृगाङ्कप्रभां,
त्र्यक्षां चोर्ध्वकरद्वयेन दधतीम्पाश सृणिं च क्रमात् ।
दोर्भ्यां चामृतपूर्णहेमकलशं मुक्ताक्षमालां वरं,
गङ्गासिन्धुसरिद्द्वयादिसहितां श्रीतीर्थशक्तिम्भजे ॥१०॥

इति तीर्थशक्तिं ध्यात्वा, तन्मन्त्रमुच्चार्य, "श्रीतीर्थशक्त्यै नमः" इति सम्पूज्य—

"ॐ नमो भगवति अम्बे अम्बालिके अम्बिके महामालिन्येह्येहि भगवति अशेषतीर्थालिवाले ह्रीं श्रीं शिवजटाधिरूढे गङ्गे गङ्गाम्बिके स्वाहा"।

इति मन्त्रेणाष्टवारमभिमन्त्र्य, तज्जलं 'ह्रीं' कारेणालोड्य, 'वं'इति'—धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य, कवचमन्त्रेणावगुण्ठनमुद्रयाऽवगुण्ठ्याऽस्त्रमन्त्रेण तत्र सचक्रं साङ्गावरणं देवं ध्यात्वा, जलमयैः पञ्चोपचारैः सम्पूज्य, मूलमन्त्रेणाष्टवारमभि-मन्त्र्य तत्र मूलमन्त्रं जपन्, हृदि परदेवतां स्मरन्, त्रिर्निमज्ज्योन्मज्ज्य, कुम्भमुद्रां बद्ध्वा, मूलेन स्वमूर्ध्नि त्रिरभिषिच्य—

ॐ वं सिसृक्षोर्निखिलं विश्वं मुहुः शुक्रं प्रजापतेः ।
मातरः सर्वभूतानामापो देव्यः पुनन्तु माम् वं ॐ ॥११॥

इति स्वशिरः प्रोक्ष्य—

अलक्ष्मीं मलरूपां याः सर्वभूतेषु संस्थिताम् ।
क्षालयन्ति निजस्पर्शादापो देव्यः पुनन्तु माम् ॥१२॥

इति मन्त्रेण चात्मानमभ्युक्ष्य—

यन्मे केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्द्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद्घ्नन्तु वो नमः ॥१३॥

इति प्रणम्य, मूलेन स्वाहान्तेन त्रिराचम्य, मूलेन च त्रिः सन्तर्प्य, देवं विसृज्य, तटमागत्य, धौतं वस्त्रयुगलं परिधायोरू करौ च मृत्तिकयाऽद्भिश्च प्रक्षाल्याऽऽचम्य, स्ववर्णविहितं तिलकमादौ विधाय, गणेशसूर्यशक्त्युपासकः कुङ्कुमेन त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा, वैष्णव ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणं कृत्वा, शैवो भस्म-त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा, वैदिकसन्ध्यामादौ विधाय, तान्त्रिकसंध्यां कुर्यात् ।

भस्मधारणविधिस्त्वयम्—

अग्निहोत्रोद्भवमावसथ्याग्न्युद्भवं वा प्रमाणोक्तविधिनान्तरिक्षगृहीत-कपिलागोमयपिण्डं शुष्कं मूलमन्त्रेण दग्धं देवोद्वासनात्पूर्वमेव गृहीतमपक्वाति-पक्वरहितं वस्त्रेण शोधितं कर्पूरादिसुवासितं वा भस्म संगृह्य, मूलमन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा—

'शिरसि—पिप्लाद ऋषये नमः, मुखे—गायत्रीछन्दसे नमः, हृदये—श्रीरुद्राय देवतायै नमः, गुह्ये—अग्निबीजाय नमः, पादयोः—भस्मशक्तये नमः, मम मोक्षार्थे भस्मधारणे विनियोगः'

इति ऋष्यादिन्यासं विधाय—

'अङ्गुष्ठयोः—कालाय नमः, हृदयाय नमः । तर्ज्जन्योः—कलविकरणाय नमः, शिरसे स्वाहा । मध्यमयोः—बलविकरणाय नमः, शिखायै वषट् । अनामिकयोः—बलप्रमथनाय नमः, कवचाय हुं । कनिष्ठयोः—सर्वभूतदमनाय नमः, नेत्राय वौषट् । करतलपृष्ठयोः—मनोन्मनायास्त्राय फट्' ।

इति विन्यस्य हृदयशिरःशिखाकवचनेत्रेषु प्रागुक्तान्पञ्चमन्त्रान्विन्यस्याऽ-स्त्रमन्त्रेण तालत्रयं दशदिग्बन्धनं च कृत्वा—

विभूते भूतिमानासीद्वामदेवः सदाशिवः ।
रक्षाबन्धस्त्वया देवि रक्ष मामनघे सदा ॥१४॥

इति विभूतिम्प्रणम्य —

'ॐ सद्योजातमित्यादि पञ्चानुवाकानां सांहिकीर्देवतोपनिषद ऋषयः प्रथमद्वितीयचतुर्थानुवाकानामनुष्टुप्, अघोरेभ्य इत्यस्य स्वराडनुष्टुप्, अन्त्यो गायत्री, सर्वेषां रुद्रो देवता'

इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, विन्यस्य—

ॐसद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः ।
भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥१॥

वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय ॥२॥

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः ।
सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥३॥

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥४॥

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम् ॥५॥

इति मन्त्रान्पठित्वा, विभूतिमादाय, वामकरेनिधाय, भस्माभिमन्त्रण—मन्त्रस्य ऋष्यादिन्यासं कुर्यात्—

तत्र 'शिरसि अथर्वऋषये नमः, मुखे गायत्रीछंदसे नमः, हृदये श्रीरुद्राय देवतायै नमः' । इति विन्यस्य—

'अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म सर्वं ह वा इदं भस्म मन इत्येतानि चक्षूंषि भस्मानि' । इत्यभिमंत्र्य—

"ॐ आपो वा' इत्यस्य प्रजापति ऋषिर्यजुः छन्दः, आपो देवता" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, विन्यस्य 'ॐ आपो वा इद सर्वं विश्वाभूतान्यापः प्राणा वा आपः पशव आपोऽमृतमापोऽन्नमापः सम्राडापो विराडापः स्वराडापश्छन्दांस्यापो ज्योतींष्यापः सत्यमापः सर्वा देवता आपो भूर्भुवः सुवराषः ॥"

इति मन्त्रेणाद्भिः संसिच्य—

"मानस्तोक' इति मंत्रस्य भगवानृषिः, जगतीछन्दः, हिरण्यगर्भो देवता" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, विन्यस्य—

ॐ मानस्तोके तनये मान आयुषि मानो
गोषु मान अश्वेषु रीरिषः, ।
वीरान्मानो रुद्रभामितोवधी—
र्हविष्मन्तो नमसा विधेम ते ॥

इति मन्त्रेण सम्मर्द्य—

"तस्माद्ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाये" ति मन्त्रेणैकादशवारमभिमन्त्र्य, द्विधा कृत्वा, एकेन भागे 'नेशानः सर्वविद्यानामि'ति प्रागुक्तमन्त्रेण शिरसि, 'तत्पुरुषाये'ति मन्त्रेण मुखे, 'अघोरेभ्य' इति मन्त्रेण बाह्वोः, 'वामदेवाये'ति मन्त्रेण कण्ठादिनाभ्यन्तं, 'सद्योजातमि'ति मन्त्रैणोरूमूलादिपादाग्रद्वयपर्यन्तमिति सर्वाङ्गेषु भस्मोद्धूलनं कृत्वा, हस्तौ प्रक्षाल्य, द्वियीयभागमादाय —

"शिरसि—ॐ ऐं ह्रीं हर हर ॐ नमः शिवाय, ललाटे—ब्रह्मणे नमः, हृदये—हव्यवाहनाय नमः, कण्ठे—पूष्णे नमः, दक्षिणबाहुमूले—रुद्राय नमः, बाहुमध्ये—आदित्याय नमः, मणिबन्धे—चन्द्राय नमः, वामबाहुमूले—वामदेवाय नमः, बाहुमध्ये—प्रजनाय नमः, मणिबन्धे—वसुभ्यां नमः, पृष्ठे—हराय नमः, ककुदि—शम्भवे नमः, ब्रह्मरन्ध्रे—परमात्मने नमः।"

॥ इति भस्मधारणविधिः ॥

एवं विधिस्त्रयाणामेव वर्णानाम्। अन्यैस्तु पञ्चाक्षरेण मूलमन्त्रेण वा त्रिपुण्ड्रधारणं कार्यम्।

॥ अथ तान्त्रिकसन्ध्या ॥

तत्र मूलेनाचम्य तेनैव शिखां बद्ध्वा प्राणायामत्रयपूर्वकं मूलमन्त्रस्य ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासान्विधाय, जलं 'वं' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य, मूलेनाष्टवारमभिमन्त्र्य कुशोत्थतज्जलबिंदुभिः सबिंदुभिरकारादिक्षकारान्तैरेकपञ्चाशदक्षरैः प्रत्यक्षरं स्वशिरः प्रोक्ष्य, मूलेन च त्रिः प्रोक्ष्य, भानुमण्डले यथोक्तरूपां परदेवतां ध्यात्वा, दक्षहस्तेन जलं गृहीत्वा, वामहस्ताग्रेण स्पृशन् 'लं वं रं यं हं' इति पाञ्चभौतिकबीजैः सप्तवारमभिमन्त्र्य, मूलेन च त्रिरभिमन्त्र्य, तज्जलं वामपाणौ निधाय, तद्बिन्दुभिर्मूलेन दक्षिणहस्ताग्रेण निजमस्तके त्रिः प्रोक्ष्याऽवशिष्टं वामहस्तस्थजलं वामघ्राणान्तिकं नीत्वा, तेजोरूपं वामघ्राणरन्ध्रेण स्वशरीरान्तःप्रविष्टं ध्यात्वा तेन जलेन स्वशरीरमध्यस्थं निखिलदुरितं प्रक्षाल्य, श्यामवर्णं तज्जलं दक्षनासाविवरेण विनिर्गतं विभाव्य, दक्षिणपाणिनाऽऽदय निजवामभागे वज्रशिलां ध्यात्वा "ॐ श्लीं पशु हुं फट्" इति पाशुपतास्त्रमन्त्रेण तस्यामास्फाल्य, करौ प्रक्षाल्य, मूलेन त्रिराचम्याञ्जलिना जलमादायोत्थाय, स्वेष्टदेवतागायत्रीं तदभावे मूलं वा समुच्चार्य्य, 'श्रीपरदेवते एष तेऽर्घः स्वाहे' ति त्रिरर्घाञ्जलिं सूर्याभिमुखमुत्क्षिप्य, मूलमुच्चार्य्य 'श्रीपरदेवतां तर्प्पयामि नमः' इति त्रिः सन्तर्प्य,

पूर्ववत्प्राणायामादिकं कृत्वा, भानुमण्डले निजेष्टदेवं ध्यायन् स्वेष्टदेवतागायत्रीं यथाशक्ति जपित्वा, मूलमन्त्रं चाष्टोत्तरशतं जपित्वा, जपं समर्प्य, स्तुत्वा, प्रणम्य, सूर्यमण्डलाद्देवं स्वहृदि विसृज्य, श्रीगुरुं प्रणमेत् ।

इति कालत्रयेऽपि **सन्ध्याविधिः** ।

अत्र परदेवतास्थाने स्वाराध्यदेवतानामोच्चारो विधेयः । तत्तद्गायत्री तत्तत्कल्पे प्रदर्शनीया । सन्ध्यात्रयमवश्यमेव कर्त्तव्यम् ।

ततः प्रकृते वैदिकतर्प्पणं कृत्वा **तांत्रिकतर्प्पणं** कुर्यात् । तद्यथा—

मूलेन प्राणायामत्रयं ऋष्यादिन्यासं च कृत्वा, 'वं' इति धेनुमुद्रया जलममृतीकृत्य, तत्र सचक्रं साङ्गावरणं निजेष्टदेवं ध्यात्वा, मूलमुच्चार्य्य, 'श्रीपरदेवतां तर्पयामि नमः' इत्यष्टोत्तरशतवारं तदर्द्धमष्टाविंशतिवारं वा देवताया मुखपद्मे पीयूषधिया तत्तीर्थजलैः सन्तर्प्याऽङ्गावरणदेवताश्चामुकं तर्प्पयामि नमः' इति प्रत्येकमेकैकाञ्जलिना सन्तर्प्य, देवं स्वहृदि विसृज्य, तीर्थं च सूर्य्ये विसृज्य, गुरुदिक्पतिग्रहान्प्रणम्य, शुद्धोदकपूर्णं पात्रमादाय, हृदि स्वेष्टदेवतां स्मरन् मौनी स्वपदमात्रदृष्टिः स्तोत्रादिकम्पठन् स्वगृहं गच्छेत् । ततो द्वारि स्थित्वा स्वपापं मनससञ्चिन्त्य—

देव त्वं प्रकृतं चित्तं पापाक्रान्तमभून्मम ।
तन्निःसारय चित्तान्मे पापं फट् फट् ते नमः ॥१५॥
सूर्यः सोमो यमः कालो महाभूतानि पञ्च च ।
एते शुभाशुभस्येह कर्म्मणो न च साक्षिणः ॥१६॥

इति पठित्वा, 'हूँ फट्' इति क्रोधदृष्ट्या पार्श्वद्वयमूर्ध्वमधश्चावलोक्य, सुमना भूत्वा, गृहान्तः प्रविश्याऽङ्गणे स्थित्वा, पादौ प्रक्षाल्याऽचम्याऽङ्गणभूमौ गोमयेनोपलिप्तायां सिन्दूरादिना रचितवृत्तमण्डलमध्ये स्वासनमास्तीर्य्य— 'ह्रीं आधारशक्तिकमलासनाय नमः' इत्यासनं सम्पूज्य, तत्र प्राङ्मुख उपविश्य, वक्ष्यमाणसूर्य्यमन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा—

"शिरसि—अजाय ऋषये नमः, मुखे—गायत्रीछन्दसे नमः, हृदये—श्रीसूर्य्याय देवतायै नमः, इति विन्यस्य सूर्यार्घदाने विनियोगः" इति कृताञ्जलिर्वदेत् । ततः—

"अङ्गुष्ठयोः—ह्रां हृदयाय नमः, तर्ज्जन्योः—ह्रीं शिरसे स्वाहा, मध्यमयोः—ह्रूं शिखायै वषट्, अनामिकयोः—ह्रैं कवचाय हुं, कनिष्ठयोः ह्रौं नेत्राय वौषट् करतलपृष्ठयोः—ह्रः अस्त्राय फट् ।"

इति करयोर्विन्यस्यैतानेव मन्त्रान्हृदयशिरःशिखाकवचनेत्रस्थानेषु विन्यस्याऽस्त्रमन्त्रेण तालत्रयं दशदिग्बन्धनं च कृत्वा—

रक्ताम्बुजासनमशेषगुणैकसिन्धुं,
भानुं समस्तजगतामधिपम्भजामि ।
पद्मद्वयाभयवरान्दधतं कराब्जै—
र्माणिक्यमौलिमरुणाङ्गरुचिं त्रिनेत्रम् ॥१७॥

इति सूर्यं ध्यात्वा, स्वपुरतस्तत्प्रकरणे वक्ष्यमाण**प्रयोजनतिलकाख्य** त्र्यक्षरमन्त्रोक्तविधिना साङ्गं सावरणं सूर्यं सम्पूज्य, तदशक्तौ तन्मण्डले साङ्गावरणं ध्यात्वा, सम्पूज्य, स्वपुरतश्चतुरस्रत्तत्रिकोणात्मकं मण्डलं विरच्य, 'श्रीसूर्यार्घाधारमण्डलाय नमः' इति मण्डलं सम्पूज्य, तत्र साधारं प्रस्थचलग्राहिताम्रपात्रं निधाय, सूर्य्यमन्त्रेण शुद्धोदकेनापूर्य्य, तिलयवसर्षपश्यामाककुशाग्रगन्धाक्षतरक्तपुष्पाणि रक्तचन्दनं च निक्षिप्य, कुशैराच्छाद्य, तत्पात्रं कराभ्यामाच्छादयन्सूर्यमन्त्रमष्टोत्तरशतं जपित्वा, जानुभ्यामवनीं गतस्तत्पात्रं कराभ्यामामस्तकमुद्धृत्य पूर्वोक्तरूपं सूर्य्यं निजेष्टदेवताऽभेदेन ध्यायन् 'ह्रां ह्रीं सः सग्रहराशिनक्षत्रयोगकरणापरिवृत्तासनसंस्थित श्रीसूर्य्य एष तेऽर्घः स्वाहा' इति सूर्य्यायार्घं दत्वा, तदर्घाम्बुप्लुतं सूर्यं ध्यायन् तन्मन्त्रं यथाशक्ति जपित्वा, सूर्यं स्तुत्वा, प्रणम्य, स्वपुरः पूजापद्मे तं विसृज्य, पूजामण्डपद्वारं गत्वा, तत्र वक्ष्यमाणविधिना सामान्यार्घं संस्थाप्य, तदशक्तौ ताम्रादिपात्रस्थजलं धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य, तेन जलेन वा पूजामण्डपस्य द्वारं प्रोक्ष्य, द्वारस्योर्द्ध्वशाखायाम्—

"मध्ये—ॐ विघ्नाय नमः, तद्दक्षिणे—महालक्ष्म्यै नमः, वामे—सरस्वत्यै नमः, पुनर्म्मध्ये—द्वारश्रियै नमः, द्वारस्य वामदक्षिणशाखयोः— गं गणपतये नमः, क्षं क्षेत्रपालाय नमः, शं शंखनिधिवसुधाराभ्यां नमः, प पद्मनिधिवसुमतीभ्यां नमः, मां मायाशक्तये नमः, चिं चिच्छक्त्यै नमः, ग गङ्गायै नमः, यं यमुनायै नमः, धं धात्रे नमः, विं विधात्रे नमः, इति द्वंद्वक्रमेणाऽधोऽधः सम्पूज्य, अधः—दें देहल्यै नमः, तस्याः वामदक्षिणयोः स्वाराध्यगणेशादेर्द्वारपालौ सम्पूज्योत्तरद्वारं गत्वा, तदर्घाम्बुनाऽभ्युक्ष्य, प्राग्वद् विघ्नादिदेहल्यन्तं पुरोक्तक्रमेण सम्पूज्य, द्वारपार्श्वयोर्द्वारपालौ सम्पूज्य, पूर्वद्वारं गत्वा, तथैवाऽभ्युक्ष्य, विघ्नादिदेहल्यन्तमभ्यर्च्य, द्वारपार्श्वयोर्द्वारपालौ सम्पूज्य दक्षिणद्वारं गत्वा, तथैवार्घाम्बुभिरभ्युक्ष्य, विघ्नादिदेहल्यन्तमभ्यर्च्य, द्वारपार्श्वयोर्द्वारपालौ पूजयेत् ।

अत्र गणेशमन्त्रोपासकैर्वक्रतुण्डैकदंष्ट्रमहोदरगजाननलम्बोदरविकटविघ्नराजधूम्रवर्णा अष्टौ द्वारपालाः प्रतिद्वारं द्विद्विक्रमेण सम्पूज्याः ।

शक्तिसूर्यमन्त्रोपासकैस्तु ब्राह्म्याद्यष्टमातरः प्राग्वत्पूज्याः ।

शिवमन्त्रोपासकैस्तु नन्दिमहाकालगणेशवृषभभृङ्गिरिटिस्कन्दोमाचण्डेश्वरा अष्टौ प्राग्वत्पूज्याः ।

विष्णुमन्त्रोपासकैर्नन्दसुनन्दौ चण्डप्रचण्डौ बलप्रबलौ भद्रसुभद्रो इत्यष्टौ द्वारपालाः प्रतिद्वारं द्विद्विक्रमेण सम्पूज्याः ।

ततः पुनः पश्चिमद्वारं गत्वाऽस्त्रमन्त्रेण तालत्रयपूर्वकमुद्घाटच, सर्षपाक्षतभस्मकुशकुसुमान्यादायाऽस्त्रमन्त्रेण सप्तधाऽभिमन्त्र्य—

अपक्रामन्तु भूतानि पिशाचाः प्रेतगुह्यकाः ।
ये चात्र निवसन्त्यन्ये देवता भुवि संस्थिताः ॥१८॥
अपसर्प्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥१९॥

इत्यन्तेऽस्त्रमन्त्रं जपन् नाराचमुद्रया मण्डपान्तः प्रक्षिप्य, तस्मान्निर्गच्छतां विघ्नसंघानां स्ववामाङ्गसङ्कोचेन मार्गं दत्वाऽस्त्रमन्त्रं स्मरन् वामपार्ष्णिघातत्रयेण भौमानूध्वोर्ध्वतालत्रयेणान्तरिक्षगांस्तिर्यग्दृष्टचवलोकनेन दिव्यान्विघ्नानुत्सार्य्य, दक्षिणपादपुरःसरं देहलीमुल्लङ्घ्यान्तः प्रविश्य, वाससा द्वारमाच्छाद्य, पञ्चगव्यार्घतोयाभ्यां घण्टावादनपूर्वकं मण्डपाभ्यन्तरं प्रोक्ष्य, मण्डपस्य नैर्ऋतकोणे 'वास्तुपुरुषाय नमः', तत्रैव 'वास्त्वधीशाय ब्रह्मणे नमः' इति सम्पूज्य मण्डपस्येशानकोणे 'रक्तवर्णाय रक्तद्वादशशक्तिसहिताय श्रीदीपनाथाय नमः' इति दीपनाथं सम्पूज्य—

अतितीक्ष्ण महाकाय कल्पान्तदहनोपम ।
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञां दातुमर्हसि ॥२०॥

इति भैरवाज्ञां गृहीत्वा, 'अः फट्' इति मण्डपस्य मध्यस्थां पूजावेदीं गत्वा—

"शिरसि—मेरुपृष्ठऋषये नमः, मुखे—सुतलच्छन्दसे नमः, हृदि—पृथिव्यै देवतायै नमः, इति विन्यस्य पृथिवीप्रार्थने विनियोगः" इति कृताञ्जलिरुक्त्वा—

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वं च धारय मां नित्यं पवित्रं कुरु चासनम् ॥२१॥

इति पृथिवीं प्रार्थ्य, स्वासनस्थानं मूलमन्त्रेण वीक्ष्याऽस्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्य, तेनैव मन्त्रेण कुशैस्त्रिः सन्ताडच, कवचमन्त्रेणाऽभ्युक्ष्य, तत्र मण्डूकादिकान्ताः[1]

---

१. ख. 'मण्डूकादिवेदिकान्तः ।

पीठदेवताः सम्पूज्य, तत्र चैलाजिनकुशोत्तरं हस्तद्वयमात्रं चतुरस्रं चतुरङ्गुलोच्छ्रितं स्वासनमास्तीर्य्य, मूलमन्त्रेण दशधाऽभिमन्त्रितजलेनाऽभ्युक्ष्य, 'ह्रीं आधारशक्तिकमलासनाय नमः' इति स्वासनं सम्पूज्य, तत्र प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा पद्मस्वस्तिकवीरसिद्धान्यतमेनासनेनोपविश्याऽसनस्य स्वदक्षिणाग्रकोणादिचतुष्कोणेषु प्रादक्षिण्येन "गं गणपतये नमः, दुं दुर्गायै नमः, सं सरस्वत्यै नमः, क्षं क्षेत्रपालाय नमः।" इति सम्पूज्य, गन्धपुष्पाक्षतादीनि पूजाद्रव्याणि स्वदक्षिणभागे निधाय, 'हां हूँ फट्' इति तानि दिव्यदृष्टया विलोक्य, कर्पूरादिवासितशुद्धोदकपूर्णं वामभागस्थं कुम्भं 'आं' इति वामपाणिना संस्पृशन् दक्षिणकराङ्गुल्यग्रेण 'क्ष्रौं'[1] इति कुम्भस्थं जलं संस्पृश्य, 'रं' इति दीपशिखां स्पृष्ट्वा करं प्रक्षाल्य, कृताञ्जलिः 'वामे—गुरुभ्यो नमः, दक्षिणे—गणपतये नमः, अग्रे—श्रीपरदेवतायै नमः' इति प्रणम्य, चन्दनसुगन्धपुष्पाणि 'ह्स्रैं' इति मन्त्रेणादायाऽस्त्रमन्त्रेण मर्द्दयित्वा, करौ सुरभीकृत्य, तत्पुष्पं वामकरेण स्वमूर्द्धानं परितो 'रों' इति भ्रामयित्वाऽऽघ्राय—

ॐ ह्रौं ते सर्वे विलयं यान्तु ये मां हिंसन्ति हिंसकाः।
मृत्युरोगभयक्लेशाः पतन्तु रिपुमस्तके ॥२२॥

इति पठित्वाऽस्त्रमन्त्रेण नाराचमुद्रया ऐशान्यां दिशि दूरे प्रक्षिप्याऽस्त्रमन्त्रेण पुनः करावन्योन्यमर्द्दनेन संशोध्याऽस्त्रमन्त्रेणोर्ध्वोर्ध्वतालत्रयमङ्गुष्ठतर्ज्जन्युत्थशब्देन दशदिग्बन्धनं च कृत्वा, त्रिशूलमुद्रामुद्रितौ व्यत्यस्तौ मणिबन्धेनान्योन्यं सम्पृक्तौ करौ स्वमूर्द्धानं परितोऽस्त्रमन्त्रं स्मरन् प्रादक्षिण्येन त्रिर्भ्रामयन्नग्निप्राकारत्रयं विधाय, तन्मध्यगतमात्मानं सञ्चिन्त्य वक्ष्यमाणविधिना मूलमन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा **भूतशुद्धिं** कुर्यात्।

तत्र पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानं चतुरस्रं वज्रलाञ्छितं पीतवर्णं ब्रह्मदैवतं निवृत्तिकलाधिष्ठितं 'लं' बीजयुक्तं ध्यात्वा, जान्वादिनाभिपर्यन्तमपां स्थानमर्धचन्द्राकारं शुक्लवर्णं शृङ्गद्वयेऽपि पद्मलाञ्छितं विष्णुदैवतं प्रतिष्ठाकलाधिष्ठितं 'वं' बीजयुक्तं ध्यात्वा, नाभ्यादिकण्ठपर्यन्तं वह्निस्थानं स्वस्तिकोपेतत्रिकोणाकारं रक्तवर्णं रुद्रदैवतं विद्याकलाधिष्ठितं 'रं' बीजयुक्तं ध्यात्वा, कण्ठादिभ्रूमध्यपर्यन्तं वायुस्थानं षट्कोणाकारं षड्विन्दुलाञ्छितवृत्तवेष्टितं कृष्णवर्णमीश्वरदैवतं शान्तिकलाधिष्ठितं 'यं' बीजयुक्तं ध्यात्वा, भ्रूमध्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तमाकाशस्थानं वृत्ताकारं ध्वजलाञ्छितं धूम्रवर्णं सदाशिवदैवतं शान्त्यतीतकलाधि-

१. ख. 'क्ष्मौं'।

ष्ठितं 'हं' बीजयुक्तं ध्यात्वा, तत्र पञ्चभूतमये देहे धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालकमैश्वर्य्याष्टदलोपेतं परवैराग्यकर्णिकं स्वहृदयारविन्दं विभाव्य, तत्कर्णिकायां जीवात्मानमाराग्रमात्रं प्रदीपकलिकाभासुरमनादिमलसञ्च्छन्नं परचिद्रूपं सञ्चिन्त्य, प्रागुक्तरूपेण मूलाधारात्कुण्डलिनीमुत्थाप्य, सुषुम्णावर्त्मना मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतचक्रगतवर्णवर्णाधिदेवता ग्रसन्तीं हृदयकमलमानीय, तया कवलीकृतं जीवात्मानं ध्यायन् सुषुम्णावर्त्मना विशुद्धचाज्ञाचक्रस्थवर्णवर्णाधिदेवता ग्रसन्तीं ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा, तत्र स्थितसहस्रदलकमलकर्णिकामध्यवर्त्तिनि परमात्मज्योतिषि वर्णवर्णाधिदेवताकदम्बसहितं जीवात्मानं 'हंसः' इति मन्त्रेण संयोज्य, कुण्डलिनीं स्वस्थानमानीय, तत्वसंहारं कुर्यात् ।

तत्र पृथिवीस्थाने पादेन्द्रियगमनक्रियागन्तव्यगन्धघ्राणपृथिवीब्रह्मनिवृत्तिसमानवायून्संस्मृत्य—"ॐ ह्रां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये निवृत्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इति मन्त्रेण तान्सर्वान्कुण्डलिनीद्वारा अपां मध्ये संहरेत् ।

ततोऽपां स्थाने हस्तादानदातव्यरसरसनाजलविष्णुप्रतिष्ठोदानान्सञ्चिन्त्य—"ॐ ह्रीं विष्णवे जलाधिपतये प्रतिष्ठाकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इति तान् सर्वान्कुण्डलिनीद्वारा वह्नितत्त्वे संहरेत् ।

ततो वह्निस्थाने पायुविसर्गविसर्ज्जनीयरूपचक्षुर्वह्निरुद्रविद्याव्यानान् संस्मृत्य "ॐ ह्रूं रुद्राय तेजोऽधिपतये विद्याकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इति मन्त्रेण तान्सर्वान्वायुमण्डले संहरेत् ।

ततो वायुस्थाने उपस्थानन्दतद्विषयस्पर्शस्प्रष्टव्यवाय्वीश्वरशान्त्यपानान् संस्मृत्य "ॐ ह्रैं ईश्वराय वाय्वधिपतये शान्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इति तान्सर्वानाकाशस्थाने संहरेत् ।

तत आकाशस्थाने वाग्वदनवक्तव्यशब्दश्रोत्राकाशसदाशिवशान्त्यतीतप्राणान्संस्मृत्य "ॐ ह्रौं सदाशिवायाकाशाधिपतये शान्त्यतीतकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इति तान्सर्वान्कुण्डलिन्यां संहृत्य, तां बिन्दुशक्तौ, बिन्दुशक्तिं[1] परशक्तौ प्रणवेन संहृत्य "ॐ ह्रीं हुं फट् स्वाहा" इति तां परशक्तिं पूर्वोक्तपरमात्मनि संयोज्य, केवलशरीरे वामकुक्षौ पापपुरुषं चिन्तयेत् । तद्यथा—

वामकुक्षिस्थितं पापपुरुषं कज्जलप्रभम् ।
ब्रह्महत्याशिरस्कन्धं स्वर्णस्तेयभुजद्वयम् ॥२२॥

---

१. ख. प्रत: परमयमंशो विशेष:—"नादशक्तौ नादशक्तिं" इति ।

सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम् ।
तत्संसर्गिपदद्वन्द्वमङ्गप्रत्यङ्गपातकम् ॥२३॥

उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम् ।
खड्गचर्म्मधरं क्रुद्धं कुक्षौ पापं विचिन्तयेत् ॥२४॥

इति पापपुरुषं सञ्चिन्त्य, वामनासारन्ध्रेण वायुबीजेन सह वायुमापूर्य्य, नाभिस्थषट्कोणाकारे वायुमण्डले संयोज्य, तत्र 'यं' इति वायुबीजं कृष्णवर्णं सञ्चिन्त्य कुम्भकेन 'यं' बीजमावर्त्तयंस्तदुद्भूतेन प्रचण्डवायुना सपापपुरुष स्वदेहं संशोष्य, तं वायुं दक्षिणनासया विरेच्य, पुनर्दक्षिणनासया 'रं' बीजेन सह वायुमापूर्य्य, मूलाधारे संयोज्य, तत्रस्थवह्निमण्डले 'रं' इति वह्निबीजं रक्तवर्णं विचिन्त्य, कुंभकेन 'रं' इति बीजमावर्त्तयंस्तदुत्थितेन महावह्निना सपापपुरुषं स्वदेहं संदह्य, पापपुरुषभस्मना सह तं वायुं वामनासया विरेच्य, पुनर्वामनासया 'वं' बीजेन सह वायुमापूर्य्यं, ब्रह्मरन्ध्रे संयोज्य, तत्रस्थितचिच्चन्द्रमण्डले 'व' इत्यमृतबीजं शुक्लवर्णं सञ्चिन्त्य, कुम्भकेन 'वं' बीजमावर्त्तयंस्तन्निःसृतामृतधारया स्वदेहभस्म संसिच्य, तं वायुं दक्षिणनासया विरेच्य, पुनर्दक्षिणनासया 'लं' बीजेन सह वायुमापूर्यं, मूलाधारस्थपार्थिवमण्डले संयोज्य, तत्र 'लं' इति पृथिवीबीजं पीतवर्णं सञ्चिन्त्य कुम्भकेन 'लं' बीजमावर्त्तयंस्तदुद्भूतेन तेजसाऽमृतप्लावितं भस्म घनीकृत्य, तं वायुं वामनासया विरेच्य, पुनर्वामनासया मायाबीजेन सह वायुमापूर्य्यं, मूलाधारस्थबिन्दुमध्ये मायाबीजं स्फुरद्बालार्कवर्णं संचिन्त्य, कुम्भकेन मायाबीजमावर्त्तयंस्तेन करचरणाद्यवयवसमेतं स्वदेहं निष्पन्नं विभाव्य, तं वायुं दक्षिणनासया विरेचयेदिति स्थूलशरीरं निष्पाद्य सूक्ष्मशरीरं निष्पादयेत् । तद्यथा—

तत्र पूर्वोक्तसहस्रारकमलस्थितपरमात्मनः सकाशात्सकलजगत्सिसृक्षाविजृम्भितपरब्रह्मेच्छारूपिणीं परशक्तिं—"ॐ ह्रीं नमः" इति स्वस्थानमानीय, ततो नादशक्तिं, ततो बिन्दुशक्तिं प्रणवेन सृष्ट्वा, बिन्दुशक्तेः सकाशात्सकलजगत्सृष्टिहेतुभूतां कुण्डलिनीं प्रणवेन निःसार्य्य, ततः "ॐ हौं सदाशिवाय आकाशाधिपतये शान्त्यतीतकलात्मने नमः" इति प्राणशान्त्यतीतसदाशिवाकाशश्रोत्रशब्दवक्तव्यवदनवाच आकाशस्थाने स्थापयेत् ।

तत आकाशमण्डलात् "ॐ हैं ईश्वराय वाय्वधिपतये शांतिकलात्मने नमः" इति मन्त्रेणापानशान्तीश्वरवायुस्प्रष्टव्यस्पर्शतद्विषयानन्दोपस्थान्वायुस्थाने स्थापयेत् ।

ततो वायुमण्डलात्–"ॐ ह्रूं रुद्राय तेजोऽधिपतये विद्याकलात्मने नमः" इति मंत्रेण व्यानविद्यारुद्रतेजश्चक्षूरूपविसर्ज्जनीयविसर्गपायूनग्निस्थाने स्थापयेत् ।

ततोऽग्निमण्डलात् "ॐ ह्रीं विष्णवे जलाधिपतये प्रतिष्ठाकलात्मने नमः" इति मन्त्रेणोदानप्रतिष्ठाविष्णुजलरसनारसदातव्यादानहस्तानपां स्थाने स्थापयेत् ।

ततो जलमण्डलात् "ॐ ह्रां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये निवृत्तिकलात्मने नमः" इति मन्त्रेण समाननिवृत्तिपृथिवीघ्राणगन्धगन्तव्यगमनक्रियापादेन्द्रियाणि पृथिवीस्थाने स्थापयित्वा, नादशक्तिबिन्दुशक्तिपरशक्तीनां प्रणवेन स्वदेहे व्याप्तिं विभाव्य, ब्रह्मरन्ध्रस्थपरमात्मनः सकाशात्कुण्डलिन्या जीवात्मानं संहृतवर्णवर्णाधिदेवतासहितमाज्ञादिचक्रेषु तत्तद्वर्णवर्णाधिदेवताः स्थापयन्हृदयकमलमानीय, हृदयकमले जीवात्मानं 'सोहं' इति मन्त्रेण स्थापयित्वा, कुण्डलिनीं सुषुम्णामार्गेण मणिपूरकादिचक्रेषु तत्तद्वर्णवर्णाधिदेवताः स्थापयन्मूलाधारं नीत्वा, तत्र तां स्थापयेत् ।

ततः स्वशरीरं निरस्तसकलकलुषं तेजोरूपं देवताराधनयोग्यं विभाव्य **प्राणप्रतिष्ठां** कुर्यात् । सा यथा—

"शिरसि—ब्रह्मविष्णुशिवेभ्य ऋषिभ्यो नमः, मुखे—ऋग्यजुःसामभ्यः छन्दोभ्यो नमः, हृदये—पराप्राणशक्त्यै देवतायै नमः, गुह्ये—आं बीजाय नमः, पादयोः—ह्रीं शक्तये नमः, नाभौ—क्रों कीलकाय नमः, इति विन्यस्य मम प्राणप्रतिष्ठार्थे विनियोगः" इति कृताञ्जलिर्वदेत् ।

ततः "ॐ आं ह्रीं क्रों अं कं खं गं घं ङं आकाशवाय्वग्निसलिलपृथिव्यात्मने आं हृदयाय नमः । ॐ आं ह्रीं क्रों इं चं ४ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने ईं शिरसे स्वाहा । ॐ आं ह्रीं क्रों उं टं ४ श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणात्मने ऊं शिखायै वषट् । ॐ आं ह्रीं क्रों एं तं ४ वाक्पाणिपादपायूपस्थात्मने ऐं कवचाय हुं । ॐ आं ह्रीं क्रों ओं पं ४ वचनादानविसर्गगमनानन्दात्मने औं नेत्राय वौषट् । ॐ आं ह्रीं क्रों अं यं ९ मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मने अः अस्त्राय फट् ।" इति मन्त्रानङ्गुष्ठादितलान्तं करयोर्विन्यस्य हृदयादिषडङ्गेष्वपि न्यसेत् । ततो नाभ्यादिपादद्वयाग्रान्तं—'आं नमः', कण्ठादिनाभ्यन्त—'ह्रीं नमः', मूर्द्धादिकण्ठान्तं-'क्रों नमः' । ततो हृदयकमले वायव्यदले—'यं नमः', आग्नेये—'रं नमः', पूर्वे—'लं०', पश्चिमे—'वं०,' ईशाने—'शं०', नैरृते 'षं०', उत्तरे—'सं०', दक्षिणे—'हं०', कर्णिकायां—'क्षं नमः' इति विन्यस्य ततो ध्यानम्—

रक्ताब्धिपोतारुणपद्मसंस्थां,
पाशाङ्कुशाविक्षुशरासबाणान् ।
शूलं कपालं दधतीं कराब्जै
रक्तां त्रिनेत्रां प्रणमामि देवीम् ॥२५॥

वामाद्यूर्ध्वयोराद्ये [1]तदाद्यधस्थयोरपरे । इत्यायुधध्यानम् । शरासो धनुः ।

इति ध्यात्वा हृदि हस्तं निधाय—

"ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हों हं सः सों हं मम प्राणा इह प्राणाः, आमित्यादि मम जीव इह स्थितः, आमित्यादि मम सर्वेन्द्रियाणि, आमित्यादि मम वाङ्मनःश्रोत्रघ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॐ" इति प्राणप्रतिष्ठामन्त्रं जप्त्वा, निजवपुर्ज्योतीरूपं ध्यायेत् । **इति प्राणप्रतिष्ठाविधिः ।**

॥ अथ मातृकान्यासः ॥

तत्र मातृकार्णैः प्राणायामत्रयं कृत्वा मातृकान्यासं कुर्यात् । तत्र स्वरैः पूरकः, कादिभिः कुम्भकः, यादिभी रेचक इति प्राणायामक्रमो ज्ञेयः ।

इति प्राणायामत्रयं कृत्वा "शिरसि—ब्रह्मणे ऋषये नमः, मुखे—गायत्र्यै छन्दसे नमः, हृदये—श्रीमातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः, गुह्ये—हल्भ्यो बीजेभ्यो नमः, पादयोः—स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः, नाभौ—व्यक्तये कीलकाय नमः, इति विन्यस्य मातृकान्यासे विनियोगः" इति कृताञ्जलिर्वदेत् ।

ततो दक्षकरतले—"अं नमः, तत्पृष्ठे—आं, तत्करभे—इं०", तदङ्गुष्ठादिवामाङ्गुष्ठान्तासु दशस्वङ्गुलीषु तुर्यस्वराद्योकारान्तं विन्यस्य, स्ववामकरभतत्पृष्ठतलेषु औकारादिविसर्गान्तं न्यसेत् । अयं **केवलो न्यासः** ।

ततो वामकरतलादिदक्षकरतलान्तं विसर्गाद्यकारान्तान्स्वरान्सबिन्दुकान्न्यसेत् । अयं **संहारन्यासः** ।

दक्षकरतलादिवामकरतलान्तं सविसर्गान्स्वरान्न्यसेत् । अयं **सृष्टिन्यासः** ।

वामकनिष्ठादितत्तलान्तमष्टौ स्वरान् बिन्दुविसर्गसहितान् लृकारादीन्विन्यस्य दक्षकरतलादितत्कनिष्ठान्तमकारादिऋकारान्तानष्टौ स्वरान्बिन्दुविसर्गयुक्तान्न्यसेदिति **स्थितिन्यासः** ।

---

१. ख. इतः प्रागयमंशो विशेषः—"तदाद्यधःस्थयोरन्ये" ।

इति मातृकास्वरान्विन्यस्य, तकारादीन् शान्तान् वामकनिष्ठामूलादितदङ्गुष्ठाग्रपर्वान्तेषु पञ्चदशस्थानेषु विन्यस्य, दक्षाङ्गुष्ठादितत्कनिष्ठाग्रान्तेषु कादिणान्तान्विन्यस्य, करद्वयेऽप्यङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं युगपदेव षादिक्षान्तान्पञ्चवर्णान् व्यापकत्वेन न्यसेत् ।

इति मातृकावर्णैः करशुद्धिं विधायाङ्गुष्ठयोः--"अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः, तर्ज्जन्योः---इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा, मध्यमयोः---उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्, अनामिकयोः —एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुं, कनिष्ठयोः—ओं पं फं बं भं मं औं नेत्राय वौषट्, करतलपृष्ठयोः—अं यं रं लं वं शं षं सं हं क्षं अः अस्त्राय फट् ।" इति करयोर्विन्यस्यैतानेव मन्त्रान् हृदयशिरश्शिखाकवचनेत्रेषु विन्यस्याऽस्त्रमन्त्रेण तालत्रयं दशदिग्बन्धनं च कृत्वा—

व्योमेन्द्वौ रसनार्णकर्णिकमचां द्वन्द्वैः स्फुरत्केसरं,
पत्रान्तर्गतपञ्चवर्गयशलार्णादित्रिवर्गं क्रमात् ।
आशास्वश्रिषु सान्तलाङ्गलियुजा क्षोणीपुरेणावृतं,
वर्णाब्जं शिरसि स्थितं विषगदप्रध्वंसि मृत्युञ्जयम् ॥२६॥

ध्यायेदिति शेषः । इति ब्रह्मरन्ध्रे वर्णारविन्दं **वक्ष्यमाणरूपं ध्यात्वाऽन्तर्न्यासपूर्वकं बहिर्न्यासं** कुर्य्यात् । तत्र—

मूलाधारध्वनिं श्रुत्वा प्रबुद्धा शक्तिकुण्डली ।
ज्वलत्पावकसङ्काशा सूक्ष्मा तेजःस्वरूपिणी ॥२७॥

मूलाधाराच्छिरःपद्मं स्पृशन्ती विद्युदाकृतिः ।
तया स्पृष्टशिरःपद्मादमृतौघस्वरूपिणः ॥२८॥

निर्गतान्मातृकावर्णान् सुषुम्णावर्त्मना तनुम् ।
व्यापयित्वा स्थितान्सर्वानेवं ध्यात्वा प्रविन्यसेत् ॥२९॥

इति सूक्ष्मरूपां वर्णतनुं ध्यात्वा, कण्ठे विशुद्धिचक्रे षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं ध्यात्वा, तद्दलेषु पूर्वादिप्रादक्षिण्येन "ॐ अं नमः, ॐ आं नमः, ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः, ॐ उं नमः, ॐ—ऊं नमः, ॐ ऋं नमः, ॐ ॠं नमः, ॐ ऌं नमः, ॐ ॡं नमः, ॐ एं नमः, ॐ ऐं नमः, ॐ ओं नमः, ॐ औं नमः, ॐ अं नमः, ॐ अः नमः," इति विन्यस्य—

हृदये अनाहतचक्रं द्वादशदलकमलं ध्यात्वा, तद्दलेषु पूर्वादिप्रादक्षिण्येन ॐ कं नमः, ॐ खं नमः, एवं गं०, घं०, ङं०, चं०, छं०, जं०, झं०, ञं०, टं०,

ठं नमः, ततो नाभिमण्डले दशदलकमलं मणिपूरकचक्रं प्राग्वद्ध्यात्वा, तद्दलेषु पूर्वादिप्रादक्षिण्येन—"ॐ डं नमः, एवं ढं०, णं०, तं०, थं०, दं०, धं०, नं०, पं०, फं नमः" इति विन्यस्य।

लिङ्गमूले स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलकमलं ध्यात्वा, तद्दलेषु प्रादक्षिण्येन "ॐ बं नमः, एवं भं०, मं०, यं०, रं०, लं नमः"। ततो मूलाधारचक्रं चतुर्द्दलकमलं ध्यात्वा 'ॐ वं नमः, एवं शं०, षं०, सं नमः", ततो भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रं द्विदलकमलं ध्यात्वा तद्दलेषु "हं नमः, क्षं नमः" इत्यन्तर्मातृकां विन्यस्य **बहिर्मातृकान्यासं** कुर्य्यात्। अत्र मातृकान्यासो मनसैव कार्यः।

पुष्पैरनामया वापि मनसा वा न्यसेदणून्।

इति **श्रीदक्षिणामूर्त्तिसंहिता**वचनात्। "एवमअन्तः प्रविन्यस्य मनसाऽतो बहिर्न्यसेत्" इति **कुम्भसम्भव**वचनाच्च। अत्र 'समुच्चये अणून्मन्त्रान्' अत्रैवं व्यवस्था—पुष्पैर्देवतामूर्त्तौ, अनामया स्वदेहे, मनसा मूलाधारादिचक्रेषु तत्र करस्पर्शाऽसम्भ—वात्। अनामया साङ्गुष्ठया—

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु न्यासः सर्वत्र सम्मतः।

इति **पद्मवाहिनी**वचनात्। इति ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासव्यतिरिक्तेष्वियं व्यवस्था ज्ञेया। तत्रानङ्गुष्ठानां सर्वाङ्गुलीनां विहितत्वात्तथैव सम्प्रदायात् षडङ्गमुद्राणामपि पृथक् पृथक् प्रतिपादनाच्चेति।

अथ बहिर्न्यासः। तत्र ध्यानम्—

पंचाशद्वर्णभेदैर्विहितवदनदोःपादयुक्कुक्षिवक्षो—
देशां भास्वत्कपर्द्दाकलितशशिकलामिन्दुकुन्दावदाताम्।
अक्षस्रक्कुम्भचिन्तालिखितवरकरां त्रीक्षणां पद्मसंस्था—
मच्छाकल्पामतुच्छस्तनजघनभरां भारतीं तां नमामि ॥३०॥

चिन्तालिखितं पुस्तकम्। दक्षिणोर्ध्वकरमारभ्य दक्षिणाधःकरपर्यन्त-मायुधध्यानम्। इति पूर्वोक्ते ब्रह्मरन्ध्रस्थवर्णारविन्दे मातृकासरस्वतीं ध्यात्वा—

"शिरसि—अं नमः, मुखवृत्ते—आं नमः, दक्षिणनेत्रे—इं नमः, वामे—ईं नमः, दक्षिणकर्णे—उं नमः, वामकर्णे—ऊं नमः, दक्षिणनासापुटे—ऋं नमः, वामे—ॠं नमः, दक्षिणगण्डे-ऌं नमः, वामे—ॡं नमः, ओष्ठे—एं नमः, अधरे—ऐं नमः, ऊर्ध्वदन्ते—ओं नमः, अधोदन्ते—औं नमः, तालुमूले—अं नमः, जिह्वाग्रे—अः नमः, दक्षिणबाहुमूले-कं नमः, मध्ये—खं नमः, मणिबन्धे—गं नमः, अङ्गुलिमूले-घं नमः, अङ्गुल्यग्रे—ङं नमः, वामबाहुमूले—चं नमः, मध्ये—छं नमः, मणिबन्धे—जं

नमः, अङ्गुलिमूले—झं नमः, अङ्गुल्यग्रे—ञं नमः, दक्षोरुमूले—टं नमः, जानुनि—ठं नमः, गुल्फे—डं नमः, अङ्गुलिमूले—ढं नमः, अङ्गुल्यग्रे—णं नमः, वामोरुमूले—तं नमः, जानुनि—थं नमः, गुल्फे—दं नमः, अङ्गुलिमूले—धं नमः, अङ्गुल्यग्रे—नं नमः, जठरे—मं नमः, हृदये—यं नमः, दक्षिणांसे—रं नमः, ककुदि—लं नमः, वामांसे—वं नमः, हृदयादिदक्षिणकराग्रपर्यन्तं—शं नमः, हृदयादिवामकराग्रपर्यन्तं—षं नमः, हृदयादिदक्षिणपादाग्रपर्यन्तं—सं नमः, हृदयादिवामपादाग्रपर्यन्तं—हं नमः, हृदयादिनाभ्यन्तं—लं नमः, हृदयादिमूर्द्धान्तं—क्षं नमः" ।

इति **केवलमातृकान्यासः** ।

अत्र केवलेऽपि विन्दुयुक्तत्वमक्षराणां वीर्ययोजनार्थमिति सम्प्रदायः ।

।। अथ बिन्दुमातृकान्यासः ।।

तत्र ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासास्तु प्रागुक्ता एव । ध्यानं तु—

अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कं,
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम् ।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणामरविन्दवासां,
वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम् ।।३१।।

विद्यापुस्तकं दक्षाद्यूर्द्ध्वयोराद्ये तदाद्यस्थयोरन्ये । इति वर्णारविन्दे ध्यात्वा-"मूर्द्धादिहृदयान्तं—क्षं नमः, नाभ्यादिहृदयान्तं—"सं"[1] नमः, इत्यादि शिरसि—अं नमः", इत्यन्तं संहारक्रमेण यस्य वर्णस्य यत् स्थानं तत्र तत्र तदक्षरं न्यसेत् ।

।। अथ विसर्गमातृकान्यासः[2] ।।

तत्र ऋष्यादिध्यानान्तं केवलमातृकान्यासोक्तमेव "अः नमः, आः नमः" इत्यादिविसर्गान्तान्केवलमातृकान्यासस्थानेष्वेव न्यसेदिति **सविसर्गः सृष्टिमातृकान्यासः** ।

।। अथ बिन्दुविसर्गयुक्तस्थितिमातृकान्यासः ।।

तत्र ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासाः केवलमातृकान्यासवदेव । ध्यानं तु—

सिन्दूरकान्तममिताभरणं त्रिनेत्रं,
विद्याक्षसूत्रमृगपोतवरं दधानम् ।
पार्श्वस्थितां भगवतीमपि काञ्चनाभां,
ध्यायेत्कराब्जधृतपुस्तकवर्णमालाम् ।।३२।।

---

१. ख. लं । २. ख. **विसर्गयुक्तमातृकान्यासः** ।

वामाद्यधःकरयोराद्ये तदाद्यूर्द्ध्वयोरन्ये इत्यायुधध्यानं शिवस्य, देव्यास्तु वामादि। इति वर्णारविन्दे ध्यात्वा "दक्षिणगुल्फे—डं: नमः, अङ्गुलिमूले—ढं: नमः, अङ्गुल्यग्रे—णं: नमः, वामोरुमूले—तं: नमः, इत्यादि हृदयादिमूर्द्धान्तं—क्षं: नमः इत्यन्तं केवलमातृकान्यासस्थानेष्वेव न्यसेत्। इति **स्थितिमातृकान्यासः।**

अत्र यतिवानप्रस्थैरादौ सृष्टिस्ततः स्थितिस्ततः संहार इति क्रमेण कार्यः। गृहस्थैस्तु प्रथमं संहारस्ततः सृष्टिस्ततः स्थितिः कार्यः। ब्रह्मचारिभिरादौ स्थितिस्ततः संहारस्ततः सृष्टिरिति। अत्र केचिद्गृहस्थैः सृष्टिस्थितिसंहारानन्तरं पुनः सृष्टिस्थिती कार्ये तेन स्थित्यन्तता स्यात्। एवं ब्रह्मचारिभिः सृष्टिस्थितिसंहारानन्तरं पुनः सृष्टिन्यासः कार्यः। एवं कृते स्थित्यन्तता, सृष्ट्यन्तता, संहारान्तता भवतीत्याहुः। अत्र यथागुरूपदेशं कार्य्यमिति।

॥ अथ तारोत्थैकपञ्चाशत्कलामातृकान्यासः ॥

तत्र "शिरसि—प्रजापतये ऋषये नमः, मुखे—गायत्रीछन्दसे नमः, हृदये—कलारूपिण्यै मातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः, इति विन्यस्य न्यासे विनियोगः" इति कृताञ्जलिर्वदेत्।

"अं ॐ आं हृदयाय नमः, इं ॐ ईं शिरसे स्वाहा, उं ॐ ऊं शिखायै वषट्, एं ॐ ऐं कवचाय हुं, ओं ॐ औं नेत्राय वौषट्, अं ॐ अः अस्त्राय फट्।" इति कराङ्गन्यासः। ततो ध्यानम्—

हस्तैः पद्मं रथाङ्गं गुणमथ हरिणं पुस्तकं वर्णमालां,
टङ्कं शुभ्रं कपालं दरममृतलसद्धेमकुम्भं वहन्तीम्।
मुक्ताविद्युत्पयोदस्फटिकनवजपाबन्धुरैः पञ्चवक्त्रै—
स्त्र्यक्षैर्वक्षोजनम्रां सकलशशिनिभां शारदां तां नमामि ॥३३॥

दरः शङ्खः, गुणः पाशः, वामाद्यधःकरयोराद्ये, तदाद्यूर्द्ध्वयोरन्ये, तदाद्यूर्द्ध्वयोरपरे, तदाद्यूर्द्ध्वयोरितरे इत्यायुधध्यानम्।

इति वर्णारविन्दे ध्यात्वा न्यसेत्। तद्यथा—"ॐ अं निवृत्यै नमः, ॐ आं प्रतिष्ठायै नमः, ॐ इं विद्यायै नमः, ॐ ईं शान्त्यै नमः, ॐ उं इन्धिकायै नमः, ॐ ऊं दीपिकायै नमः, ॐ ऋं रेचिकायै नमः, ॐ ॠं मोचिकायै नमः, ॐ ऌं परायै नमः, ॐ ॡं सूक्ष्मायै नमः, ॐ एं सूक्ष्मामृतायै नमः, ॐ ऐं ज्ञानामृतायै नमः, ॐ ओं आप्यायिन्यै नमः, ॐ औं व्यापिन्यै नमः, ॐ अं व्योमरूपिण्यै

नमः, ॐ अः अनन्तायै नमः, ॐ कं सृष्ट्यै नमः, ॐ खं ऋद्ध्यै नमः, ॐ गं स्मृत्यै नमः, ॐ घं मेधायै नम, ॐ ङं कान्त्यै नमः, ॐ चं लक्ष्म्यै नमः, ॐ छं द्युत्यै नमः, ॐ जं स्थिरायै नमः, ॐ झँ स्थित्यै नमः, ॐ ञाँ सिद्ध्यै नमः, ॐ टं जरायै नमः, ॐ ठं पालिन्यै नमः, ॐ डं शान्त्यै नमः, ॐ ढं ऐश्वर्य्यायै नमः, ॐ णं रत्यै नमः, ॐ तं कामिकायै नमः, ॐ थं वरदायै नमः, ॐ दं ह्लादिन्यै नमः, ॐ धं प्रीत्यै नमः, ॐ नं दीर्घायै नमः, ॐ पं तीक्ष्णायै नम, ॐ फं रौद्र्यै नमः, ॐ बं भयायै नमः, ॐ भं निद्रायै नमः, ॐ मं तन्द्रायै नमः, ॐ यं क्षुधायै नमः, ॐ रं क्रोधिन्यै नमः, ॐ लं क्रियायै न०:, ॐ वं उल्काय्यै नमः, ॐ शं मृत्युरूपायै नमः, ॐ षं पीतायै नमः, ॐ सं श्वेतायै नमः, ॐ हं अरुणायै नमः, ॐ लं असितायै नमः_ ॐ क्षं अनन्तायै नमः।" इति शुद्धमातृकास्थानेषु न्यसेत्।

अत्र नादात्मनः सदाशिवात् सम्भूताः स्वरकलाः श्वेता अक्षस्रक्पुस्तकपाशकपालकरा ध्येयाः। कचवर्गकला अकाराद् ब्रह्मण उत्पन्नाः पीता अक्षस्रक्पङ्कजाभयकमण्डलुकरा ध्येयाः। टतवर्गजा उकाराद् विष्णोरुत्पन्नाः श्यामा अभयशङ्खचक्रवरहस्ता ध्येयाः। पयवर्गजा मकाराद्रुद्रादुत्पन्नाः शरच्चन्द्रनिभा अभयशूलकपालवरहस्ता ध्येयाः। षादिपञ्चवर्णजा ईश्वराद् बिन्दोरुत्पन्ना रक्ता अभयहरिणटङ्कवरहस्ता ध्येया इति **तारोत्थकलामातृकान्यासः।**

॥ अथ केशवादिमातृकान्यासः ॥

तत्र "साध्यनारायणऋषिर्गायत्रीछन्दः श्रीलक्ष्मीनारायणो देवता न्यासे विनियोगः" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा मूर्द्धादिषु प्राग्वच्चतुर्थीनमोऽन्तेन विन्यस्य ॐ अं कं खं गं घं ङं आं क्लां हृदयाय नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं क्लीं शिरसे स्वाहा, उं टं ठं डं ढं णं ॐ क्लूं शिखायै वषट्, एं तं थं दं धं नं ऐं क्लैं कवचाय हुम्, ओं पं फं बं भं मं औं क्लौं नेत्राय वौषट्, ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः क्लः अस्त्राय फट्" इति मन्त्रैः प्राग्वत्करषडङ्गन्यासं कृत्वा—

विद्यारविन्दमुकुरामृतकुम्भपद्म-
कौमोदकीदरसुदर्शनशोभिहस्तम्।
सोदामिनीमुदिरकान्ति विभाति लक्ष्मी-
नारायणात्मकमखण्डितमात्ममूर्त्तेः ॥३४॥

वपुरिति शेषः। वामाद्यधः करमारभ्य दक्षिणाधःकरपर्यन्तमायुधध्यानमिति ध्यात्वा—"ॐ क्लीं अं केशवाय कीर्त्यै नमः, क्लीं आं नारायणाय कान्त्यै नमः, क्लीं इं माधवाय तुष्ट्यै नमः, क्लीं ईं गोविन्दाय पुष्ट्यै नमः, क्लीं उं विष्णवे धृत्यै नमः, एवं ऊं मधुसूदनाय शान्त्यै नमः, ऋं त्रिविक्रमाय क्रियायै नमः, ॠं वामनाय दयायै०, लृं श्रीधराय मेधायै०, ॡं हृषीकेशाय हर्षायै०, एं पद्मनाभाय श्रद्धायै०, ऐं दामोदराय लज्जायै नमः, ओं वासुदेवाय लक्ष्म्यै नमः, औं सङ्कर्षणाय सरस्वत्यै नमः, अं प्रद्युम्नाय प्रीत्यै नमः, अः अनिरुद्धाय सरस्वत्यै नमः, कं चक्रिणे जयायै नमः, खं गदिने दुर्गायै नमः, गं शार्ङ्गिणे प्रभायै नमः, घं खड्गिने सत्यायै नमः, ङं शंखिने चण्डायै नमः, चं हलिने वाण्यै नमः, छं मुसलिने विलासिन्यै नमः, जं शूलिने विजयायै नमः, झं पाशिने विरजायै नमः, ञं अङ्कुशिने विश्वायै नमः, टं मुकुन्दाय विनंदायै नमः, ठं नन्दजाय सुनन्दायै नमः, डं नन्दिने स्मृत्यै नमः, ढं नराय ऋद्ध्यै नमः, णं नरकजिते समृद्ध्यै नमः, तं हरये शुद्ध्यै नमः, थं कृष्णाय भुक्त्यै नमः, दं सत्याय बुध्यै नमः, धं सात्वताय मत्यै नमः, नं शौरये क्षमायै नमः, पं शूराय रमायै नमः, फं जनार्दनायोमायै नमः, बं भूधराय क्लेदिन्यै नमः, भं विश्वमूर्त्तये क्लिन्नायै नमः, मं वैकुण्ठाय वसुदायै नमः, यं त्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायै नमः, रं असृगात्मने बलिने परायै नमः, लं मांसात्मने बलानुजाय परापरायै[1] नमः, वं मेदआत्मने बलाय सूक्ष्मायै नमः, शं अस्थ्यात्मने वृषघ्नाय संध्यायै नमः, षं मज्जात्मने वृषाय प्रज्ञायै नमः, सं शुक्रात्मने हंसाय प्रभायै नमः, हं प्राणात्मने वराहाय निशायै नमः, लं शक्त्यात्मने विमलायामोघायै नमः, क्षं परमात्मने नृसिंहाय विद्युतायै नमः ।" इत्येकपञ्चाशन्मूर्त्तिशक्तीः केवलमातृकास्थानेषु न्यसेत् ।

केशवाद्या इमे श्यामाश्चक्रशङ्खलसत्कराः ।
शक्तयस्तु प्रियाङ्केषु निषण्णाः सस्मिताननाः । ३५।।
विद्युद्दामसमानाङ्ग्यः पङ्कजाभयबाहवः ।

इति ध्येयाः । **इति केशवादिमातृकान्यासः ।**

।। अथ श्रीकण्ठादिमातृकान्यासः ।।

तत्र "दक्षिणामूर्त्तिऋषिर्गायत्रीछन्दः श्रीअर्द्धनारीश्वरो देवता न्यासे विनियोगः" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, विन्यस्य करषडङ्गन्यासं कुर्यात् । तद्यथा—

---

१. क. परायणायै ।

"अं कं खं गं घं ङं आं ह्स्रां हृदयाय नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं ह्स्रीं शिरसे स्वाहा, उं टं ठं डं ढं णं ऊं ह्स्रूं शिखायै वषट्, एं तं थं दं धं नं ऐं ह्स्रैं कवचाय हुं, ओं पं फं बं भं मं औं ह्स्रौं नेत्राय वौषट्, अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः ह्स्रः अस्त्राय फट्" इति षडङ्गमन्त्रानङ्गुष्ठादितलान्तं करयोर्विन्यस्य हृदयादिष्वपि षडङ्गेषु न्यसेत् । ततो ध्यानम्—

बन्धूककाञ्चननिभं रुचिराक्षमालां,
पाशाङ्कुशौ च वरदं निजबाहुदण्डैः ।
बिभ्राणमिन्दुशकलाभरणं त्रिनेत्र-
मर्द्धाम्बिकेशमनिशं वपुराश्रयामः ॥३६॥

दक्षाधःकरमारभ्य वामाधःकरपर्यन्तमायुधध्यानम् । इति ध्यात्वा न्यसेत् । तद्यथा—"ह्स्रौंः अं श्रीकण्ठेशाय पूर्णोदर्य्यै नमः, ह्स्रौंः आं अनन्तेशाय विरजायै नमः, ह्स्रौंः इं सूक्ष्मेशाय शाल्मल्यै नमः, ह्स्रौं ईं त्रिमूर्त्तीशाय लोलाक्ष्यै नमः, ह्स्रौंः उं अमरेशाय वर्त्तुलाक्ष्यै नमः, ह्स्रौंः ऊं अर्घीशाय दीर्घघोणायै नमः, ह्स्रौंः ऋं भारभूतीशाय दीर्घमुख्यै नमः, ह्स्रौंः ॠं तिथीशाय गोमुख्यै नमः, ह्स्रौंः लृं स्थारावीशाय[1] दीर्घजिह्वायै नमः, ह्स्रौंः लॄं हरेशाय कुण्डोदर्य्यै नमः, ह्स्रौंः एं झिण्टीशायोर्द्ध्वकेश्यै नमः, ह्स्रौंः ऐं भौतिकेशाय विकृतमुख्यै नमः, ह्स्रौंः ओं सद्योजातेशाय ज्वालामुख्यै नमः, ह्स्रौंः औं अनुग्रहेशायोल्कामुख्यै नमः, ह्स्रौंः अं अक्रूरेशाय श्रीमुख्यै नमः, ह्स्रौंः अः महासेनेशाय विद्यामुख्यै नमः, ह्स्रौंः कं क्रोधीशाय महाकाल्यै०, ह्स्रौंः खं चण्डेशाय सरस्वत्यै०, ह्स्रौंः गं पञ्चान्तकेशाय सर्वसिद्धिगौर्यै०, ह्स्रौंः घं शिबोत्तमेशाय त्रैलोक्यविद्यायै०, ह्स्रौंः ङं एकरुद्रेशाय मंत्रशक्त्यै०, ह्स्रौंः चं कूर्मेशायात्मशक्त्यै० ह्स्रौंः छं एकनेत्रेशाय भूतमात्रे०, ह्स्रौंः जं चतुराननेशाय लंबोदर्यै०, ह्स्रौंः झं अजेशाय द्राविण्यै०, ह्स्रौंः ञं सर्वेशाय नागर्य्यै० ह्स्रौंः टं सोमेशाय खेचर्य्यै०, ह्स्रौंः ठं लांगलीशाय मञ्जर्य्यै०, ह्स्रौंः डं दराकेशाय[2] रूपिण्यै०, ह्स्रौंः ढं अर्द्धनारीशाय वीरिण्यै०, ह्स्रौंः णं उमाकान्तेशाय काकोदर्य्यै०, ह्स्रौंः तं आषाढीशाय पूतनायै०, ह्स्रौंः थं दण्डीशाय भद्रकाल्यै०, ह्स्रौंः दं अत्रीशाय योगिन्यै०, ह्स्त्रौंः धं मीनेशाय शङ्खिन्यै०, ह्स्रौंः नं मेषेशाय गर्ज्जिन्यै०, ह्स्रौंः पं लोहितेशाय कालरात्र्यै०, ह्स्रौंः फं शिखीशाय कुर्दिन्यै०, ह्स्रौंः बं छगलण्डेशाय कपर्द्दिन्यै०, ह्स्रौंः भं द्विरण्डेशाय रेवत्यै०, ह्स्रौंः मं महाकालेशाय जयायै०, ह्स्रौंः यं त्वगात्मने

१. ख. शारावीशाय । २. ख. दारुकेशाय ।

वालीशाय सुमुख्यै०, ह्स्रौं: रं असृगात्मने भुजङ्गेशाय रेवत्यै०, ह्स्रौं: लं मांसात्मने पिनाकीशाय माधव्यै०, ह्स्रौं: वं मेदआत्मने खड्गीशाय वारुण्यै०, ह्स्रौं: शं अस्थ्यात्मने वकेशाय वायव्यै०, ह्स्रौं: षं मज्जात्मने श्वेतेशाय रक्षोवधारिण्यै०, ह्स्रौं: सं शुक्रात्मने भृग्वीशाय सहजायै०, ह्स्रौं: हं प्राणात्मने नकुलीशाय महालक्ष्म्यै०, ह्स्रौं लं शक्त्यात्मने शिवेशाय व्यापिन्यै०, ह्स्रौं: क्षं परमात्मने संवर्त्तेशाय महामायायै नमः।" इति केवलमातृकान्यासस्थानेषु न्यसेत्।

अत्र रुद्राः स्मृता रक्ता वृतशूलकपालकाः।
शक्तयो रुद्रपीठस्थाः सिन्दूरारुणविग्रहाः ॥३७॥
रक्तोत्पलकपालाभ्यामलङ्कृतकराम्बुजाः।

इति मूर्त्तिशक्तीनां ध्यानम्[1]। **इति श्रीकण्ठादिन्यासः।**

॥ अथ भुवनेश्वरीमातृकान्यासः ॥

तत्र "शक्तिऋषिर्गायत्रीछन्दः श्रीमातृकामयी भुवनेश्वरी देवता न्यासे विनियोगः" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, मूर्द्धादिषु चतुर्थीनमोऽन्तेन विन्यस्य—

"अं कं खं गं घं ङं आं ह्रां हृदयाय नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं ह्रीं शिरसे स्वाहा, उं टं ठं डं ढं णं ऊं ह्रूं शिखायै वषट्, एं तं थं दं धं नं ऐं ह्रैं कवचाय हुं, ओं पं फं बं भं मं औं ह्रौं नेत्राय वौषट्, अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः हः अस्त्राय फट्" इति षडङ्गमन्त्रैः करषडङ्गन्यासं विधाय—

उद्यत्कोटिदिवाकरप्रतिभटा तुङ्गोरुपीनस्तनी,
बद्धार्द्धेन्दुकिरीटहाररसनामञ्जीरसंशोभिता।
बिभ्राणा करपङ्कजैर्जपवटीं पाशाङ्कुशौ पुस्तकं,
दिश्यान्नो जगदीश्वरी त्रिनयना पद्मे निषण्णा सुखम् ॥३८॥

दक्षाधःकरमारभ्य वामाधःकरपर्यन्तमायुधध्यानम्। इति वर्णारविन्दे ध्यात्वा, "ह्रीं अं नमः, ह्रीं आं नमः, ह्रीं इं नमः," इत्यादि "ह्रीं क्षं नमः" इत्यन्तं केवलमातृकास्थानेष्वेव न्यसेत्।

॥ अथ बीजादिन्यासः ॥

तत्र "भृगुऋषिर्गायत्रीछन्दः, मातृकारूपिणी लक्ष्मीर्देवता न्यासे विनियोगः" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, प्रागुक्तविधिना विन्यस्य—

१. क. 'ध्यानं' नास्ति।

"अं कं खं गं घं ङं आं श्रां हृदयाय नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं श्रीं शिरसे स्वाहा, उं टं ठं डं ढं णं ऊं श्रूं शिखायै वषट्, एं तं थं दं धं नं ऐं श्रैं कवचाय हुं, ओं पं फं बं भं मं औं श्रौं नेत्राय वौषट्, अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः श्रः अस्त्राय फट्।" इति षडङ्गमन्त्रैः करषडङ्गन्यासान् विधाय—

विद्युद्दामसमप्रभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः,
शुण्डादण्डसमुद्धृतामृतघटैरासिच्यमानामिमाम्।
बिभ्राणां करपङ्कजैर्जपवटीं पद्मद्वयं पुस्तकं,
भास्वद्रत्नसमुज्ज्वलां कुचनतां ध्यायेज्जगत्स्वामिनीम् ॥३९॥

दक्षाधःकरमारभ्य वामाधःकरपर्यन्तमायुधध्यानम्। इति वर्णारविन्दे ध्यात्वा "श्रीं अं नमः, श्रीं इं नमः" इत्यादि मातृकान्यासस्थानेषु न्यसेत्। **इति श्रीबीजादिमातृकान्यासः।**

॥ अथ कामबीजादिमातृकान्यासः ॥

तत्र "सम्मोहन ऋषिर्गायत्रीछन्दो मातृकामयी सम्मोहनी देवता न्यासे विनियोगः" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, विन्यस्य, प्रागुक्तविधिना दीर्घस्वस्वर-सम्पुटितषड्वर्गैः षड्दीर्घयुक्तकामबीजान्वितैः करषडङ्गन्यासं विधाय—

बालार्ककोटिरुचिरां स्फटिकाक्षमालां,
कोदण्डमिक्षुजनितं स्मरपञ्चबाणान्।
विद्यां च हस्तकमलैर्दधतीं त्रिनेत्रां,
ध्यायेत्समस्तजननीं नवचन्द्रचूडाम् ॥४०॥

वामाद्यूर्द्ध्वयोः पुस्तककोदण्डौ दक्षोर्ध्वाधःकरयोः पञ्चबाणाक्षमाले इत्यायुधध्यानम्। इति वर्णारविन्दे ध्यात्वा "क्लीं अं नमः, क्लीं आं नमः" इत्यादि मातृकास्थानेषु न्यसेत्। **इति श्रीकामबीजादिमातृकान्यासः।**

॥ अथ शक्तिश्रीकामबीजादिमातृकान्यासः ॥

तत्र "महासम्मोहन ऋषिर्गायत्रीछन्दो मातृकामयी महासम्मोहनी देवता न्यासे विनियोगः" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, प्राग्वद्विन्यस्य, "अं कं खं गं घं ङं आं ह्रीं हृदयाय नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं श्रीं शिरसे स्वाहा, उं टं ठं डं ढं णं ऊं क्लीं शिखायै वषट्, एं तं थं दं धं नं ऐं ह्रीं कवचाय हुं,

ओं पं फं बं भं मं ओं श्रीं नेत्राय वौषट्, अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अ: क्लीं अस्त्राय फट्" इति षडङ्गमन्त्रैः करषडङ्गन्यासं विधाय—

ध्यायेयमक्षवलयेक्षुशरासपाश-
पद्मद्वयाङ्कुशशरान्नवपुस्तकं च ।
आबिभ्रतीं निजकरैररुणां कुचार्त्तां,
सम्मोहिनीं त्रिनयनां नवचन्द्रचूडाम् ॥४१॥

वामाधःकरमारभ्य दक्षिणाधःकरपर्यन्तमायुधध्यानम् । इति वर्णारविन्दे ध्यात्वा "ह्रीं श्रीं क्लीं अं नमः, ह्रीं श्रीं क्लीं आं नमः" इत्यादि मातृकान्यासस्थानेषु न्यसेत् । **इति त्रिबीजादिमातृकान्यासः ।**

॥ अथ प्रपञ्चयागमातृकान्यासः ॥

तत्र महागणपतिमन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा "शिरसि—गणकऋषये नमः, मुखे—[1]निवृद्गायत्रीछन्दसे नमः, हृदये—श्रीमहागणपतये देवतायै नमः, गुह्ये—गं बीजाय नमः, पादयोः—स्वाहा शक्तये नमः, मम प्रपञ्चयागाङ्गत्वेन जपे विनियोगः" इति ऋष्यादिन्यासं विधाय—

"अङ्गुष्ठयोः—ॐ गां हृदयाय नमः, तर्जन्योः—श्रीं गीं शिरसे स्वाहा, मध्यमयोः—ह्रीं गूं शिखायै वषट्, अनामिकयोः—क्लीं गैं कवचाय हुम्, कनिष्ठयोः—ग्लौं गौं नेत्राय वौषट्, करतलपृष्ठयोः—गं गः अस्त्राय फट्" इति षडङ्गमन्त्रानङ्गुष्ठादितलान्तं करयोर्विन्यस्य, हृदयशिरःशिखाकवचनेत्रेषु च विन्यस्याऽस्त्रमन्त्रेण तालत्रयं कृत्वा तर्जन्यङ्गुष्ठशब्दैर्दशदिग्बन्धनं च विधाय—

हस्तीन्द्राननमिन्दुचूडमरुणच्छायं त्रिनेत्रं रसा-
दाश्लिष्टं प्रियया सपद्मकरया स्वाङ्कस्थया सन्ततम् ।
बीजापूरगदाधनुस्त्रिशिखयुक्चक्राब्जपाशोत्पल[2]—
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशान् हस्तैर्वहन्तं भजे ॥४२॥

गण्डाभित्तिगलद्दानपूरलालसमानसान् ।
द्विरेफान् कर्णतालाभ्यां वारयन्तं मुहुर्मुहुः ॥४३॥

कराग्रधृतमाणिक्यकुम्भवक्त्रविनिर्गतैः ।
रत्नवर्षैः प्रीणयन्तं साधकान्मधुविह्वलम् ॥४४॥

---

१. ख. निवृद्गायत्री० ।   २. क. ० पाश्योत्पल ।

माणिक्यमुकुटोपेतं रत्नाभरणभूषितम् ।
युगपत्सेवितं देवैरसुरैश्च मुहुर्मुहुः ॥४५॥

वामाधःकरमारभ्य दक्षाधःकरपर्यन्तमायुधध्यानम् । रत्नघटं शुण्डाग्रे । इति गणपतिं ध्यात्वा—ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा" इति मन्त्रमष्टधा जपित्वा—

"गणपतिबीजस्य गणकऋृषिर्निचृच्छंदः, विघ्नेश्वरो देवता, प्रपञ्चयागाङ्गत्वेन जपे विनियोगः" इति ऋष्यादिकं स्मृत्वा, "गां गीं गूं गैं गौं गः" इति मन्त्रैः करषडङ्गन्यासं विधाय—

सिन्दूराभं त्रिनेत्रं पृथुतरजठरं हस्तपद्मैर्दधानं
दन्तं पाशाङ्कुशेष्टानुरुकरविलसद्बीजपूराभिरामम् ।
बालेन्दुद्योतिमौलिं करिपतिवदनं दानपूरार्द्रगण्डं,
भोगीन्द्राबद्धभूषं भजत गणपतिं रक्तवस्त्राङ्गरागम् ॥४६॥

वामाधःकरमारभ्य दक्षाधःकरपर्यन्तमायुधध्यानम् । इष्टं वरः, उरुकरः[१] शुण्डादण्डः । इति ध्यात्वा 'गं' इति गणपतिबीजं चतुश्चत्वारिंशद्वारं जपित्वा—

"ॐ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपवःश्रवस्तमं, ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्" इति गणपतिमन्त्रं वैदिकमेकवारं जपित्वा, "ह्रीं क्रों ॐ गं नमः सर्वविघ्नाधिपाय सर्वार्थसिद्धिदाय सर्वदुःखप्रशमनाय एह्येहि भगवन्सर्वं खादय स्तम्भय स्तम्भय ह्रीं गं गां नमः स्वाहा क्रों ह्रीं" इति मालामन्त्रं चतुरावृत्ति जपित्वा, ततः पूर्वोक्तां शुद्धमातृकां ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासध्यानपूर्वकं वारत्रयं विन्यस्य,—

"मुखे—अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः आदित्याय नमः, दक्षिणबाहुमूलादग्रान्तं—यं रं लं वं सोमाय नमः, वामबाहुमूलादग्रान्तं—कं खं गं घं ङं भौमाय नमः, दक्षिणोरुमूलादिपादाग्रान्तं—चं छं जं झं ञं शुक्राय नमः, वामोरुमूलादिपादाग्रान्तं—टं ठं डं ढं णं बुधाय नमः, जठरे—तं थं दं धं नं बृहस्पतये नमः, हृदये—पं फं बं भं मं शनैश्चराय नमः" इति सप्तग्रहान्विन्यस्य—

१. ख. उरुकरः ।

"प्रपञ्चयागमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीछन्दः सकलपदार्थानुगतपरिपूर्ण-स्वप्रकाशसच्चिदानन्दपरंज्योतिः परमात्मा देवता प्रपञ्चयागमातृकान्यासे विनि-योगः" इति ऋष्यादि स्मृत्वा, चतुर्थीनमोऽन्तान्मूर्द्धादिषु ऋष्यादीन्विन्यस्य—

"ॐ ह्रीं अं कं खं गं घं ङं आं स्वाहा हृदयाय नमः, ॐ ह्रीं इं चं छं जं झं ञं ईं सोहं शिरसे स्वाहा, ॐ ह्रीं उं टं ठं डं ढं णं ऊं हं सः शिखायै वषट्, ॐ ह्रीं एं तं थं दं धं नं ऐं ह्रीं कवचाय हुं, ॐ ह्रीं ओं पं फं बं भं मं औं ॐ नेत्राय वौषट्, ॐ ह्रीं अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्ष अः हरिहर अस्त्राय फट्" इति षडङ्गमन्त्रैः करषडङ्गन्यासं कृत्वा—

तारादिपञ्चमनुभिः परिचीयमानं,
मानैरगम्यमनिशं जगदेकमूलम् ।
सच्चित्समस्तगमनश्वरमच्युतं त—
त्तेजः परं भजत सान्द्रसुधाम्बुराशिम्[१] ॥४७॥

इति सकलप्रपञ्चातिरिक्तः परिपूर्णः सच्चिदानन्दोऽहमिति स्वात्मानं ध्यात्वा, परमात्मवह्नौ तत्तत्स्थानयुक्तान्वर्णान् जुहोमीति धिया "ॐ ह्रीं क्षं हं सः सोहं स्वाहा, ॐ ह्रीं लं हं सः सोहं स्वाहा, इत्यादि ॐ ह्रीं अं हं सः सोहं स्वाहा" इत्यन्तं संहारक्रमेण विन्यस्य पुनः "ॐ ह्रीं अः हं सः सोहं स्वाहा" [२]इत्यन्तान्सविसर्गान् वर्णान् केवलमातृकान्यासस्थानेष्वेव न्यसेत् ।

॥ इति प्रपञ्चयागन्यासः ॥

अथ मूलमन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा **योगपीठन्यासं** कुर्यात् ।

॥ अथ प्राणायामप्रयोगः ॥

तत्र बद्धपद्मासन ऋजुकायः समुपविश्य, दक्षिणाङ्गुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुद्ध्य, वामनासापुटेन वायुमाकृष्य, स्वोदरं पूरयित्वा, कनिष्ठानामिकाभ्यां वामनासापुटं च निरुद्ध्य, हृदि देवं ध्यायन्मूलमन्त्रं च जपन् यावच्छक्यं वायुं कुंभकेन धृत्वा, पुनः दक्षिणनासापुटेन शनैः शनैस्तं वायुं त्यजेदित्येकः प्राणायामः । पुनर्दक्षिणनासापुटेन वायुमाकृष्य, तथैव कुम्भयित्वा तथैव वामनासारन्ध्रेण वायुं त्यजेदित्यन्यः । पुनर्वामनासारन्ध्रेण प्राग्वद्वायुमापूर्य्य तथैव कुम्भयित्वा तथैव दक्षिणनासारन्ध्रेण वायुं त्यजेदित्यपरः । इत्थं प्राणायामत्रयं कृत्वा—

---

१. क. राशिम् । २. इतः पूर्वं ख. पुस्तके "इत्यादि ॐ ह्रीं क्षः हं सः सोहं स्वाहा" इति पाठो विशेषः ।

"मूलाधारे मण्डूकाय नमः, स्वाधिष्ठाने कालाग्निरुद्राय नमः, मणिपूरे मूलप्रकृत्यै नमः, हृदये आधारशक्त्यै नमः, हृदये एवं कूर्माय नमः, अनन्ताय नमः, वराहाय नमः, पृथिव्यै नमः, समुद्राय नमः, रत्नद्वीपाय नमः, स्वर्णपर्व्वताय नमः, नन्दनोद्यानाय नमः, कल्पवृक्षेभ्यो नमः, विचित्ररत्नभूम्यै नमः, स्वर्णप्राकाराय नमः, रत्नमण्डपाय नमः, स्वर्णवेदिकायै नमः, रत्नसिंहासनाय नमः," इत्येतत्सर्वं तत्तत्स्थानभावनया विन्यस्य, स्वशरीरमंसद्वयोरुद्वयोपकल्पितपादचतुष्टयं मुखनाभिपार्श्वद्वयकल्पितगात्रचतुष्टयं रत्नसिंहासनं ध्यात्वा, "दक्षिणांसे धर्माय नमः, वामांसे ज्ञानाय नमः, [वामोरौ वैराग्याय नमः, दक्षिणोरौ ऐश्वर्य्याय नमः, मुखे अधर्माय नमः, वामपार्श्वे अज्ञानाय नमः, नाभौ अवैराग्याय नमः,][1] दक्षिणपार्श्वे अनैश्वर्याय नमः," इति विन्यस्य, पुनर्हृदये "मायायै नमः, विद्यायै नमः," इति मायाविद्ये प्रोक्तरूपे विचिन्त्य, तदुपरि सिंहासनमध्ये "अनन्ताय नमः, पद्माय नमः, आनन्दकन्दाय नमः, संविन्नालाय नमः, प्रकृतिमयपत्रेभ्यो नमः, विकारमयकेसरेभ्यो नमः, पञ्चाशद्वर्णबीजाढ्यसर्वतत्वरूपायै कर्णिकायै नमः, अं अर्कमण्डलाय नमः, उं सोममण्डलाय नमः, मं वह्निमण्डलाय नमः, सम्प्रबोधात्मने सत्वाय नमः, रं प्रकृत्यात्मने रजसे नमः, तं मोहात्मने तमसे नमः, आं आत्मने नमः, अं अन्तरात्मने नमः, पं परात्मने नमः, ह्रीं ज्ञानात्मने नमः," सिंहासनस्य चतुर्दिक्षु मध्ये च "ज्ञानतत्वात्मने नमः, मायातत्वात्मने नमः, कलातत्वात्मने नमः, विद्यातत्वात्मने नमः, परतत्वात्मने नमः," इति विन्यस्य, ततस्तत्तद्देवतापीठमन्त्रोच्चारपूर्वकं "योगपीठाय नमः" इति मूर्द्धादिपादपर्यन्तं व्यापकं न्यस्येत् ।

॥ इति योगपीठन्यासः ॥

अत्र योगपीठन्यासे गणेशोपासकैरिक्षुरससमुद्रो, विष्णुसूर्योपासकैः क्षीरसमुद्रः, शिवशक्त्युपासकैः सुधासमुद्रश्च न्यस्तव्यः ।

॥ अथ मूलमन्त्रन्यासः ॥

स चाग्रे तत्तत्कल्पेषु वक्ष्यते । ततस्तत्तद्देवतामुद्रा विरच्य, स्वेष्टदेवतां तत्तत्कल्पोक्तरूपां स्वाभेदेन ध्यात्वा, स्वशिरसि मूलेन पुष्पाञ्जलिं दत्वा, पुनर्हृदयारविन्दे ध्यात्वा, वक्ष्यमाणयोगपीठपूजापुरःसरं मानसोपचारैः साङ्गां

१. ख. पुस्तके कोष्ठबद्धोंऽशो नास्ति ।

सावरणां स्वेष्टदेवतां सम्पूज्य, मानसमेव नैवेद्यं दत्वा, देवं भुञ्जानं ध्यायन्, मूलाधारे आत्मान्तरात्मपरमात्मज्ञानात्मेत्यात्मचतुष्टयाकारचतुरस्रकुण्डमध्ये चिच्छक्ति कुण्डलिनीं वह्निरूपां ध्यात्वा, मूलमन्त्रमुच्चार्य्य 'अहं तां जुहोमि स्वाहा' पुनर्म्मूलं 'असत्यं जुहोमि०' इत्थं अहन्तासत्यपैशुन्यकामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणि क्रमेण सुषुम्णास्रुचयुक्तमनःस्रुचेण[1] हुत्वा प्राणायामऋष्यादिकरषडङ्गन्यासं कृत्वा, मूलमन्त्रमष्टोत्तरशतवारं जपित्वा, वक्ष्यमाणविधिना जपं समर्प्य, श्रीगुरुं प्रणम्य, स्वपुरतश्चन्दनानुलिप्ते श्रीपर्णादिपीठे सौधादिनिर्मिते स्थण्डिले वा कुंकुमादिना वक्ष्यमाणं तत्तत्कल्पोक्तं पूजाचक्रं निर्माय तत्र मूलमन्त्रेण पुष्पाञ्जलिं दद्यात् ।

यद्वा स्वर्णादिभिः शिल्पिवरैर्निर्मितं पूजाचक्रं चन्दनादिमण्डितं प्राग्वत्पीठे संस्थाप्य पुष्पाञ्जलिं दद्यात् । अत्र स्वर्णरूप्यादिधातुनिर्मितस्य पूजाचक्रस्याम्लरसादिना संशुद्धस्यादौ वैदिकमन्त्रेणाग्न्युत्तारणं कारयित्वा, मधुघृतगोदुग्धनालिकेरजलैः पृथक्पृथगभिषिच्य, पञ्चाशद्वर्णौषधिकाथजलैस्तत्तन्मन्त्रवर्णौषधिक्वाथजलैर्वाभिषिञ्चेत् । अत्र मन्त्रवर्णौषधिग्रहणे मन्त्रवर्णेषु पुनरुक्तवर्णानामौषध्यो यस्य वर्णस्य यावत्य आवृत्तयो मन्त्रे दृश्यन्ते तस्या औषध्यास्तावन्तो भागा ग्राह्याः । तास्तु प्रागेवोक्ताः । ततः शुद्धजलैः प्रक्षाल्य, चन्दनागुरुकर्पूरकस्तूरीकुङ्कुमादिपङ्कैरालिप्य, पुरतः शुभे पीठे संस्थाप्य, तच्चक्रं स्पृष्ट्वा, मूलमन्त्रमष्टोत्तरसहस्रं जपित्वा, संशुद्धस्य तस्य चक्रस्य प्रागुक्तप्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण 'मम' पदस्थाने 'अमुकपूजाचक्रस्ये' त्यादि तत्तद्देवतानामपूर्वकं चक्रपदं प्रयोजयंश्चक्रं स्पृशन्प्राणप्रतिष्ठामन्त्रं जपन् प्रागुक्तप्राणशक्तिध्यानपूर्वकं प्राणप्रतिष्ठां कृत्वा, तत्र पीठपूजापूर्वकं देवमावाह्य, साङ्गं सावरणं सम्पूज्य, वक्ष्यमाणमहानैवेद्यबलिदानादिपूर्वकं महोत्सवं प्रत्यहं दिनत्रयपर्यन्तं कुर्यात् । दिनत्रयमपि प्रथमदिने आवाहितं देवं न विसर्ज्जयेत् । चतुर्थदिने नित्यपूजान्ते देवं विसर्ज्जयेदिति प्रतिष्ठिते चक्रे नित्यनैमित्तिकादिपूजनं कुर्यात् । **अग्न्युत्तारणं तु ऋग्वेदोक्ताग्निसूक्तेन** कार्यम् ।

सूक्तं तु—

अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददात्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठां ।
अग्नी रोदसी वि चरत्समंजन्नग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरंधिं ॥

---

१. ख. सुषुम्णास्रग्युक्तमनःस्रुवेण ।

अग्नेरप्नसस्समिदस्तु भद्राग्निर्मही रोदसी आ विवेश ।
अग्निरेकं चोदयत्समत्स्वग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि ॥

अग्निर्ह त्यं जरतः कर्णमावाग्निरद्भ्यो निरदहज्जरूथं ।
अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्तरग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सं ॥

अग्निर्दाद्द्रविणं वीरपेशा अग्निर्ऋषिं यः सहस्रा सनोति ।
अग्निर्दिवि हव्यमा ततानाग्नेर्धामानि विभृता पुरुत्रा ॥

अग्निमुक्थैर्ऋषयो वि ह्वयन्तेऽग्निं नरो यामनि बाधितासः ।
अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्तोऽग्निः सहस्रा परि याति गोनां ॥

अग्निं विश ईळते मानुषीर्या अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः ।
अग्निर्गान्धर्वीं पथ्यामृतस्याग्नेर्गव्यूतिर्घृत आ निषत्ता ॥

अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षुरग्निं महामवोचामा सुवृक्ति ।
अग्ने प्राव जरितारं यविष्ठाग्ने महि द्रविणमा यजस्व ॥

अथैतस्य प्रयोगः—तत्रैभिर्मन्त्रैः प्रथमं प्रतिष्ठातव्यचक्रादिकमग्निशब्दरहितैः शतावृत्याऽभिषिञ्चेदित्यग्न्युत्तारणविधिः ।

ततः प्रत्यहं त्वम्लादिभिः शुद्धजलेन प्रक्षालनं धातुमयचक्रस्य स्फटिकस्य जलेनैव क्षालनमिति । इत्थं प्रतिष्ठितं प्रक्षालितं चन्दनादिमण्डितं पुरतः प्रोक्तपीठे संस्थाप्य, तत्र मूलमन्त्रेण पुष्पाञ्जलिं दत्वा, स्वपुरतः किञ्चिद्वामाग्रे चतुरस्रवृत्तत्रिकोणात्मकं मण्डलं चन्दनानुलिप्ते भूतले मत्स्यमुद्रया विधाय, 'श्रीपरदेवताया अर्घमण्डलाय नमः' इति मण्डलं सम्पूज्य, तत्र वायव्यनैर्ऋत्येशानाग्नेयकोणेषु "हृदयाय नमः, शिरसे नमः, शिखायै नमः, कवचाय नमः" इति संपूज्य, पुरतः 'नेत्राय नमः' स्वाग्रादि चतुर्दिक्षु 'अस्त्राय नमः,' इति तत्तत्कल्पोक्तानि षडङ्गानि सम्पूज्य, तत्र मूलमन्त्रेण प्रक्षालितमर्घपात्राधारं 'श्रीपरदेवताया अर्घपात्राधारं स्थापयामी, ति संस्थाप्य, 'मं रं धर्मप्रददशककलात्मने वह्निमण्डलाय श्रीपरदेवताया अर्घाधाराय नमः' इति सम्पूज्य 'धूम्रार्चिरादिदशकला इहागच्छतेह तिष्ठते' ति तत्र वह्निकला आवाह्य, पूर्वोक्तप्राणप्रतिष्ठामन्त्रे 'मम' पदस्थाने 'धूम्रार्चिरादीनामि' ति पदं दत्वा, तासां प्राणप्रतिष्ठां विधाय, स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन वृत्ताकारेण "यं धूम्रार्चिषे नमः, रं उष्मायै नमः, लं ज्वलिन्यै नमः, वं ज्वालिन्यै नमः, शं विस्फुलिङ्गिन्यै नमः, षं सुश्रियै नमः,

सं सुरूपायै नमः, हं कपिलायै नमः, लं हव्यवहायै नमः, क्षं कव्यवहायै नमः," इति वह्निकलाः संपूज्याऽस्त्रमन्त्रेण स्वर्णादिनिर्मितं पात्रं प्रक्षाल्य, श्रीपरदेवताया अर्घपात्रं प्रतिष्ठापयामी, ति तस्मिन्नाधारे संस्थाप्य, "अं हं अर्थप्रदद्वादशकलात्मने सूर्यमण्डलाय श्रीपरदेवतार्घपात्राय नमः" इति तत्पात्रं संपूज्य, तत्र भूमिस्थमण्डल-वन्मण्डलं विभाव्य, तथैव षडङ्गैः संपूज्य, तत्र प्राग्वत्सूर्यकलाः समावाह्य, प्राग्वत्तासां प्राणप्रतिष्ठां विधाय, वृत्ताकारेण प्रादक्षिण्येन "कं भं तपिन्यै नमः, खं बं तापिन्यै नमः, गं फं धूम्रायै नमः, घं पं मरीच्यै नमः, ङं नं ज्वालिन्यै नमः, चं धं रुच्यै नमः, छं दं सुषुम्णायै नमः, जं थं भोगदायै नमः, झं तं विश्वायै नमः, ञं णं बोधिन्यै नमः, टं ढं धारिण्यै नमः, ठं डं क्षमायै नमः" इति सम्पूज्य "क्षं लं हं सं षं शं वं लं रं यं मं भं बं फं पं नं धं दं थं तं णं ढं डं ठं टं ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं अः अं औं ओं ऐं एं ॡं ऌं ॠं ऋं ऊं उं ईं इं आं अं" इत्यन्ते मूलमन्त्रं त्रिर्जपन् शुद्धोदकैः 'श्रीपरदेवताया अर्घपात्रं पूरयामी' ति बिन्दस्रुतपीयूषभावनया सम्पूर्य तत्र गन्धपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिल-सर्षपदूर्वा इत्यर्घद्रव्याष्टकं निक्षिप्य, "उं सं कामप्रदषोडशकलात्मने सोममण्डलाय श्रीपरदेवतार्घपात्रामृताय नमः" इति तज्जलं संपूज्य तत्र प्राग्वद्भूमिस्थमण्डलं विभाव्य तथैव षडङ्गैः संपूज्य, तत्र सोमकलाः प्राग्वत्समावाह्य तासां तथैव प्राणप्रतिष्ठां विधाय तत्र वृत्ताकारेण प्रादक्षिण्येन "अं अमृतायै नमः, आं मानदायै नमः, इं पूषायै नमः, ईं तुष्ट्यै नमः, उं पुष्ट्यै नमः, ऊं रत्यै नमः, ऋं ऋद्ध्यै नमः, ॠं शशिन्यै नमः, ऌं चन्द्रिकायै नमः, ॡं कान्त्यै नमः, एं ज्योत्स्नायै नमः, ऐं श्रियै नमः, ओं प्रीत्यै नमः, औं अङ्गदायै नमः, अं पूर्णायै नमः, अः पूर्णामृतायै नमः," इति सम्पूज्य प्राग्वत्सूर्यमण्डलात्स्नानप्रकरणोक्त-विधिना तीर्थमावाह्य, मूलमन्त्रेण तदर्घजले संयोज्य, शिखामन्त्रेण गालिनीमुद्रां प्रदर्श्य, 'वं' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य, तत्र देवं ध्यात्वा, षडङ्गमन्त्रान्देवस्य देहे हृदयादिषु विन्यस्याऽवगुण्ठनमुद्रया कवचेनाऽवगुण्ठ्य तेन मन्त्रेण वीक्ष्याऽस्त्रेण संरक्ष्य, शङ्खमुद्रया तत्पात्रमवष्टभ्य, योनिमुद्रया तज्जलं स्पृशन्, तेजोमयं भावयन्नुद्दीप्य, मूलमन्त्रेण देवं गन्धादिभिः सम्पूज्य, प्राग्वत्षडङ्गानि चतुरस्रं सम्पूज्य मूलमन्त्रेणाऽष्टवारमभिमन्त्र्य मत्स्यमुद्रया छादयेत् ।

इत्यर्घपात्रं संस्थाप्य तस्योत्तरतः पङ्क्त्याकारेण त्रिकोणमण्डलत्रयं कृत्वा तेषु मण्डलद्वये साधारं सजलं पात्रद्वयं, तृतीयमण्डले घृतदधिसंयुक्तं कांस्यमधुपर्कपात्रं चेति पात्रत्रयं संस्थाप्य, मूलमन्त्रेण गन्धादिभिः पृथक् पृथग-भ्यर्च्य, तेषु पात्रान्तरेणोद्धृत्यार्घजलं किञ्चित्किञ्चिद्दत्वा मूलमन्त्रेण पृथक् पृथग-ष्टवारमभिमन्त्र्य मत्स्यमुद्रया छादयेत् ।

इति पाद्याचमनीयमधुपर्कपात्राणि संस्थाप्य, पाद्यपात्रे श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ता निःक्षिप्याऽऽचमनीयपात्रे जातीफललवङ्गकक्कोलचूर्णानि निःक्षिपेत्। मधुपर्कपात्रं पात्रान्तरेणाच्छादयेत्। अत्रार्घादिद्रव्यालाभे प्रक्षालितान् तण्डुलान् पुष्पाणि वा दद्यात्। अत्राऽन्यदेवतोपासकैरर्घादिस्थापने तत्तद्देवतानाम ग्राह्यम्। ततः पूजाचक्रस्य दक्षिणे त्रिकोणमण्डले साधारं सजलं पुनराचमनीयपात्रं निधाय, तत्रार्घपात्रजलं किञ्चित्पात्रान्तरेणोद्धृत्य, दत्वा, गन्धपुष्पाक्षतैरभ्यर्च्य, मूलमन्त्रेणाष्टवारमभिमन्त्र्य, तथैव तत्समीपे प्रोक्षणार्थं पात्रान्तरं संस्थाप्य, तज्जलं किञ्चित्पात्रान्तरेणोद्धृत्य, तेन जलेन स्वात्मानं, पूजाचक्रं, पूजाद्रव्याणि च मूलमन्त्रेण प्रोक्ष्य, तेषु धेनुमुद्रां प्रदर्श्य, स्वदेहं गन्धादिभिरलङ्कृत्य, स्वेष्टदेवतारूपं सञ्चिन्त्य, स्वशिरसि श्रीगुरुं मूलाधारे गणपतिं च सम्पूज्य, प्रागुक्तयोगपीठदेवतास्तत्तन्न्यासस्थानेषु सम्पूज्य, हृदयकमलकेसरेषु वक्ष्यमाणतत्तत्पीठशक्तीश्च सम्पूज्य, तत्तत्पीठमन्त्रेण सर्वाङ्गे पुष्पाञ्जलिं दत्वा, स्वेष्टदेवतारूपं स्वात्मानं ध्यायन् मूलमन्त्रेण मूर्ध्नि, हृदये, गुह्ये, पादयोः, सर्वाङ्गे च पञ्चस्थानेषु पञ्चपुष्पाञ्जलीन् दत्वा, धूपदीपौ निवेद्य, प्राग्वन्मूलाधारे चतुरस्रं कुण्डं सञ्चिन्त्य, कुण्डल्यात्मपरमात्मवह्निं सञ्चिन्त्य, मूलमन्त्रमुच्चार्य्य—

"धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्णा वर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिं जुहोम्यहम् ॥४६॥

पुण्यं जुहोमि स्वाहा०" पुनर्मूलं प्रागुक्तश्लोकमन्त्रं च पठित्वा 'पापं जुहोमि स्वाहा' इत्थं पुण्यपापे, कृत्याकृत्ये, सङ्कल्पविकल्पौ, धर्मं च पृथक् पृथक् हुत्वा, पुनर्म्मूलम्—

प्रकाशामर्शहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुचम्।
धर्माधर्मकलास्नेहं पूर्णंवह्नौ जुहोम्यहम् ॥४७॥

इति धर्माधर्मात्मकं सकलप्रपञ्चं पूर्णाहुतित्वेन हुत्वा, निरस्तनिखिलोपाधितया निरतिशयसुखानन्दचिद्विलासात्मकं स्वात्मानं ध्यायन् प्राणायामऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकं मूलमन्त्रमष्टोत्तरशतवारं जपित्वा, जपं समर्प्यार्घजलेन पूजाचक्रमभ्युक्ष्य, पूजाचक्रस्योत्तरभागे--'ऐं गुरुभ्यो नमः', दक्षिणे--'गणपतये नमः,' इति सम्पूज्य पूजाचक्रस्याधस्तादतलादिसप्तपातालभावनया "ॐ मंडूकाय नमः, कालाग्निरुद्राय नमः, मूलप्रकृत्यै नमः, आधारशक्त्यै०, कूर्माय०, अनन्ताय०, वराहाय नमः" इति सम्पूज्य, वराहस्य दंष्ट्रोपरि—"पृथिव्यै नमः, समुद्राय नमः, तस्मिन्—नवरत्नमयद्वीपाय, तन्मध्ये-'स्वर्णपर्वताय०' तदुपरि नन्दनोद्यानाय०,

तन्मध्ये—कल्पवृक्षेभ्यः, तेषां मध्ये—विचित्ररत्नभूम्यै०, तन्मध्ये—स्वर्णप्राकाराय०, तन्मध्ये—रत्नमण्डपाय०, तस्यान्तः—स्वर्णवेदिकायै०, तदुपरि—रत्नसिंहासनाय नमः," इति तत्तद्भावनया सम्पूज्य, पूजाचक्राधारपीठं सिंहासनत्वेन परिकल्प्य, तस्य चाग्नेयादिकोणचतुष्टयस्थपादचतुष्टये "धर्माय नमः, ज्ञानाय नमः, वैराग्याय नमः ऐश्वर्याय नमः" इति प्रादक्षिण्येन सम्पूज्य, स्वाग्रादिपीठस्य गात्रचतुष्टये—"अधर्माय नमः, अज्ञानाय नमः, अवैराग्यायनमः, अनैश्वर्याय नमः" इति प्रादक्षिण्येन पूजयेत् । ततः सिंहासनस्य मध्ये—"मायायै नमः, विद्यायै नमः "इति मायाविद्ये पट्टसूत्रमयपट्टिकारूपेण लौकिकमञ्चकवदोतप्रोतरूपेण ग्रथिते स्थिते ध्यात्वा, सम्पूज्य, तदुपरि—"अनन्ताय नमः" इति तल्पाकारमनन्तं सम्पूज्य, तस्य मूर्ध्नि—"पद्माय नमः, आनन्दकन्दाय नमः, संविन्नालाय नमः" तद्दलेषु—"प्रकृतिमयपत्रेभ्यः," केसरेषु—"विकृतिमयकेसरेभ्यः," तत्कर्णिकायां—"षट्त्रिंशद्वर्णबीजाढ्यसर्वतत्वरूपायै कर्णिकायै०," केसरेषु—"अं अर्कमण्डलाय नमः, कर्णिकायां—'उं सोममण्डलाय०' पत्रेषु—'मं वह्निमण्डलाय०,' तथैव—"ब्रह्मणे नमः, विष्णवे नमः, रुद्राय नमः," तत्रैव—"सं प्रबोधात्मने सत्वापरप्रकृत्यात्मने रजसे०, तं मोहात्मने तमसे०" आं आत्मने०, अं अन्तरात्मने०, पं परमात्मने०, ह्रीं ज्ञानात्मने०" इति सम्पूज्य, सिंहासनस्य स्वाग्रादिचतुर्द्दिक्षु मध्ये च—"ज्ञानतत्वात्मने नमः, मायातत्वात्मने नमः, कलातत्वात्मने नमः, विद्यातत्वात्मने०, परतत्वात्मने०," इति सम्पूज्य, तत्केसरेषु—स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन गणेशादितत्तत्पीठस्य नवशक्तीः, पीठमन्त्रेण समस्तं पीठं च सम्पूज्य, तत्तन्मूलमन्त्रमुच्चार्य 'श्रीगणेशादिमूर्त्तिं कल्पयामी' ति पीठमध्ये पुष्पादिकं निक्षिप्य, ध्यानोक्तां मूर्त्तिं भावयन् मूलमन्त्रमुच्चार्य्य, 'श्रीगणेशादिमूर्त्तये नम' इति कल्पितां मूर्त्तिम्पूजयेत् ।

अथ पञ्चायतनी चेत्स्वाराध्यं गणेशादिकं देवं मध्ये संस्थाप्य, तदङ्गत्वेनान्यांश्चतुरो देवान् प्रोक्तक्रमेण तत्तत्कोणे संस्थाप्य, तत्तत्कल्पोक्तविधिना तत्तत्पीठपूजापूर्वकमावाह्य, पृथक् पृथक् साङ्गावरणान् गन्धाद्यैरुपचारैः पूजयेत् ।

गणेशस्य मध्ये स्थापने सूर्यमारभ्य, प्रादक्षिण्येन चतुरो देवान्सम्पूज्य, गणेशं पूजयेत् ।

गणेशव्यतिरिक्तान्यदेवस्य मध्ये स्थापने तु गणेशमारभ्य पूजा कार्या । वचनं तु प्रागुक्तमेव ।

ततः पुनर्म्मूलेन प्राणायामत्रयं ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासांश्च कृत्वा, हस्ताभ्यां पुष्पाञ्जलिं गृहीत्वा, पद्ममुद्रां बद्ध्वा, मातृकाः पद्मत्वेन ध्यात्वा,

पश्चाद्या सनेनोपविश्य, ऋजुकायोऽन्तर्मुखो गुदमेढ्रयोरन्तराले सुषुम्णान्तश्चतुरस्रम-ध्यस्थ चतुर्दलपङ्कजदलेषु [1]विद्योतद्वशषसार्णचतुष्टयं सकेसरं पीतवर्णं मूलाधारं सञ्चिन्त्य, तन्मध्ये—सोमसूर्याग्निमयमकथादित्रिरेखं त्रिकोणं विभाव्य, तन्मध्ये—सूर्यकोटिप्रतीकाश चन्द्रकोटिसुशीतल जपाकुसुमप्रभं ज्योतिर्लिङ्गं ध्यात्वा, तदुपरि चिद्रूपां तडित्कोटिप्रभादीप्तां बिसतन्तुतनीयसीं प्रसुप्तभुजगीमिव सार्द्धत्रिवलयेन सर्वान्तर्यामितया स्थितां परब्रह्माऽविनाभूतां कुण्डलिनीं शक्तिं चिरं विभाव्य गुरूपदिष्टविधिना गुदाकुञ्चनपूर्वकं 'हूँ' कारेण तां कुण्डलिनीमुत्थाप्य, सुषुम्णा-वर्त्मना मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरकानाहत–विशुद्धयाज्ञाख्यषट्चक्रभेदक्रमेण ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा, तत्रस्थपरमामृताम्बुधौ परमात्मनि संयोज्य, शिवशक्त्यात्मकं तत्तेजो वहन्नासाध्वना निःसार्य्य, करस्थपुष्पाञ्जलौ संयोज्य, मूलमुच्चार्य्य, 'श्रीपरदेवते इहागच्छागच्छे'ति चक्रमध्यस्थितमूर्त्तेः शिरसि पुष्पाञ्जलिप्रक्षेपेण तत्तेज आवाहनमुद्रया समावाह्य, श्रीपरदेवतारूपेण परिणतं ध्यायन्मूलमुच्चार्य्य 'श्रीपरदेवते इह तिष्ठ तिष्ठे'ति स्थापनमुद्रां प्रदर्श्य—

देवेश भक्तिसुलभ सर्वावरणसंयुतः ।
यावत्त्वां पूजयिष्यामि तावत्त्वं सुस्थिरो भव ॥४८॥

इति प्रार्थ्य पुनर्मूलमुच्चार्य्य 'श्रीपरदेवते इह संन्निधेहि संन्निधेही' ति संन्निधापनमुद्रया सन्निधाप्य, मूलमुच्चार्य, 'श्रीपरदेवते इह सन्निरुद्धा भव सन्निरुद्धा भव' पुनर्मूल 'श्रीपरदेवते इह सम्मुखीभव सम्मुखीभवे'ति तत्तन्मुद्रया विधाय, पुनर्मूल 'श्रीपरदेवते इहावगुण्ठिता भवाऽवगुण्ठिता भवे' त्यवगुण्ठनमुद्रयाऽ-वगुण्ठ्य देवताया हृदयादिषडङ्गन्यासस्थानेषु षडङ्गमन्त्रान्विन्यस्य, मूलमुच्चार्य्य, 'श्रीपरदेवते सकलीकृता भव सकलीकृता भवे'ति सकलीकृत्य, धेनुमुद्रां बद्ध्वा देवतायाः शिरसि पीयूषवृष्टिं ध्यायन् मूलमुच्चार्य्य, 'श्रीपरदेवते अमृतीकृता भवाऽमृतीकृता भवे'त्यमृतीकृत्य, महामुद्रां बद्ध्वा, मूलमुच्चार्य्य, 'श्रीपरदेवते परमामृतीकृता भव परमामृतीकृता भवे'ति देवताया मूर्ध्नि परमामृतवृष्टिं ध्यात्वा मूलमन्त्रमुच्चार्य्य, ततः "ऐं वद वद वाग्वादिनि ऐं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय महा-क्षोभं कुरु कुरु क्लीं सौः मोक्षं कुरु कुरु सौः ह्सौः" इति दीपिनीं अकारा-दिक्षकारान्तां मातृकां चोच्चार्य्यार्घोदकेन देवतां त्रिःप्रोक्ष्य, देवताया हृदयं स्पृशन् पूर्वोक्तप्राणप्रतिष्ठामन्त्रे 'मम' पदस्थाने स्वदेवतानाम निःक्षिप्य, प्राण-प्रतिष्ठामन्त्रं जपन्, देवतायाः प्राणप्रतिष्ठां विधाय, मूलमुच्चार्य, "श्रीपरदे-

१. ख. विद्योतमानवशषसार्ण० ।

वतायै नमः" इति त्रिःपुष्पाञ्जलिं दत्वा तत्तत्कल्पोक्ता मुद्राः प्रत्येकं कामबीजेन विरच्य, मूलमन्त्रेण प्रदर्श्य, 'हूँ'इति मुद्रां दिति प्रदर्श्य मूलमुच्चार्य्य, "श्रीपरदेवते एतत्ते आसनं नमः" इति वार्क्षं चार्मं वास्त्रं पौष्पं तैजसं वा यथासम्भवमासनं देवस्य वामभागे विन्यस्य "ॐ हं हं हमिदमिदमिदं गृहाण स्वाहा" इति निवेद्य, मूलेन पद्ममुद्रां प्रदर्श्य, पुनर्मूलमुच्चार्यं, "श्रीपरदेवतायै नमः" इति पुष्पाञ्जलिं दत्वा मूलमुच्चार्य्य "श्रीपरदेवते कुशलं स्वागत" मिति कुशलस्वागतप्रश्नं कृत्वा कुशलस्वागतपद्ममुद्रे प्रदर्श्य, पुनर्मूलमुच्चार्य्य "श्रीपरदेवते एष ते अर्घः स्वाहे" ति पूर्वस्थापितार्घपात्राद् गन्धपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपदूर्वान्वितजल पात्रान्तरेणोद्धृत्य, देवस्य शिरसि दत्वा "ॐ हं हं हमिदमिदमिदं गृहाण स्वाहे"ति निवेद्यार्घमुद्रां प्रदर्श्य, मूलमुच्चार्य, "श्रीपरदेवतायै नमः" इति पुष्पाञ्जलिं दत्वा पुनर्मूलमुच्चार्य, "श्रीपरदेवते एतत्ते पाद्यं नमः" इति पाद्यपात्रात् श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्तान्वितं जलं पात्रान्तरेणोद्धृत्य, स्वदेवतायाः पादयोर्दत्वा, "ॐ हं हं हमिद"मित्यादिमन्त्रेण प्राग्वन्निवेद्य, पाद्यमुद्रां प्रदर्श्य, मूलमन्त्रेण प्राग्वत्पुष्पाञ्जलिं दद्यात्। अत्र सर्वोपचारेषु प्रोक्तमन्त्रेण निवेदनं मूलमन्त्रेण पुष्पांजलिं च प्रत्युपचारं कुर्यादिति। तत आचमनीयपात्रात् जातीफललवङ्गकक्कोलचूर्णयुतं जलं पात्रान्तरेणोद्धृत्य, मूलमुच्चार्य्य "श्री परदेवते एतत्ते आचमनीयं सुधे'ति स्वदेवताया मुखकमले दत्वा प्राग्वन्निवेद्याऽऽचमनीयमुद्रां प्रदर्श्य, पुष्पाञ्जलिं कृत्वा, मधुपर्कपात्रमुद्धृत्य, मूलमुच्चार्य्य "श्रीपरदेवते एष ते मधुपर्कः सुधे'ति देवताया मुखकमले दत्वा, प्राग्वन्निवेद्य, मधुपर्कमुद्रां प्रदर्श्य, पुष्पाञ्जलिं कृत्वा, पुनराचमनीयपात्रात्पात्रान्तरेण जलमुद्धृत्य, मूलमुच्चार्य्य "श्रीपरदेवते एतत्ते आचमनीयं सुधे'ति पुनराचमनीयं दत्वा, प्राग्वन्निवेद्य, आचमनीयमुद्रां प्रदर्श्य, पुष्पाञ्जलिं दत्वा, रत्नपादुके उपनीय—

पादुकायुगमारुह्य भगवन्रत्ननिर्मितम्।
स्नानमण्डपमायाहि स्नानार्थं शक्रदिग्गतम् ॥४६॥

इति प्रार्थ्य, पूर्वस्यां दिशि विरचितं स्नानमण्डपं नीत्वा, प्राग्वदासनं दत्वाऽर्घपाद्याचमनीयानि प्राग्वन्निवेद्य सुगन्धतैलादिकमुपनीय, मूलमुच्चार्य्य 'श्रीपरदेवते एतत्ते सुगन्धतैलाभ्यङ्गसुगन्धामलकाद्युद्वर्त्तनं स्नानादिकं नमः" इति सुगन्धतैलाभ्यङ्गसुगन्धामलकाद्युद्वर्त्तनं च विधाय, महाराजोपचारवन्नानाविधैर्जलैरभिषिच्य, गङ्गादितीर्थादाहृतजलपूर्णकनककलशसहस्रैर्देवकन्याभिषिक्तं मत्वा, प्राग्वन्निवेद्य, स्नानमुद्रां प्रदर्श्य, मूलेन पुष्पाञ्जलिं दत्वा, प्राग्वदाचमनीयं दत्वा, जलापकर्षणार्थं वस्त्रं दत्वाऽङ्गप्रोञ्छनं परिकल्प्य, श्वेतदुकूलयुग्ममानीय, 'वं'

इति वरुणबीजेनाऽभिमन्त्रितजलेनाऽस्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्य, 'बृहस्पतिदेवताभ्यां[1] वासोभ्यां नमः" इति सम्पूज्य, मूलमुच्चार्य्य "श्रीपरदेवते एते ते वाससी नमः" इति वाससी परिधाप्य, पूर्ववन्निवेद्य, वस्त्रमुद्रां प्रदर्श्य, पुष्पाञ्जलिं दत्वा, पूर्ववदाचमनीयं दत्वा, स्वर्णादिनिर्मितं यज्ञोपवीतमानीय, मूलमुच्चार्य्य "श्रीपरदेवते एतत्ते यज्ञोपवीतं नमः" इति यज्ञोपवीतं दत्वा, प्राग्वन्निवेद्य, पुष्पाञ्जलिं दत्वा, यज्ञोपवीतमुद्रां प्रदर्श्य, प्राग्वदाचमनीयं निवेद्य, रत्नपादुके उपनीय—

पादुकायुगमारुह्य भवबन्धननिर्मितम् ।
आगच्छ निर्मितं याम्यामलङ्कारस्य मण्डपम् ॥५०॥

इति दक्षिणदिग्गतमलङ्कारमण्डपं नीत्वा, रत्नसिंहासने उपवेश्य, नानाविधालङ्करणानि समुपनीय, प्राग्वत्प्रोक्ष्य, "नानादैवतेभ्यो मुकुटाद्याभरणेभ्यो नमः," इति सम्पूज्य, मूलमुच्चार्य "श्रीपरदेवते एतत्ते मुकुटं नमः, एतत्ते कुण्डलं नमः" इति नानाभरणानि तत्तन्नाम्ना समर्प्य, निवेद्याभरणमुद्रां प्रदर्श्य, पुष्पाञ्जलिं दत्वा रत्नपादुके उपनीय—

पादुके परिधायेश पञ्चवाद्यपुरःसरम् ।
यागमण्डपमायाहि परिवारगणैः सह ॥५१॥

इति प्रार्थ्य, प्रधानमण्डपं नीत्वा, तत्र प्राक्कल्पितयोगपीठे देवं समुपवेश्य, तत्र छत्रचामरादिनानाविधोपकरणव्यग्रहस्तपरिवारदेवतागणं सूर्यात्किरणसमूहमिव देवशरीराद्विनिर्गत्य, स्वे स्वे स्थाने समुपविष्टप्रधानदेवतासदृशाकाराभरणायुधादिशोभितं स्थिरीभूतं परितश्चक्रमध्ये ध्यात्वा, चन्दनागुरुकर्पूरादिनानागन्धं समर्प्य—

शरीरं तेन जानामि चेष्टां नैव च नैव च ।
मया निवेदितान् गन्धान् प्रतिगृह्य विलिप्यताम् ॥५२॥

इति प्रार्थ्य, प्राग्वन्निवेद्य, गन्धमुद्रां प्रदर्श्य, संपूज्य, पुष्पाणि प्राग्वत्प्रोक्ष्य, "वनस्पतिदैवतेभ्यः पुष्पेभ्यो नमः" इति पुष्पाणि सम्पूज्य, मूलमुच्चार्य्य, "श्रीपरदेवते इमानि ते पुष्पाणि वौषडि" ति नानाविधानि सुगन्धशुभ्रपुष्पाणि समर्प्य, प्राग्वन्निवेद्य, पुष्पमुद्रां प्रदर्श्य, देवतां सम्पूज्य, स्वदेवतायाः हृदयादिषु षडङ्गन्यासस्थानेषु षडङ्गानि लयाङ्गत्वेन सम्पूज्य, "श्रीपरदेवते परिवारदेवता-

---

१. ख. बृहस्पतिदेवताभ्याम् ।

पूजनार्थमनुज्ञां देही" ति स्वदेवतां प्रार्थ्य, तत्तत्कल्पोक्ताङ्गावरणदेवताः पूजयेत् ।

तत्रादौ स्वदेवताया देहे मस्तकादिषु मातृकाक्षरन्यासस्थानेषु मूलमन्त्र-पुटितैर्मातृकावर्णैः सम्पूज्य, पश्चाद्वाह्याङ्गदेवताः पूजयेत् । इत्थमङ्गावरणदेवताः सम्पूज्य, तद्वाह्ये-देवग्राद्यष्टसु[1] दिक्षु क्रमेण "लं इन्द्राय सुराधिपतये पीतवर्णाय वज्रहस्तायैरावतवाहनाय नमः, रं अग्नये तेजोऽधिपतये रक्तवर्णाय शक्तिहस्ताय मेषवाहनाय नमः, टं यमाय प्रेताधिपतये कृष्णवर्णाय दण्डहस्ताय महिषवाहनाय०, क्षं निर्ऋतये रक्षोऽधिपतये धूम्रवर्णाय खड्गहस्ताय प्रेतवाहनाय०, वं वरुणाय जलाधिपतये शुक्लवर्णाय पाशहस्ताय मकरवाहनाय०, यं वायवे प्राणाधिपतये कृष्णवर्णायाङ्कुशहस्ताय मृगवाहनाय०, सं कुबेराय यक्षाधिपतये मौक्तिकवर्णाय गदाहस्ताय नरवाहनाय०, हं ईशानाय विद्याधिपतये स्फटिकवर्णाय वृषवाहनाय शूलहस्ताय नमः" इति सम्पूज्येन्द्रेशानयोर्म्मध्ये—"आं ब्रह्मणे रक्तवर्णाय पद्महस्ताय हंसवाहनाय०, निर्ऋतिवरुणयोर्मध्ये—ह्रीं अनन्ताय नागाधिपतये गौरवर्णाय चक्रहस्ताय गरूडवाहनाय नमः" इति सम्पूजयेत् । एवं विस्ताराशक्तौ "लं इन्द्राय नमः, रं अग्नये नमः, टं यमाय नमः, क्षं निर्ऋतये नमः, वं वरुणाय नमः, यं[2] वायने नमः, सं सोमाय[3] नमः, ह ईशानाय नमः । इति प्रादक्षिण्येन सम्पूज्येन्द्रेशानयोर्मध्ये—"आं ब्रह्मणे नमः, निर्ऋतिवरुणयो-र्मध्ये—ह्रीं अनन्ताय नमः" इति उद्र्ध्वाधो बुध्या सम्पूज्येन्द्रादीनां समीपेषु—"ॐ वज्राय नमः, एवं शक्तये नमः, दण्डाय नमः, खड्गाय नमः, पाशाय नमः, अङ्कुशाय नमः, गदायै नमः, त्रिशूलाय नमः, पद्माय नमः, चक्राय नमः" इति लोकपालानामायुधानि च पूजयेत् । अत्र सर्वत्रावरणपूजायां प्रथमावरण-पूजान्ते मूलमन्त्रेण देवं सम्पूज्य मूलमूच्चार्य्य—

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्प्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम् ॥५३॥

इति देवतायाश्चरणयोरर्घोदकपुष्पादिकं दद्यात् । एवं द्वितीयावरणादि-ष्वप्यूहनीयम् ।

ततो मूलमुच्चार्य, साङ्गायै सावरणायै परदेवतायै नमः" इति त्रिः पुष्पाञ्जलिना सम्पूज्याऽस्त्रमन्त्रेण धूपभाजनं प्रोक्ष्य, हृदयमन्त्रेण गन्धादिभिर्धूपभाजन-

---

१. ख. देवताग्राह्यष्टसु । २. क 'पं' । ३. ख. कुबेराय ।

मभ्यर्च्य, तत्र साराङ्गारान्निधाय 'वं' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य "क्लीं सुरभितेजसे स्वाहा" इति मन्त्रेण गुग्गुल्वादिधूपं निक्षिप्य, "गन्धर्वदैवताय धूमाय नमः" इति सम्पूज्य मूलमुच्चार्य्य—

वनस्पतिरसोत्पन्नो गन्धाढ्यो गन्धउत्तमः ।
आघ्रेयः[1] सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥ ५४ ।,

इति धूपमुत्सृज्य "घण्टायै नमः" इति वामभागे घण्टां निधायाऽस्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्य, तेनैव मन्त्रेण "घण्टायै नमः" इति त्रिरभ्यर्च्य "ॐ गजध्वनीमन्त्रमातः स्वाहे" ति घण्टामन्त्रेण तां त्रिरभिमन्त्र्य, वामकरेण तां घण्टां वादयन् "ॐ हं हं हमिदमिदमिदं गृहाण स्वाहे" ति मन्त्रेण नीचैर्धूपं निवेद्य, धूपभाजनं देवस्य वामभागे निवेश्य, धूपमुद्रां प्रदर्श्य, देवतां सम्पूज्य दीपग्राहिण्यां गोघृतं तिलस्नेहं वा निःक्षिप्य तत्र कर्पूरगर्भिणीं वर्त्ति निधाय, 'ह्रीं' इति प्रज्वाल्य, "विष्णुदैवत्याय" घृतप्रदीदाय नमः" तैलदीपश्चेद्वनस्पतिदैवत्याय तैलदीपाय नमः" इति सम्पूज्य 'व' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य मूलमुच्चार्य्य—

सुप्रकाशो महादीपः सर्वत्र तिमिरापहः ।
सबाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्द्दीपोयं प्रतिग्रह्यताम् ॥५५॥

इत्युच्चार्य्य "श्रीपरदेवते एष ते दीपो नमः" इति दीपमुत्सृज्य, प्राग्वत् घण्टां वादयन् देवतायाः पादादिमूर्द्धान्तमुच्चैर्दीपं प्रदर्श्य, घृतदीपश्चेद्देवताया दक्षिणभागे, तैलदीपश्चेद्वामभागे निवेश्य, दीपमुद्रां प्रदर्श्य, देवतां सम्पूज्य प्राग्वद्देवतायाः पाद्याचमनीये दत्वा, स्वर्णादिपात्रे भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं पञ्चविधमन्नं कट्वम्ललवणतिक्तकषायमधु रात्मकषड्रसोपेतं नानाविधव्यञ्जनसमेतं नैवेद्यमानीय, "विष्णुदैवत्याय नैवेद्याय नमः" इति नैवेद्यं सम्पूज्य, स्वेष्टदेवतायाः पुरतश्चतुरस्रमण्डले साधारं तत्पात्रं निधाय, मूलमन्त्रेण वीक्ष्यास्त्रमन्त्रेण प्रोक्षणीजलेन प्रोक्ष्य, तेनैव मन्त्रेण कुशैस्त्रिः सन्ताड्य, कवचमन्त्रेणाऽभ्युक्ष्याऽधोमुखदक्षिणहस्तोपरि तादृशं वामहस्तं निधाय, 'यं' इति वायुबीजेनाष्टवारमभिमन्त्र्य, नैवेद्यगतस्पर्शादिदोषान् शोषयित्वा पुनर्वामस्योपरि दक्षिणं करं प्राग्वन्निधायाऽधोमुखवामहस्तेनाच्छादयन् 'रं' इति वह्निबीजेनाऽष्टवारमभिमन्त्र्य, तद्गतदोषान्दग्ध्वा, धेनुमुद्रां प्रदर्शयन् 'व' इत्यमृतबीजमष्टधा जपन् नैवेद्यममृतीकृत्याऽस्त्रमन्त्रेण नैवेद्यस्योपरि चक्रमुद्रां प्रदर्शयन् तत्संरक्ष्य, मूलमन्त्रेणाऽष्टवारमभिमन्त्र्य दक्षिणहस्ते जलं गृहीत्वा—

---

१. ख. आघ्रेयः ।

हेमपात्रगतं दिव्यं परमान्नं सुसंस्कृतम् ।
पञ्चधा षड्रसोपेतं गृहाण परमेश्वर ॥५६॥

इति नैवेद्यस्योपरि चुलुकोदकं निःक्षिप्य, मूलमुच्चार्य्य, "श्रीपरदेवते एतत्ते नैवेद्यं नमः" इत्युत्सृज्य, कराभ्यां तत्पात्रं स्पृशन् पूर्वोक्तनिवेदनमन्त्रेण निवेद्य, पात्रान्तरे धेनुमुद्रया जलममृतीकृत्य देवताया दक्षिणहस्तेन तज्जलं किञ्चिद्दत्वा, "अमृतोपस्तरणमसि स्वाहे" ति स्वेष्टदेवतामाचामयित्वा[1] वामहस्तेन विरुचोत्पल-सन्निभां ग्रासमुद्रां दर्शयन्दक्षिणकरस्य कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठयोगेन "ॐ प्राणाय स्वाहा, एवं तर्ज्जनीमध्याङ्गुष्ठयोगेन अपानाय स्वाहा, पुनर्मध्यमानामिकाङ्ष्ठयोगेन व्यानायस्वाहा, पुनस्तर्ज्जनीमध्यानामिकाङ्गुष्ठयोगेन-उदानाय स्वाहा, पुनः पञ्चा-ङ्गुलिभिः—सामानाय स्वाहे" ति प्राणादिपञ्चमुद्राभिः पञ्चग्रासान्ग्राहयित्वा, स्वर्णादिपात्रे धेनुमुद्रया जलममृतीकृत्य—

नमस्ते देवदेवेश सर्वतृप्तिकरम्परम् ।
अन्यानिवेदितं शुद्धम्प्रकृतिस्थं सुशीतलम् ॥५७॥
परमानन्दसम्पूर्णं गृहाण जलमुत्तमम् ।

इति देवस्य वामभागे जलपात्रं निवेशयन् जलं निवेद्य, पुष्पाञ्जलि—

मादाय—

सत्पात्रं चिद्धविःसौख्यविविधानेकभक्षणम् ।
निवेदयामि ते देय सानुगाय जुषाण तत् ॥५८॥

इति पुष्पाञ्जलिं दत्वा, अस्त्रमन्त्रेण दिग्बन्धनं कुर्वन् निजदेवतां परितो जवनिकां विभाव्य, 'वं' अमृतात्मकं नैवेद्यं नमः' इत्यङ्गुष्ठानामिकायोगरूपां करद्वयेन नैवेद्यमुद्रां प्रदर्श्य, स्वेष्टदेवतां भुञ्जानां ध्यायेत् । यथा—

ब्रह्मेन्द्राद्यैः सरसमभितः सूपविष्टैः समेतो,
देव्या सिंजद्वलयकरया सादरं बीज्यमानः ।
नर्मक्रीडाप्रसहनपरो हासयन्पङ्क्तिभोक्तॄन्,
भुङ्क्ते पात्रे कनकघटिते षड्रसान्देवदेवः ॥५९॥

इति ध्यायन् मूलमन्त्रं दशधा जपित्वा, जपं समर्प्य, **नित्यहोमं** कुर्यात् । तत्र पूजास्थानस्येशानभागे कुण्डस्थण्डिलवैदिकाद्यन्यतमे गोमयेनोपलिप्ते

---

१. ख. ०माचाम्य ।

वक्ष्यमाणदीक्षणादिचतुःसंस्कारैः संस्कृते हृन्मन्त्रेण विष्णुरुद्रेन्द्रदेवताकाः प्रागग्रास्तिस्रो रेखा, ब्रह्मयमचन्द्रदेवताकाः उत्तराग्रास्तिस्रो रेखाः कुशमूलेन विलिख्य, मध्ये आवसथ्यं, पूर्वे सभ्य पश्चिमे आहवनीयं, उत्तरे अन्वाहार्यं, दक्षिणे गार्हपत्यमिति पञ्चवह्निस्थानानि सञ्चिन्त्य, कुशाम्बुनाऽस्त्रमन्त्रेण सम्प्रोक्ष्य, "ह्रीं सर्वशक्तिकमलासनाय नमः" इति तन्मध्ये योगपीठं सम्पूज्य, तत्र भुवनेशीं ऋतुमतीं विचिन्त्य तद्योनावावसथ्य स्थाने शिवबीजधिया सूर्यकान्तादिभवमग्निं प्रणवेन सस्थाप्य, "चिरिपिगल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा इति यन्त्रेण कुशैर्म्मुखफूत्कृत्याऽग्निम्प्रज्वाल्य, काष्ठैः पटूकृत्य—

अग्निम्प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम् ।
सुवर्णवर्णमनलं समिद्धं सर्वतोमुखम् ॥६०॥

इति तिष्ठन् कृताञ्जलिरुपस्थायोपविश्य, लिङ्गे स्य्रूं हिरण्यायै नमः, गुदे-ष्य्रूं कनकायै नमः, शिरसि-श्र्यूं रक्तायै नमः, मुखे-व्य्रूं कृष्णायै नमः, नासिकायां-ल्य्रूं सुप्रभायै नमः, नेत्रयोः-र्‍य्रूं अतिरिक्तायै नम, सर्वाङ्गे य्रूं बहुरूपायै नमः," इति सप्तजिह्वा विन्यस्य, "सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः, स्वस्ति पूर्णाय शिरसे स्वाहा, उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै वषट्, धूमव्यापिने कवचाय हुं, सप्तजिह्वाय नेत्राय वौषट्, धनुर्द्धरायास्त्राय फट्" इति षडङ्गमन्त्रीनङ्गुष्ठादितलान्तं करयोर्विन्यस्य, हृदयादिषडङ्गेष्वपि न्यसेत् । ततः "मूर्द्धिन-अग्नये जातवेदसे नमः, वामांसे-अग्नये सप्तजिह्वाय नमः, वामपार्श्वे-अग्नये हव्यवाहनाय नमः, वामकट्यां-अग्नये अश्वोदरजाय नमः, लिङ्गे-अग्नये वैश्वानराय नमः, दक्षिणकट्यां-अग्नये कौमारतेजसे नमः, दक्षिणपार्श्वे-अग्नये विश्वमुखाय नमः, दक्षिणांसे-अग्नये देवमुखाय नमः," इति मूर्त्तीरष्टौ विन्यस्य, गर्भरहितैर्दर्भैरग्निं प्रागादिक्रमेणोत्तराग्रैः पूर्वाग्रैश्च परिस्तीर्य, वह्नेर्मुखे षट्कोणं विभाव्य, तत्र मध्ये षट्सु कोणेषु च मध्यादिप्रादक्षिण्येन प्रागुक्ताः सप्तजिह्वाः सम्पूज्य, तद्बहिरष्टदलकमलं विभाव्य, तत्केसरेषु अग्नीशाननिर्ऋतिवायुकोणेषु वह्नेरग्रे तदग्रादिचतुर्द्दिक्षु च षडङ्गानि प्रागुक्तानि सम्पूज्याष्टदलेषु स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येनाष्टमूर्त्तीः प्रागुक्ताः सम्पूज्य चतुरस्रे दिक्पालांस्तदायुधानि च सम्पूज्य मध्ये "ॐ वैश्वानर जातवेद इहावलोहिताक्ष सर्व कर्माणि साधय स्वाहा" इति मन्त्रेणाऽग्निं गन्धादिभिः सम्पूज्याऽस्त्रमन्त्रेण क्षालितायामाज्यस्थाल्यामाज्यं निःक्षिप्य, मूलमन्त्रेणाऽष्टवारमभिमन्त्र्य 'वं' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य कवचमन्त्रेण प्रदीप्तदर्भद्वयेन तद्घृतं नीराज्याऽग्नौ दर्भद्वयं निक्षिप्य, पुनर्दर्भान् प्रज्वाल्याऽस्त्रमन्त्रेण घृते प्रदर्श्याग्नौ तान्निःक्षिप्य, स्रुक्स्रुवौ तदभावे पलाशस्य मध्यपत्रद्वयमश्वत्थपत्रद्वयं वा गृहीत्वाऽग्नौ प्रताप्य,

कवचमन्त्रेण दर्भैः सम्माज्यं, पुनः प्रताप्याऽस्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्य, दर्भेषु निधाय,
मार्ज्जनदर्भानद्भिः संस्पृश्याऽग्नौ निःक्षिप्य, स्रुवेणाज्यमादाय "अग्नये स्वाहे
त्यग्ने" दक्षिणनेत्रे हुत्वा "ऽग्नय इदं नव ममे" त्युद्देश्यत्यागं कुर्यात्। एवं
सर्वत्र तत्तन्नाम्नोद्देशत्याग ऊहनीयः। ततः पुनराज्यमादाय 'सोमायस्वाहे'
ति वह्नेर्वामनेत्रे हुत्वा, पुनराज्यमादाया'ऽग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' इति वह्नेर्भाल-
नेत्रे हुत्वा, पुनरादाया 'ग्नये स्विष्टिकृते[1] स्वाहे' तिवह्नेर्वक्त्रे जुहुयात्।

ततः "ॐ भूः स्वाहा अग्नय इदं न मम, ॐ भुवः स्वाहा वायव इदं
न मम, ॐस्वः स्वाहा सूर्यायेदं न मम, ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा प्रजापतय इदं
न ममे'त्याहुतिचतुष्टयं हुत्वा, "ॐ वैश्वानर जातवेद इहावलोहिताक्ष सर्वकर्माणि
साधय स्वाहे"'त्यग्नि मन्त्रेणाहुतित्रयं हुत्वा 'ग्नेर्गर्भाधानं संम्पादयामि स्वाहे'
त्यादि गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मान्नप्राशनचूडाकरणोपनयनसमावर्त्त-
नविवाहाख्यान्संस्कारान् पृथक्पृथगष्टाहुतिभिः कृत्वा, पूर्वोक्तजिह्वादिमूर्त्यन्तदेव-
तानां स्यूं हिरण्यायै स्वाहे" त्यादि तत्तन्नामभिश्चतुर्थीस्वाहान्तैरेकैकामाहुतिं
हुत्वा, "ॐ स्वाहा, ॐ श्रीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा,
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं ग स्वाहा, ॐ श्री ह्रीं क्लीं
ग्लौं गं गणपतये स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वर वरद स्वाहा,
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं
ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा" इति महागणपतिमन्त्रं
दशधा विभज्य, हुत्वा, पुनः समस्तेन महागणपतिमन्त्रेण चतुर्वारं जुहुयात्।
इति च संस्कृतेऽग्नौ स्वेष्टदेवतां ध्यात्वा, मूलमन्त्रेण गन्धादिभिः सम्पूज्य,
वह्निदेवतयोरैक्यं विभावयन् मूलमन्त्रेण स्वाहान्तेनाऽऽज्यपायसतिलतण्डुलव्रीहि-
यवभक्तानामन्यतमेन घृतव्यतिरिक्तद्रव्येषु त्रिमधुयोगं केवलघृतयोग वा कृत्वा,
पञ्चविंशत्याहुतीर्हुत्वा, "हृदयाय स्वाहा शिरसे स्वाहा, शिखायै स्वाहा, कवचाय
स्वाहा, नेत्राय स्वाहा, अस्त्राय स्वाहे" ति तत्तत्कल्पोक्तैः षडङ्गमन्त्रैः षडाहुतीर्हु-
त्वाऽऽवरणदेवतानां तत्तन्नाममन्त्रेण स्वाहान्तेनैकामाहुतिं हुत्वा "ॐ भूरऽग्नये
च पृथिव्यै च महते च स्वाहा, "ॐ भुवो वायवे चान्तरिक्षाय च महते च स्वाहा,
ॐ सुवरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा, ॐ भूर्भूवः स्वः चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च
महते च स्वाहे" ति चतस्र आज्याहुतीर्हुत्वा, दीक्षाप्रकरणवक्ष्यमाणप्रकारेण
प्रत्याहुतिं तत्तन्नाम्नोद्देशत्यागं कृत्वा "ॐ इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारजाग्र-

---

१. ख. स्विष्टकृते।

त्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहे" ति मन्त्रेणाष्टावा ज्याहुती-रेकां वा हुत्वा, वह्नि प्राग्वत्सम्पूज्य—

"न्यूनातिरिक्तसिद्ध्यर्थं ददामि सघृतं तिलम् ।
ॐ ह्रं सांगं कुरु कुरु स्वाहा" इति सघृततिलैरेकामाहुतिं हुत्वा,

ॐ सहस्रार्चिर्महातेजा नमस्ते बहुरूपधृक् ।
सर्वाशिने सर्वगतपावकाय नमोऽस्तु ते ॥६१॥

त्वं रौद्रघोरकर्मा च घोरहा त्वं नमोऽस्तु ते ।
विष्णुस्त्वं लोकपालोऽसि शान्तिमत्र प्रयच्छ मे ॥६२॥

इत्यग्निम्प्रार्थ्य, घृतेन स्रुचमापूर्य्य, तदुपरि पुष्पं दत्वाऽधोमुखेन स्रुवेण तन्मुखं पिधाय, शंखवत्कराभ्यां सम्पुटाभ्यां गृहीत्वोत्थाय, मूलमन्त्रेण वौषडन्ते नाहुतित्रयं कृत्वा, प्रोक्षणीजलेन वह्निं परिषिच्य, मूलमन्त्रेण तत्र देवं सम्पूज्य, संहारमुद्रया पूजाचक्रे विसृज्याऽग्निं सम्पूज्य—

भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ।
कर्मान्तरेऽपि सम्प्राप्ते सन्निधिं कुरु सादरम् ॥६३॥

इत्यग्निम्प्रार्थ्य संहारमुद्रया स्वहृद्युद्वासयेदिति **नित्यहोमविधिः**

तत्रैव विस्ताराशक्तौ

अग्न्याधानादिकं कर्म नित्यहोमे न विद्यत ।

इति **वसिष्ठसंहिता**वचनाल्लौकिकाग्नावेव देवं ध्यात्वा, सम्पूज्य मूलमन्त्रेण पञ्चविंशत्याहुतीः षडङ्गमन्त्रैश्च षडाहुतीरावरणदेवतानामेकैकामाहुतिं जुहुयात् । आवरणहोमाशक्तौ मूलमन्त्रेण षडङ्गमन्त्रैश्चोक्तसंख्यं जुहुयात् ।

इति नित्यहोमं विधाय, पूजास्थानं गत्वा, स्वासने उपनिश्य, मूलमन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा, ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकं मूलमन्त्रेण पुष्पाञ्जलित्रयं दत्वा, पूजाचक्रस्येशानकोणे चतुरस्रवृत्तत्रिकोणमण्डलं कृत्वा, तत्र साधारं सञ्जनान्नोदकपूरित ताम्रादिपात्रं निधाय, "सर्वभूतानीहागच्छतेह तिष्ठत" इत्यावाह्य "सर्वभूतेभ्यो नमः" इति पुष्पादिभिःसम्पूज्य—

ये रौद्रारौद्रकर्माणो रौद्रस्थाननिवासिनः ।
योगिन्योऽप्युग्ररूपाश्च गणानामाधिपाश्च ये ॥६४॥

भूचराः खेचराश्चैव तथा चैवान्तरिक्षगाः ।
सर्वे ते प्रीतमनसो भूता गृह्णन्त्विमं बलिम् ॥६५॥

इति वामकराङ्गुलिभिरर्घपात्रात्पात्रान्तरेणोद्धृत्य जलधारां बलिपात्रे निक्षिपन् बलिमुत्सृज्य, पुष्पाञ्जलिमादाय—

भूतानि यानीह वसन्ति भूतले बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम् ।
सन्तोषमासाद्य व्रजन्तु सर्वे क्षमन्तु तान्यत्र नमोऽस्तु तेभ्यः ॥६६॥

इति पुष्पाञ्जलिं दत्वा, प्रणम्य, यथासुखं विहरन्तु भूतानीति नाराचमुद्रया विसृज्यऽस्त्रमन्त्रेण शुद्धजलैः स्वात्मानम्प्रोक्ष्य, देवतां तृप्तां ध्यात्वा, पात्रान्तरे 'वं' इति धेनुमुद्रया जलममृतीकृत्यऽ'मृतापिधानमसि स्वाहे' ति देवायोत्तरापोशनं दत्वा, नैवेद्यं गतसारमुद्धृत्य, नैर्ऋत्यां नैवेद्यपात्रं निधाय, गोमयाद्भिरस्त्रमन्त्रेण तत्स्थानं शोधयित्वा तस्मात्किञ्चिच्छेषमादाय, "निर्माल्यभोजिने नमः" इत्यैशान्यां निक्षिप्य, हस्तं प्रक्षाल्य, देवाय करशोधनार्थं सुगन्धन्चूर्णादिकं करक्षालनाय जलं च दत्वा, करं क्षालयित्वा, दन्तशोधनार्थं कर्पुरशकलानि दत्वा, पुनर्गण्डूषजलं दत्वा, पादौ प्रक्षाल्य, प्राग्वदाचमनीयं दत्वा, सूक्ष्मवस्त्रेण पादौ हस्तौ च प्रोञ्छ्य, सुगन्धचूर्णादिभिः करौ सुरभीकृत्य, ताम्बूलमादाय, मूलमुच्चार्य्य श्रीपरदेवते—

तमालदलकर्पूरपूगभागतरङ्गितम् ।
संशोधितं सुगन्धं च ताम्बूलम्प्रतिगृह्यताम् ॥६७॥

एतत्ते ताम्बूलं नमः" इति ताम्बूलं समर्प्य, प्रागुक्त निवेदनमन्त्रेण निवेद्य, मूलमन्त्रमुच्चार्य्य, 'सुप्रसन्नायै श्रीपरदेवतायै नमः' श्रीपरदेवतायै एष गन्धो नमः' एवं गन्धपुष्पधूपदीपैराराधयेदिति प्रसन्नपूजां कृत्वा, मुकुटं परिधाप्य दर्श दर्शयित्वा,छत्रचामरव्यजनादिनानाविधराजोपचारान्परिकल्प्य,इर्वाक्षतकुशजलान्यादाय, मूलमुच्चार्य्य 'श्रीपरदेवते एतत्ते नीराजं नमः' इति देवस्य मुकुटोपरि दूर्वादिकं निक्षिपेत। तत्कांस्यादिवृहत्स्थाल्यां चन्दनादिनाऽष्टदलं कमलं कृत्वा तत्र मध्येऽष्टसु दलेषु च पिष्टमयात्रवदीपान् घृतपूर्णान्कर्पूरगर्भवर्त्तिसहितान्निःक्षिप्य, 'ह्रीं' इति प्रज्वाल्य क्वचिच्चतुरस्रमण्डले निधाय, 'व' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्याऽस्त्रमन्त्रेण चक्रमुद्रया सरक्ष्य, 'श्रीं ह्रीं ग्लूं स्लूं म्लूं प्लूं न्लूं ह्रीं श्रीं" इति रत्नेश्वरीविद्यया मूलमन्त्रेण च पृथक् पृथगभ्यर्च्य, तत्पात्रं कराभ्यामादाय, मूलमुच्चरन् देवस्य चरणान्मूर्द्धान्तं मूर्द्धादिचरणान्तं च पुनर्भ्रामयन् नवकृत्वो नीराजयेदिति **नीराजनविधिः** ।

इति त्रिः पुष्पाञ्जलिना सम्पूज्य पुनर्मूलमुच्चार्य "सुप्रसन्नायैः" ।

ततः प्रणम्य, मूलमन्त्रेण प्राणायामत्रयं कृत्वा, ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकं वक्ष्यमाणविधिना प्रतिष्ठितामक्षमालां वक्ष्यमाणविधिना सम्पूज्य वक्ष्यमाणप्रकारेण देवं भावयन्मूलमन्त्रं प्रणवोच्चारणपूर्वकमष्टोत्तरसहस्रं तदर्द्धं त्रिशतमष्टोत्तरसहस्रं[1] वा "ॐ" इति जपं समाप्य, पुनः प्राणायामऋष्यादिन्यासपूर्वकं जपमालां वक्ष्यमाणविधिना शिरसि निधायाऽर्घोदकमादाय—

ॐ गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिता ॥६८॥

इति परदेवताया दक्षिणहस्ते गृहीतोदकदानेन जपं समर्प्य, वक्ष्यमाणप्रकारेण जपमालां सम्पूज्य रहसि निधापयेत् । अत्र जपमालाभावे वक्ष्यमाणप्रकारेणाङ्गुलिभिर्वा जपगणना कार्या । इत्थं जपं विधाय, घण्टावादनपूर्वकं सहस्रनामशतनामस्तोत्रादिभिः स्वेष्टदेवतां स्तुत्वा, प्रदक्षिणनमस्कारैः परितोष्य—

ॐ यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
निवेदितं च नैवेद्यं तद्गृहाणानुकम्पया ॥६९॥

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्ज्जनम् ।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥७०॥

कर्मणा मनसा वाचा त्वत्तो नान्या गतिर्मम ।
अन्तश्चारेण भूतानां द्रष्टा त्वं परमेश्वर ॥७१॥

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युताऽस्तु सदा त्वयि ॥७२॥

देवो दाता च भोक्ता च देवः सर्वमिदं जगत् ।
देवो जयति सर्वत्र यो देवः सोऽहमेव हि ॥७३॥

इति कृताञ्जलिः प्रार्थ्यं, पुनः पुनः प्रणम्य, स्वेष्टार्थप्रार्थनां कृत्वाऽर्घपात्रमुद्धृत्य—

साधु वाऽसाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया ।
तत्सर्वं भगवञ्शम्भो गृहाणाऽऽराधनम्परम् ॥७४॥

इति कृतमाराधनं किञ्चिदर्घोदकदानेन समर्प्य, पुनः प्राग्वदर्घं दत्वा, तत्पात्रं स्वस्थाने निवेश्य, पुष्पाञ्जलिमादाय—

---

1. ख. ० मष्टोत्तरशतं ।

"ॐ इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्प्पणं भवतु स्वाहा श्रीगुरुदेवसमर्पितमस्तु इति' देवस्य पादयोः पुष्पाञ्जलिं निक्षिप्य, प्रणम्य, पुनः पुष्पाञ्जलिमादाय, मूलमुच्चार्य्य—

रश्मिरूपा महेशस्य पूजिता याश्च देवताः ।
श्रीशिवाङ्गे विलीनास्ताः सन्तु सर्वसुखावहाः ॥७५॥

इति पुष्पाञ्जलिं निक्षिप्य, द्वारदेवताश्चाङ्गावरणादिदेवताश्च[1] देवस्याङ्गे विलीना इति विभाव्य, देवं तेजोमयं विभाव्य, 'श्रीपरदेवते क्षमस्वे' ति तालत्रयं दत्वा, संहारमुद्रां बद्ध्वा—

ॐ गच्छ गच्छ परं स्थानं स्वस्थानं परमेश्वर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा न विदुः परमम्पदम् ॥७६॥

इति पठित्वा निर्म्माल्यपुष्पेण सह तत्तेजः समुद्धृत्याऽऽघ्राय, वहन्नासाऽध्वना तत्तेजो ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा, सुषुम्णामार्गेण हृदयकमलमानीय—

ॐ तिष्ठ तिष्ठ परे स्थाने स्वस्थाने परमेश्वर ।
यत्र ब्रह्मादयः सर्वे सुरास्तिष्ठन्ति मे हृदि ॥७७॥

इति स्वहृदि संस्थाप्य, तत्र यथोक्तरूप देवं ध्यात्वा, मानसैरुपचारैः सम्पूज्य, स्वाभेदेन ध्यायन् प्राणायामत्रयं ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासान्विधायेशानकोणे चतुरस्रवेष्टितं त्रिकोणमण्डलं कृत्वा, तत्र पञ्चायतनी चेदीशानादिकोणचतुष्के प्रादक्षिण्येन—"लम्बोदराय चण्डेश्वर्यै विष्वक्सेनाय तेजश्चण्डाय नमः" इति गणेशादीनां निर्माल्येन सम्पूज्य, मध्ये—"चण्डेश्वराय नमः" इति देवस्य निर्माल्यपुष्पादिकं निक्षिप्य, नैवेद्यशेषं किञ्चिदादाय—

लेह्यचोष्यान्नपानानि ताम्बूलं स्रग्विलेपनम् ।
निर्माल्यभोजिने तुभ्यं ददामि श्रीशिवाज्ञया ॥७८॥

इति तत्रैव निक्षिप्य, करम्प्रक्षालयेत् । अत्र तत्तद्देवतोपासकैः स्वेष्टदेवताङ्गत्वेन स्थापनक्रमेण गणेशादीनां निर्माल्यदेवताः पूज्याः । ततस्ताम्रादिपात्रे गन्धपुष्पान्वितं जलमापूर्य, सूर्याभिमुखं स्थित्वा—

१. ख द्वारदेवताश्चतुरायतनदेवताङ्गावरणादिदेवताश्च ।

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे ।
नमः सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने ॥७६॥

इति पठित्वा, "ह्रां ह्रीं सः श्रीसूर्य एष तेऽर्घः स्वाहा" इति सूर्यायार्घं दत्वा कृताञ्जलिः—

ॐ यज्ञच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं पूजने मम ।
सर्वं तदच्छिद्रमस्तु भास्करस्य प्रसादतः ॥८०॥

इत्यच्छिद्रमवधार्य, पूजास्थानं गत्वा, पूजावशिष्टं गन्धं किञ्चित्स्ववामकरे निधाय, तत्रार्घपात्रोदकं, किञ्चिन्निःक्षिप्याऽलोड्य, मूलमन्त्रेणाऽष्टवारमभिमन्त्र्य, तेन जलेन स्वात्मानं प्रोक्ष्य, मूलमन्त्रेण निर्माल्यपुष्पं शिरसि निधाय, मूलेनैव चरणोदकं प्राश्य, नैवेद्यं निजेष्टदेवताभक्तेभ्यो विभज्य, दत्वा स्वयमपि भुक्त्वा, स्वेष्टदेवतारूपः सुखं विहरेत् । **इति नित्यपूजाविधिः ।**

अथैवं विस्तारतो नित्यपूजां कर्त्तुमशक्तश्चेत् प्रातरुत्थाय, श्रीगुरुं स्मृत्वा, प्रणम्य, शौचादिकं विधाय, प्रोक्तविधिना स्नात्वा, स्नानेऽपि विस्ताराशक्तौ निर्म्मलादिकं स्नानान्तरं कुम्भमुद्रया स्वशिरसि त्रिरभिषिच्योक्तविधिना त्रिपुण्ड्रं विधाय, तत्रापि विस्ताराशक्तौ मूलमन्त्रेणैवाभिमन्त्रितभस्मना विधायोक्तविधिना सन्ध्यातर्प्पणसूर्यार्घदानानि कृत्वा, तर्प्पणेऽपि विस्ताराशक्तौ मूलमन्त्रेणाऽष्टाविंशतिवारं देवं सन्तर्प्य, सूर्यार्घदाने विस्ताराशक्तौ केवलसूर्यमन्त्रेणैवार्घं दत्वा, प्रागुक्तविधिना पश्चिमद्वारमेव सम्पूज्य, प्राग्वत् प्रविश्यासनं कल्पयित्वा, आसनेऽपि विस्ताराशक्तौ "ह्रीं आधारशक्तिकमलासनाय नमः" इत्यासनं सम्पूज्योपविश्य, प्राग्वद्द्रव्याण्यासाद्य, भूतशुद्धिं विधाय, भूतशुद्धावपि विस्ताराशक्तौ प्राग्वद्धृदये जीवात्मानं ध्यात्वा, तथैव ब्रह्मरन्ध्रे संयोज्य, प्राग्वत्पापपुरुषं ध्यात्वा, तथैव 'यं' बीजेन संशोष्य, 'रं' बीजेन सन्दह्य, 'वं' बीजेनाप्लाव्य, पुनर्ब्रह्मरन्ध्राज्जीवात्मानं हृदयमानीय, प्राग्वत्प्राणप्रतिष्ठां मातृकान्यासांश्च कृत्वा, समस्तमातृकान्यासकरणाशक्तौ केवलमातृकान्यासं श्रीकण्ठादिन्यासं, तत्राप्यशक्तौ केवलमातृकान्यासमेव कृत्वा, प्राणायामयोगपीठन्यासमूलमन्त्रन्यासांश्च कृत्वा, ध्यानार्घस्थापनादि सर्वं प्राग्वत्समापयेत् । पाद्यादिपात्रस्थापनाशक्तौ अर्घपात्रं प्रोक्षणीपात्रं च संस्थाप्य, प्रोक्षणीजलेनैव पाद्यादीनि कल्पयेदिति । इतोऽपि संक्षेपप्रकारः शास्त्राद्गुरुमुखादवगन्तव्यः । इयं संक्षेपपूजा विस्तारतः कर्त्तुमशक्तानामेव, शक्तैश्चेदालस्यादिना विस्तारं त्यक्त्वा संक्षेपेण क्रियते तदा दोषाय भवति । इत्थं नित्यपूजाऽऽशौचसम्भवेऽपि विधीयते चेत्तदा न दोषः । तदुक्तं—

देवीयामले—

जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितैर्नरैः ।
नास्ति पापं यतस्तेषां सूतकं वा यतात्मनाम् ॥८१॥

मृडानीतन्त्रे—

सूतके मृतके चैव धूमोद्गारादिके तथा ।
जपं चार्घ्यं तथा कुर्यान्मन्त्रन्यासपुरःसरम् ॥८२॥

विष्णुयामले—

शिवविष्ण्वर्च्चने दीक्षा यस्य चाग्निपरिग्रहः ।
ब्रह्मचारियतीनां च शरीरे नास्ति सूतकम् ॥८३॥

नारदपञ्चरात्रे—

सूतके मृतके चैव नित्यं विष्णुमयस्य च ।
सानुष्ठानस्य विप्रेन्द्र सद्यः शुद्धिः प्रजायते ॥८४॥

इति क्षत्रियादीनां तु सूतके नाधिकारोऽस्तीति प्रतीयते । तथा च—

पराशरः—

उपासने तु विप्राणामङ्गशुद्धिः प्रजायते ॥ इति ।

विष्णुवचनमपि—

ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहं शुचेरप्यशुचेरपि ।
स्त्रीशूद्रकरसंस्पर्शो वज्रपातात्सुदुःसहः ॥८५॥

शिववचनमपि—

विप्रस्य तु सदैवाऽहं शुचेरप्यशुचेरपि ।
पूजां गृह्णामि शूद्रस्य पुनः स्वाचारवर्त्तिनः ॥८६॥ इति

लिङ्गपुराणेऽपि—

न चैवापूज्य भुञ्जीत शिवलिङ्गं महेश्वरम् ।
सूतके मृतके चापि न त्याज्यं शिवपूजनम् ॥८७॥

इति । नैमित्तिककाम्यपूजायां तु सूतके विप्रादीनां सर्वेषामपि नाधिकारः । तदुक्तम्—

नारदपञ्चरात्रे—

सूतके मृतके चापि वर्त्तमाने तु नारद ।
कामतः पूजिते मन्त्रे शान्तिकादौ च कुत्रचित् ॥८८॥

जपेत्पञ्चशतं मन्त्री सिंहमन्त्रस्य भक्तितः ।
शतत्रयमकामाच्च प्रायश्चित्तविधौ जपेत् ॥८९॥

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मज-
गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टविरचिते
सिंहसिद्धान्तसिन्धौ पञ्चमस्तरङ्गः ॥

॥ अथ दीक्षाविधिः ॥ तत्र

श्रीसारसङ्ग्रहे—

अथ वक्ष्यामि दीक्षाणां विधानं मन्त्रिकाम्यया ।
याभिर्विना न लभ्यन्ते सर्वमन्त्रफलानि हि ॥१॥

ताश्च क्रमेण कथिताः क्रियामय्यणंमय्यपि ।
कलामयी वेधमयी चतस्रो ज्ञानदाः शुभाः ॥२॥

प्रयोगसारे—

मन्त्रमार्गानुसारेण साक्षात् कृत्वेष्टदेवताम् ।
गुरुश्चोद्बोधयेच्छिष्यं मन्त्रदीक्षेति सोच्यते ॥३॥

षडन्वयमहारत्ने—

त्रिविधा सा भवेद्दीक्षा प्रथमा आणवी परा ।
शाक्तेयी शाम्भवी चान्या सद्योमुक्तिविधायिनी ॥४॥

मन्त्रार्चनासनस्थानध्यानोपायादिभिः कृता ।
दीक्षा सा त्वाणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ॥५॥

सिद्धैः स्वशक्तिमालोक्य तया केवलया शिशोः ।
निरुपायकृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्तिता ॥६॥

अभिसन्धि विनाऽऽचार्यशिष्ययोरुभयोरपि ।
देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तिकारिणी ॥७॥
सेयं तु शाम्भवी दीक्षा शिवादेशनकारिणी ।

वायवीयसंहितायाम्—

शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे ।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना ॥८॥

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात्सम्भाषणादपि ।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोर्दीक्षा सा शाम्भवी मता ॥९॥

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा ॥१०॥
मान्त्री क्रियावती दीक्षा कुम्भमण्डलपूर्विका ।

कुलमूलावतारे—

दीयते ज्ञानविज्ञानं क्षीयन्ते पापराशयः ।
तेन दीक्षा इति प्रोक्ता तासां तत्त्वविचारकैः ॥११॥

सारसंग्रहे—

आत्मलाभं ददत्येताः क्षिण्वन्ति दुरितान्यपि ।
तेन दीक्षा इति प्रोक्ता ....॥१२॥ इति

अन्यत्रापि—

ददाति यस्मादिह दिव्यभावं,
मायामले कर्म च संक्षिणोति ।
फलं चतुर्वर्गभवं च यस्मात्,
तस्मात्तु दीक्षेत्यभिधानमस्याः ॥१३॥

महाकपिलपञ्चरात्रनारायणीययोः—

मन्त्री यः साधयेदेकं जपहोमार्चनादिभिः ।
क्रियाभिर्भूरिभिस्तस्य सिध्यन्त्यन्येऽल्पसाधनात् ।१४॥

सम्यक् सिद्धैकमन्त्रस्य नासाध्यमिह किञ्चन ।
बहुमन्त्रवतः पुंसः का कथा हरिरेव सः ॥१५॥

पदार्थादर्शे—

पुस्तके लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते ।
न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे ॥१६॥

कालोत्तरे—

द्विजानामनुपेतानां स्वकर्माध्ययनादिषु ।
यथाऽधिकारो नास्तीह स्याच्चोपनयनादनु ॥१७॥

तथा चादीक्षितानां च मन्त्रदेवार्चनादिषु ।
नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्यादात्मानं शिवसंस्कृतम् ॥१८॥

नारायणीये—

यदृच्छया श्रुतं मन्त्रं छन्नेनापि छलेन वा ।
पत्रेक्षितं वा गाथावत्तज्जपेद्यद्यनर्थकृत् ॥१९॥

श्रीकुलार्णवे—

पुस्तके लिखितान्मन्त्रानालोक्य प्रजपन्ति ये ।
ब्रह्महत्यासमं तेषां पातकं परिकीर्त्तितम् ॥२०॥

अनेककोटिमन्त्राणां चित्तव्याकुलकारणम् ।
मन्त्रं गुरुमुखात्प्राप्तमेकं स्यात्सर्वसिद्धिदम् ॥२१॥

प्रविश्य विधिवद्दीक्षामभिषेकावसानिकाम् ।
श्रुत्वा तन्त्रं गुरोर्लब्धं साधयेदीप्सितं मनुम् ॥२२॥

अन्यत्र—

गुरुमुख्याः क्रियाः सर्वा भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं मुक्त्यर्थं सुसमाहितैः ॥२३॥

गुर्वनुक्ताः क्रियाः सर्वा निष्फला स्युर्यतो ध्रुवम् ।
जपो देवार्चनविधिः कार्यो दीक्षान्वितैर्नरैः ॥२४॥
नास्ति पापं यतस्तेषां सूचकं वा यतात्मनाम् ।

नारदपञ्चरात्रे—

[1]नारायणपरं ब्रह्म तज्ज्ञानेनाऽवगम्यते ।
ज्ञानस्य साधनं शास्त्रं तच्छास्त्रं गुरुवक्त्रतः ॥२५॥

ब्रह्मप्राप्तिरतो हेतोर्गुर्वधीना सदैव हि ।
यस्माद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम् ॥२६॥

मग्नानुद्धरते लोकान्कारुण्याच्छास्त्रपाणिना ।
तस्माद्भक्तिर्गुरौ कार्या संसारभयभीरुणा ॥२७॥

शास्त्रज्ञानेन योऽज्ञानतिमिरं विनिपातयेत् ।
शास्त्रे पापहरं पुण्यं पवित्रं भोगमोक्षदम् ॥२८॥
शान्तिदं च महार्थं च वक्ति यः स जगद्गुरुः ।

---

१. इतः पूर्वं ख. पुस्तके पद्यानीमानी विशेषतोऽवलोक्यन्ते—
यो मन्त्रो (न्त्रः) स गुरुः साक्षाद्यो गुरुः स हरिः स्वयम् ।
गुरुर्यस्य भवेत्तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम् ॥१॥
हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुरेव सदा गतिः ॥२॥
ये गुर्वाज्ञां न कुर्वन्ति पापिष्ठाः पुरुषाधमाः ।
न तेषां नरकक्लेशनिस्तारो मुनिसत्तम ॥३॥
एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा ह्यनृणो भवेत् ॥४॥

कुलार्णवे—

विना दीक्षां न मोक्षः स्यान्नराणां शिवशासनम् ।
सा तु न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्य्यपरम्परा ॥२६॥

इत्यादिवचनैर्दीक्षाया गुर्वधीनत्वाद्गुरुस्वरूपं निरूप्यते ।

तन्त्रराजे—

सुन्दरः सुमुखः स्वच्छः सुलभो बहुतन्त्रवित् ।
असंशयः संशयच्छिन्निरपेक्षो गुरुर्मतः ॥३०॥
सौन्दर्यमनवद्यत्वं रूपे सुमुखता पुनः ।
स्मेरपूर्वाभिभाषित्वं स्वच्छताऽजिह्मचित्तता ॥३१॥
सौलभ्यमप्यगर्वित्वं सन्तोषो बहुतन्त्रता ।
असंशयस्तत्वबोधे तच्छिष्ये प्रतिपादनात् ॥३२॥
नैरपेक्ष्यमचित्तेच्छा गुरुत्वं हितवादिता ।
एवंविधो गुरुर्ज्ञेयस्त्वितरः शिष्यदुःखदः ॥३३॥

श्रीकुलार्णवे—

श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेषो मनोहरः ।
सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वावयवशोभितः ॥३४॥
सर्वागमार्थतत्वज्ञः सर्वमन्त्रविधानवित् ।
लोकसम्मोहनाकारो देववत्प्रियदर्शनः ॥३५॥
सुमुखः सुलभः स्वच्छः शुद्धान्तःच्छिन्नसंशयः ।
इङ्गिताकारचेष्टाविद् दूरतः कृतदुर्जनः ॥३६॥
अन्तर्मुखो बहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित् ।
आज्ञासिद्धस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः ॥३७॥
वेदवेदाङ्गविच्छान्तः सर्वजीवदयापरः ।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चारः षड्वर्गविजयक्षमः ॥३८॥
अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्राऽपात्रविशेषवित् ।
निर्ममो नित्यसन्तुष्टो निर्द्वन्द्वोऽनन्तशक्तिमान् ॥३९॥
सद्भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मितपूर्ववाक् ।
भक्तप्रियः सर्वसमो दयालुः शिष्यशासिता ॥४०॥
श्रेष्ठनिष्ठो गुरुः प्राज्ञो वनितापूजनोत्सुकः ।
नित्ये नैमित्तिके काम्ये रतः कर्मण्यनिन्दिते ॥४१॥

अलोलुपो हिंसकश्च पक्षपाती विचक्षणः ।
वित्तविद्यादिभिः पूर्णो मन्त्रयन्त्रादिपारगः ॥४२॥

निःसङ्कल्पविकल्पश्च निर्णीतार्थाभिधायकः ।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी निरपेक्षो नियामकः ॥४३॥

इत्यादिलक्षणोपेतः श्रीगुरुः कथितः प्रिये ।

शारदातिलके—

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः ।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्ववित् ॥४४॥
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः ।[1]

महाकपिलपञ्चरात्रे—

नातिबालो न वृद्धश्च न खञ्जो न कृशस्तथा ।
नाधिकाङ्गो न हीनाङ्गो न खल्वाटो न दन्तुरः ॥४५॥

कृतज्ञं वाग्मिनं शूरं प्रतिष्ठागमपारगम् ।
वास्तुविद्याकृताभ्यासं शल्योद्धारविवेकिनम् ॥४६॥

क्रियानुक्रमवेत्तारं मुद्रातन्त्रविवेकिनम् । इति
शुचिस्सुवेषस्तरुणस्सर्वभूतसमानधीः ॥४७॥

धीमाननुद्धतमतिः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः ।
श्रद्धावाननसूयश्च गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥४८॥

संसारसागरे मग्नान् यस्तारयति देहिनः ।
तत्वप्लवप्रदानेन स एवेह गुरुः स्मृतः ॥४९॥

प्रतिष्ठासारस्वते तु विशेषः—

आर्यावर्त्तोद्भवोऽन्यो वा ककाराष्टकवर्जितः ।
शैवसिद्धान्तनिपुणः प्रतिष्ठामन्त्रपारगः ॥५०॥

---

१. अतः परं ख. पुस्तके विशेषः—
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः ।
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः ॥१॥
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः ।

वीरागमे च—

कुमारीहिमवन्मध्ये स्वतः कृष्णमृगान्विते ।
देशे जातस्तु यो विद्वानाचार्यत्वमथार्हति ॥५१॥

योगशिवमतावपि—

मध्यदेशकुरुक्षेत्रनाभोज्जयनिसम्भवाः ।
अन्तर्वेदिप्रतिष्ठानादावन्त्याश्च गुरूत्तमाः ॥५२॥

गौडदेशोद्भवाश्चौला मागधाः कैरलास्तथा ।
कौशलाश्च दशार्णाश्च गुरवः सप्त मध्यमाः ॥५३॥

कार्णाटाः कौंकणाः कीरकच्छकश्मीरसम्भवाः ।
कालिङ्गाः कामरूपाश्च काम्बोजाश्चाधमाः स्मृताः ॥५४॥

शैवदीक्षायां अतीतागमे विशेषः—

जटी मुण्डी शिखी वापि शस्तदेशसमुद्भवः ।
शिवशास्त्रार्थतत्वज्ञः श्रुतवृत्तान्वितो द्विजः ॥५५॥

शिवमेवाश्रितो नित्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
आचार्यः स सदोद्दिष्टः शिवदीक्षादिकर्मसु ॥५६॥

शान्तिके च—

अनूचानः[1] प्रसन्नात्मा शिवदीक्षाऽभिषेचितः ।
शिवागमज्ञो मतिमाञ्छिवपूजापरायणः ॥५७॥

रुद्राक्षमालां बिभ्राणस्त्रिशूलाङ्कितविग्रहः ।
विशुद्धदेशकुलजः शीलाचारसमन्वितः ॥५८॥
वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो ज्ञानवान्गुरुरुच्यते ।

प्रतिष्ठापद्धतावपि—

लिङ्गाविलक्षणज्ञानो निपुणः कर्मसन्ततौ ।
देवताव्याप्तितत्वज्ञः षड्विधाऽध्वविशारदः ॥५९॥

शुभाशुभनिमित्तज्ञस्त्वथवा विस्तरेण किम् ।
सम्यग् जातिपरिज्ञानवृत्तत्वाद्यास्त्रयोगुणाः ॥६०॥
यस्यैते स गुरुः श्रेष्ठः सर्वकामफलप्रदः ।

---

१. ख. अननचानः ।

पौष्करे—

सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुच्यते ।
ज्ञानं च तत्वविज्ञानं षडध्वज्ञानसंश्रयम् ॥६१॥

तत्वसारे—

बह्वाशी दीर्घसूत्री च विषयादिषु लोलुपः ।
हेतुवादरतो दुष्टो वाग्वादी गुणनिन्दकः ॥६२॥

अरोमा बहुरोमा च निन्दिताश्रमसेवकः ।
कालदन्तोऽसितोष्ठश्च दुर्गन्धिश्वासवाहकः ॥६३॥

दुष्टलक्षणसम्पन्नो यद्यपि स्वयमीश्वरः ।
बहुप्रतिग्रहासक्त आचार्यः श्रीक्षयावहः ॥६४॥

शैवागमे—

भिक्षुभ्यश्च वनस्थेभ्यो वर्णिभ्यश्च महेश्वरि ।
गृहस्थो भोगमोक्षार्थी मन्त्रदीक्षां न चाचरेत् ॥६५॥

त्यक्ताग्नयः क्रियाहीना यतयो ह्यपरिग्रहाः ।
वनस्थास्तादृशा एव वर्णी न्यूनाश्रमी यतः ॥६६॥

अतस्तेषां नाऽधिकारो दीक्षादाने महेश्वरि ।
न्यूनाश्रमी गृहस्थापेक्षया गार्हस्थ्य द्वितीयाश्रमत्वात् ॥

शिवसद्भावेऽपि—

दीक्षायां न गुरुत्वेन यतीन् वैखानसान् प्रिये ।
वृणुयाद्भोगमोक्षार्थी गृहस्थो वर्णिनं तथा ॥६७॥
वैखानसान् वानप्रस्थान् वर्णिनं ब्रह्मचारिणम् ।
क्वचिद्यतीनाम्ब्रह्मचारिणां च गुरुतोक्ता ।

मोहशूरोत्तरे—

चीर्णाचारव्रतो मन्त्री ज्ञानवान् सुसमाहितः ।
नित्यनिष्ठो यतिः ख्यातो गुरुः स्याद्भौतिकोऽपि वा ॥६८॥

भौतिको ब्रह्मचारी ।

हयशीर्षपञ्चरात्रे—

गृहस्थं ब्रह्मचर्यस्थं ककाराष्टकवर्जितं ।
गुरुं कुर्वीत सततमुपवासव्रते रतम् ॥६९॥

स्नातोन्नयने—

निर्वीर्यं तु पितुर्मन्त्रं तथा मातामहस्य च ।
सोदरस्य कनिष्ठस्य वैरिपक्षाश्रितस्य च ॥७०॥

कनिष्ठस्य स्वापेक्षया न्यूनवयस्कस्य । नैतत्सोदरविषयम्, भक्तियुक्ताय पुत्रायापि मन्त्रो देयो विशेषतो ज्येष्ठायेत्यप्युक्तम् तथा च—

फेत्कारिणीतन्त्रे—

कृतसुकृतसहस्रानेकजन्मप्रतानै-
र्यदि भवति मनुष्यो गुर्वधीनश्चिरायुः ।
कथमपि मनुमेनं प्राप्य सद्देशिकेन्द्रा-
न्निजकुलतिलकाय ज्येष्ठपुत्राय दद्यात् ॥७१॥

एनं तारामनुम् ।

प्रयोगसारे—

तत्रापि भक्तियुक्ताय पुत्राय वसुदाय च ॥ इति ॥

नारायणीयेऽपि—

कुर्वन्नाचार्यशुश्रूषां मनोवाक्कायकर्मभिः ।
शुद्धभावो महोत्साहो बोद्धा शिष्य इति स्मृतः ॥७२॥
सतूपदेश्यः पुत्रोऽपि व्यत्ययी वसुदस्तथा ॥इति॥

मत्स्यसूक्ते तु विशेषः—

निर्वीर्यं तु पितुर्मन्त्रं शैवे शाक्ते न दुष्यति ।

वैशम्पायनसंहितायां विष्णुमंत्रमधिकृत्याप्युक्तम्—

साधु पृष्टं त्वया ब्रह्मन् वक्ष्यामि सकलं तव ।
ब्रह्मणा कथितं पूर्वं वसिष्ठाय महात्मने ॥७३॥
वसिष्ठोऽपि स्वपुत्राय मत्पित्रे दत्तवान् स्वयम् ।
प्रसन्नहृदयः स्वच्छः पिता मे करुणानिधिः ॥७४॥
कुरुक्षेत्रे महातीर्थे सूर्यपर्वणि दत्तवान् । इति ।

रुद्रयामले—

न पत्नीं दीक्षयेद्भर्त्ता न पिता दीक्षयेत्सुताम् ।
न पुत्रं च तथा भ्राता भ्रातरं च न दीक्षयेत् ॥७५॥
सिद्धमन्त्रो यदि पतेस्तदा पत्नीं स दीक्षयेत् ।

सिद्धियामले तु सिद्धमन्त्रलाभे गुरुविचारो न कार्यः । यथा—

यदि भाग्यवशेनैव सिद्धविद्यां लभेत्प्रिये ।
तदैव तां तु दीक्षेत त्यक्त्वा गुरुविचारणाम् ॥७६॥ इति।

नारदपञ्चरात्रे—

ब्राह्मणः सर्वकालज्ञः कुर्यात्सर्वेष्वनुग्रहम् ।
तदभावाद् द्विजश्रेष्ठः शान्तात्मा भगवन्मयः ॥७७॥

भावितात्मा च सर्वज्ञः शास्त्रज्ञः सत्क्रियापरः ।
सिद्धत्रयसमायुक्ते आचार्यत्वेऽभिषेचितः ॥७८॥

क्षत्रविट्शूद्रजातीनां क्षत्रियोऽनुग्रहक्षमः ।
क्षत्रियस्यापि च गुरोरभावादीदृशो यदि ॥७९॥

वैश्यः स्यात्तेन कार्यः स्याद् द्वये नित्यमनुग्रहः ।
सजातीयेन शूद्रेण तादृशेन महामते ॥८०॥

अनुग्रहाभिषेकौ च कार्यौ शूद्रस्य सर्वदा ।
वर्णोत्तमे ऽथ च गुरौ सति वा विश्रुतेऽपि वा ॥८१॥

स्वदेशतोऽथवाऽन्यत्र नेदं कार्यं शुभार्थिना ।
विद्यमाने तु यः कुर्याद्यत्र तत्र विपर्ययम् ॥८२॥

तस्येहाऽमुत्र नाशः स्यात्तच्छास्त्रोक्तमाचरेत् ।
क्षत्रविट्शूद्रजातीयः प्रातिलोम्यं न दीक्षयेत् ॥८३॥

स्त्रिया अपि गुरुत्वमुक्तम्—

योगिनीतन्त्रे

साध्वी चैव सदाचारा गुरुभक्ता जितेन्द्रिया ।
सर्वमन्त्रार्थतत्वज्ञा सुशीला पूजने रता ॥८४॥

गुरुयोग्या भवेत्सापि विधवा च विवर्जिता ।
स्त्रियो दीक्षा शुभा प्रोक्ता मातुश्चाष्टगुणा स्मृता ॥८५॥

॥ अथ सच्छिष्यलक्षणानि ॥ तत्र—

तन्त्रराजे—

चतुर्भिराद्यैस्संयुक्तः श्रद्धावान्सुस्थिराशयः ।
अलुब्धः स्थिरगात्रश्च प्रेक्षाकारी जितेन्द्रियः ॥८६॥

आस्तिको दृढभक्तिश्च गुरौ मन्त्रे सदैवते ।
एवं विधो भवेच्छिष्यस्त्वितरो दुखःकृद्गुरोः ॥८७॥

चतुर्भिराद्यैः सुन्दरादिभिर्लक्षणैः ।

गुरूच्यमाने वचने दद्यादित्थं बचस्तदा ।
प्रसीद नाथ देवेति तथेति च कृतादरम् ॥८८॥

प्रणम्योपविशेत्पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया ।
मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात् ॥८९॥

असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि ।
कामं क्रोधं तथा लोभं मानं प्रहसनं स्तुतिम् ॥९०॥

चापलानि च जिह्मानि कार्याणि परिदेवनम् ।
ऋणादानं तथा दानं वस्तूनां क्रयविक्रयम् ॥९१॥

न कुर्याद्गुरुणा सार्द्धं शिष्यो भूष्णुः कदाचन ।
यतो गुरुः शिवः साक्षात्तं स्तुवन्प्रणमन् भजेत् ॥९२॥

यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ ।
यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येवं भक्तिक्रमः प्रिये ॥९३॥

गुरोस्तु जन्मदिवसे कुर्यादुत्सवमादरात् ।
विशेषपूजां योगिभ्यो भोजनं तत्पदार्चनम् ॥९४॥

व्याप्ते दूरगते पूज्ये पूजयेदग्रजादिषु ।
एकदेशे नित्यसेवा दूरस्थे योजनक्रमात् ॥९५॥

एकादिऋतुसंवृद्धया वर्षे षड्योजनान्तरे ।
ततो दूरगते सेवा तदाज्ञापरिपालनम् ॥९६॥

आसनं शयनं वस्त्रं भूषणं पादुकां तथा ।
छायां कलत्रमन्यच्च यत्तत्स्पृष्टं सुपूजयेत् ॥९७॥

एकग्रामे पृथक् पूजां न कुर्यादननुज्ञया ।
पूजामध्ये समायाते पूज्ये नत्वा स्थितिं वदेत् ॥९८॥

विधेहि शेषमित्युक्तः कुर्यान्नो चेत्तदाज्ञया ।
वर्त्तेत सोऽपि तच्छेषं कुर्यान्निश्चलमानसः ॥९९॥

पूजामध्ये गुरौ पूज्ये त्वन्ये वापि समागते ।
कृत्यमेवं समुद्दिष्टं मौनं तैर्न्न समाचरेत् ॥१००॥

गुरुं न मर्त्यं बुद्ध्येत यदि बुद्ध्येत तस्य तु ।
न कदापि भवेत्सिद्धिर्मन्त्रैर्वा देवपूजनैः ॥१०१॥
मन्त्रेण तस्य नियतं पूजां कुर्याद्यथोदिताम् ।

दिव्यागमे—

गुरोरग्रे पृथक् पूजामद्वैतं तु परित्यजेत् ।
दीक्षा[1] व्याख्यां प्रभुत्वादि गुरोरग्रे विवर्जयेत् ॥१०२॥

प्रयोगसारे—

गुरुणा यद्यदादिष्टमिष्टं वाऽनिष्टमेव वा ।
तदा तदाशु सन्तिष्ठेदकौटिल्येन चेतसा ॥१०३॥

पदार्थादर्शे—

यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याऽभिवादयेत् ।

शारदातिलके—

शिष्यः कुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः ।
अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः ॥१०४॥

हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्यक्तनास्तिकः ।
स्वधर्मनिरतो भक्त्या पितृमातृहितोद्यतः ॥१०५॥

वाङ्मनःकायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः ।
त्यक्ताभिमानो गुरुषु जातिविद्याधनादिभिः ॥१०६॥

गुर्वाज्ञापालनार्थं हि प्राणव्ययपरतोद्यतः ।
विहाय च स्वकार्याणि गुरुकार्यरतः सदा ॥१०७॥

दासवन्निवसेद्यस्तु गुरौ पित्रोर्यथा शिशुः ।
कुर्वन्नाज्ञां दिवा रात्रौ गुरुभक्तिपरायणः ॥१०८॥

---

१. ख. दीक्षा ।

२. इतः परमयमंशो विशेषः—

गौतमीतन्त्रे—एकग्रामे गुरुं नित्यं गत्वा वन्देत भक्तितः ।
योजनान्तरे मासं मास भक्त्या तु वन्दयेत् ॥१॥
अतः परं तस्यां दिशि नमस्कुर्याच्च भक्तितः ।
अथवा मानसीं पूजां कुर्याच्च निजमूर्द्धनि ॥२॥

आज्ञाकारी गुरौ शिष्यो मनोवाक्कायकर्मभिः ।
यो भवेत्स सदा ग्राह्यो नेतरः शुभकाङ्क्षया ॥१०९॥
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः ।

तथा च कुलार्णवे—

सच्छिष्यं तं कुलेशानि सर्वलक्षणसंयुतम् ।
शमादिसाधनोपेतं गुणशीलसमन्वितम् ॥११०॥

शुद्धदेहानुबन्धाङ्गं धार्मिकं शुद्धमानसम् ।
दृढव्रतं सदाचारं श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥१११॥

कृतज्ञं पापभीतं च साधुसज्जनसम्मतम् ।
आस्तिकं दानशीलं च सर्वभूतहिते रतम् ॥११२॥

विश्वासविनयोपेतं वित्तशाठ्यविवर्जितम् ।
असाध्यसाधकं शूरं बलकान्तिसमन्वितम् ॥११३॥
अनुकूलक्रियायुक्तमप्रमत्तं विचक्षणम् ।
हितसत्यमितस्निग्धभाषिणं मुक्तदूषणम् ॥११४॥

सकृदुक्तगृहीतार्थं चतुरं बुद्धिविस्तरम् ।
गृहतल्पासनोत्सङ्गनिर्विकारमसेवकम् ॥११५॥

विमृश्यकारिणं वीरं मनोदारिद्र्यवर्जितम् ।
सर्वकार्यातिकुशलं धीरं सर्वोपकारकम् ॥११६॥

स्वस्वार्थे परनिन्दायां विमुखं सुमुखं प्रिये ।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं धीमन्तं ब्रह्मचारिणम् ॥११७॥

त्यक्ताधिव्याधिचापल्यं दुःशङ्कातङ्कवर्जितम् ।
गुरुध्यानस्तुतिकथासेवनाभजनोत्सुकम् ११८॥

गुरुदैवतभक्तं च कामिनीपूजनोत्सुकम् ।
नित्यं गुरुसमीपस्थं गुरुसन्तोषकारिणम् ॥११९॥

वाङ्मनःकर्मभिर्नित्यं गुरुकार्यसमुत्सुकम् ।
गुर्वाज्ञापालकं देवि गुरुकीर्त्तिप्रकाशकम् ॥१२०॥

गुरुवाक्यप्रमाणज्ञं गुरुशुश्रूषणे रतम् ।
चित्तानुवर्त्तिनं प्रेक्ष्यकारिणं कुलनायिके ॥१२१॥

लज्जाभिमानगर्वादिवर्ज्जितं गुरुसन्निधौ ।
निरपेक्षं गुरुद्रव्ये तत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणम् ॥१२२॥

जपध्यानादिनिरतं मोक्षमार्गाभिगामिनम् ।
इत्यादिलक्षणोपेतं गुरुः शिष्यं परिग्रहेत् ॥१२३॥

॥ इति सच्छिष्यलक्षणानि ॥

॥ अथासच्छिष्यलक्षणानि ॥ तत्रैव--

दुष्टान्ववायजं दुष्टं गुणहीनं विरूपिणम् ।
परशिष्यं च पाखण्डं धूर्त्तं पण्डितमानिनम् ॥१२४॥

हीनाधिकविकाराङ्गं विकलावयवान्वितम् ।
पङ्गुमन्धं च बधिरं मलिनं व्याधिपीडितम् ॥१२५॥

उच्छिष्टं दुर्मुखं चापि स्वेच्छावेशधरं विटम् ।
दुर्विदग्धं कुचेष्टं च कुटिलं भीमवीक्षणम् ॥१२६॥

निद्रालस्ययुतं तन्द्राद्यूतादिव्यसनान्वितम् ।
कपाटकुड्यस्तम्भादौ तिरोहिततनुं सदा ॥१२७॥

शून्ययुक्तिकरं क्षुद्रं श्रद्धाभक्तिविवर्जितम् ।
किमेकवादिनं स्तब्धं प्रेषकं चपलं शठम् ॥१२८॥

धनस्त्रीशुद्धरहितं निषेधविधिवर्जितम् ।
रहस्यभेदकं चापि देवि कार्यार्थघातकम् ॥१२६

मार्जारवकवृत्तिं च रन्ध्रान्वेषणतत्परम् ।
मायान्वितं कृतघ्नं च प्रच्छन्नान्तरदायकं ॥१३०॥

विश्वासघातकं देवद्रोहिणं पापकारिणम् ।
अविश्वासमवद्याङ्गमनर्थसिद्धिकांक्षिणम् ॥१३१॥

आततायिनमादित्सुं कुत्सितं कूटसाक्षिकम् ।
सर्वत्र याचकं देवि सर्वाकृष्टाभिगामिनम् ॥१३२॥

असत्यनिष्ठं चाशक्तं ग्राम्यादिबहुभाषिणम् ।
दुर्विचारकुतर्कादिकारकं कलहप्रियम् ॥१३३॥

वृथाऽऽक्षेपकरं भ्रान्तं भ्रामकं वाग्विडम्बकम् ।
परोक्षे दूषणकरं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ॥१३४॥

वाग्रूक्षवादिनं विद्याचोरमात्मप्रशंसकम् ।
गुणासहिष्णुं सङ्गीतमार्त्तिक्रोधसमन्वितम् ॥१३५॥

चार्वाकं दुर्जनसखं सर्वलोकविगर्हितम् ।
पिशुनं परसन्तापं सर्वप्राणिभयङ्करम् ॥१३६॥

स्वक्लेशवादिनं मित्रद्रोहितं[1] भ्रातृवञ्चकम् ।
जिह्वोपस्थपरं देवि तस्करं पशुचेष्टितम् ॥१३७॥

अकारणद्वेषहास्यक्लेशक्रोधादिकारिणम् ।
अतिहास्यमकर्माणं मर्मान्तःपरिहासकम् ॥१३८॥

कामुकं चातिनिर्लज्जं मिथ्यादुश्चेष्टसूचकम् ।
असूयामदमात्सर्यदम्भाहङ्कारसंयुतम् ॥१३९॥
ईर्ष्यापैशुन्यपारुष्यकार्यान्यक्रोधमानिनम्[2] ।
अधीरं दुःखितं द्वेष्यमशक्तं तत्ववर्जितम् ॥१४०॥
अप्रसन्नमतिं मूढं चिन्ताकुलितमानसम् ।
तृष्णालोभयुतं दीनमतुष्टं सर्वपाचकम्[3] ॥१४१॥

बह्वाशिनं कपटिनं भ्रामकं कुटिलम्प्रिये ।
भक्तिश्रद्धादयाशान्तिधर्माचारविवर्जितम् ॥१४२॥

मातृपितृगुरुप्राज्ञमहतां हास्यकारकम् ।
कुलद्रव्यादिबीभत्सुं गुरुसेवाभिमानिनम् ॥१४३॥

स्त्रीद्विष्टं समयभ्रष्टं गुरुशप्तं कुलेश्वरि ।
इत्यादिविगुणोपेतं गुरुः शिष्यं परित्यजेत् ॥१४४॥

स्नेहाद्वा लोभतो वापि यदि गृह्णाति दीक्षयेत् ।
तस्मिन् गुरौ सशिष्ये तु देवताशाप आपतेत् ॥१४५॥

तस्मादेवंविधं शिष्यं न गृह्णीयात्कथञ्चन ।
यदि गृह्णाति मोहेन तत्पापैर्व्याप्यते गुरुः ॥ १४६ ॥

मन्त्रिपापं च राजानं पतिं जायाकृतं तथा ।
तथा शिष्यकृतं पापं प्रायो गुरुमपि स्पृशेत् ॥१४७॥

---

१. ख. मित्रद्रोहिणं । २. ख. ०पारुष्यकार्पण्य० । ३. ख. सर्वयाजकम् ।

इति निन्दितशिष्यपरिग्रहे दोषश्रवणादसच्छिष्यं न परिगृह्णीयात् । प्राय इति गुरुणा शिष्यः सम्यग्बोधनीयः । सम्यग्बोधितोऽपि तद्वाक्यमनादृत्य पापं चेदाचरति तदा तत्पापं गुरुं न प्राप्नोति इत्यर्थः ।

वर्णाश्रमाणां सर्वेषामाचारः सद्गतिप्रदः ।
गुरुस्त्रिवारमाचारं बोधयेत्कुलनायिके ॥१४८॥
न गृह्णाति हि शिष्यश्चेत्तदा पापं गुरोर्नहि ।

इति **श्रीकुलार्णववचनात्** । **इतिगुरुशिष्यलक्षणानि** ।

भुवनेशीपारिजाते--

अशिष्ये कथयेद्यस्तु स महापातकी भवेत् ।

नारदपञ्चरात्रे—

सर्वस्वमपि यो दद्याद्भक्तिश्रद्धाविवर्जितः ।
नयाचारविनिर्मुक्तो मानी शास्त्रार्थदूषकः ॥१४६॥
न तस्य शास्त्रं वक्तव्यं ब्रूते वा यः स यात्यधः ।

॥ **अथ शिष्याणामधममध्यमोत्तमत्वं च** ॥

श्रीकुलार्णवे—

आदिमध्यावसानेषु योग्याः शक्तिनिपाततः ।
अधमा मध्यमाः श्रेष्ठाः शिष्या देवि प्रकीर्तिताः ॥१५०॥
आदौ भक्तिर्भवेद्देवि दीक्षार्थं संवदन्ति ये ।
पुनर्विलुप्तभक्त्यस्ते आदियोग्या इतीरिताः ॥१५१॥
दीक्षा समयसम्प्राप्ता ज्ञानविज्ञानवर्जिताः ।
भक्त्या प्रध्वस्तजाड्या ये मध्ययोग्या इति स्मृताः ॥१५२॥
आदौ भक्तिविहीना ये मध्ये भक्त्यस्तु वा न वा ।
अन्ते प्रभूतभक्त्यश्चाप्यन्तयोग्या भवन्ति ते ॥१५३॥

अत्र भक्त्य इति दिव्यत्वाद् भक्तिमन्त इत्यर्थः ।

॥ **अथ गुरुशिष्यपरीक्षा** ॥

श्रीकुलार्णवे—

ज्ञानेन क्रियया चापि गुरुः शिष्यं परीक्षयेत् ।
संवत्सरं तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा प्रयत्नतः ॥१५४॥
उत्तमानधमे कार्ये नीचानुत्तमकर्मणि ।
प्राणद्रव्यप्रदानाद्यैरादेशैश्च समाऽसमैः ॥१५५॥
तन्मर्मसूचकैर्वाक्यैर्मायाभिः क्रूरचेष्टितैः ।
पक्षपातैरुदासीनैरनेकैश्च मुहुर्मुहुः ॥१५६॥

आक्रुष्टस्ताडितश्चापि यो विषादं न याति च ।
गुरुः कृपां करोतीति मुदा सञ्चिन्तयेत्सदा ॥१५७॥[1]

श्रीगुरोरत्र[2] योग्याः स्युर्दीक्षासंस्कारकर्मसु ।
शिष्योऽपि लक्षणैरेतैः कुर्याद्गुरुपरीक्षणम् ॥१५८॥

आनन्दाद्यैर्जपैः स्तोत्रैर्ध्यानिहोमार्च्चनादिभिः ।
ज्ञानोपदेशसामर्थ्यं मन्त्रसिद्धिमपीश्वरि ॥१५९॥
बोधकत्वं च विज्ञाय शिष्यो भूयान्न चाऽन्यथा ।

॥ अथ वर्णानां दीक्षायोग्यताकालविशेषः ॥ तत्र—

शारदातिलके—

एकाब्देन भवेद्योग्यो ब्राह्मणस्तद्द्वयान्नृपः ।
वैश्यो वर्षैस्त्रिभिः शूद्रश्चतुर्भिर्वत्सरैर्गुरौ ॥१६०॥
सुश्रुश्रूषुः परिग्राह्यो दीक्षायागव्रतादिषु ।

तन्त्रराजे—

एवं द्वित्रिचतुःपञ्चवर्षाण्यालोच्य योग्यताम् ।
भक्तियुक्तान् गुणांश्चापि क्रमाद्वर्णे ससङ्करे ॥१६१॥

अन्यत्र वत्सरमात्रं सामान्यत उक्तम्—

गुरुता शिष्यता वापि तयोर्वत्सरवासतः ॥ इति ।

[3]**उक्तिसारसङ्ग्रहेऽपि—**

स गुरुः संश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेद् ॥ इति ।

केचनेदं ब्राह्मणविषयमित्यूचुः ।

दशपटल्यां तु—

अब्दं परीक्ष्य चार्द्धं वा अन्यथा न कदाचन ॥ इति ।

प्रयोगसारे विशेषः—

---

१. ख. पुस्तकेऽतः परमयमंशो विशेषः—
श्रीगुरुस्मरणे चापि कीर्त्तने दर्शनेऽपि च ।
वन्दने परिचर्यायामाह्वाने प्रेषणे प्रिये ॥१॥
आनन्दकम्परोमाञ्चस्वरनेत्रादिविक्रियाः ।

२. ख. येषां स्युस्तेऽत्र ।   १. ख. उक्तं सारसङ्ग्रहेऽपि ।

वर्षेषु त्रिषु विप्रस्य षट्सु वर्षेषु भूभुजः ।
विशो नवसु वर्षेषु परीक्षा तत्र शस्यते ॥१६२॥
समास्वपि द्वादशसु तेषां ये वृषलादयः । इति ।

ननु—

न वेदः प्रणवं त्यक्त्वा मन्त्रो वेदसमुत्थितः ।
तस्माद्वेदः परो मन्त्रो वेदाङ्गश्चागमः स्मृतः ॥१६३॥

वश्याकर्षादिकं कर्म दृष्टादृष्टफलप्रदम् ।
वेदेन साध्यते सर्वं ग्रहयज्ञादिभिः किल ॥१६४॥

न वेदेन विना यज्ञा न वेदा यज्ञवर्जिताः ।
तस्याद्वेदः परो मन्त्रो न मन्त्रो वेद उज्झितः ॥१६५॥

न मन्त्रे चाधिकारोऽस्ति शूद्राणां नियमः परः ।
मन्त्राभावादमन्त्रेण भाषितं सर्वकर्म हि ॥१६६॥

इति **महाकपिलपञ्चरात्रोक्तेः** ।

यावन्त्यर्णानि मन्त्राणां शूद्राय प्रतिपादयेत् ॥
यावत्यो ब्रह्महत्याः स्युः स्वयमाह प्रजापतिः ॥१६७॥

इति **शातातपसंहितोक्तेश्च** शूद्रेभ्यो मन्त्रो न देय इति नावगन्तव्यं, एतेषां वचनानामसच्छूद्रनिषेधपरत्वं, स्वाहाप्रणवसंयुक्तमन्त्रप्रदानानधिकारपरत्वं च । तथा च—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये शुचयोऽमलाः ।
तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु सङ्कीर्णधर्मिणाम् ॥१६८॥

इति **भविष्योत्तरवचने** 'शूद्राः शुचय' इत्युक्तेः ।

ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्रा अर्चायां शुद्धबुद्धयः ।
गुरुदेवद्विजार्चासु रताः स्युरधिकारिणः ॥१६९॥

इति **योगिनीतन्त्रे** ।

वैदिको मिश्रितो वापि विप्रादीनां विधीयते ।
तान्त्रिको विप्रभक्तस्य शूद्रस्यापि प्रकीर्तितः ॥१७०॥

इति **पद्मपुराणे** च विशेषणविशिष्टस्यैवोक्तेः ।

स्वाहाप्रणवसंयुक्तं मन्त्रं शूद्रे ददद् द्विजः ।
शूद्रो निरयगामी स्याद्विप्रः शूद्रत्वमाप्नुयात् ॥१७१॥

इति **देवीयामल**वचने 'स्वाहाप्रणवसंयुक्त' मिति विशेषणोक्तेः षडङ्ग-न्यासे 'स्वाहादि' पदस्थाने शूद्राणां 'नमः' पदोच्चार। नमस्कारोऽस्य मन्त्र इति **गौतमेन** यावदेकतान्त्रिकमन्त्रेषु 'नमो'मात्रविधानात्तस्यैव तत्तदपूर्वजनकत्वात्। शूद्रप्रकरणे **स्मृति**रपि—

नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।

केषुचिद्वचनेषु केषचिन्मन्त्रविशेषेषु सामान्यतस्सर्वेषामपि **शूद्राणां** प्रतिलोमानुलोमजादीनामप्यधिकारः श्रूयते। तथा च—

रुद्रयामले—

स्त्रीशूद्राणामय मन्त्रो नमोऽन्तश्च शुभावहः।
एतद् ज्ञात्वा महासेन चण्डालानपि दीक्षयेत् ॥१७२॥

इति। **अयं प्रासादमन्त्रः**।

अगस्त्योऽपि—

शुचिव्रततमाः शूद्रा धार्मिका द्विजसेवकाः।
स्त्रियः पतिव्रताश्चान्ये प्रतिलोमानुलोमजाः ॥१७३॥

लोकाश्चण्डालपर्यन्ताः सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः।
स्वजातिधर्मनिरता भक्ताः सर्वेश्वरस्य च ॥१७४॥
उपदेशः समस्तेषां तत्तज्जात्यनुसारतः।

अत्र राममन्त्रे।

याज्ञवल्क्यसंहितायाम्—

न वैदिकं जपेत् शूद्रः स्त्रियश्चैव कदाचन।
नमोऽन्तं शिवमन्त्रं वा वैष्णवं वेष्यते बुधैः ॥१७५॥

नमोन्तमित्यस्योभयत्र सम्बन्धः।

कुलमूलावतारे श्रीदेव्युवाच—

शाक्तशाम्भवसौराणां गाणेशे वैष्णवेषु च।
ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानां सङ्कराणां विशेषतः ॥१७६॥

प्रवृत्तिं श्रोतुमिच्छामि साधकानां हिताय च।
येषु येषु च ये मन्त्रास्तद्भेदं वद शङ्कर ॥१७७॥

ईश्वर उवाच—

उमामहेश्वरं चैव दक्षिणामूर्त्त्यघोरकम् ।
हयग्रीवं च वाराहमष्टाक्षरमतः परम् ॥१७८॥

प्रणवाद्यं वासुदेवं लक्ष्मीनारायणं तथा ।
वर्णत्रये च दातव्यं नान्यवर्णे कदाचन ॥१७९॥

पाशुपतं नारसिंहं तथा चैव सुदर्शनम् ।
वर्णद्वये च दातव्यं नान्ययोश्चैव कर्हिचित् ॥१८०॥

अग्निमन्त्राश्च ये केचित्सूर्यमन्त्राश्च ये तथा ।
तारादिघृणिमन्त्राश्च दातव्याश्च त्रिवर्णके ॥१८१॥

आनुष्टुभं शक्तिमन्त्राश्च तथा विन्ध्यनिवासिनी ।
तथा नीलसरस्वती दातव्याश्चादिवर्णके ॥१८२॥

मातङ्गिन्युग्रतारा च कालिका श्यामला तथा ।
छिन्नमस्ता च बाला च दातव्या सर्ववर्णके ॥१८३॥

तारादिस्तु गणेशश्च हरिद्रासंज्ञकस्तथा ।
त्रिवर्णेष्वेव दातव्यः कथितः सर्वसिद्धिदः ॥१८४॥

त्रिपुरायाश्च ये मन्त्रा ये मन्त्रा बटुकादयः ।
सर्ववर्णेषु दातव्याः पुरन्ध्रीणां विशेषतः ॥१८५॥

प्रणवं मायां लक्ष्मीं च वाग्भवं चान्यबीजकम् ।
एतद्बीजेन संयुक्तं दातव्यं चादिवर्णके ॥१८६॥

मायां लक्ष्मीं वाग्भवं च दातव्यं क्षत्रियेष्वपि ।
लक्ष्मीं च वाग्भवं चैव कथितं वैश्यवर्णके ॥१८७॥

वाग्भवं चान्यबीज च शूद्राणां समुदीरितम् ।
हृदादि हुंफट्कारादि सङ्कराणां प्रशस्यते ॥१८८॥ इति ।

पद्मपुराणे—

स्वागमोक्तेन मार्गेन स्त्रीशूद्रैश्चापि पूजनम् ।
कर्त्तव्यं श्रद्धया विष्णोश्चिन्तयित्वा पतिं हृदि ॥१८९॥
स्त्रीणामप्यधिकारोऽस्ति विष्णोराराधनादिषु ।
पतिप्रियरतानां च श्रुतिरेषा सनातनी ॥१९०॥

इति। पतिप्रियेति सधवापरम्। चिन्तयित्वेति मृतभर्त्तृकापरमिति ज्ञेयम्।

भविष्योत्तरे—

या स्त्री भर्त्रा वियुक्ता च शुभा स्वाचारसंयुता।
सा च मन्त्रान्प्रगृह्णातु सभर्त्री तदनुज्ञया ॥१६१॥

कुलार्णवे—

विधवायाः सुतादेशात्कन्यायाः पितुराज्ञया।
नाधिकारः स्वतो नार्या भार्याया भर्त्तुराज्ञया ॥१६२॥

दीक्षां दद्यादिति शेषः।

॥ अथ मन्त्राणां ब्रह्मक्षत्रादिभेदः ॥ तत्र—

श्रीकुलार्णवे—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो भवति वै मनुः।
अनुलोमेन देयः स्यात् प्रतिलोमेन न क्वचित् ॥१६३॥ इति।

वामकेश्वरतन्त्रे तु 'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा पौरस्त्यजातय' इति पञ्च भेदा उक्ताः।

सौत्रामणीतन्त्रे—

मायाबीजं ब्राह्मणः स्यात् श्रीबीजं क्षत्रियः स्मृतः।
कामबीजं भवेद् वैश्यो वाग्भवं शूद्र ईरितम् ॥१६४॥
चतुर्मन्त्रपरित्यक्तो मन्त्रः पौरस्त्यसंज्ञकः।
चतुर्बीजं ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां त्रिबीजकम् ॥१६५॥
बीजद्वयं तु वैश्यानां शूद्राणां त्वेकबीजकम्। इति।

कुलप्रकाशतन्त्रे—

उत्पन्ना मनवः सर्वे पञ्चाशद्वर्णभेदतः।
द्विविधास्ते च सम्प्रोक्ता विद्यामन्त्रविभागतः ॥१६६॥
विद्यामन्त्राः क्रमात् स्त्रीपुंदेवताश्च समीरिताः।
स्त्रीनपुंसकपुंरूपा मनवस्त्रिविधाः प्रिये ॥१६७॥
स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता हृदयान्ता नपुंसकाः।
शेषाः पुमांस इत्युक्ताः स्त्रीमन्त्राश्चापि शान्तिके १६८॥
नपुंसकाः स्मृता मन्त्रा विद्वेषे चाऽभिचारके।
पुमांसस्तु स्मृताः सर्वे वश्योच्चाटनकर्मसु ॥१६९॥

प्रयोगसारे तु—

वषट्फडन्ताः पुंल्लिङ्गा वौषट्स्वाहान्तगाः स्त्रियः ।
नपुंसका हुंनमोऽन्ता इति मन्त्रास्त्रिधा मताः ॥२००॥

पदार्थादर्शे—

स्त्रीदैवता वैरिणः स्युः पुंदैवत्यस्य भूयसा ।
स्त्रीदैवत्येषु सौम्यानां क्रूराणां स्यात्परस्परम् ॥२०१॥

तथैव पुंदेवतानामिति ।

अग्नीषोमस्वरूपाः स्युर्मनवः सर्व एव हि ।
रेफौंकारवियत्प्राया आग्नेयाः क्रूरकर्मणि ॥२०२॥
सौम्याश्चण्डसुधाप्रायाः सौम्यकर्मणि ते स्मृताः ।

नारायणीयेऽपि—

तारान्त्याग्निवियत्प्रायो मन्त्र आग्नेय इष्यते ।
शिष्टः सौम्यः प्रशस्तौ तौ कर्मणोः क्रूरसौम्ययोः ॥२०३॥
आग्नेयमन्त्रः सौम्यः स्यात्प्रायशोऽन्ते नमोऽन्वितः ।
सौम्यमन्त्रस्तथाग्नेयः फट्कारेणान्वितोऽन्ततः ॥२०४॥

तथा— पिङ्गलायां गते वायौ प्रबुद्धा ह्यग्निरूपिणः ।
इडागते तु पवने बुध्यन्ते सोमरूपिणः ॥२०५॥
पिङ्गलेडागते वायौ प्रबुद्धाः सर्व एव हि ।
प्रबुद्धा मनवः सर्वे साधकानां फलन्त्युमे ॥२०६॥

नारायणीये—

सुप्तः प्रबुद्धमात्रो वा मन्त्रः सिद्धिं न यच्छति ।
स्वापकालो वामवहो जागरो दक्षिणावहः ॥२०७॥
आग्नेयस्य मनोः सौम्यमन्त्रस्यैतद्विपर्ययः ।
प्रबोधकालं जानीयादुभयोरुभयोर्वहः ॥२०८॥
स्वापकाले तु मन्त्रस्य जपोऽनर्थफलप्रदः ॥इति।

मन्त्राणां प्रबोधोपाय उक्तः—

शिवयामले—

'सम्पुटीकृत्य यत्नेन लान्तानाद्यान्सबिन्दुकान् ।
पुनश्च सविसर्गांस्तान् क्षकारं केवलं पठेत् ॥२०९॥
एवं जप्त्वोपदिष्टश्चेत् प्रबुद्धः शीघ्रसिद्धिदः ॥इति।

अयमर्थः—मन्त्रोपदेशकाले प्रथममकारादिलकारान्तान् वर्णान् सबिन्दूनुच्चार्य, ततो मन्त्रं पुनर्लकाराद्यकारान्तान्सबिन्दूनुच्चरन्नष्टोत्तरशतवारं मन्त्रं जपित्वा, पुनस्तथैव सविसर्गैर्वर्णैः सम्पुटीकृत्याऽष्टोत्तरशतवारं मन्त्रं जपित्वा, तं मन्त्रं गुरुः शिष्याय चेद्द्यात्स मन्त्रः सदा प्रबुद्धः सर्वाभीष्टफलप्रदो भवतीति। वह्निजाया स्वाहाकारः, हृदयं नमः, अभिचारके मारणे, वियत् हकारः, चन्द्रः सकारः, सुधा वकारः, पिङ्गला दक्षिणनाडी, पिङ्गलेडागते सङ्क्रमणकाले।[1]

॥ अथ मन्त्रेषु दोषाः ॥ तत्र—

मन्त्रराजे—

दग्धः षट्कर्णगो मन्त्रस्त्रस्तः स्यादधिकैर्जपात्।
गर्वितस्त्वविधिप्राप्तः शत्रवो वैरिकोष्ठगाः ॥२१०॥

बाला लघ्वक्षरप्राया वृद्धा गुर्वक्षरान्विताः।
निर्जिताः कर्मबाहुल्यादहसाः सत्ववर्जिताः ॥२११॥

अपूर्णरूपाश्छिन्नाः स्युः स्तम्भिताः सानुनासिकाः।
अकालविनियोगेन मूर्च्छिताः स्वापगा जपात् ॥२१२॥

मत्ताः पत्रेषु पठनादन्यवर्णास्तु कीलिताः।
रुद्धा विसन्धिकाः प्राप्तदुःखा वैरिसमन्विताः ॥२१३॥

खण्डीभूतास्त्ववशजापादङ्गहीनास्त्ववसंवृताः।
अपूर्णेनोपदिष्टा ये क्षीणवीर्यास्तु ते मताः ॥२१४॥

सदा प्रयोगात्कुण्ठत्वं श्लिष्टतातिबिलम्बनात्।
रुग्णाः प्रलपनैर्जापादन्यमन्त्रैः सहाविलाः ॥२१५॥

उपेक्ष्यानवस्थया जापाद्वैषम्यादवमानिताः।
पञ्चविंशतिरुद्दिष्टा दोषास्तान् शमयेद् गुरुः ॥२१६॥

---

१. ख. पुस्तकेऽतोऽग्रे विशेषः—

मन्त्रमहोदधौ—सिद्धिप्रदाः कलियुगे ये मन्त्रास्तान्वदाम्यतः।
त्र्यर्ण एकाक्षरोऽनुष्टुप् त्रिविधो नरकेसरी ॥१॥

एकाक्षरोऽर्जुनोऽनुष्टुब् द्विविधस्तुरगाननः।
चिन्तामणिः क्षेत्रपालो भैरवो यक्षनायकः ॥२॥

गोपालो गजवक्त्रश्च चेटका यक्षिणी तथा।
मातङ्गी सुन्दरी श्यामा तारा कर्णपिशाचिनी ॥३॥

अथैषां विषमपदव्याख्या—षट्कर्णगः स्वव्यतिरिक्तयोर्द्वयोर्युगपत्पठनात्, अधिकैर्जपात् अधिकदेवतामन्त्रैः सार्द्धं क्षुद्रदेवतामन्त्रजपात्, क्षुद्रस्य त्रासः अविधि, वर्गचतुष्ककोष्ठगाः; कर्मबाहुल्यात् साधकस्य प्राग्जन्मदुष्कृतबाहुल्यात्; अहसाः हकार-सकाररहिताः, अपूर्णरूपाः वाच्यस्यापुष्कलाक्षराः । सानुनासिकाः स्पर्शवर्गेष्वन्त्याक्षरप्रायाः, अकालविनियोगेन मन्त्रस्वापकाले प्रयोगेन;[1] स्वापगाः सुप्तवत्साधकानभिमुखाः; अजपात् गुरोर्विद्याधिगमदिवसमारभ्य तदुक्तक्रम-भजनानङ्गीकारात्; अत्र सन्धिर्दिव्यादचिन्त्यः; पत्रेषु पठनात् यथाविधि गुरु-मुखादधिगममन्तरेण यतः कुतश्चित्पत्रेषु मन्त्रादीन् दृष्ट्वा जपात्; अन्यवर्णैर्मन्त्रा-क्षरेभ्यो बहिर्भूतैः; विसन्धिकाः अकृतसन्धिकाः; वैरिसमन्विताः वैरिमन्त्राद्यैः सहोपासिताः; अंशजपात् एकदेशजापात्; अपूर्णेन अपूर्णाभिषिक्तेन; उपेक्षा त्यागः; वैषम्यात् हीनाधिक्यतः । अथान्यमते दोषाः—

लक्षसागरे—

आदिमध्यावसानेषु यस्य मन्त्रस्य दृश्यते ।
चतुर्द्धा पञ्चधा द्वेधा चैकवीरं स्वरान्वितम् ॥२१७॥
वायुबीजमसौ मन्त्रश्छेदितः परिकीर्तितः ।

एकवीरं ह्लः इति वर्णः, स्वराक्रान्तो दीर्घस्वरयुक्तः, तेन ह्लां ह्लीं ह्लूं । ह्लैं ह्लौं इति । वायुबीजं यकारः ।

शारदातिलके—

मनोर्यस्यादिमध्यान्तेष्वानिलं बीजमुच्यते ।
संयुक्तं वा वियुक्तं वा स्वराक्रान्तं त्रिधा पुनः ॥२१८॥
चतुर्धा पञ्चधा वाथ स मन्त्रश्छिन्नसंज्ञकः ।

आदिमध्यान्तेष्विति समुच्चयः । आनिलं यकारः; बीजं मायाबीजमिति सम्प्रदायः ।

मायाबीजस्य नामानि मालिनी शिववल्लरी ।
वाता वर्तिः फला वाणी बीजं शक्तिश्च कुण्डली ॥२१९॥ इति ।

शैवागमोक्तेः । आनिलं संयुक्तं अक्षरान्तरयुक्तं, वियुक्तं तद्रहितम् । मायाबीजे तु दीर्घस्वराक्रान्तम् । ग्रन्थान्तरे 'अर्द्धग्रहो मनुश्छिन्न' इत्युक्तः । अर्द्धग्रह ऋचि श्लोके वा मध्ये विच्छिन्नः । अन्यत्र तु 'आदिमध्यान्तबीजानां लोपैश्छिन्ना' इति ।

---

१. ख. प्रयोगेषु विनियोगेन ।

लक्षसागरे—

द्विधा पूर्वं त्रिधा मध्ये द्विधान्ते च पुनः प्रिये ।
वज्रियुक्तस्तु यो मन्त्रः स निरुद्धः प्रकीर्तितः ॥२२०॥

वज्री लकारः ।

पिङ्गलामतेऽपि—

आदौ द्विधा त्रिधा मध्ये पुनश्चान्ते द्विधा भवेत् ।
इन्द्रबीजमसौ मन्त्रो रुद्ध इत्यभिधीयते ॥२२१॥

सारसङ्ग्रहे—

मायाबीजं न यत्रास्ति त्रितत्वं रावमेव वा ।
श्रीगृहं वापि मन्त्रोऽसौ शक्तिहीनः प्रकीर्त्तितः ॥२२२॥

त्रितत्वं प्रणवः हुङ्कारो वा । रावः फ्रेंकारः । एकत्रैते सर्वे नापेक्षिताः ।

पिङ्गलामते—

मायाबीजं त्रितत्वं वा श्रीगृहं नास्ति यत्र चेत् ।
शक्तिहीन इति ख्यातः सामर्थ्यं हन्ति मन्त्रिणः ॥२२३॥

मायाबीजं ह्रीं इति । श्रीगृहं श्रीबीजम् ।

लक्षसागरे—

यस्य कामकलाबीजं मध्यस्थाने न विद्यते ।
आदौ मायाऽङ्कुशश्चान्ते विज्ञेयोऽसौ पराङ्मुखः ॥२२४॥

पिङ्गलामतेऽपि—

कामबीजं न यन्मध्ये मायादावन्तिमोंऽकुशः ।
पराङ्मुखः प्रोक्त····················॥२२५॥ इति ।

लक्षसागरे—

शून्यं बिन्दुसमायुक्तमाद्यन्ते वाऽथ मध्यतः ।
न भवेज्जीवबीजं वा यस्याऽसौ बधिरः स्मृतः ॥२२६॥

शून्यं हकारः । जीवबीजं सकारः ।

पिङ्गलामते—

पञ्चाक्षरस्तु यो मन्त्रः पावकेन्द्वर्कवर्जितः ।
नेत्रहीन इति ज्ञेयो दुःखशोकभयावहः ॥२२७॥

पावको रेफः, इन्दुः सकारः, अर्को हकारः ।

शारदातिलके—

आदिमध्यावसानेषु हंसः प्रासादवाग्भवौ ।
हकारो बिन्दुमान् जीवो रावं वापि चतुःकलम् ॥२२८॥

माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन् स कीलितः ।

हंसः स्वरूपम्, प्रासादो ह्रौं, वाग्भव ऐं, जीवः सकारः, स कीदृशः-हकारो बिन्दुमान् हकारोकारबिन्दुभिर्युक्तः, तेन स्हों इति बीजं सिद्धम् ।

तथा च पिङ्गलामते—

अष्टमस्वरसंयुक्तो जीवारूढः सबिन्दुकः ।
यस्यात्मा दृश्यते नैव किं वा रावश्चतुष्कलः ॥२२९॥
प्रासादो वाग्भवो हंसो माया वा यत्र दृश्यते ।
आदिमध्यान्तदेशेषु कीलितं तम्प्रचक्षते ॥२३०॥

आत्मा हकारः, अष्टमस्वर ओकारः, ओकारस्याष्टमस्वरत्वं तु ह्रस्वदीर्घ—योरेकत्वोक्त्या । यथा- अ क ठ व-चक्रे । रावः फं । चतुःकलः हूँ । ग्रन्थान्तरे तु 'कीलिता बीजवर्जिताः' ।

पिङ्गलामते—

सकृन्मध्ये द्विधा प्रान्ते शक्रबीजं भवेद्यदि ।
स्तम्भितं तं वदन्तीत्थं मन्त्रं मन्त्रविदो बुधाः ॥२३१॥

शक्रबीजं लकारः ।

सारसङ्ग्रहे—

द्विधा त्रिधा वा षोढा वा मन्त्रान्ते यस्य दृश्यते ।
महास्त्रः स्तम्भितो मन्त्रः श्रीशिवेन प्रकीर्त्तितः ॥२३२॥

महास्त्रः फट्कारः ।

शारदातिलके—

वह्निर्वायुसमायुक्तो यस्य मन्त्रस्य मूर्द्धनि ।
सप्तधा दृश्यते तं तु दग्धं मन्येत मन्त्रवित् ॥२३३॥[1]

अन्यत्र तु—

'अग्निबीजाधिका दग्धा' इति ।[2]

शारदातिलके—

अस्त्रं द्वाभ्यां त्रिभिः षड्भिरष्टाभिर्दृश्यतेऽक्षरैः ।
त्रस्तः सोऽभिहितो यस्य मुखे न प्रणवः स्थितः ॥२३४॥
शिवो वा शक्तिरथवा भीताख्यः स प्रकीर्तितः ।

---

१. ख. पद्यमिदं नास्ति । २. ख. पङ्क्तिरियं नास्ति ।

यस्येति । मुखे आदौ शिवो हकारः, शक्तिः सकारः । एतादृशदोषयुक्तस्य मातृकाहीन इति नामान्तरं वदन्ति । तथा च—

पिङ्गलामते—

शिवः शक्तिस्तथौंकारो यस्यादौ नास्ति तं मनुम् ।
वदन्ति मातृकाहीनं हीनसिद्धिप्रदायकम् ॥२३५॥ इति ।

पिङ्गलामते—

आदिमध्यान्तदेशेषु चतुर्द्धा यत्र दृश्यते ।
मकारो मलिनं विद्यात्त मन्त्रं मन्त्रवित्सदा ॥२३६॥

लक्षसागरे तु—

आदौ मध्येऽथ शिखरे त्रिधा यत्र तु दृश्यते ।
मार्णो मन्त्रो महेशेन मलिनः स इतीरितः ॥२३७॥

पिङ्गलामते—

दकारः क्रोधबीजं वा यस्य मध्ये व्यवस्थितम् ।
फट्द्वयं च स्थितं प्रान्ते यस्याणोः स तिरस्कृतः ॥२३८॥

सारसङ्ग्रहे च—

यस्य मध्ये दकारस्तु क्रोधबीजं हृदि स्थितम् ।
द्विधा चान्ते च फट्कारः स्याद्यस्य स तिरस्कृतः ॥२३९॥

चकारो विकल्पार्थकः, क्रोधबीजं 'हुँ' इति ।

पिङ्गलामते—

अस्त्रमन्त्रद्वयं मध्ये वषडन्ते तथादितः ।
अउमाः स्युरसौ मन्त्रो भेदितः परिकीर्त्तितः ॥२४०॥

अस्त्रं ह्लः, अउमाः ओंकारः ।

सारसङ्ग्रहे—

कर्णत्रयात्मको मन्त्रो यत्र हंसविवर्जितः ।
सुषुप्तः स तु विज्ञेयः सर्वसिद्धिफलापहः ॥२४१॥

लक्षसागरे—

विद्या वा यदि वा मन्त्रो यद्यष्टादशवर्णकः ।
पञ्चफट्कारपूर्वः स्यान्मदोन्मत्तः स उच्यते ॥२४२॥

अत्र विशेषणद्वयविशिष्ट एव दुष्टः ।

पिङ्गलामते—

अस्त्रमन्त्रो भवेद्यस्य मध्ये प्रान्ते च शम्भुना ।
हीनवीर्य इति ख्यातः स मन्त्रो नैव सिद्धिदः ॥२४३॥

शारदातिलके—

आदौ मध्ये तथा मूर्ध्नि चतुरस्त्रयुतो मनुः ।
ज्ञातव्यो हीन इत्येष यः स्यादष्टादशाक्षरः ॥२४४॥

सारसङ्ग्रहे—

एकोनविंशत्यर्णो यो यो मन्त्रः प्रणवान्वितः ।
महामायाऽङ्कुशैर्युक्तस्तं प्रध्वस्तं वदन्ति हि ॥२४५॥
सप्तवर्णो भवेद्बालः कुमारश्चाष्टवर्णकः ।
चत्वारिंशाक्षरः प्रौढस्तरुणः षोडशाक्षरः ॥२४६॥
त्रिंशदर्णः शतार्णो वा चतुःषष्ट्यक्षरस्तथा ।
चतुरूर्ध्वशतार्णो वा वृद्ध इत्यभिधीयते ॥२४७॥
नवाक्षरस्तु निस्त्रिंशो ध्रुवयुक्तोऽथ मृत्युदः ।
हृच्छिरोऽन्ते शिखा वर्म मध्ये नेत्रास्त्रकेऽथवा ॥२४८॥
शिवशक्त्यात्मकौ वर्णौ न स्तो यस्य स मन्त्रराट् ।
निर्बीज इति सम्प्रोक्तः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥२४९॥

इति । हृन्नमः, शिरः स्वाहाकारः, शिखा वषड्, वर्म हुंकारः, नेत्रं वौषट्, अस्त्रं फट्कारः, शिववर्णो हकारः, शक्तिवर्णः सकारः ।

लक्षसागरे—

निर्बीजस्तु समाख्यात आदावोंकारवर्जितः ।

शारदातिलके—

एषु स्थानेषु फट्कारः षोढा यस्मिन् प्रदृश्यते ।
स मन्त्रः सिद्धिहीनः स्यान्मन्दः पङ्क्त्यक्षरो मनुः ॥२५०॥

एषु आदिमध्यावसानेषु । अत्र स्थानत्रयेऽपि मिलित्वा फट्कारषट्कं ज्ञेयम् । पङ्क्त्यक्षरो दशाक्षरः । उक्तञ्च **सारसङ्ग्रहे** 'दशाक्षरो भवेन्मन्द' इति ।

शारदातिलके—

कूट एकाक्षरो मन्त्रः स एवोक्तो निरंशकः ।
बह्वक्षरात्मकं बीजं कूटः, स बह्वक्षरोऽपि एकाक्षर एव ज्ञेयः ।
द्विवर्णः सत्वहीनः स्याच्चतुर्वर्णस्तु केकरः ॥२५१॥

पिङ्गलामते तु—

ध्रुवहीनश्चतुर्बीजः षड्भिर्वा केकरो मतः ।

इति विशेष उक्तः ।

शारदातिलके—

षडक्षरो बीजहीनस्त्वर्द्धसप्ताक्षरो मनुः ।
सार्द्धं द्वादशवर्णो वा धूमितः स तु निन्दितः ॥२५२॥

सार्द्धबीजत्रयस्तद्वदेकविंशतिवर्णकः ।
विंशत्यर्णस्त्रिंशदर्णो यः स्यादालिङ्गितस्तु सः ॥२५३॥

अत्रार्द्धसप्ताक्षरताऽर्द्धद्वादशाक्षरता, सार्द्धबीजत्रयत्वं चान्ते व्यञ्जनयोगेन ज्ञेयम् । उक्तं च —

लक्षसागरे—

अर्द्धसप्ताक्षरो मन्त्रः सार्द्धद्वादशवर्णकः ।
धूमितः स समाख्यातः सार्द्धवर्णत्रयोऽथवा ॥२५४॥

शारदातिलके—

द्वाविंशत्यक्षरो मन्त्रो मोहितः परिकीर्त्तितः ।
चतुर्विंशतिवर्णो यः सप्तविंशतिवर्णकः ॥२५५॥

क्षुधार्त्तः स तु विज्ञेयश्चतुर्विंशतिवर्णकः ।
एकादशाक्षरो वापि पञ्चविंशतिवर्णकः ॥२५६॥

त्रयोविंशतिवर्णो वा मंत्रो दृप्त उदाहृतः ।
षड्विंशत्यक्षरो मंत्रः षट्त्रिंशद्वर्णकस्तथा ॥२५७॥

त्रिंशदेकोनवर्णो वाऽप्यङ्गहीनोऽभिधीयते ।

लक्षसागरे तु—'अष्टत्रिंशाक्षर'श्चेति चतुर्थप्रकारोऽप्युक्तः ।

अष्टाविंशत्यक्षरो य एकत्रिंशदथापि वा ।
अतिक्रूरः स गदितो निद्रितः सर्वकर्म्मसु ॥२५८॥

चत्वारिंशतमारभ्य त्रिषष्टिर्यावदक्षरम् ।
तावत्संख्या निगदिता मन्त्राः सव्रीडसंज्ञकाः ॥२५९॥

चत्वारिंशद्वर्णमारभ्य त्रिषष्ट्यक्षरपर्यन्ता एकैकाक्षरवृद्ध्या चतुर्विंशतिविधाः सव्रीडाः ।

पञ्चषष्ट्यक्षरा ये स्युर्मन्त्रास्ते शान्तमानसाः ।
एकोनशतपर्यन्तं पञ्चषष्ट्यक्षरादितः ॥२६०॥

ये मन्त्रास्ते निगदिताः स्थानभ्रष्टाह्वया बुधैः ।

'पञ्चषष्ट्यक्षरा आदिर्येषां'[1] पञ्चषष्ट्यक्षरात् इति वा पदच्छेदः ।

पञ्चषष्ट्युत्तरा ये च यावदेकोनकं शतम् ॥२६१॥

इति **सारसङ्ग्रहात्** । तेनैकैकाक्षरवृद्ध्या चतुस्त्रिंशत्प्रकाराः स्थान-

---

१. '–' कोष्ठगतांशो नास्ति ख. पुस्तके ।

भ्रष्टा इति ।

त्रयोदशाक्षरा ये स्युर्मन्त्राः पञ्चदशाक्षराः ।
विकलास्तेऽभिधीयन्ते शतं सार्द्धशतं तु वा ॥२६२॥

शतद्वयं द्विनवतिरेकहीनाऽथवाऽपि सा ।
शतत्रयं वा यत्संख्या निस्नेहास्ते समीरिताः ॥२६३॥

शतद्वयं द्विनवतिश्चेति एक एव भेदः । द्विनवत्यधिकशतद्वयमित्यर्थः । सा शतद्वयं द्विनवतिरेकहीना एकनवत्यधिकशतद्वयवर्णाः शतत्रयवर्णाश्चेति पञ्चप्रकाराः निस्नेहत्वदोषदुष्टाः स्युरिति । अत्र केचित् शतद्वयं त्वेकः प्रकारः, द्विनवतिरन्यः, एकनवतिरपर इति वदन्ति, तदसङ्गतम् । षट्षष्ट्यक्षरमारभ्य एकोनशतवर्णपर्यन्तानां स्थानभ्रष्टा इत्युक्तेः । अत एव यत्संख्या इत्युक्तं, येषां येषां मन्त्राणां वर्णसंख्या शताधिका ते निस्नेहा इत्यर्थः ।

चतुःशतान्यथारस्य यावद्वर्णसहस्रकम् ।
अतिवृद्धः प्रयोगेषु परित्याज्यः सदा बुधैः ॥२६४॥

सहस्रेणाधिका मन्त्रा दण्डकाः पीडिताह्वयाः ।
द्विसहस्राक्षरा मन्त्राः खण्डशः सप्तधा कृताः ॥२६५॥

ज्ञातव्याः स्तोत्ररूपास्ते मन्त्रा एते यथा स्थिताः ।
तथा विद्याश्च बोद्धव्या मन्त्रिभिः काम्यकर्मसु ॥२६६॥

दोषानिमानविज्ञाय यो मन्त्रं भजते जडः ।
न सिद्धिर्जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥२६७॥ इति ।

सारसङ्ग्रहे—

यथा मन्त्रास्तथा विद्या भेदभिन्नाः परस्परम् ।
ज्ञातव्या देशिकेन्द्रैस्तु नानातन्त्रेषु भाषिताः ॥२६८॥ इति ।

अन्येऽपि मीलितादयो दोषाः पदार्थादर्शे यथा—

मीलिताः कर्मण्यतिजडा मन्त्रा मन्त्रिनियोजिताः ।
विपक्षस्था रिपोः पक्षमाश्रिता............॥२६९॥ इति ।

आदिमध्यावसानेषु ध्रुवो यस्य न विद्यते ।
स दारित इति ख्यातस्तन्त्रेऽस्मिन्कृत्तिवाससा ॥२७०॥

न्यासं विना भवेन्मूकः..................।
पल्लवेन विना मन्त्रो नग्नः सम्परिकीर्तितः ॥२७१॥

ऋषिदैवतछन्दोभिः परित्यक्तो भुजङ्गमः ।
यस्य जापं शृणोत्यन्यः स मन्त्रः शून्य उच्यते ॥२७२॥

शिरोहीनो हतः प्रोक्तः............ ।

इति शिरोहीनः स्वाहाहीनः । काम्यकर्मस्वित्युक्तेर्निष्कामानां छिन्नादिदुष्टमन्त्रजपे बाधकाभाव इति प्रतिभाति ।

अथोक्तदोषदुष्टानां मन्त्राणां तद्दोषनिरसनोपायः शारदातिलके—

इत्यादिदोषदुष्टांस्तान्मन्त्रानात्मनि योजयेत् ।
शोधयेद्रुद्धपवनो[1] बद्धया योनिमुद्रया ॥२७३॥

योनिमुद्रालक्षणमुक्तं—

रुद्रयामले—पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं योनिस्थं परिकीर्त्तितम् ।
हृद्ग्रन्थिबिन्दुसंस्थानं स्वयम्भूबाणवाचकम् ॥२७४॥

इतरं चान्तरालस्थं चिद्ग्रन्थिस्थं तथापरम् ।
महापद्मवनं तद्वद्योगपीठं प्रकीर्तितम् ॥२७५॥

कदम्बगोलकाकारं चक्रान्तं बिन्दुरूपिणम् ।
ब्रह्मरूपं तु तत्रैव सुषम्णाधारमण्डलम् ॥२७६॥

पृथिव्यादीनि तत्वानि मुद्राणां वाचकानि तु ।
पूर्णाख्यं बैन्दवं तत्वं कोदण्डद्वयमध्यगम् ॥२७७॥

[2]तदूर्ध्वे नादनाम्ना तु उड्याणं च भवेत्ततः ।
कामरूपं भवेच्छक्तिः शिवाख्यमकुलं प्रिये ॥२७८॥

सहस्रारं महापद्मं रक्तकिञ्जल्कशोभितम् ।
तत्रस्थो लभते सम्यग्वर्षन्तं रक्तबिन्दुकम् ॥२७९॥

तत्वव्यापकयोगेन स्वाधारे योजयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबन्धयेत् ॥२८०॥

भ्रमद्योनिगतं ध्यात्वा कामं बन्धूकसन्निभम् ।
ज्वलत्कालानलप्रख्यं तडित्कोटिसमप्रभम् ॥२८१॥

तस्योर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा बिन्दूत्था परमा कला ।
तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥२८२॥

गच्छन्ती ब्रह्ममार्गेण लिङ्गभेदक्रमेण तु ।
अमृतं यदि[3] सर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ॥२८३॥

---

१. ख. ०दुद्धपवनो । २. ख. तदर्द्धे । ३. ख. यद्धि ।

द्रुतरक्तांशुतेजाढ्यां धारापातप्रवर्षिणीम् ।
पीत्वाऽकुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥२८४॥

पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणः समाख्याता तन्त्रेऽस्मिन्परमेश्वरि ॥२८५॥

उद्धर्त्ता प्रोच्यते सो हि प्राणान्तं विशते यदा ।
एवमभ्यस्यतस्तस्य अहन्यहनि निश्चयात् ॥२८६॥

जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनात् ।
चतुर्विधा तु या सृष्टिरस्यां योनौ प्रवर्त्तते ॥२८७॥

पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशिवान्तकम्
योनिमुद्रासमभ्यासात्तव बन्धः प्रकीर्तितः ॥२८८॥ इति ।

अस्यार्थः—तत्र गुरुः सिद्धासनस्थो वामपार्ष्णिना गुदमेढ्रान्तरं निःपीड्य, तदुपरि दक्षिणपादं गुल्फग्रन्थ्योरन्योन्यं संमर्द्दो यथा भवति तथा दक्षिणपार्ष्णिना लिङ्गमूलं निःपीड्य, स्थिरकायः समुपविश्य, गुदमाकुञ्च्याऽऽपानवायुमुत्थाप्य, संरुद्धप्राणवायुः प्राणापानयोः संघट्टं कुर्वन् एकचित्तो मूलाधारगतचित्स्वरूपे कुण्डल्यात्मके परमात्मनि स्वसाध्यमन्त्रं ज्ञातदोषं सञ्चिन्त्य तन्मन्त्राक्षराण्येकैकशः सुषुम्णामार्गेण मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकाऽनाहतविशुद्धयाज्ञाख्यषट्चक्रभेद-क्रमेण ब्रह्मरन्ध्रं प्रापय्य, तत्रस्थसोममण्डलनिर्गताऽमृतस्रवसिक्तानि मन्त्रा-क्षराणि विभाव्य, पुनः सुषुम्णामार्गेणाऽऽज्ञाविशुद्धयनाहतमणिपूरकस्वाधिष्ठान-चक्रभेदक्रमेण मूलाधारं प्रापयेदिति । ततस्तं मन्त्रं ऋष्यादिन्यासपूर्वकं यथोक्त-भावनयाऽष्टोत्तरसहस्रं मन्त्रं जपेदित्यान्तरो **मन्त्रसंस्कारः** ।

पदार्थादर्शे—

योनिं बद्ध्वा बीजं बिन्द्वादिपथेन चोन्मनीं प्राप्य ।
तत्र सहस्रं मन्त्रं जपेत्स मन्त्रः प्रबुद्धः स्यात् ॥२८९॥ इति ।

योनिमुद्रालक्षणं यथा—

पार्ष्णिभागात्सुसम्पीड्य योनिमार्गं तथा गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकर्षेन्मूलबन्धो निगद्यते ॥२९०॥

गुदमेढ्रान्तरं योनिस्तामाकुञ्च्य प्रबन्धयेत् ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥२९१॥

योनिस्थाने मुद्रणाद्योनिमुद्रात्वमस्याः ।

सेयं मयोक्ता खलु योनिमुद्रा,
बन्धश्च देवैरपि दुर्लभोऽस्याः।
अनेन बन्धेन न साध्यते य—
न्नास्त्येव तत् साधकपुङ्गवस्य ॥२९२॥

छिन्ना रुद्धाः कीलिताः स्तम्भिता ये,
सुप्ता मत्ता मूर्च्छिता हीनवीर्याः।
दग्धास्त्रस्ताः शत्रुपक्षे स्थिता ये,
बाला वृद्धा गर्विता यौवनेन ॥२९३॥

ये निर्बीजा ये च सत्वेन हीनाः,
खण्डीभूताश्चाङ्गमन्त्रैर्विहीनाः।
एते मुद्राबन्धनेनैव योन्या
मन्त्राः सर्वे वीर्यवन्तो भवन्ति ॥२९४॥

एवं न ये योगिनो योनिमुद्रानभिज्ञाः पवनधारणाशक्ताश्च तान्प्रति दशसंस्कारैः शोधनमाह । तत्र—

शारदातिलके—

मन्त्राणां दश कथ्यन्ते संस्काराः सिद्धिदायिनः ।
जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तथा ॥२९५॥

अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ।
तर्प्पणं दीपनं गुप्तिर्द्दशैता मन्त्रसत्क्रियाः ॥२९६॥ इति ।

अथ दशानां संस्काराणां लक्षणानि च तत्रैव—

मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ।
प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत्सुधीः ॥२९७॥

एतज्जीवमित्याहुर्म्मन्त्रतत्वविशारदाः ।
भूर्जे संलिख्य मन्त्राणांस्ताडयेच्चन्दनाम्भसा ॥२९८॥

प्रत्येकं वायुना मन्त्री ताडनं तदुदाहृतम् ।
विलिख्य मन्त्रं तं मन्त्री प्रसूनैः करवीरजैः ॥२९९॥

तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्याद्यान्तेन बोधनम् ।
स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया ॥३००॥

अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद्विशुद्धये ।
सञ्चिन्त्य मनसा यन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत् ॥३०१॥

मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं त्विदम् ।
तारं व्योमाग्निमनुयुग्दण्डी ज्योतिर्मनुर्यतः ॥३०२॥

कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ।
तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनम्मतम् ॥३०३॥

मन्त्रेण वारिणा पात्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ।
तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते ॥३०४॥

जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं स्वप्रकाशनम् ।
संस्कारा दश सम्प्रोक्ताः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ॥३०५॥
यान् कृत्वा सम्प्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमश्नुते ।

अथ मंत्राणामित्याद्यप्रकाशनमित्यन्तस्य सार्द्धश्लोकाष्टकस्यायमर्थः-तत्र प्रथमश्लोकस्य पूर्वार्द्धेनैतदुक्तं भवति—तत्र क्वचित् श्रीपर्णीचन्दनादिपीठे कुङ्कुमादिना वक्ष्यमाणपाञ्चभौतिकचक्रं विरच्य, तत्र वक्ष्यमाणक्रमेणाकारादिक्षकारान्तां मातृकां विलिख्य, तत्र मातृकासरस्वतीं वक्ष्यमाणविधिनाऽऽवाह्य, सम्पूज्याष्टोत्तरशतं मातृकां जपित्वा, तन्मध्यात् स्वाभीष्टमन्त्रस्वरव्यञ्जनबिन्दुविसर्गसंयोगाक्षराणि पृथक् पृथक् उद्धृत्यैकीकृत्य, स्वगुरूपदेशेन ज्ञातं मन्त्रं जनयेदिति, **जननम् ।**

अथ प्रथमश्लोकस्योत्तरार्द्धेन द्वितीयश्लोकस्य पूर्वार्द्धेन चैतदुक्तं भवति-तत्र प्रागुद्धृतस्य मन्त्रस्यैकैकमक्षरं प्रणवान्तरितं कृत्वाष्टोत्तरशतं जपेत् । यथा-नमः शिवायेति मन्त्रः । तस्य जपप्रकार :– ॐ न ॐ मः ॐ शि ॐ वा ॐ य ॐ । एवं सर्वत्र चोन्नेयमिति **जीवनम् ।**

अथ द्वितीयश्लोकस्योत्तरार्द्धेन तृतीयश्लोकस्य पूर्वार्द्धेन चैतदुक्तं भवति-तत्र भूर्जपत्रे कुङ्कुमादिद्रव्यैस्तं मन्त्रं विलिख्य चन्दनमिश्रितजलेन 'यं' इति वायुबीजमुच्चरन् प्रत्यक्षरं शतशतवारं ताडयेदिति, **एतत्ताडनम् ।**

अथ तृतीयश्लोकस्योत्तरार्द्धेन चतुर्थश्लोकस्य पूर्वार्द्धेन चैतदुक्तं भवति-तत्र प्राग्वत्पीठे मन्त्रं विलिख्य तन्मन्त्राक्षरसंख्यातानि करवीरपुष्पाण्यादाय 'रं' इति वह्निबीजमुच्चरन् प्रत्यक्षरं तैः पुष्पैः शतशतवारं हन्यादिति, **एतद्बोधनम् ।**

अथ चतुर्थश्लोकस्योत्तरार्द्धेन पञ्चमश्लोकस्य पूर्वार्द्धेन चैतदुक्तं भवति-तत्र प्राग्वत्पीठे कुङ्कुमरोचनादिभिरष्टदलकमलं कृत्वा, तत्कर्णिकायां कुङ्कु-

मादिद्रव्यैर्मालतीकलिकाभिस्तन्मन्त्राक्षरसंख्याभिरेकया कलिकयैकमेकमक्षरं लिखेदिति । तं मन्त्रं विलिख्य, तन्मन्त्राक्षरसंख्याकान्यश्वत्थपल्लवान्यानीय, तमेव मन्त्रमुच्चरन् 'अमुकमन्त्रमभिषिञ्चामि नमः' इत्यभिषेकं सुगन्धितजलेनैकैकपल्लवेनाष्टोत्तरशतवारं कुर्यात्, **इत्यभिषेकः** ।

अथ पञ्चमश्लोकस्योत्तरार्द्धेन षष्ठश्लोकस्य पूर्वार्द्धेन चैतदुक्तं भवति-तत्र स्वमूलाधारे वह्निमण्डले वक्ष्यमाणज्योतिर्मन्त्रं सञ्चिन्त्य, तदूर्ध्वे संस्कर्त्तव्यमन्त्रं विभाव्य, ज्योतिर्मन्त्रस्य तेजसा संस्कर्त्तव्यमन्त्रगतमाणवकार्मकमायीयं मलत्रयं सहजागन्तुककामाख्यं मनसा पुनः पुनरेकमेकं निर्दह्य, तं मन्त्रं विगतमलत्रयं ध्यायेदिति **विमलीकरणम्** ।

अथ षष्ठश्लोकस्योत्तरार्द्धेन ज्योतिर्मन्त्रमुद्धरति । तत्र—तारः प्रणवः, व्योम हकारः, अग्निः रेफः, मनुश्चतुर्द्दशस्वर औकारः, दण्डी अनुस्वारः, इति **ज्योतिर्मन्त्रः** सिद्धः ।

अथ सप्तमश्लोकेनैतदुक्तं भवति—तत्र प्राग्वत्पीठादौ तं मन्त्रं कुङ्कुमादिना विलिख्य, ताम्रादिपात्रे कर्पूरादिवासितं शुद्धजलमापूर्य, विलिखितमन्त्रेणैवाष्टोत्तरशतवारमभिमन्त्र्य तेनैव मन्त्रेण तज्जलबिन्दुभिः कुशैः प्रत्यक्षरं त्रिस्त्रिः प्रोक्षयेदिति, **एतदाप्यायनम्** ।

अथाष्टमश्लोकस्य पूर्वार्द्धेनैतदुक्तं भवति—तत्र ताम्रादिपात्रे प्राग्वन्मन्त्रं विलिख्य, पात्रान्तरे कर्पूरादिवासितं शुद्धजलमानीय, तमेव मन्त्रं पठन्नन्ते 'अमुकमन्त्रं तर्पयामि नमः' इत्यष्टोत्तरशतवारं लिखितमन्त्रस्योपर्यञ्जलिदानेन तर्पयेदिति, **एतत्तर्पणम्** ।

अथाष्टमश्लोकस्योत्तरार्द्धेनैतदुक्तं भवति-तत्र तारः प्रणवः, माया भुवनेश्वरीबीजं, रमा श्रीबीजं, योगलक्षणं तु आदौ योगो भवेदिति उक्तम् । **अयमर्थः**—प्रणवभुवनेश्वरीश्रीबीजान्ते साध्यं मन्त्रं कृत्वाष्टोत्तरशतवारं जपेदिति, **एतद्दीपनम्** । [1]अथोर्वरितश्लोकस्यार्थः स्पष्ट एव । **इति दशसंस्काराः** ।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मज—
गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टविरचिते
सिंहसिद्धान्तसिन्धौ षष्ठस्तरङ्गः ॥६॥

---

१. ख. पुस्तके उपर्य्युल्लिखितटिप्पण्यामधःस्थोऽयमंशोऽपि दृश्यते—
तन्त्रान्तरे तु—जपेन्मायापुटं मन्त्रं सहस्रं गोपनं हितम् ।

सप्तमस्तरङ्गः

॥ अथ मन्त्रमेलनप्रकारः तत्रादौ नक्षत्रचक्रम् ॥

तत्र रुद्रयामले—

राज्यलाभोपकाराय प्रारभ्यारिखरः कुरून् ।
गोपालात्कुक्कुटिप्रायात्फुल्लावीत्युदिता लिपिः ॥१॥

अयमर्थः—रा २,[1] ज्य १, ला २, भो ४, प १, का१, रा २, य१, प्रा २, र २, भ्या १, रि २ । ख २, र २ । कु १, रून् २, गो ३, पा १, लात् ३, कु १, क्कु १, टि १, प्रा २, यात् १, फु २, ल्ला ३, वि ४ ।

अथैतच्चक्ररचनाप्रकारः

तत्र दक्षिणोत्तरायताश्चतस्रो रेखाः प्राक्प्रत्यगायता दशरेखाश्च, विलिख्य सप्तविंशतिकोष्ठकानि कृत्वा दक्षिणोत्तरायतपङ्क्तित्रये सर्वोर्ध्वपङ्क्तेः प्रथमकोष्ठे-अ आ, द्वितीये—इ, तृतीये—ई उ ऊ, चतुर्थे—ऋ ॠ लृ ॡ, पञ्चमे—ए, षष्ठे—ऐ, सप्तमे-ओ औ, अष्टमे-क, नवमे-ख ग इति विलिख्य, तदधःस्थ-द्वितीयपङ्क्तेः प्रथमकोष्ठे-घ ङ, द्वितीये-च, तृतीये-छ ज, चतुर्थे-झ ञ, पञ्चमे-ट ठ, षष्ठे-ड, सप्तमे-ढ ण, अष्टमे-त थ द, नवमे-ध इति विलिख्य, तदधःस्थ-तृतीयपङ्क्तेः प्रथमकोष्ठे—न प फ द्वितीये-ब, तृतीये—भ, चतुर्थे-म, पञ्चमे—य र, षष्ठे—ल, सप्तमे-व श, अष्टमे—ष स ह, नवमे-ल क्ष अं अः इति स्ववामादिदक्षिणान्तं विलिख्य, सर्वोर्ध्वपंक्तेः प्रथमकोष्ठमारभ्य सर्वाधःस्थतृतीयपङ्क्तेर्नवमकोष्ठपर्यन्तेषु सप्तविंशतिकोष्ठेषु एकादिसप्तविंशत्यन्तानङ्कानेकैकशः समालिख्य, तानङ्कानश्विन्यादिसप्तविंशतिनक्षत्राणि परिकल्प्य विचारयेत् । [तत्र यस्मिन् कोष्ठे साधकस्य नामाद्यक्षरं तिष्ठति तत्रस्थाङ्कवर्णांश्च विज्ञाय, तत्र यन्नक्षत्रमायाति तत्साधकस्य जन्मनक्षत्रं परिकल्प्य, तत्कोष्ठमारभ्य मन्त्रस्याद्यक्षरं यस्मिन् कोष्ठे तिष्ठति तावत्पर्यन्तं गणयित्वा, तत्रस्थमङ्कमक्षराणि च विज्ञाय तत्र यन्नक्षत्रं दृश्यते तन्मन्त्रनक्षत्रं परिकल्प्य,][2] साधकनक्षत्रमारभ्य मन्त्रनक्षत्रपर्यन्तम्—

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्राद्यमक्षरम् ।
जन्मसंपद्विपत्क्षेमप्रत्यरिः साधको वधः ॥२॥
मैत्रं परममैत्रं च जन्मादीनि पुनः पुनः ॥३॥

इति **कुलार्णवोक्त**प्रकारेण जन्मादिनवकं पर्यायत्रयेण विज्ञाय फलानि च निर्दिशेत् । तत्र फलानि च **कुलार्णव** एव—

---

१. ख. ३ । २. [–] चिह्नगतांशस्थाने ख. पुस्तके निम्नोऽयमंशो दृश्यते-'तत्र यस्मिन् कोष्ठे साधकस्य नामाद्यक्षरं कोष्ठे तिष्ठति तत्रस्थाङ्कवर्णांश्च विज्ञाय तत्र यन्नक्षत्रमायाति तत्साधकस्य जन्मनक्षत्रं दृश्यते तन्मन्त्रनक्षत्रं परिकल्प्य' ।

जनुषस्तारया मृत्युरायुर्नाशस्तृतीयया ।
मृत्युः पञ्चमतारायां सप्तमो घातको मतः ॥४॥
द्विचतुःषडष्टनवगतास्ताराः शुभा मताः ।
इति ताराफलं ज्ञात्वा मन्त्रं दद्याद्विशालधीः ॥५॥

पदार्थादर्शे—

प्रादक्षिण्येन गणयेत्साधकाख्याक्षरात्सुधीः ।
एकादिनवपर्यन्तं स्वाख्याद्यर्णप्रपूर्वकम् ॥६॥
यावन्मन्त्राक्षरं धिष्ण्यं फलं तावद्विचारयेत् ।
एवं विभक्तवर्णेषु नक्षत्राणि प्रकल्प्य च ॥७॥
आरभ्य जन्मनक्षत्रं मन्त्रतारावसानकम् ।
रसाष्टनवभद्राणि युगयुग्मगतान्यपि ॥८॥
इतराणि नवभद्राणि ज्ञातव्यं तन्त्रकोविदैः ।

केचन आद्यमपि शुभमिच्छन्ति । तदुक्तम्—

विपद्वधः प्रत्यरिश्च परित्याज्या मनीषिभिः ॥९॥

अत्र तारामैत्रीविचारे योनिमैत्री गणमैत्री चावश्यं विचारणीया । यतस्तयोरपि नक्षत्रात्मकत्वात् ।

तत्र **योनिमैत्री** यथा—

अश्वेभाजफणिद्वयं श्ववृषभुक् मेषोतवो मूषकः,
साखुर्गौः क्रमशस्ततोऽपि महिषी व्याघ्रः पुनः सैरिभी ।
व्याघ्रेणौ मृगमण्डलौ कपिरथो बभ्रुद्वयं वानरः,
सिंहोऽश्वो मृगराट् पशुश्च करटी योनिस्तु भानामियम् ॥१०॥
गोव्याघ्रं गजसिंहमश्वमहिषं श्वैणं च बभ्रूरगं,
वैरं वानरमेषकं च सुमहत्तद्वद्विडालोन्दुरुम् ॥

अत्र यत्साधकजन्मनक्षत्रयोन्या यन्मन्त्रनक्षत्रयोन्या च परस्परं विरोधस्तेन साधकेन स मन्त्रो न ग्राह्य इति विचारः ।

अथ गणमैत्रीविचारः । तत्र कुलमूलावतारे—

अश्विनी मृगशीर्षं च तथा पुष्यपुनर्वसू ।
हस्तस्वाती अनूराधा रेवती विष्णुदैवतम् ॥११॥
भरणी रोहिणी चैव आर्द्रा पूर्वोत्तरा तथा ।
पूर्वाषाढोत्तराषाढपूर्वभाद्रोत्तरा नृजः ॥१२॥
कृत्तिकाहिर्मघा चित्रा विशाखा ज्येष्ठका तथा ।
मूलं धनिष्ठा शतभिषा च रक्षोगणाः प्रिये ॥१३॥

मरणं धर्म्मंम्कर्मायिव्ययां द्वादश राशयः ।

विष्णु श्रवणनक्षत्रम् । दैवतं देवगण इति । नृजः मनुष्यगणः ।

रुद्रयामले—

स्वगणे चोत्तमा प्रीतिर्मध्यमा देवमानुषे ।
अधमा राक्षसे देवे मृत्युर्मानवराक्षसे ॥१४॥

अन्यत्रापि—

मनुष्यराक्षसानां तु विरोधो देवरक्षसाम् ।
प्रीतिर्देवमनुष्याणां स्वेन स्वेनापि सा मता ॥१५॥ इति ।

॥ अथ राशिचक्रम् ॥ तत्र कुलार्णवे—

बालं गौरं खुरं शोणं शमी शोभेति राशिषु ।
क्रमेण भेदिता वर्णाः कन्यायां शादयः स्मृताः ॥१६॥

अयमर्थः—बा ४, लं ३, गौ ३, रं २, खु २, रं २ शो ५, णं ५, श ५, मी ५, शो ५, भा ४, कन्यायां शादयः स्मृताः । इति षष्ठे राशौ श ष स ह ल क्ष अं अः इत्यष्टौ वर्णान् योजयेदित्यर्थः ।

॥ अथैतच्चक्ररचनाप्रकारः ॥

तत्र प्राक्प्रत्यगायतरेखाद्वयं दक्षिणोत्तरायतरेखाद्वयं च, मध्ये-चतुरस्रं यथा भवति तथा विलिख्य, मध्यस्थचतुरस्रस्य चतुःकोणेषु बहिरेकैकां रेखां कृत्वा, द्वादशखण्डानि निःपाद्य, तेषु खण्डेषु प्रागादिप्रादक्षिण्येन प्रथमखण्डे-अ आ इ ई, द्वितीये—उ ऊ ऋ, तृतीये-ॠ ऌ ॡ, चतुर्थे—ए ऐ, पञ्चमे—ओ औ, षष्ठे-अं अः श ष स ह ल क्ष, सप्तमे—क ख ग घ ङ, अष्टमे-च छ ज झ ञ, नवमे—ट ठ ड ढ ण, दशमे—त थ द ध न, एकादशे—प फ ब भ म, द्वादशे—य र ल व इति मातृकावर्णान् विलिख्य, तेषु प्रागादिषु द्वादशखण्डेषु एकादिद्वादशपर्यन्तानङ्कानेकैकशः समालिख्य, यस्मिन् खण्डे साधकस्य नामाद्यक्षरं तिष्ठति तदारभ्य यस्मिन् खण्डे मन्त्राद्यक्षरं तिष्ठति तत्पर्यन्तं गणयेत् ।

॥ तत्र स्वलग्नादिद्वादशस्थानानां नामानि ॥

कुलार्णवे—

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिवर्णकम् ।
लग्नो धनभ्रातृशत्रुबन्धुपुत्रकलत्रकाः ॥१७॥

॥ अथैतेषां फलानि ॥ रत्नसागरे—

एको वाप्यथ पञ्चमोऽथ नवमो राशेस्तु सद्बान्धवो
राशिः स्याद्दशमो द्वितीयसहितः षष्ठो भवेत्सेवकः ।
रुद्राग्निस्वरसंख्यया यदि मतो मन्त्रो भवेत्पोषकः,
स स्याद् द्वादशकाष्टकश्रुतिमितो मन्त्रः स्मृतो घातकः ॥१८॥

रुद्रा एकादश, अग्निः तृतीयः, स्वराः सप्त, श्रुतिमितश्चतुर्थः ।

॥ [1]अथ राशीनां वर्णभेदः ॥ प्रपञ्चसारे—

स्युः कर्कटो वृश्चिकमीनराशी,
विप्रा नृपाः सिंहधनुश्च मेषः ।
तुला सकुम्भो मिथुनश्च वैश्याः
कन्या वृषोऽथो मकरश्च शूद्राः ॥१९॥

॥ इति राशिशोधनप्रकारः ॥

॥ अथ पाञ्चभौतिकचक्रम् ॥ तत्र

श्रीदक्षिणामूर्तिसंहितायाम्—

उ ऊ ओ गजडा वर्णा दबला लश्च पार्थिवः ।
ऋ ॠ औ घ झ ढ ध व सा वर्णास्तु नीरजाः ॥२०॥
इ ई ऐ ख छ ठ फ र क्षार्णाश्चाग्निसंज्ञकाः ।
अ आ ए क च ट त प य षा व र्णाश्चवायुजाः ॥२१॥
लृ ॡ अं ङ ञ ण न म श हार्णा नाभसा मताः ।

इति श्लोकार्थः स्पष्टः ।

॥ अथैतच्चक्ररचनाप्रकारः ॥

तत्र दक्षिणोत्तरायताः षड्रेखाः, प्राक्पश्चिमायताः एकादशरेखाश्च, विलिख्य, पञ्चाशत्कोष्ठानि कृत्वा दशदशकोष्ठैरेकैका पङ्क्तिरिति पङ्क्तिपञ्चकं परिकल्प्य, तासु पंक्तिषु सर्वोर्ध्वगतप्रथमपङ्क्तौ वामादिदक्षिणान्तं दशसु कोष्ठेषु—अ आ ए क च ट त प य ष, द्वितीयपङ्क्तौ—इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्ष, तृतीयपङ्क्तौ—उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल ळ, चतुर्थपङ्क्तौ—ऋ ॠ औ

---

१. ख. पुस्तकेऽतोऽग्रेऽयमंशो विशेषः—

निबन्धे—जपेन बन्धुः सिद्धः स्यात् सेवकोऽधिकसेवया ।
मन्त्रः स पोषकोऽज्ञानाद्घातयेद्यः स घातकः ।
लग्नोऽतिक्लेशजनकः...................... ।

घ झ ढ ध भ व स, पञ्चमपङ्क्तौ—ॡ ॡ अं ङ ञ ण न म श ह इति वाय्वग्निभूजलाकाशात्मकान् पञ्चवर्गान् विसर्गरहितपञ्चाशद्वर्णविभागजनितानालिख्य, स्वनामाद्यक्षरं यत्र पङ्क्तौ तिष्ठति तत्रैव चेन् मन्त्राक्षरमपि तिष्ठति, तदा तं मन्त्रमेकभूतदैवत्यं स्वकुलं जानीयात्। अन्यत्र चेन्मन्त्राद्यक्षरं तिष्ठति तदा तत्किम्भूतदैवत्यमिति विचार्य, तद्गुणदोषान् जानीयात्। आत्मनो नामाद्यक्षराधिदैवतभूतभूतस्य विरुद्धभूतदैवत्य चेन्मन्त्राद्यक्षरं भवति, तदा तं मन्त्रं न गृह्णीयात्। मित्रभूतदैवत्यं वा तटस्थभूतदैवत्यं वा मन्त्राद्यक्षरं स्यात् तदा तं मन्त्रं गृह्णीयात्।

अत्र भूतानां वैरमैत्रतटस्थतास्वरूपमुक्तम्—

कुलार्णवे—

महीसलिलयोर्मैत्रमनलानिलयोरपि।
सामान्यमग्निभूम्योस्तु सलिलानिलयोस्तथा ॥२२॥
शात्रवं वैपरीत्येन मित्रं सर्वत्र चापरम्।
परस्परविरुद्धानां वर्णानां यत्र सङ्गतिः ॥२३॥
वर्जयेत्तादृशं मन्त्रं नाशकृत् तत् कुलेश्वरि ॥इति॥

वैपरीत्येन अग्निजलयोर्वायुभूम्योश्चेत्यर्थः। अपरं आकाशः।

अथ मन्त्राणां सिद्धसाध्यादिशोधनप्रकारः। तत्रादौ द्वादशारचक्रम्। तत्र

कुलमूलावतारे—

द्वादशारे तथा चक्रे कूटषण्ढविवर्जितान्।
आदिहान्तान् लिखेद्वर्णान्पूर्वतो यावदीश्वरम् ॥२४॥
अङ्कानेकादिभान्वन्तान् लिखेत्पूर्वादितः क्रमात्।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिश्चतुर्वर्गः स्फुटो भवेत् ॥२५॥
स्वनामाद्यर्णमारभ्य सिद्धादीन् गणयेत्सुधीः ॥इति॥

कूटः क्षकारः, षण्ढाः ऋ ॠ ऌ ॡ एते स्वराः।

चक्ररचनाप्रकारस्तु—

प्रागुक्तराशिचक्रवद् द्वादशारचक्रं विधाय, तस्य द्वादशसु खण्डेषु प्रागादिप्रादक्षिण्यक्रमेण अ क ड म, आ ख ढ य, इ ग ण र, ई घ त ल, उ ङ थ व, ऊ च द श, ए छ ध ष, ऐ ज न स, ओ झ प ह, औ ञ फ ल, अं ट ब, अः ठ भ इति मातृकावर्णान्विलिख्य, तेषु प्राग्वदेकादिद्वादशान्तानङ्कानालिख्य, यस्मिन् खण्डे शिष्यनामाद्यक्षरं तिष्ठति तदारभ्य मन्त्राद्यक्षरपर्यन्तं सिद्धसाध्यसुसिद्धारिक्रमेण गणयेत्। तत्र—

कुलमूलावतारे—

नवैकपञ्चमः सिद्धः साध्यः षड्दशयुग्मकः ।
सुसिद्धो मुनिरुद्राग्निस्तुर्याष्टद्वादशो रिपुः ॥२६॥
इति ज्ञात्वा वरारोहे मन्त्रं दद्याद्विशालधीः ।

पदार्थादर्शे—

अथवा मन्त्रनामार्णकृते राशौ चतुर्हृते ।
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिर्मन्त्रे एकादितो भवेत् ॥२७॥ इति ।

॥ अथ षोडशारचक्रे सिद्धसाध्यादिशोधनप्रकारः ॥

तत्र तन्त्रराजे—

प्राक्प्रत्यग्दक्षिणोदक्च सूत्रपञ्चकयोगतः ।
कोष्ठानि षोडशाऽत्र स्युस्तेषु वर्णान् क्रमाल्लिखेत् ॥२८॥
चतुश्चतुर्विभागेन कल्पयेत्तानि वै क्रमात् ।
प्रथमप्रथमे त्वाद्यं द्वितीयप्रथमे तथा ॥२९॥
द्वितीयमन्यतश्चान्यत्तथान्यदपि कल्पयेत् ।
तत्तत्कोष्ठेषु विलिखेत्तत्तत्पञ्चममक्षरम् ॥३०॥
एवं चतुर्षु वर्गेषु क्षान्तावधि समालिखेत् ।

एषामयमर्थः-प्राक्प्रत्यगायता दक्षिणोत्तरायताश्च पञ्च पञ्च रेखा विलिख्य, षोडशकोष्ठानि कृत्वा, तानि प्रादक्षिण्येन चत्वारि वक्ष्यमाणसिद्धसाध्यसुसिद्धारिवर्गेषु प्रकल्प्य, प्रथमचतुष्कप्रथमकोष्ठे-प्रथममकारं, द्वितीयचतुष्कप्रथमकोष्ठे-द्वितीयमकारं, तृतीयचतुष्कप्रथमकोष्ठे—इकारं, चतुर्थचतुष्कप्रथमकोष्ठे—ईकारं विलिख्य, ततस्तत्तत्कोष्ठेषु उक्तचतुष्कचतुष्टयद्वितीयकोष्ठेषु तत्तत्पञ्चमं, प्रथमप्रथमकोष्ठलिखिताक्षराणां पञ्चमाक्षराणि विलिखेदित्यर्थः । एवं प्राग्वत् । द्वितीयकोष्ठाक्षराणां पञ्चमाक्षराणि तृतीयकोष्ठेषु विलिखेत् । तृतीयकोष्ठाक्षराणां पञ्चमाक्षराणि चतुर्थकोष्ठेषु विलिखेत् । उक्तचतुष्कचतुष्के[1] प्रत्येकं कोष्ठेषु पुनः पुनः पञ्चमाक्षरलेखनतः क्षान्तावधि चतुष्कचतुष्टयेऽपि समालिखेत् ।

एवं लिखिते सति—प्रथमचतुष्कप्रथमकोष्ठे—अ क थ ह इति चत्वार्यक्षराणि, तद्द्वितीयकोष्ठे—उ ङ प इति त्रीणि, तत्तृतीयकोष्ठे—लृ झ म इति त्रीणि, तच्चतुर्थकोष्ठे—ओ ड ब इति त्रीणि । द्वितीयचतुष्कप्रथमकोष्ठे—

१. ख. उक्तचतुष्के ।

आ ख द ल इति चत्वारि, तद्द्वितीयकोष्ठे—ऊ च फ इति त्रीणि, तत्तृतीय-कोष्ठे लृ ञ य इति त्रीणि, तच्चतुर्थकोष्ठे—औ ढ श इति त्रीणि। तृतीय—चतुष्कप्रथमकोष्ठे—इ ग ध क्ष इति चत्वारि, तद्द्वितीयकोष्ठे—ऋ छ व इति त्रीणि, तत्तृतीयकोष्ठे—ए ट र इति त्रीणि, तच्चतुर्थकोष्ठे—अं ण ष इति त्रीणि। चतुर्थचतुष्कप्रथमकोष्ठे—ई घ न इति त्रीणि, तद्द्वितीयकोष्ठे—ॠ ज भ इति त्रीणि, तत्तृतीयकोष्ठे ऐ ठ ल इति त्रीणि, तच्चतुर्थकोष्ठे—अः त स इति त्रीणि दृश्यन्ते, एवं विलिख्य सिद्धसाध्यादिविचारं कुर्यात्।

तत्र तन्त्रराजे—

स्वनामाद्यक्षरं यत्र कोष्ठे सन्दृश्यते ततः।
सिद्धादीन् गणयेद्यावन्मन्त्राद्यक्षरदर्शनम् ॥३१॥
सिद्धसिद्धो जपात्सिद्धयेद्द्विगुणात्सिद्धसाध्यकः।
सिद्धे सुसिद्धः सम्प्राप्त्या सिद्धारिर्हन्ति गोत्रजान् ॥३२॥
साध्यसिद्धोऽतिसंक्लेशात्साध्यसाध्योऽतिदुःखकृत्।
साध्ये सुसिद्धो भजनात्साध्यारिः स्वां स्त्रियं हरेत् ॥३३॥
सुसिद्धसिद्धोऽध्ययनात्फलं दद्याद्यथेप्सितम्।
सुसिद्धसाध्यो जापाद्यैः सिद्धये स्यादतोऽन्यथा ॥३४॥
सुसिद्धे तु सुसिद्धस्तु पूर्वजन्मकृतश्रमः।
तस्मात्तं सर्वसिद्धीनां साधने योजयेन्मनुम् ॥३५॥
अभिचारे रिपोरेवं यदि स्वात्मविपत्तये।
सुसिद्धारिरशेषेण स्वकुल्यान्नाशयेद् ध्रुवम् ॥३६॥
अरिसिद्धः सुतं हन्यादरिसाध्यः स्वयोषितम्।
अरिः सुसिद्धो मन्त्रस्तु कुलोत्सादनकृच्छनैः ॥३७॥
अर्यरिः स्वात्महा मन्त्रः सम्प्राप्त्यैव सुनिश्चितम्।

कुलमूलावतारे—

चतुरस्रां भुवं भित्वा कोष्ठानां षोडशालिखेत्।
अकारादिक्षकारान्तां मातृकामपि विन्यसेत् ॥३८॥
ईशानकोणादारभ्य वायव्यां विलिखेत्सुधीः।

प्रादक्षिण्यक्रमेणैवेति। **तल्लेखनप्रकारमाह—**

लक्ष्मीकुलार्णवे—

एकत्रिरुद्रनवनेत्रयुगार्कपङ्क्ति,—
षण्णागषोडशचतुर्दशपञ्चकेषु।

कोष्ठे लिखेन्मुनितिथी च तथाऽवशिष्टे,
वर्णान्हुताशनमितान् क्रमशोऽम्बिकायाः ॥३६॥

इति । रुद्र ११, नेत्र २, युग ४, अर्क १२, पङ्क्ति १०, नाग ८, मुनि ७, तिथि १५, अवशिष्टे त्रयोदशे हुताशनमितान् त्रींत्रिवर्णान्, अम्बिकायाः मातृकायाः ।

अथ तच्चक्ररचनाप्रकारः—

तत्र प्राक्प्रत्यगायता दक्षिणोत्तरायताश्च पञ्च पञ्च रेखा विलिख्य, षोडश कोष्ठानि कृत्वा, तानि कोष्ठानि चतुश्चतुःकोष्ठैरेकैकचतुष्कमिति चतुष्कचतुष्टयरूपेण[1] चतुर्द्धा विभज्य, तत्रैशानगतचतुष्कस्य कोष्ठचतुष्टये ईशानकोष्ठादिप्रादक्षिण्येन– अ क थ ह उ ङ प लृ झ म ओ ड व., आग्नेयचतुष्के ईशानादिप्रादक्षिण्येन —आ ख द ल ऊ च फ लॄ ञ य औ श, निर्ऋतिचतुष्के ईशानादिप्रादक्षिण्येन इ ग ध क्ष ऋ छ ब ए ट र अं ण ष, चतुर्थचतुष्के ईशानादिप्रादक्षिण्येन— ई घ न ॠ ज भ ऐ ठ ल अः त स इति समस्तमातृकावर्णान्विलिख्य, शिष्यनामाद्यक्षरं यत्र कोष्ठे तिष्ठति तत्कोष्ठमारभ्य मन्त्राद्यक्षरकोष्ठावधि गणयित्वा, सिद्धसाध्यसुसिद्धारीन् विचारयेत् ।

तत्र साधकमन्त्राद्यक्षरयोरेककोष्ठ एव स्थितिश्चेन्मन्त्रः सिद्धसिद्ध इति ज्ञेयः । तच्चतुष्क एव द्वितीयकोष्ठे चेन्मन्त्राद्यक्षरं तदा मन्त्रः सिद्धसाध्यः । तृतीये चेत् सिद्धसुसिद्ध इति चतुर्थे चेत् सिद्धारिः । द्वितीयचतुष्केऽपि समानकोष्ठे[2] प्रथमकोष्ठं परिकल्प्य, तदारभ्य प्रादक्षिण्येन गणयेत् ।

तत्र प्रथमकोष्ठे चेन्मन्त्राद्यक्षरं तिष्ठति तदा स मन्त्रः साध्यसिद्धः । द्वितीये साध्यसाध्यः । तृतीये साध्यसुसिद्धः । चतुर्थे साध्यारिः । एवं तृतीयचतुष्केऽपि प्रथमकोष्ठे सुसिद्धसिद्धः । द्वितीये सुसिद्धसाध्यः । तृतीये सुसिद्धसुसिद्धः । चतुर्थे सुसिद्धारिः । एवं चतुर्थचतुष्केऽपि प्रथमकोष्ठे चेन् मन्त्राद्यक्षरं तदा अरिसिद्धः । द्वितीये चेदरिसाध्यः । तृतीये अरिसुसिद्धः । चतुर्थे अर्य्यरिः । इति सम्यग्विचार्य, विज्ञाय मन्त्रमेलनं कुर्यात् । अन्यथा मन्त्रस्त्वनर्थकारी भवेत् ।

'नास्ति मन्त्रसमं मित्रं नास्ति मन्त्रसमो रिपुः ।' इति **यामलवचनात्** सिद्धसिद्धादीनां फलानि पूर्वमेवोक्तानि ।

---

१. ख. चतुष्टयरूपेण । २. ख. समानकोष्ठं ।

पिङ्गलामते प्रत्यक्षरं सिद्धादिगणनोक्ता—

मातापितृकृतं नाम यच्चाप्यभिजनैः कृतम् ।
विश्लिष्य तस्य वै वर्णान् स्वरवर्णविभेदतः ॥४०॥

तथैव मन्त्रबीजानि ततः शोधनमारभेत् ।
बिन्दुद्विबिन्दुकोपध्मानीयजिह्वाङ्घ्रिसम्भवान् ॥४१॥

संहितोच्चारणप्राप्तमधिकाक्षरमेव च ।
अपभ्रंशाक्षरं लक्षौ त्यक्त्वा षण्ढचतुष्टयम् ॥४२॥

मन्त्राक्षरैः सहैकैकं नामवर्णान्विशोधयेत् ।
व्यञ्जनैर्व्यञ्जनान्येव स्वरैः सार्द्धं स्वरांस्तथा ॥४३॥

आद्यमाद्येन संशोध्यं द्वितीयेन द्वितीयकम् ।
मन्त्रे वाप्यथवा नाम्नि वर्णाः स्युर्विषमा यदा ॥४४॥

तदा मन्त्रं समारभ्य समं यावत्प्रयोजयेत् ।
आद्यन्तयोः सिद्धवर्णौ मन्त्रे यस्मिन्वराननेे ॥४५॥

अचिरेणैव कालेन स तावत्सर्वसिद्धिदः ।
साध्यान्तादियुतो यस्तु सोऽतिकृच्छ्रेण सिद्ध्यति ॥

आदावन्ते सुसिद्धस्तु सर्वकामविभूतिदः ।
आदावन्ते रिपुर्यस्य भवेत्त्याज्यः स मन्त्रकः ॥४७॥

आदौ सिद्धोऽन्त्यसाध्यो यो द्विगुणेन स सिद्धयति ।
आदौ सिद्धः सुसिद्धोऽन्ते यथोक्तात्सिद्धयते जपात् ॥४८॥

आदौ सिद्धोऽन्त्यशत्रुर्यः स त्याज्यो मन्त्रसत्तमैः ।
साध्यादिश्चैव सिद्धान्तस्त्रिगुणात्सिद्धयते जपात् ॥४६॥

आदौ साध्यः सुसिद्धोऽन्ते प्रोक्तमार्गेण सिद्धयति ।
आदौ साध्यस्त्वन्तशत्रुर्यत्नात्तं परिवर्जयेत् ॥५०॥

सुसिद्धादिस्तु सिद्धान्तो यथोक्तादेव सिद्धयति ।
सुसिद्धादिस्तु साध्यान्तश्चतुर्गुणमपेक्षते ॥५१॥

सुसिद्धादिश्चान्तशत्रुर्मध्यमः परिकीर्त्तितः
आद्यारिस्त्वन्तसिद्धादिः सोऽपि त्याज्योऽत्र कर्मणि ॥५२॥

आदौ मध्ये तथा चान्ते सिद्धः शुभफलप्रदः ।
सर्वसाध्य उदासीनः प्रोक्तस्तन्त्रे स्वयम्भुवा ॥५३॥
स्थानत्रितयसुसिद्धः सर्वानर्थांश्च साधयत्येव ।
स्थानत्रितयगतारिर्मन्त्रो मृत्युर्न सन्देहः ॥५४॥
सिद्धादिः साध्ययुग्मान्तो व्यर्थ इत्युच्यते बुधैः ।
सिद्धादिर्हि सुसिद्धान्तः सर्वकार्यार्थसाधकः ॥५५॥
सिद्धादिररियुग्मान्तो नाशकः सम्प्रकीर्त्तितः ।
शत्रुर्भवति यदादौ मध्ये सिद्धस्तदन्तके साध्यः ॥
कष्टेन कार्यसिद्धिस्तस्य फलं स्वल्पमेव भवेत् ॥५६॥
यदि भवति रिपुः प्रथमे मध्ये च भवति साध्ययुगम् ।
कार्यं विलम्बितं स्यात्प्रणश्यति क्षिप्रमेवान्ते ॥५७॥
आद्यन्तयोर्यदा साध्यो मध्ये सिद्धः प्रजायते ।
आद्यन्तयोर्यदा सिद्धो मध्ये साध्यः प्रजायते ॥५८॥
तावुभौ साध्यसिद्धौ हि जपाधिक्येन सिद्धयतः ।
अरिसम्पुटितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा भवेत् ॥५९॥
सर्वनाशकरो ज्ञेयः साधकस्य न संशयः ।
सिद्धान्तरितसाध्यस्तु सुसिद्धान्तरितोऽथवा ॥६०॥
शीघ्रं सिद्धयति मन्त्रोऽयमीशानः स्वयमब्रवीत् ।
सिद्धान्तरितशत्रुश्च सुसिद्धेनाऽपि चेद्भवेत् ॥६१॥
नासौ रिपुर्भवेन्मन्त्रः किन्तु कृच्छ्रेण सिद्धयति ।
साध्यान्तरितसिद्धस्तु सुसिद्धोऽपि तथा यदि ॥६२॥
सिद्धयत्यतीवकष्टेन साधकस्य न चान्यथा ।
रिपुणान्तरितः सिद्धः सुसिद्धोऽपि तथा यदि ॥६३॥
ईदृशं लक्षणं दृष्ट्वा दूरतः परिवर्जयेत् ।
रिपुणा दूषितो मन्त्रो नैव देयः कदाचन ॥६४॥इति।

नारायणीयेऽपि—
दुष्टार्णप्रचुरो मन्त्रो यः स्यात्स च विनिन्दितः ।

अपेक्षितार्थद्योतनिकायां व्याख्यातम् । तत्र पूर्ववन्मातृकाक्षराणि संलिख्य, तत्समीपं मन्त्रं नाम च लिखित्वा, प्रथमाक्षरेण प्रथमाक्षरं शोधयित्वा,

पुनर्द्वितीयाक्षरं शोधयित्वा, नामपरिसमाप्तौ पुनर्नाम लिखित्वा, यावन्मन्त्रपरिसमाप्तिस्तावच्छोधयित्वा, यस्मिन्मन्त्रे दुष्टार्णाः, साध्यार्णाः, वैरिणश्च इतरेभ्यो बहवो भवन्ति, तदा तन्मन्त्रं वर्जयेदित्यर्थः । अत्र केषाञ्चिद्वर्णानां शोधनं नास्तीत्याहुः ।

नमः प्रणवसंयोगावपभ्रंशाक्षराणि च ।
वर्जयित्वैव गणनं कर्त्तव्यं च सुरेश्वरि ॥६५॥ इति ।

॥ अथ ऋणधनशोधनचक्रम् । तत्र

कुलमूलावतारे—

इन्द्रर्क्षनेत्ररविपञ्चदशर्त्तुवेद ।
वह्न्यायुधाष्टनवभिर्गणितांश्च साध्यान् ।
दिग्भूगिरिश्रुतिगजाग्निमुनीषुवेद—
षड्वह्निभिश्च गणितानथ साधकार्णान् ॥६६॥

नामाज्झलादकठवाद्गजभक्तशेषं,
ज्ञात्वोभयोरधिकशेषयुतं ऋणं स्यात् ॥ इति ।

अस्यार्थः—इन्द्र १४, ऋक्ष २७, नेत्र २, रवि १२, पञ्चदश १५, ऋतु ६, वेद ४, वह्नि ३, आयुध ८,[1] दिक् १०, भू १, गिरि ७, श्रुति ४, गज ८, अग्नि ३, मुनि ७, इषु ५, वेद ४, षट् ६, वह्नि ३ नामाज्झलात् । अयमर्थः—

मन्त्रवर्णान्साधकनामाक्षराणि च स्वरव्यञ्जनबिन्दुविसर्गभेदैः पृथक् कृत्वा, वक्ष्यमाणाकठवादिवर्गैकादशोत्थाङ्केषु गुरूक्तयुक्त्या संयोज्य, पृथक् पृथग् जाताङ्कसमुदायं गजभक्तशेषमष्टभिराहृतोर्वरितं ज्ञात्वोभयोः साधकमन्त्राक्षरयोर्हृतावशिष्टाङ्कयोर्मध्ये यत्राङ्काधिक्यं स ऋणी स्यादिति ।

॥ [2]अथैतच्चक्रनिर्माणप्रकारः ॥

तत्र दक्षिणोत्तरायताः सप्तरेखाः प्राक्प्रत्यगायता द्वादशरेखाश्च विलिख्य, षट्षष्टिकोष्ठानि कृत्वा, तत्र सर्वोपरिगतैकादशकोष्ठात्मकप्रथमपङ्क्तौ स्ववामादिदक्षिणान्तं प्रथमकोष्ठे- १४, द्वितीये- २७, तृतीये-२, चतुर्थे-१२, पञ्चमे-१५, षष्ठे-६, सप्तमे-४, अष्टमे-३, नवमे-८, दशमे-८, एकादशे-६, इत्येकादशभेदादङ्कानालिख्य, तदधो द्वितीयपङ्क्तौ स्ववामादिदक्षिणान्तं अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ अं अः

---

१. ख. ८, ६ । २. तथैतच्चक्र० ।

इत्येकादशस्वरानेकादशकोष्ठेषु समालिख्य, तदधःपङ्क्तौ ककारादिटकारान्तानेकादशवर्णांस्तथैव समालिख्य, तदधःपङ्क्तौ ठकारादिफकारान्तानेकादशवर्णान्विलिख्य, तदधःपङ्क्तौ बकारादिहकारान्तान्वर्णान् विलिख्य, तदधःपङ्क्तौ १०/१/७/४/८/३/७/५/४/६/३/ इत्येकादशविधानङ्कानेकादशकोष्ठेषु विलिखेदित्यकठवचक्रं निर्माय विचारयेत् ।

तत्र स्वेष्टमन्त्रस्य वर्णान् स्वरव्यञ्जनबिन्दुविसर्गैः पृथक्कृत्वा, सर्वोपरिगतपङ्क्तिस्थाङ्कन यस्य यस्य वर्णस्य यो योऽङ्कस्तं तं वर्णं तेन तेनाङ्केन गणयित्वा, सञ्जाताङ्कसंख्यासमुदायमष्टभिराहृत्यावशिष्टमङ्कं पृथक् संस्थाप्य, शिष्यनामाक्षराणि च तथैव स्वरव्यञ्जनबिन्दुविसर्गैः पृथक्कृत्वा, सर्वाधःपङ्क्तिस्थाङ्केषु यस्य यस्य वर्णस्य यो योऽङ्कस्तं तं तेन तेनाङ्केन गणयित्वा, सञ्जाताङ्कसमुदायमष्टभिराहृत्यावशिष्टमङ्कं पृथक् संस्थाप्य, मन्त्रसाधकयोरवशिष्टाङ्कमध्ये योऽङ्कस्त्वधिकसंख्याकः स ऋणीति ज्ञेयः । मन्त्रश्चेदृणी तदा स मन्त्रो ग्राह्यः । यस्य मन्त्रस्य साधक ऋणी भवति स मन्त्रस्त्याज्य इति **ऋणधनशोधनप्रकारः** ।

तन्त्रराजेऽन्यथाऽप्युक्तः । यथा—

नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिवर्णकम् ।
त्रिधा कृत्वा स्वरैर्भिद्यात्तदन्यद्विपरीतकम् ॥६५॥

इति । अस्यार्थः-साधकनाम्नो यदाद्यक्षरं तत आरभ्य मन्त्राद्यक्षरपर्यन्तं मातृकाक्रमेण गणयित्वा, तमङ्कं त्रिगुणितं कृत्वा स्वरैः सप्तभिर्हरेदिति । अयं[1] **साधकराशिः** ।

एवं मन्त्राद्यक्षरमारभ्य साधकनामाद्यक्षरपर्य्यन्तं मातृकाक्रमेण गणयित्वा तमङ्कं सप्तगुणितं कृत्वा त्रिभिर्भजेत इति **मन्त्रराशिः** । अन्यत् पूर्ववत् ।

तन्त्रान्तरोक्तो वा ऋणधनशोधनप्रकारो यथा—

साध्यनाम द्विगुणितं साधकेन समन्वितम् ।
अष्टाभिश्च हरेच्छेषं तदन्यद्विपरीतकम् ॥६८॥

इति । अस्यार्थः-मन्त्राक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि द्विगुणयेत् । साधकनामाक्षराण्यपि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि तेषु संयोजयेत् ततोऽष्टभिर्हरेत् । अयं **मन्त्रराशिः** ।

---

१. ख. अथ ।

एवं साधकनामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि द्विगुणितानि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि मन्त्राक्षरैः संयोजितानि अष्टभिर्हरेत् । एवं साधकराशिः । अन्यत् पूर्ववत् । एवमुक्तेष्वन्यतमेनावश्यं ऋणधनशोधनं मन्त्रेषु-कर्त्तव्यम् ।

तन्त्रराजे—

कथं ऋणित्वं मन्त्राणां साधकानां च मे वद ।
पूर्वजन्मकृताभ्यासे पापादस्याफलाप्तिकृत् ॥६९॥
पापे नष्टे फलावाप्तिर्जायतेऽसंशयं नृणाम् ।
मन्त्रास्तु प्राप्तमात्रेण प्राक्तनः सिद्धिदो भवेत् ॥७०॥
सिद्धमन्त्राद्गुरोर्लब्धमन्त्रो यः सिद्धिभाङ् नरः ।
लक्ष्मीमदादनादृत्य मन्त्रं भोगमवाप्तवान् ॥७१॥
स मन्त्रस्य ऋणी ज्ञेयो भजनं तस्य पूर्वकम् ।
तस्मादृणविशुद्धिस्तु कार्या सर्वैस्तु सर्वतः ॥७२॥

इति मन्त्रसाधकयोरन्योन्यं ऋणित्वं धनित्व च ऋणविशुद्धिः[1] मन्त्रस्य यावत्संख्याङ्कैः साधक ऋणी भवति तावत्संख्यलक्षजपेनैव भवेदिति साम्प्रदायिकाः ।

॥ अथ षट्पदचक्रम् ॥ तत्र

कुलमूलावतारे—

षड्दलं पद्ममालिख्य प्रागादिषु दलेषु च ।
अकादिवर्णानेकैकांल्लिखेन्निःषण्ढकूटकान् ॥७३॥
स्वनामाद्यक्षरं यत्र तदारभ्य विचारयेत् ।

॥ अथैतच्चक्ररचनाप्रकारः ॥

तत्र षड्दलं कमलमालिख्य, तद्दलेषु प्रागादिप्रादक्षिण्येन ऋ ॠ ऌ ॡ क्ष-वर्जितान् मातृकावर्णानेकैकशः पुनः पुनः समालिख्य, स्वनामाद्यक्षरं यत्र दले तिष्ठति तत्प्रथमं दलं परिकल्प्य, तदारभ्य मन्त्राद्यक्षरं यत्र तिष्ठति तद्दलपर्यन्तं गणयित्वा, तत्फलानि विचारयेत् । तानि तु **सारसङ्ग्रहे—**

प्रथमे सम्पदुद्दिष्टा द्वितीये सम्पदन्तकः ।
तृतीये तु धृतिं विद्याच्चतुर्थे बन्धुविग्रहः ॥७४॥

---

१. ख. ऋणविशुद्धिस्तु ।

पञ्चमे संशयं विद्यात्षष्ठे सर्वविनाशनः ।

विजयमालिनीतन्त्रे—

अल्पदोषा बहुगुणा मन्त्रा देया विचक्षणैः ।
सिद्धादिकोष्ठकं ज्ञात्वा ततः सिद्धिः प्रजायते ॥७५॥

अत्र मन्त्रमेलने प्रसिद्धमेव नाम ग्राह्यम् । तथा च—

ज्ञानोन्नयने—

सिद्धसाध्यादियोगेषु मन्त्रदाने विशेषतः ।
प्रसिद्धं नाम गृह्णीयाद्येन सुप्तोऽपि जागृयात् ॥७६॥

पिङ्गलामते तु विशेषः—

प्रसिद्धं यद्भवेन्नाम किञ्चास्य जन्मनाम च ।
यतीनां पुष्पपातेन गुरुणा यत्कृतं भवेत् ॥७७।
नाम्नस्तस्यैव वर्णानि विभक्तानि च कारयेत् ।

अन्यत्राऽपि—

लोके प्रसिद्धनामाऽथ मातापित्रा तथा कृतम् ।
सुप्तो जागर्त्ति येनाऽसौ दूरस्थश्च प्रभाषते ॥७८॥
वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमत्र तु ।
मातापितृकृतं नाम शोधनीयम्प्रयत्नतः ॥७९॥

अन्ये त्वत्र जन्मनाम ग्राह्यमिति वदन्ति ।

जन्मर्क्षाक्षरतो वीक्ष्यं तत्र मन्त्रादिमाक्षरम् ॥ इति ।

अत्र प्रसिद्धमेव नाम ग्राह्यमिति मुख्यः पक्षः ।

कुलार्णवे—

एकाक्षरे तथा कूटे त्रैपुरे मन्त्रनायके ।
स्त्रीदत्ते स्वप्नलब्धे च सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥८०॥
नृसिंहार्कवराहाणां प्रासादप्रणवस्य च ।
सपिण्डाक्षरमन्त्राणां सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥८१॥

अन्यत्र—

स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे ।
वैदिकेषु च सर्वेषु सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥८२॥

सोमसिद्धान्ते—

पाशाद्यं त्र्यक्षरं मन्त्रं त्रैपुरं चण्डनायकम् ।
सौरं मृत्युञ्जयं शाक्तं शाम्भवं विनतासुतम् ॥८३॥

सौरमन्त्रास्तु येऽपि स्युर्वैष्णवा नारसिंहकाः ।
सिद्धसाध्यसुसिद्धारिविचारपरिवर्जिताः ॥८४॥

प्रणवं त्र्यक्षरं मायां व्योमव्याप्यं षडक्षरम् ।
मालामन्त्रेषु सर्वेषु सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥८५॥

तथा रत्नसागरे—

हंसस्याष्टाक्षरस्यापि तथा पञ्चाक्षरस्य च ।
एकद्वित्र्यादिबीजस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥८६॥

नृसिंहार्कवराहाणां कालिका सिद्धकालिका ।
श्यामला च तथा चण्डी सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥८७॥

रुद्रयामले—

अघोरमन्त्रे देवेशि मालामन्त्रस्य पार्वति ।
नपुंसकस्य मन्त्रस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥८८॥

कुलमूलावतारे—

स्वप्नोपलब्धमन्त्रस्य न विधिर्नैव च क्रियाः ।
उद्दिष्टदेवतां ध्यात्वा जपेच्छुभकरं भवेत् ॥८९॥

अगस्तिसंहितायाम्—

राममन्त्रेषु सर्वेषु शृणुष्व मुनिपुङ्गव ।
तारकत्वान्मन्त्रराजे सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥९०॥

सिद्धान्तशेखरे—

एकत्रिपञ्चसप्तार्णनवरुद्राक्षरान्विते ।
द्वात्रिंशदक्षरे मन्त्रे सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥९१॥

ये च बौद्धाश्च जैनाश्च गोपाला वैष्णवाश्च ये ।
सिद्धसाध्यसुसिद्धारिविचारपरिवर्जिताः ॥९२॥

व्योमव्यापी षडर्णश्च मातृका हरवल्लभा ।
बहुरूपाह्वयो मन्त्रः पञ्च साधारणा मताः ॥९३॥

पदार्थादर्शे—

पिण्डे तारे स्वप्नलब्धे षडर्णे
प्रासादार्के त्रैपुरे नारसिंहे ।
मालामायामातृवाराहकामा—
ऽस्त्रे नो दोषस्त्र्यायवेदेषु रत्ने ॥९४॥ इति ।

मालामन्त्रस्वरूपमुक्तं महाकपिलपञ्चरात्रे—

बहुवर्णास्तु ये मन्त्राः मालामन्त्रास्तु ते स्मृताः ।
दशाधिकाक्षरा माला पञ्चाधिकाऽर्द्धमालिका ॥९५॥
न माला पञ्चपर्यन्ता वृद्धस्थविरबालकाः ।
वार्द्धके सिद्धिदा माला अर्द्धमाला तु यौवने ॥९६॥
बाल्ये पञ्चाक्षराधस्तु मन्त्रः सिद्धिप्रदायकः ॥ इति ।

प्रयोगसारे तु—

नवाक्षरान्ता ये मन्त्रा बीजमन्त्राः प्रकीर्त्तिताः ।
पुनर्विंशतिवर्णान्ता मन्त्रा मन्त्रास्तथोदिताः ॥९७॥
ततोऽधिकाक्षरा मन्त्रा मालामन्त्रा इति स्मृताः ।
बाल्ये प्रसिद्धिदा बीजमन्त्रा मन्त्रास्तु यौवने ॥९८॥
मालामन्त्रास्तु वार्द्धक्ये विशेषेण प्रसिद्धिदाः ॥

नारायणीये—

विंशत्यर्णाधिका मन्त्रा मालामन्त्रा इति स्मृताः ।
दशाक्षराधिका मन्त्रास्तदर्वाग्बीजसंज्ञिताः ॥९९॥
वार्द्धके सिद्धिदा मालामन्त्रा मन्त्रास्तु यौवने ।
पञ्चाक्षराधिका बाल्ये सिद्धिदाः सर्वदाऽपरे ॥१००॥

पदार्थादर्शे—

आज्ञासिद्धास्तु ये मन्त्रा योगिनीनाम्प्रसादतः[1] ।
लब्धा ये केऽपि ते मन्त्राः सर्वकामफलप्रदाः ॥१०१॥

मुण्डमालातन्त्रे—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥१०२॥

---

१. ख. योगिनां च० ।

बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका ।
एता दश महादेवि महाविद्याः प्रकीर्त्तिताः ॥१०३॥

नात्र सिद्धाद्यपेक्षास्ति नक्षत्रादिविचारणा ।
कालादिशोधनं नास्ति न च मित्रादिशोधनम् ॥१०४॥

एतद्व्यतिरिक्तेषु मन्त्रेष्ववश्यं शोधनं कार्यम् । यदुक्तम्—

मन्त्रो वा यदि वा विद्या स्तवो वा सूक्तमेव वा ।
अर्थबन्धुशरीरस्य नाशको भवति क्षणात् ॥१०५॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन दुष्टं सर्वत्र वर्जयेत् ।

दुष्टमन्त्रग्रहणे प्रकारान्तरमप्युक्तम्—

पदार्थादर्शे—

एषु दोषेषु सर्वत्र मायां काममथापि वा ।
क्षिप्त्वा चादौ श्रियं दद्यात्तद्दूषणविमुक्तये ॥१०६॥

तारसम्पुटितो वापि दुष्टमन्त्रोऽथ सिद्धयति ।
यस्य यत्र भवेद्भक्तिः सोऽपि मन्त्रोऽस्य सिद्धयति ॥१०७॥

भुवनेशीपारिजाते—

मायाबीजसमायुक्तः क्षिप्रप्रसिद्धिदो भवेत् ।
पिण्डस्तु केवलो मन्त्रो मायाबीजोज्वलीकृतः ॥१०८॥
मायाबीजाद्भवेत्प्राणो बीजं चैतन्यवीर्यवत् ।

तथा— अनुलोमविलोमस्थक्लृप्तया वर्णमालया ।
प्रत्येकवर्णयुङ्मन्त्रा जप्ताः स्युः क्षिप्रसिद्धिदाः ॥१०९॥

वैरिमन्त्रा अपि नृणामन्ये मन्त्राश्च किम्पुनः ।
यद्यज्ञानादरिमन्त्रग्रहणं स्यात्तदा **तत्त्यागप्रकार** उच्यते ।

तत्र श्रीरुद्रयामले—

अरिमन्त्रपरित्यागविधिं वक्ष्ये महेश्वरि ।
यद्ज्ञात्वा मोचयेच्छिष्यं शत्रुमन्त्रभयाद् गुरुः ॥११०॥

अज्ञानाद्यत्र कुत्राप्तमरिमन्त्रं महेश्वरि ।
जप्त्वा मूढा महादुःखं प्राप्नुवन्ति हि तत्कृतम् ॥१११॥

गुरुस्तद्रक्षयेद्येन[1] विधिना तं वदामि ते ।
शुचिः समाहितो भूत्वा प्रारभेत्प्रवरे दिने ॥११२॥

अशेषदुःखनाशाय देशिकः प्रवरं विधिम् ।
तत्रादौ रम्यभवने कुम्भं दीक्षाविधानतः ॥११३॥

मण्डले स्थापयेद्देवि पूजयेत्तं शुभैर्जलैः ।
विलोममन्त्रपाठेन तत्रावाह्येष्टदेवताम् ॥११४॥

सकलीकृत्य सम्पूज्यावरणानि प्रपूजयेत् ।
एवं सावरणामिष्ट्वा देवि मन्त्रस्य देवताम् ॥११५॥

हुत्वा विलोममन्त्रेण गोघृतेन महेश्वरि ।
अष्टोत्तरसहस्रं वा शतं वाष्टोत्तरम्प्रिये ॥११६॥

ब्रह्मार्पणेन मनुना तथान्ते तर्पयेत्प्रभुम् ।
ततो यवान्नदुग्धान्नैर्देवताभ्यो बलिं हरेत् ॥११७॥

विदिक्षु दिक्षु च तथाऽधश्चोर्द्ध्वे मनुवित्तमः ।
आयाहीन्द्र सुराधीश शतमन्यो शचीपते ॥११८॥

नमस्तुभ्यं गृहाणेमं पुष्पधूपादिकम्बलिम् ।
आयाहि तेजसां नाथ हव्यवाह वरप्रद ॥११९॥

गृहाण पुष्पधूपादि बलिमेनम्प्रयोजितम् ।
प्रेतनाथ त्वमायाहि भिन्नाञ्जनसमद्युते ॥१२०॥

बलिं दत्तं गृहीत्वेमं सुप्रीतो वरदो भव ।
नमस्ते रक्षसां नाथ निर्ऋते त्वमिहागतः ॥१२१॥

गृहाण बलिपूजादि मया भक्त्या निवेदितम् ।
एहि पश्चिमदिक्पाल जलनाथ नमोऽस्तु ते ॥१२२॥

भक्त्या निवेदिताम्पूजां गृहीत्वा प्रीतिमाप्नुहि ।
प्रभञ्जन प्राणपते त्वमेहि सपरिच्छदः ॥१२३॥

मया प्रयुक्तं विधिवद् गृहाण बलिमादरात् ।
कुबेरतारकाधीशावागच्छेतां सुरोत्तमौ ॥१२४॥

---

१. ख. गुरुस्तान् रक्षयेद्येन ।

पुष्पधूपादिभिः प्रीतौ भवेतां वरदौ मम ।
ईश त्वमेहि भगवन् सर्वविद्याश्रय प्रभो ॥१२५॥

पूजितः पुष्पधूपाद्यैः प्रीतो भव विभूतये ।
आयाहि सर्वलोकानां नाथ ब्रह्मन् समर्चनम् ॥१२६॥

गृहाण सर्वविघ्नान्मे निवर्त्तय नमोऽस्तु ते ।
आगच्छ वरदाव्यक्त विष्णो विश्वस्य नायकः ॥१२७॥

पूजितः परया भक्त्या भव त्वं सुखदो मम ।
ततः सपरिवारां च पूजयेन्मन्त्रदेवताम् ॥१२८॥

मन्त्रेण विपरीतेन पुष्पधूपोपचारकैः ।
ततस्तु प्रार्थयेद्विद्वान् पूजितां मन्त्रदेवताम् ॥१२९॥

आनुकूल्यमनालोच्य मया तरलबुद्धिना ।
यदुपात्तं च प्रभावमरिमन्त्रस्वरूपकम् ॥१३०॥

तेन मे मनसः क्षोभमशेषं विनिवर्त्तय ।
पापं प्रतिहतं मेऽस्तु भूयाच्छ्रेयः सनातनम् ॥१३१॥

तनोतु मम कल्याणं पावनी भक्तिरेव च ।
इति सम्प्रार्थ्य मन्त्रेशीं मन्त्रं यन्त्रे विलोमतः ॥१३२॥

विलिख्यामलकर्पूरचन्दनेन समर्चयेत् ।
कलशोपरि संस्थाप्य भक्त्या परमया युतः ॥१३३॥

तद्यन्त्रं देवि मतिमान् बद्ध्वा निजशिरस्यथ ।
स्नायात् पूजितकुम्भस्थैर्जलैर्मन्त्रमयैः शिवैः ॥१३४॥

पुनश्चान्येन तोयेन कुम्भमापूर्य संयतः ।
तन्मध्ये मन्त्रयन्त्रं च निक्षिप्याऽथ प्रपूजयेत् ॥१३५॥

तं कुम्भं निम्नगातीरे शुद्धे वाऽन्यजलाशये ।
विसृजेदथ विप्रांश्च यथाशक्त्या प्रभोजयेत् ॥१३६॥

इत्थं कृतविधानस्य रिपुमन्त्रोद्भवा रुजः ।
विनश्यन्ति न सन्देहः क्रमाच्चित्तप्रसन्नता ॥१३७॥

जायतेऽतीवसम्पन्नो वर्द्धते तत्कुलं क्रमात् ।

॥ अथ दीक्षायां मासादिशुद्धिः ॥ तत्र—

पदार्थादर्शे—

असिद्धिर्भूमिसम्पत्तिर्मरणं बन्धुनाशनम् ।
आयुर्वृद्धिः प्रजानाशः सम्पत्ती रत्नसञ्चयः ॥१३८॥

शुभप्राप्तिः स्थाननाशो मोक्षार्थं च वशीकृतिः ।
चैत्रादीनां फलं ज्ञेयं मलमासं तु वर्जयेत् ॥१३९॥

मन्थानभैरवतन्त्रे—

चैत्रे दुःखाय दीक्षा स्याद्वैशाखे सर्वसिद्धिदा ।
ज्येष्ठे मृत्युप्रदा सा स्यादाषाढे बन्धुनाशिनी ॥१४०॥

श्रावणे वृद्धिदा नॄणां नभस्ये दुःखदा मता ।
आश्विने सर्वसिद्धिः स्यात्कार्त्तिके ज्ञानवृद्धिदा ॥१४१॥

शुभदा मार्गशीर्षे च पौषे मेधाविनाशिनी ।
माघे सुवर्णलाभः स्यात्फाल्गुने सर्वसिद्धिदा ॥१४२॥

सारसङ्ग्रहेऽपि—

मधुमासे भवेद् दुःखं माधवे रत्नसञ्चयः ।
मरणं भवति ज्येष्ठे चाषाढे बन्धुनाशनम् ॥१४३॥

समृद्धिः श्रावणे नूनं भवेद्भाद्रपदे क्षयः ।
प्रजानामाश्विने मासि सर्वतः शुभमेव हि ॥१४४॥

ज्ञानं स्यात्कार्त्तिके सौख्यं मार्गशीर्षे भवत्यपि ।
पौषे ज्ञानक्षयो माघे भवेन्मेधाविवर्द्धनम् ॥१४५॥

फाल्गुनेऽपि समृद्धिः स्यान्मलमासं परित्यजेत् ॥इति॥
पदार्थादर्शे आषाढस्यापि सत्फलत्वमध्यबोधि ।

वैशाखपूर्वजे मासे मन्त्रारम्भः सुदुःसहः ।
वैशाखे धनदायी च ज्येष्ठे मृत्युप्रदो भवेत् ॥१४६॥

आषाढे पुत्रलाभाय श्रावणे शुभदो मतः ।
भाद्रे चैव ज्ञानहानिस्तथा सद्भिः प्रकीर्त्तिता ॥१४७॥

आश्विने सर्वसिद्धिश्च कार्त्तिको ज्ञानसिद्धिदः ।
शुभकृन्मार्गशीर्षः स्यात्पौषो दुःखविधायकः ॥१४८॥
माघे मेधाविवृद्धिश्च फाल्गुने सर्ववश्यता ॥इति ।

सिद्धान्तशेखरे तु विशेषः—

शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा ।
फाल्गुने मार्गशीर्षे च ज्येष्ठे दीक्षा च मध्यमा ॥१४९॥

आषाढः श्रावणो माघः कनिष्ठः सद्भिरादृतः ।
निन्दितश्चैत्रमासस्तु पौषो भाद्रपदस्तथा ॥१५०॥

निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा ।

श्रीकण्ठसंहितायामन्यथोक्तम्—

शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा ।
मार्गफाल्गुनके श्रेष्ठा ज्येष्ठे चैव तु साऽधमा ॥१५१॥

माघमासे तु शुभदा दुष्टा चाषाढमासके ।
आनन्ददा श्रावणे सा पौषे भाद्रे च निन्दिता ॥१५२॥

आश्विनस्यापि निषेधः **शिवयामले** उक्तः—

महाभवचतुर्दश्यामुपरागेषु चाश्विने ।
ददन्मन्त्रं भवेन्मन्त्री दरिद्रः सप्तजन्मसु ॥१५३॥ इति ।

कालोत्तरे—

शरद्वसन्तयोर्योगो दीक्षाकर्मविधौ स्मृतः ।
तयोरसम्भवे वर्षां विनाऽन्यत्र प्रशस्यते ॥१५४॥

कारणे—

आषाढपूर्वमासे च आषाढे मार्गशीर्षके ।
दीक्षां न कारयेद्धीमानन्यसासे तु कारयेत् ॥१५५॥ इति ।

[1]अयमत्र सिद्धान्तः-येषां मासानां बहुभिर्वचनैः सत्फलत्वमुक्तं ते दीक्षायां प्रशस्तत्वेन ग्राह्याः ।

---

१. ख. इतः पूर्वमयमंशो विशेषः—गोपालमन्त्रग्रहणे *स्कान्दे* चैत्रमासोऽपि प्रशस्त उक्तः—

श्रीमद्गोपालमन्त्राणां दीक्षायां तु न दुष्यति ।
चैत्रमासो यदुक्ता तद्दीक्षा तत्रैव देशिकैः ॥१॥

अगस्तिसंहितायाम्—

शुक्लपक्षेऽथ कृष्णे वा दीक्षा सर्वशुभावहा ।इति।

ज्ञानार्णवे—

शुक्लपक्षे शुभदिने शुभवारे वरानने ।
मन्त्राद्यारम्भणं कुर्याद्......................।।१५६।।इति।

कालोत्तरे—

मुक्तिकामैः कृष्णपक्षे भूतिकामैः सिते सदा ।
दीक्षा कार्या महादेवि ....।।१५७।। इति ।

शैवागमे—

शुक्लपक्षे प्रकुर्वीत कृष्णे वा देशिकोत्तमः ।
शुक्ले सर्वसमृद्धिः स्यात्कृष्णे मध्यमतो भवेत् ।।१५८।।

सारसङ्ग्रहे—

पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया सप्तमी तथा ।
त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ताः सर्वकामदाः ।।१५९।।

श्रीकण्ठसंहितायाम्—

द्वितीया सप्तमी श्रेष्ठा षष्ठी सर्वत्र निन्दिता ।
द्वादश्यामपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यामथापि वा ।।१६०।।

विजयमालिनीतन्त्रे—

पञ्चम्येकादशी शुक्ला सप्तमी च त्रयोदशी ।
दशमी शुक्लपक्षस्य द्वादशी च विशेशतः ।।१६१।।

रत्नसागरे—

तृतीया विहिता नित्यं षष्ठी सर्वत्र निन्दिता ।
सप्तम्यां धनलाभः स्यादष्टम्यां गुरुनाशनम् ।।१६२।।

नवम्यां रिक्थनाशः स्याद्दशमी सुखदायिनी ।
एकादश्यां भवेल्लाभो धनस्य वृषभस्य च ।।१६३।।

द्वादश्यां धनलाभः स्यात्त्रयोदश्यां सदोदयः ।
शिष्यहानिश्चतुर्दश्यां पौर्णमासी तु सिद्धिदा ।।१६४।।

अमायां पुत्रनाशः स्यात्प्रतिपद् बुद्धिनाशिनी ।

[1]मन्त्रसारसङ्ग्रहे षष्ठ्या अपि ग्रहणम्—

द्वितीया पञ्चमी वापि षष्ठी चापि विशेषतः ।
द्वादश्यामपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यामथापि वा ॥१६५॥ इति ।

मन्त्ररत्नावल्यां तु—

चतुर्थीं नवमीं षष्ठीमष्टमीं च चतुर्दशीम् ।
पौर्णमासीं विना शेषा हिता मुक्तौ मुमुक्षुभिः ॥१६६॥ इति ।

तत्त्वसारसंहितायाम्—

तां तां तिथिं समालोच्य तद्भक्तांस्तत्र दीक्षयेत् ।

इन्द्रः—

कस्य का तिथिरुद्दिष्टा विशेषाद्वद नारद ॥१६७॥

नारदः—

ब्रह्मणः पौर्णमास्युक्ता द्वादशी चक्रधारिणः ।
चतुर्थी गणनाथस्य भानोः प्रोक्ता तु सप्तमी ॥१६८॥
नित्यामार्गेषु पार्वत्या अष्टमी च चतुर्दशी ।

कालोत्तरे—

ब्रह्मणः पौर्णमास्युक्ता द्वादशी चक्रधारिणः ।
चतुर्दशी शिवस्योक्ता वाचः प्रोक्ता त्रयोदशी ॥१६९॥
द्वितीया तु श्रियः प्रोक्ता पार्वत्याश्च तृतीयका ।
चतुर्थी गणनाथस्य भानोः प्रोक्ता तु सप्तमी ॥१७०॥

विष्णुदीक्षायां पञ्चरात्रे विशेषः—

द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य सूर्यसङ्क्रमणे तथा ॥इति।

रत्नावल्याम्—

षष्ठी भाद्रपदे शेषे तथा कृष्णा त्रयोदशी ।
कार्त्तिके नवमी शुक्ला मार्गे शुक्ला तृतीयका ॥१७१॥
पौषे च नवमी शुक्ला माघे शुक्ला चतुर्थिका ।
फाल्गुने नवमी शुक्ला चैत्रे कामचतुर्दशी ॥१७२॥

---

१. ख. इतः पूर्वमयमंशो विशेषः–"क्वचित्तु 'त्रयोदश्यां वरिव्रते' ति त्रयोदश्या निषेध उक्तः" ।

वैशाखे चाक्षया चैव ज्येष्ठे दशहरातिथिः ।
आषाढे नवमी शुक्ला श्रावणे कृष्णपञ्चमी ॥१७३॥

एतानि देवपर्वाणि तिथिकोटिफलं[1] लभेत् ।
अत्र दीक्षा प्रकर्त्तव्या न मासं च परीक्षयेत् ॥१७४॥

न वारं न च नक्षत्रं न तिथ्यादिकदूषणम् ।
न योगं करणं चैव शङ्करेण च भाषितम् ॥१७५॥

अन्यत्र—

चैत्रे त्रयोदशी शुक्ला वैशाखैकादशी सिता ।
ज्येष्ठे चतुर्द्दशी कृष्णा आषाढे नागपञ्चमी ॥१७६॥

श्रावणैकादशी भाद्रे रोहिणीसंयुताऽष्टमी ।
आश्विने च महापुण्या महाष्टम्यप्यभीष्टदा ॥१७७॥

कार्त्तिके नवमी शुक्ला मार्गशीर्षे तथा सिता ।
षष्ठी चतुर्द्दशी पौषे माघेऽप्येकादशी सिता ॥१७८॥

फाल्गुने च सिता षष्ठी चेति कालविनिर्णयः ।

योगिनीतन्त्रे—

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
रविसङ्क्रान्तिदिवसे युगाद्यायां सुरेश्वरि ॥१७९॥

मन्वन्तरासु सर्वासु महापूजादिने तथा ।
आदित्यं मङ्गलं सौरं त्यक्त्वा वारा विभूतये ॥१८०॥

माधवभट्टकृतशारदातिलकटीकायाम्—

रवौ गुरौ तथा सोमे कर्त्तव्यं बुधशुक्रयोः ॥इति॥

मन्त्रसद्भावे—

मन्त्रारम्भो रवौ शुक्ले बुधे जीवे विशेषतः ।
शनौ मृत्युः क्षयो भौमे सोमे सर्वं च निःफलम् ॥१८१॥

सारसंग्रहे—

रवौ गुरौ बुधे शुक्रे कर्त्तव्यं परमेश्वरि ।
इति ज्ञात्वा वरारोहे मन्त्रं दद्याद्विचक्षणः ॥१८२॥

---

१. ख. तीर्थकोटिफलं ।

विजयमालिनीतन्त्रे—

रवौ बुद्धिमवाप्नोति शुक्रे चैव धनागमः ।
बुधेऽभियोगरहितो गुरौ पुत्रान्वितो भवेत् ॥१८३॥

शन्यङ्गारकयोर्मृत्युरविद्या सोमके भवेत् ।
इति ज्ञात्वा वरारोहे मन्त्रं दद्याद्विशालधीः ॥१८४॥

चिन्तामणौ—

अश्विनी रोहिणी चार्द्रा तथा पुष्योत्तरात्रयम् ।
हस्तचित्रास्वातिमैत्रविशाखाश्च धनिष्ठया ॥१८५॥

पुनर्वसू रेवती च दीक्षायामुत्तमा मता ।

मैत्रं अनुराधा । तथा—

कामधेनौ—

रोहिणी मृगशीर्षं च तथा पुष्यश्च हस्तकः ।
स्वात्यनुराधे रेवती च तथा चाप्युत्तरात्रयम् ॥१८६॥

शुभान्येतानि दीक्षायां नक्षत्राणि वरानने ।
उत्तरात्रयरोहिण्यो रेवतीपुष्यवासवम् ॥१८७॥

धनिष्ठावायुमित्राश्विपित्र्यं त्वाष्ट्रं च नैर्ऋतं ।
[1]ऐशवैष्णवहस्ताश्च दीक्षायां तु शुभावहाः ॥१८८॥ इति ।

वासवं ज्येष्ठा, वायुः स्वाती, मित्रं अनुराधा, अश्वि अश्विनी, पित्र्यं मघा, त्वाष्ट्रं चित्रा, नैर्ऋतं मूलं, ऐशमार्द्रा, वैष्णवं श्रवणम् ।

संहितायामपि—

अश्विनीरोहिणीस्वातिविशाखाहस्तभेषु च ।
ज्येष्ठोत्तरात्रयेष्वेवं कुर्यान्मन्त्राभिषेचनम् ॥१८९॥

तन्त्रसारे—

अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्यां मरणं ध्रुवम् ।
कृत्तिकायां भवेद् दुःखी रोहिण्यां वाक्पतिर्भवेत् ॥१९०॥

मृगशीर्षे सुखावाप्तिरार्द्रायां बन्धुनाशनम् ।
पुनर्वसौ धनाढ्यः स्यात्पुष्ये शत्रुविनाशनम् ॥१९१॥

---

१. ख. ऐष० । २. ख. सौन्दर्यं ।

अश्लेषायां भवेन्मृत्युर्मघायां दुःखमोचनम् ।
[1]सौदर्यं पूर्वफाल्गुन्यां तथैवोत्तरके खगे ॥१९२॥

दीक्षा कार्या प्रयत्नेन हस्तायां च धनी भवेत् ।
चित्रायां ज्ञानसिद्धिः स्यात्स्वात्यां शत्रुविनाशनम् ॥१९३॥

विशाखायां सुखं चानुराधायां बन्धुवर्द्धनम् ।
ज्येष्ठायां सुतहानिः स्यान्मूलायां कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥१९४॥

पूर्वाषाढोत्तराषाढे भवेतां कीर्तिदायिके ।
श्रवणायां भवेद् दुःखी धनिष्ठायां दरिद्रता ॥१९५॥

बुद्धिः शतभिषायां स्यात्पूर्वभाद्रे सुखी भवेत् ।
सौख्यं चोत्तराभाद्रे रेवत्यां कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥१९६॥

रत्नावल्यां च—

त्रीण्युत्तराणि रोहिण्यः पुष्यकं मृगशीर्षकम् ।
हस्तस्वात्यनुराधाश्च मघा मूलं च रेवती ॥१९७॥

अभिजित् श्रवणं चेति ।

कारणे च—

पौष्णं रोहिण्यथादित्यं श्रवणं चाश्विनी तथा ।
सावित्रं त्वाष्ट्रवायव्यमैन्द्रं नैर्ऋतमेव च ॥१९८॥

तिष्यं त्रिरुत्तरार्द्रा च सौम्यं शिष्यत्रिजन्मभम् ।
नक्षत्राणि प्रशस्तानि दीक्षाकर्मणि सुव्रत ॥१९९॥ इति ।

पौष्णं रेवती, आदित्यं पुनर्वसुः, सावित्रं हस्तः, । सौम्यं मृगः ।

नीरतन्त्रेऽपि—

रोहिणी श्रवणार्द्रा च धनिष्ठा चोत्तरात्रयम् ।
पुष्यः [2]शतभिषे क्वै(चै)व दीक्षानक्षत्रमुच्यते ॥२००॥

अन्यवचनेषूक्तानामपि मघाज्येष्ठामूलश्रवणशतभिषजां निषेधः ।

१. ख, शतभिषक् क्वैव । २. ख. सौन्दर्यं

पिङ्गलामते—

कृत्तिकायां मनस्तापो भरण्यां च महापथः ।
पूर्वायां दण्डयेद्राजा मघायां मृत्युमादिशेत् ॥२०१॥

मूलेन कलहं विद्याज्ज्येष्ठा भवति हानिदा ।
पूर्वाषाढे भयम्प्रोक्तं श्रवणेऽनेकरोगदा ॥२०२॥

शतभिषा[1] क्षोभदा सन्तापं भाद्रपदे भवेत् ।

आवश्यकत्वे पूर्वोक्तवचनेषु विहितत्वेनोक्तेरेतान्यपि ग्राह्याणि ।

वसिष्ठः—

पूर्वाषाढा प्रतिपदा पञ्चमी कृत्तिका तथा ।
पूर्वाभाद्रपदा षष्ठी दशमी रोहिणी तथा ॥२०३॥

द्वादश्या सर्पनक्षत्रमर्यम्णा च त्रयोदशी ।
नक्षत्रलुम्पा इत्येते देवानामपि नाशदाः ॥२०४॥

सर्पनक्षत्रं अश्लेषा, अर्यमा उत्तराफाल्गुनी ।

रत्नावल्याम्—

योगाश्च प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनः शुभः ।
सुकर्मा च धृतिर्वृद्धिर्ध्रुवः सिद्धिश्च हर्षणः ॥२०५॥

वरीयांश्च शिवः सिद्धो ब्रह्मा ऐन्द्रश्च षोडश ।इति।

ज्योतिःशास्त्रे—

शुभानि करणान्याहुर्दीक्षायां च विशेषतः ।
शकुन्यादीनि विष्टिं च विशेषेण विवर्जयेत् ॥२०६॥ इति ।

अत्रादिपदेन किंस्तुघ्नचतुष्पदनागानां ग्रहणम् ।

संहितायाम्—

पञ्चाङ्गशुद्धिदिवसे स्वोदये तिथिवारयोः ।
गुरुशुक्रोदये शुद्धलग्ने द्वादशशोधिते ॥२०७॥

प्रवृद्धे बलसंयुक्ते शुक्रे देवगुरौ तथा ।
शुभे विधुसमायोगे शुभवर्गे शुभोदये ॥२०८॥

इत्यादौ सर्वमन्त्राणां सङ्ग्रहः सर्वसौख्यकृत् ।

---

१. ख. शतभिषायां ।

ज्योतिःशास्त्रे—

नीचस्थे वक्रसंस्थेऽप्यतिचरणगते बालवृद्धोऽस्तगे वा,
सन्यासो देवयात्रा व्रतनियमविधिः कर्णवेधश्च दीक्षा ।
मौञ्जीबन्धोऽङ्गनानां परिणयनविधिर्वास्तुदेवप्रतिष्ठा,
वर्ज्याः सद्भिः प्रयत्नात्त्रिदशपतिगुरौ सिंहराशिस्थिते च ॥२०९॥

माधवटीकायां तन्त्रान्तरे—

अस्तङ्गते दैत्यगुरौ शिशौ च
वृद्धेऽथवा देवगुरौ तथैव ।
भवेन्न दीक्षाग्रहणे शुभाय
जीवातिचारे मलमाससंज्ञे ॥२१०॥

जीवे हरौ दैत्यगुरौ ससूर्ये,
केतूद्गमे भूचलनादिदोषे ।
अकालवृष्टौ जलदेवदीक्षा,
जीवातवे नैव च साधकानाम् ॥२११॥

वाराहीतन्त्रे—

शुक्रोऽस्तो यदि वृद्धो वा गुर्वादित्यो भवेद्यदि ।
मेषवृश्चिकर्कसिंहेषु तदा दोषो न विद्यते ॥२१२॥

सारसङ्ग्रहे—

मन्त्राद्यारम्भणं मेषे धनधान्यप्रदं भवेत् ।
वृषे मरणमाप्नोति मिथुनेऽपत्यनाशनम् ॥२१३॥
कर्कटे सर्वसिद्धिः स्यात् सिंहे मेधाविनाशिनी ।
कन्या लक्ष्मीप्रदा नित्यं तुलायां सर्वसिद्धयः[१] ॥२१४॥
वृश्चिके सर्वसिद्धिः स्यात् धनुर्ज्ञानविनाशनम् ।
मकरः पुत्रदः प्रोक्तः कुम्भो धनसमृद्धिदः ॥२१५॥[२]
मीनो दुःखप्रदो नित्यमेवं राशिफलं प्रिये ।[३]

---

१. ख. मेवं राशिफलं प्रिये । २. ख. पद्यमिदं नास्ति ।

३. ख. पदद्वयस्थानेऽयमंशो दृश्यते—"केषुचित्पुस्तकेषु—
'मीनो दुःखप्रदो नित्यमेवं मासविधिक्रमः ।'
इति पाठदर्शनात् सौर एव मासो दीक्षायामादेय इत्यवगम्यते ।"

तथा रुद्रयामले—

मीने सिंहे तथा चापे वृषे हानिः प्रजायते ।
मेषे सर्वसमृद्धिः स्यात् कन्या रत्नप्रदा भवेत् ॥२१६॥

तुलायां धनधान्यं स्याद् वृश्चिके सर्वसिद्धयः ।
मकरे पुत्रलाभः स्यात् कुम्भे पशुसमृद्धयः ॥२१७॥

मिथुने पशुनाशः स्यात् कर्कटो राज्यदो मतः ।
एवं लग्नफलं ज्ञात्वा मन्त्रं दद्याद्विशालधीः ॥२१८॥

वृषं मीनं तथा चापं सिंहलग्नं विवर्जितम् ।
सुखदं शुभदं नित्यं कन्याद्यं सर्वसिद्धिदम् ॥२१९॥ ॥इति ।

॥ अथ दीक्षालग्नात् स्थानविशेषेषु स्थितानां ग्रहाणां शुभाशुभफलानि ॥

सारसङ्ग्रहे—

त्रिषडायगताः पापाः शुभाः केन्द्रत्रिकोणगाः ।
दीक्षायां तु शुभाः सर्वे रन्ध्रस्थाः सर्वनाशकाः ॥२२०॥

आयः एकादशस्थानं, लग्नचतुर्थसप्तमदशमस्थानानां केन्द्रसंज्ञा, पञ्चमनवमयोः त्रिकोणसंज्ञा, सूर्यकुजशनिराहुकेतुपापयुतबुधाः क्षीणः शशी च पापाः, गुरुभृगुसुतपापरहितबुधाः पूर्णश्चन्द्रश्च शुभाः, रन्ध्रमष्टमं स्थानं, सर्वे नवग्रहा अपि ।

अथ चन्द्रफलम्—जन्मत्रिषट्सप्तैकादशपङ्क्तिगः शशी शुभफलप्रदो मतः नेत्रद्वादशवसुपञ्चवेदग्रहराशिगः शशी दुष्टः स्मृतः ।

शैवागमे—

अधोमुखे शुभे भे च चन्द्रशुद्धौ विशेषतः ।
कृष्णे ताराबलं कुर्यात्स्वनामादिविचिन्तनम् ॥२२१॥

अधोमुखनक्षत्राणि गरुडपुराणे—

भरणीकृत्तिकाश्लेषामघामूलविशाखकाः ।
तिस्रः पूर्वास्तथा चैव अधोवक्त्राः प्रकीर्त्तिताः ॥२२२॥

शैवागमे—

धर्मदः प्रातःकालः स्यात्संगवो (मो) राज्यदः स्मृतः
मध्याह्ने सर्वसिद्धिः स्यात्सायाह्नो मध्यमो भवेत् ॥२२३॥
रजनी मन्त्रदाने तु निषिद्धा देशिकोत्तमैः ।
दिवा सर्वम्प्रकुर्वीत सिद्धिदं परमं स्मृतम् ॥२२४॥

क्रियाकाण्डशेखरे तिथ्यादि सर्वमुक्त्वोक्तम्—

इत्यादि निपुणं वीक्ष्य दीक्षां कुर्वीत देशिकः ।
मौमुक्षवीं प्रत्ययं न कालादिनियमः स्मृत ॥२२५॥

रत्नावल्यां च—

निन्द्यानि तानि सर्वाणि प्रशस्तानि विमुक्तये ।

॥ अथ दीक्षायामन्येऽपि कालविशेषाः ॥

पदार्थादर्शे—

शिष्यत्रिजन्मदिवसे सङ्क्रान्तौ विषुवेऽयने ।
अन्येषु पुण्ययोगेषु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥२२६॥
शिष्यानुकूले काले वा देहशुद्धिः शुभावहा ।
शशिदिनकरयोर्ग्रहणे जन्मनि शिष्यस्य मकरसङ्क्रान्तौ ।
करुणासमये च गुरोर्नक्षत्रादीष्यते न दीक्षायाम् ॥२२७॥

तथा—

शिष्यजन्मदिवसेषु सङ्क्रमे प्रग्रहे शशिदिनेशयोरपि ।
पुण्ययोगयुजि वा शुभे नृणां मन्त्रसिद्धिरभिधीयते परा ॥२२८॥

सिद्धान्तशेखरे—

विषुवेऽप्ययनद्वन्द्वे आषाढ्यां दमनोत्सवे ।
दीक्षा कार्या तु कालेषु पवित्रारोपकर्मणि ॥२२९॥

रत्नसागरे

सत्तीर्थके विधुग्रासे तन्तुदामनपर्वणोः ।
मन्त्रदीक्षाम्प्रकुर्वाणो मासर्क्षादीन्न शोधयेत् ॥२३०॥

ज्ञानार्णवे—

मन्त्राद्यारम्भणं कुर्याद्ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
ग्रहणाद्देवदेवेशि कालः सप्तदिनावधि ॥२३१॥

कुलमूलावतारे—

पवित्रपर्व देवेशि दामने वा शुभे दिने ।
कालचर्चा न कर्त्तव्या ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥२३२॥
पुण्यतीर्थे कुरुक्षेत्रे देवीपीठचतुष्टये ।
प्रयागे श्रीगिरौ काश्यां कलाकालं न शोधयेत् ॥२३३॥

योगिनीतन्त्रे—

ग्रहणे च महातीर्थे नास्ति कालस्य निर्णयः ।
गयायां भास्करक्षेत्रे विरजे चन्द्रपर्व्वते ॥२३४॥
महाविद्यासु कालादिविचारो नास्ति निश्चितम् ।

अत्र दीक्षायां रविचन्द्रोपरागयोर्मध्ये रव्युपरागस्य प्राशस्त्यम् ।

सूर्यग्रहणकाले तु नान्यदन्वेषितं भवेत् ॥२३५॥
सूर्यग्रहणकालेन समो नान्यः कदाचन ।
तत्र यद्यत्कृतं सर्वमनन्तफलदं भवेत् ॥२३६॥
न मासतिथिवारादिशोधनं सूर्यपर्वणि ।
ददातीष्टं च गृह्णीयात्तस्मिन् काले गुरोर्नरः ॥२३७॥
सिद्धिर्भवति मन्त्रस्य विनाऽभ्यासेन वेगतः ।

इति **चिन्तामणिकालिकोद्भवोक्तेः** ।

चन्द्रग्रहे तु या दीक्षा या दीक्षा वनचारिणाम् ।
जनकस्य च या दीक्षा दारिद्रयं सप्तजन्मसु ॥२३८॥

इति **योगिनीतन्त्रे** चन्द्रोपरागस्य निन्द्यत्वोक्तेः ।

तन्त्रसारे तु विशेषः—

न कुर्याच्छाक्तिकीं दीक्षामुपरक्ते विभावसौ ।
न कुर्याद्वैष्णवीं दीक्षां यदि चन्द्रमसो ग्रहः ॥२३९॥

तत्त्वसारसंहितायाम्—

तिथिं विनापि दीक्षायां विशिष्टावसरं शृणु ।
दुर्लभे सद्गुरूणां तु सकृत् सङ्ग उपस्थिते ॥२४०॥
तदनुज्ञा यदा लभ्या स दीक्षावसरो महान् ।
ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये क्षेत्रे वा दिवसे निशि ॥२४१॥
आगच्छति गुरुर्देवाद्यदा दीक्षा तदा भवेत् ।इति।
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः ॥२४२॥
न तिथिर्न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया ।
दीक्षायाः कारणं किन्तु स्वेच्छावाप्ते तु सद्गुरौ ॥२४३॥ इति ।

तन्त्रसारे—

शिष्यानाहूय गुरुणा कृपया दीयते यदा ।
तदा लग्नादिकं किञ्चिन्न विचार्यं कथञ्चन ॥२४४॥

तदा सर्वे ग्रहा वारा नक्षत्राणि च राशयः ।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरुः सर्वे शुभावहाः ॥२४५॥

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मजगोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्ट-
विरचिते सिंहसिद्धान्तसिन्धौ
सप्तमस्तरङ्गः ॥७॥

अष्टमस्तरङ्गः

॥ अथ दीक्षाङ्गभूतमण्डपनिर्माणार्थं भूमिपरीक्षा ॥

तथा च महाकपिलपञ्चरात्रे —

तत्र भूमिं परीक्षेत वास्तुज्ञानविशारदः ।
स्फुटिता च सशल्या च वल्मीकारोहिणी तथा ॥१॥

दूरतः परिवर्ज्या भूः कर्त्तुरायुर्धनापहा ।
स्फुटिता मरणं कुर्यादूषरा धननाशिनी ॥२॥

सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुतो भया ।
[1]ईशकोणप्लवा सा च कर्त्तुः श्रीदा सुनिश्चितम् ॥३॥

पूर्वप्लवा वृद्धिकरी वरदा तूत्तरप्लवा ।
विद्वेषं मरणं व्याधिं कुर्यादग्निप्लवा मही ॥४॥

या दक्षिणप्लवा भूमिर्नित्यं मृत्युभयप्रदा ।
गृहक्षयकरी सा च भूमिर्या नैरृतप्लवा ॥५॥

धनहानिकरी पृथ्वी कीर्तिता वरुणप्लवा ।
वातप्लवा तथा भूमिर्नित्यमुद्वेगकारिणी ॥६॥

श्वेता तु ब्राह्मणी पृथ्वी रक्ता वै क्षत्रिया स्मृता ।
वैश्या पीता तु विज्ञेया कृष्णा शूद्रा प्रकीर्तिता ॥७॥

ब्राह्मणी घृतगन्धा स्यात् क्षत्रिया रसगन्धकृत् ।
क्षारगन्धा भवेद्वैश्या शूद्रा विड्गन्धिनी क्षितिः ॥८॥

---

१. ख. ईशकोणस्तवा ।

मधुरा ब्राह्मणी भूमिः कषाया क्षत्रिया स्मृता ।
वैश्या तिक्ता च विज्ञेया शूद्रा स्यात् कटुका मही[1] ॥९॥

ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया स्याच्छराकुला ।
कुशकाशाकुला वैश्या शूद्रा सर्वतृणाकुला ॥१०॥

सिता पीता तथा रक्ता कृष्णवर्णसमन्विता ।
स्थिरोदका दृढा स्निग्धा भूमिः सर्वसुखावहा ॥११॥

तथा— ज्ञात्वा भूमिं परीक्षेत पूर्वोदक्प्रवणां शुभाम् ।
असङ्कटां तथा छन्नां[2] तृणैस्तोयपरिप्लुताम् ॥१२॥

सम्पूर्यमाणे खाते तु तथाधिकमृदं शुभाम् ।
श्वेतारुणा पीतकृष्णा विप्रादीनाम्प्रशस्यते ॥१३॥

प्रयोगसारे--

वितस्तिमात्रविस्तारं निर्माय विवरं भुवि ।
निःक्षिपेत्तां मृदं तस्मिंस्तासु शिष्टासु शोभनम् ॥१४॥
समासु मध्यमं विद्यान्न्यूनास्वधममुच्यते ।
परीक्ष्यैवं प्रयत्नेन त्यक्त्वा भूमिं कनीयसीम् ॥१५॥
अङ्गारतुषकेशास्थिहीनं कृत्वा तु भूतलम् ।इति।

वासिष्ठ्याम्--

खन्यमाने यदा कुण्डे पाषाणः प्राप्यते भुवि ।
तदापमृत्यवे चास्थिकेशाङ्गारैर्धनक्षयः ॥१६॥
भस्मनाऽग्निभयम्प्रोक्तं तुषैः प्रोक्ता दरिद्रता ।इति।

महाकपिलपञ्चरात्रे—

प्रासादारम्भकाले च गृहादौ च विशेषतः ।
शल्योद्धारस्तु कर्तव्यो यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥ १७॥

प्रासादारम्भकाले च यदङ्गं स्पृशते पुमान् ।
वास्तुदेशे दृढं तत्र शल्यं विद्याद्विचक्षणः ॥१८॥

कण्डूयति शिरः पुंसि शिरःशल्यं समुद्धरेत् ।
शल्यं तत्रास्थि विज्ञेयं खन्यमाने करत्रये ॥१९॥

१. क. मरी । २. ख. छिन्नां ।

अग्निदाहश्च रोगश्च धनहानिश्च जायते ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ।।२०।।

बाहू कण्डूयमाने तु निर्दिशेल्लोहशृङ्खलाम् ।
हस्तद्वयेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं कथितं तव ।।२१।।

स्वामिनो मरणं विद्यात् प्रदेशगमनं तथा ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेद् भद्रमात्मनः ।।२२।।

ऊरू कण्डूयमाने तु कांस्यशल्यं विनिर्दिशेत् ।
हस्तैकेन च सन्तिष्ठेल्लक्षणं कथितं तव ।।२३।।

असती च भवेद् भार्या यशोहानिश्च जायते ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ।।२४।।

हस्तौ कण्डूयमाने तु कङ्कालं च विनिर्दिशेत् ।
त्रिहस्तेन च सन्तिष्ठेत् खन्यमाने न चान्यथा ।।२५।।

अग्निदाहश्च रोगश्च सशल्यं मरणं भवेत् ।
यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेद् [1]भद्रमात्मनः ।।२६।।

पृष्ठं कण्डूयमाने तु बाहुशल्यं विनिर्दिशेत् ।
हस्तेनैकेन सन्तिष्ठेन्नात्र कार्या विचारणा ।।२७।।

स्वामिनाशो भवेत्तत्र भार्या वा जायतेऽसती ।
पादौ कण्डूयमाने तु हस्तशल्यं विनिर्दिशेत् ।।२८।।

सार्द्धहस्तेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं कथितं तव ।
गोनाशो राजदण्डश्च सस्यहानिश्च जायते ।।२९।।

यत्नेनोत्पाटयेच्छल्यं यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ।
कुक्षी कण्डूयमाने तु पाषाणं तत्र निर्दिशेत् ।।३०।।

हस्तद्वितयमानेन लक्षणं गदितं तव ।
भुजङ्गदंशस्तत्र स्यात्तस्माच्छल्यं समुद्धरेत् ।।३१।।

जानु कण्डूयमाने तु तत्र भस्म विनिर्दिशेत् ।
हस्तद्वयेन सन्तिष्ठेल्लक्षणं गदितं तव ।।३२।।

---

१. ख. शुभ०

अग्निदाहो मनस्तापः क्लेशदुःखभयानि च ।
करोत्येवंविधं कर्म तस्मात्तद्वै[1] समुद्धरेत् ॥३३॥

गोशृङ्गः पीतमण्डूकः शङ्खः शुक्तिश्च कच्छपः ।
शम्बूकश्च प्रशस्ताः स्युर्याश्चान्या रत्नजातयः ॥३४॥

अङ्गारं वै तुषं केशमस्थिशल्यं विचारयेत् ।
खन्यमाने जलं यावच्छल्यदोषो विनश्यति ॥३५॥

दूरनीचस्थितं वारि खनितुं नैव शक्यते ।
पञ्चहस्तं प्रखातव्यं शल्यदोषोपशान्तये ॥३६॥

शल्योद्धारं ततः कृत्वा पूरयेत् सुसमं यथा । इति ।

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—

प्रासादे दोषदं शल्यं भवेद्यावज्जलान्तिकम् ।
तस्मात् प्रासादिकी भूमिः शोध्या यावज्जलान्तिकम् ॥३७॥

शिलान्तं कर्करान्तं वा यावद्वा शुद्धतां व्रजेत् । इति ।

॥ अथ भूमेः समीकरणम् ॥

शिल्पशास्त्रे—

कीलेनैकीकृते मूले पृथक् सूक्ष्मसमाग्रयोः ।
दण्डयोरग्रनैकटये न्यस्य तन्मध्यचिह्नतः ॥३८॥

कीलादिना योजनीयो दण्डः समतया द्वयोः ।
मूलदेशे लम्बसूत्रमस्पृशद् भारवद्भुवम् ॥३९॥

भूस्थे अयुग्मे मध्याङ्कात्तिर्यग्दण्डगतात्पुनः
स्खलेत् तत्पूरयेदन्यं निम्नयेद्वापि युक्तितः ॥४०॥

अङ्के यावत् सूत्रमेति भूरेव समतां व्रजेत् ।

अयमर्थः—समस्थौल्यदीर्घऋज्वोः कीलेन प्रोतमूलयोर्दण्डयोरग्रनिकटे तादृशं तिर्यग्दण्डं तदर्धदीर्घं कीलेन योजयित्वा, तन्मध्ये चिह्नं कृत्वा, दण्डत्रयेण दीर्घत्रिकोणाकारं विधाय, दीर्घदण्डयोर्मूलाल्लवमानं सूत्रमग्रे लघुपाषाणादिबद्धं तिर्यग्दण्डस्य चिह्नोपरि[2] भूमिं यथा न स्पृशति तथा विधाय[3], [4]भूमिस्पृष्टाग्रयो-

---

१. ख. तस्मात्तं वै । २. ख. मध्यचिह्नोपरि । ३. ख. निधाय ।
४. ख: भूमि स्पृष्टाग्रयो० ।

स्तयो र्मूलं धृत्वा, शनैराकृष्टे तिर्यग्दण्डमध्याङ्काद्यत्र सूत्रं चलति तत्र निम्ना भूस्तां पूरयेत् । अन्यत्र खनित्वा वा यथा मध्यचिह्ने सूत्रमेति तथा सर्वत्र कुर्यादिति शिल्पशास्त्रोक्तप्रकारेण भूमिं समीकृत्य तत्र **प्राचीसाधनं** कुर्यात् । तत्प्रकारस्तु—

दिव्यसारस्वततन्त्रे—

निर्मले दिवसे वृक्षप्रासादादिविवर्जिते ।
स्थाने समतले श्लक्ष्णे कृत्वा हंसपदं सुधीः ॥४१॥

तदवष्टम्भतः कुर्याद् द्वादशाङ्गुलमानतः ।
वृत्तं तु परितो भ्रान्त्या तन्मध्ये स्थापयेद् बुधः ॥४२॥

सूच्यग्रसरलं शङ्कुं वर्तुलं द्वादशाङ्गुलम् ।
षडङ्गुलपरीणाहमूलं शिल्पिवरेण तु ॥४३॥

रचितं यत्नतस्तस्मिन् वृत्ते पूर्वापराह्णयोः ।
शङ्क्वग्रछायासम्पातस्थानयोश्चिह्नयुग्मकम् ॥४४॥

कृत्वा चिह्नद्वयप्रापि सूत्रं प्राक्प्रत्यगायतम् ।
दत्वा वृत्तायतार्द्धेन सूत्रेणेच्छाधिकेन च ॥४५॥

पूर्वपश्चिमयोर्वृत्तद्वयं श्लिष्टं परस्परम् ।
विधाय च तयोः सन्धिद्वयप्रापि प्रसारयेत् ॥४६॥

मध्यचिह्नस्पृष्टमध्यं तत्सूत्रं दक्षिणोत्तरम् ।
एतत् सार्द्धांशमानेन कृत्वा कोणेषु लाञ्छनम् ॥४७॥

तेषु सूत्राष्टकन्यासाच्चतुरश्रं समं भवेत् ।

अथैतद्रचनाप्रकारः—तत्र मेघाद्यनावृतसूर्ये निर्मलनभोमण्डले दिवसे वृक्षप्रासादाद्यनावृते भूप्रदेशे समे स्थाने क्वचिद् बिन्दुं कृत्वा, तदवष्टम्भतः प्रतिदिशं द्वादशाङ्गुलमानेन वृत्तं निष्पाद्य,तत्र षडङ्गुलमानपरिणाहमूलमुत्तरोत्तरपरिणाहापचयेन सूचीमात्रकृताग्रपरिणाहमृज्वाकृतिं द्वादशाङ्गुलोच्छ्रायोपेतं वृत्ताकारं शिल्पिवरेण निर्मितं शङ्कुं वृत्तमध्यस्थबिन्दुमध्ये शङ्कुमूलपरिणाहमध्यं यथा भवति तथा संस्थाप्य, तच्छङ्कुछायाग्रस्य पूर्वाह्णे तद्वृत्तरेखापश्चिमभागे यत्र सम्पातः तत्र चिह्नं कृत्वा, अपराह्णेऽपि शङ्कुछायाग्रस्य तद्वृत्तरेखापूर्वभागे यत्र सम्पातो भवति तत्र च चिह्नं विधाय, तच्चिह्नद्वयप्रापि सूत्रं विधाय, पूर्वपश्चिमं परिकल्प्य, तच्चिह्नद्वयावष्टम्भेन तच्चिह्नान्तरालमानस्य स्वेष्टा-

धिकेनार्द्धमानेनान्योन्यसमेन किञ्चिदन्योन्यसंश्लिष्टं पूर्वापरं वृत्तद्वयं विधाय, वृत्तरेखादक्षिणोत्तरसन्धिद्वयप्रापि प्राक्पश्चिमसूत्रमध्यगतया तिर्यग्रूपेण यत्सूत्रं तद्दक्षिणोत्तरं परिकल्प्य, पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरसूत्रद्वयाग्रचतुष्कसम्पाताद् वक्ष्यमाणाद् वक्ष्यमाणमानेन तुल्यमुपकल्पितसूत्राग्रैस्तैस्तेषां मण्डपकुण्डादीनां प्राक्प्रत्यग्दक्षिणोत्तरात्मकदिक्चतुष्टयं परिकल्पयेत् इति। अत्र स्थूलदृष्ट्या **तन्त्रराजाद्युक्त**प्रकारेण **प्राचीसाधनविधिः** प्रदर्शितः। सूक्ष्मप्रकारस्तु **सारसङ्ग्रहे**—सुसमे भूतले कृत्वेत्यारभ्योक्तप्रकारेण पूर्वदिनकृत्यमुक्त्वा—

दिनान्तरेऽपि देवेशि प्राग्वच्चिह्नद्वयं सुधीः।
कृत्वा वृत्ते तु यत्र स्याच्छाया या परमेश्वरि ॥४८॥
प्रवेशो निर्गमश्चैव तत्र पूर्वदिने यदा।

प्रविष्टा निर्गता छाया यदा तन्मध्यनाडिकाः ॥४९॥
छायादिना तु विज्ञाय छायापगमचिह्नयोः।

अन्तरं दिनयोरिष्टैश्चतुराद्यैर्विभागकैः ॥५०॥
विभज्य तत्र चिह्नानि कृत्वा ताभिः सुरेश्वरि।

नाडीभिः कल्पिता भागा गुणनीयाः प्रयत्नतः ॥५१॥
षष्ट्याहतं तु लब्धांशैः पूर्वैर्युर्यत्कृतं भवेत्।

प्राचीसूत्रं पूर्वभागे उत्तरे उत्तरायणे ॥५२॥
अयने दक्षिणे चैव दक्षिणस्यां दिशि ध्रुवम्।

चाल्यते चेत् स्फुटा सा स्यात् प्राची तु परमेश्वरि ॥५३॥ इति।

॥ **रात्रौ प्राचीसाधनम्** ॥ यथा—

पदार्थादर्शे—

कृत्तिका श्रवणं पुष्यश्चित्रास्वात्योर्यदन्तरम्।
तत्प्राच्या दिशो रूपं युगमात्रोदितम्पुरः ॥५४॥

त्रिकाण्डमण्डनेऽपि—

श्रवणस्योदये प्राची कृत्तिकायास्तथोदये।
चित्रास्वात्यन्तरे प्राची न प्राची चन्द्रसूर्ययोः ॥५५॥

इति **प्राचीसाधनं** विधाय—

व्यासद्विगुणरज्ज्वन्तपाशौ कृत्वाङ्कयेदिमाम्।
व्यासार्द्धमाने शंक्वर्थं सार्द्धेऽस्मिन्कर्षणाय च ॥५६॥

प्राच्यन्तशंक्वोस्तत्पाशौ कृत्वा चाकर्षकर्षणे ।
शङ्क्वङ्के वा छ्रो(श्रो)णिरेवमुदग्व्यत्यस्य चांशकौ ॥५७॥

इति शिल्पशास्त्रोक्तरीत्या [1]मण्डपक्षेत्रमुदिष्टमानादधिकविस्तारायामं समचतुरस्रं कल्पयेत् ।

अस्यार्थः—कुण्डमण्डपादेर्व्यासो यावानिष्टस्तावद्द्विगुणरज्जुमुभयतः पाशं कृत्वा, तामेकतः पाशाद् व्यासार्द्धमात्रे शङ्क्वर्थं चिह्नयेत् । ततः शङ्क्वङ्कादग्रतो व्यासार्द्धमानेन चिह्नाय कर्षणातः कुण्डमण्डपादौ प्राचीसूत्रं प्रमाणेन दत्वा, तदन्तयोः शङ्कू निखन्य, तयोस्तद्रज्जुपाशौ तथा कुर्याद् यथा व्यासार्द्धाङ्को यतः कृतः स पाशः प्रतीच्यां स्यात् । ततः कर्षचिह्नदक्षिणतः आकृष्य, व्यासार्द्धचिह्ने दक्षिणश्रोणिशङ्कुं दत्वा, तस्यैवमुत्तरदिक्श्रोण्यां च शङ्कुं दद्यात् । ततः पाशौ व्यत्यस्यैवमंशौ साध्यावित्येवं समचतुरस्रं क्षेत्रं कृत्वा तत्र मण्डपनिर्माणं कुर्यात् । तत्र—

मन्त्रमुक्तावल्याम्—

अथ मण्डपनिर्माणं ब्रूमहे ब्रह्मणोदितम् ।
श्रेष्ठमध्यमहीनैस्तु मानैस्तच्च त्रिधा मतम् ॥५८॥

सारसङ्ग्रहेऽपि—

राज्ञां होमाभिषेकेषु दीक्षादानव्रतादिषु ।
भानोर्गत्या दिशो ज्ञात्वा पुण्याहं वाचयेत् सुधीः ॥५९॥

ततः पञ्चनिनादेन मण्डपं रचयेच्छुभम् ।
ज्येष्ठमध्याधमत्वेन तन्मानं त्रिविधं मतम् ॥६०॥

षोडशाष्टादशमितैर्हस्तैर्मानमिहोत्तमम् ।
हस्तैर्विंशतिभिः केचिन्मानमुत्तममूचिरे ॥६१॥

मध्यमं द्वादशकरैश्चतुर्दशकरैर्मतम् ।
अधमं दशभिर्हस्तैर्मितमाहुर्मनीषिणः ॥६२॥

केचित्तु नवभिस्तद्वत् सप्तभिर्वाथ पञ्चभिः ।
हस्तैर्मितं वदन्त्येवं विस्तारायामसंयुतम् ॥६३॥

प्रतिष्ठासारसङ्ग्रहे तु—

स्वल्पो द्वादशहस्तोऽयं द्विद्विवृद्ध्या ततः क्रमात् ।

इत्येतेन चतुर्दशहस्तस्य मध्यमतोक्ता षोडशहस्तस्योत्तमता च ।

---

१. क. मण्डपक्षेत्र० ।

सिद्धान्तशेखरे—

············मण्डपोऽर्ककरोऽपि वा ।
कर्त्तव्या मण्डपाश्चान्ये द्विद्विहस्तप्रवृद्धितः ॥६४॥

सोमशम्भुनाऽप्युक्तम्—

············मण्डपोर्ककरोऽथवा— ।
द्विहस्तोत्तरया वृद्ध्या शेषाः स्युर्मण्डपाः शुभाः ॥६५॥

सिद्धान्तशेखरे—

चतुरस्रं चतुर्द्वारम्········· । इति
स्थलादर्काङ्गुलोच्छ्रायं मण्डपस्थलमीरितम् ॥६६॥

सारसङ्ग्रहे—

स्तम्भैः षोडशभिर्युक्तं चतुर्द्वारं सुशोभनम् ।
दिक्षु द्वाराणि चत्वारि साष्टाङ्गुलकरद्वयात् ॥६७॥
साब्ध्यङ्गुलकरद्वन्द्वाद्विदधीत करद्वयात् ।
ततो मण्डपसूत्रं तु त्रिगुणम्परिकल्पयेत् ॥६८॥
पूर्वादिषु क्रमात्तस्य मध्यभागस्तु वेदिका ।
इष्टकाभिर्मृदा वा सा कार्या दर्पणसन्निभा ॥६९॥

वसिष्ठसंहितायाम्—

हस्तोन्नतां च विस्तीर्णां चतुर्हस्तैः समन्ततः ।

क्रियासारे—

त्रिभागं मण्डपं कृत्वा मध्यभागस्तु वेदिका ।
हस्तमानं तदुत्सेधं चतुरश्रं समं यथा ॥७०॥
पक्वाभिर्वाऽप्यपक्वाभिरिष्टिकाभिर्दृढं यथा ।
कर्त्तव्या वेदिका श्रेष्ठा तदभावे मृदाऽपि वा ॥७१॥
अवक्रा पार्श्वसुस्निग्धा दर्पणोदरसन्निभा ।
वक्रपार्श्वा विलग्नमध्या परुषा दृगशोभना ॥७२॥
मानहीनाधिका या सा कर्त्तुः कर्मविनाशिनी ।इति।

सिद्धान्तशेखरे—

मध्ये स्तम्भचतुष्कं स्यात्तन्मध्ये वेदिका मता ॥७३॥

अन्यत्रापि—

वेदिकोणेषु विन्यस्येत्स्तम्भान्वेदस्वरूपकान् ।

आग्नेयादिक्रमेणैवेति तेन बहिर्द्वादशस्तम्भस्थापनमप्याग्नेयादिक्रमेणेति ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

स्तम्भोच्छ्राये शिलान्यासे सूत्रयोजनकीलके ।
खननावटसंस्कारे प्रारम्भो वह्निगोचरः ॥७४॥ इति ।

सारसङ्ग्रहे—

वेदिकोणेषु विन्यस्याः स्तम्भा वेदस्वरूपकाः ।
ते चोत्तमे तदर्द्धोच्चा मध्यमाधमयोः पुनः ॥७५॥

अष्टहस्तोन्नतिभृतस्तेऽतो द्वादश शोभनाः ।
ऋजवः पञ्चहस्तास्ते सशिखास्तु समन्ततः ॥७६॥

चतुःकोणेषु चत्वारश्चाष्टौ ते सूत्रकोटिषु
समान्तरालाः सर्वे ते स्थाप्याः षोडश देशिकैः ॥७७॥

पञ्चरात्रे—

सारदारुभवांस्तम्भान् कुर्यादृजून्समानिति ।

क्रियासारे तु विशेषः—

यज्ञीयवृक्षो वेणुर्वा क्रमुकः स्तम्भकर्मणि ।
अन्ये विशुद्धवृक्षा वा भवेयुर्नान्यभूरुहाः ॥७८॥ इति ।

सारसङ्ग्रहे—

पञ्चमांशोन्मितांस्तांश्च निखनेद् भुवि देशिकः ।
मध्यस्तम्भचतुष्काग्रादेकीभूताग्रकम्पुनः ॥७९॥

कृत्वा काष्ठचतुष्कं तु तदग्रे कलशं शुभम् ।
शोभितं कमलेनाथ मुखस्थेन सुदारुजम् ॥८०॥

निर्मितं शिल्पिभिः सम्यक् स्थापयेद्देशिकोत्तमः ।
आच्छादयेत्ततो वांशैः कटैः केरदलैश्च तम् ॥८१॥

हयशीर्षपञ्चरात्रे—

मण्डपं मण्डयेदार्द्रशाखाभिस्तु समन्ततः ।

यत्तु क्रियासारे—'भित्तिं च परितः कृत्वे'ति, तत्तु स्थिरप्रतिमादिमण्डपेष्विति ज्ञेयम् । 'नियमोऽयं समाख्यातः स्थिरलिङ्गक्रियासु चे' ति तत्रैवोक्तेः ।

मन्त्रमुक्तावल्याम्—

दिक्षु द्वाराणि चत्वारि विदध्यात्पञ्चमांशतः ।

क्रियासारेऽपि—

··············दिक्षु द्वाराणि मध्यतः ।
तोरणानि च तेष्वेव द्वारेषु स्थापयेत् सुधीः ॥८२॥

पञ्चरात्रे—

कनीयसि स्या द्विकरश्चतुरङ्गुलवृद्धितः ।
मध्यमोत्तमयोर्द्वारं···················॥८३॥ इति ।

सारसङ्ग्रहे—

मण्डपद्वारबाह्ये च युग्मं युग्मं दिशां क्रमात् ।
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटोत्थं तोरणं न्यसेत् ॥८४॥

सप्तषट्पञ्चककरं निखनेद् भुवि पूर्ववत् ।
विशालता च तस्याथ दशभिस्त्वङ्गुलैर्मता ॥८५॥

पञ्चाङ्गुलमितं स्थौल्यं विषमं चतुरश्रकम ।
मध्यमभागे तोरणयोस्तिर्यक्काष्ठम्प्रविन्यसेत् ॥८६॥

सार्द्धहस्तद्वन्द्वपादहस्तयुग्घस्तयुग्मतः ।
अग्निमीलेतिमन्त्रेण विन्यसेत् पूर्वतोरणम् ॥८७॥

इषेत्वेत्यादिमन्त्रेण दक्षिणं तोरणं न्यसेत् ।
अग्न आयेतिमन्त्रेण पश्चिमस्य निवेशनम् ॥८८॥
शन्नो देवीति मन्त्रेण दद्यादुत्तरतोरणम् ।

महाक पिलपञ्चरात्रेऽपि—

देवास्तोरणरूपेण संस्थिता यज्ञमण्डपे ।
विघ्नविध्वंसनार्थं च रक्षार्थं त्वधरस्य च ॥८९॥

न्यसेन् न्यग्रोधमैन्द्र्यां ये याम्यां चौदुम्बरं तथा ।
वारुण्यां पिप्पलं चैव कौबेर्यां प्लक्षकं न्यसेत् ॥९०॥

सुशोभनं तु पूर्वस्यामृग्वेदादिसुमन्त्रितम ।
इषेत्वेति च मन्त्रेण सुभद्राख्यं तु दक्षिणे ॥९१॥

सुकर्माख्यं सु वारुण्यां सामवेदादिकेन तु ।
शन्नो देवीति मन्त्रेण सुहोत्रं तूत्तरे न्यसेत् ॥९२॥

इदं च तोरणस्तम्भनिवेशनं मण्डपाद् बहिर्हस्तमानेनेति ज्ञेयम् । तदुक्तम्—

मण्डपाद्द्वारबाह्ये च वेदिमानेन दिक्क्रमात् ।
प्लाक्षमौदुम्बराश्वत्थवटोत्थं तोरणं न्यसेत् ॥९३॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरे विशेषः—

एकमेषामलाभे स्यात्तदभावे शमीद्रुमः ।
जम्बू खदिरसारश्च तालो वा तोरणे स्मृताः ॥९४॥ इति ।

क्रियासारे तु—

अवक्राः सत्वचस्सार्द्रा दण्डाः स्युस्तोरणे शुभाः ।
तोरणं घटयित्वैवमूर्द्ध्वं शूलत्रयं न्यसेत् ॥९५॥

पिङ्गलामते—

शूलेन चिह्निताः कुर्याद् द्वारशाखास्तु मस्तके ।
शूले नवाङ्गुलं दैर्घ्यं तुरीयांशेन विस्तृतिः ॥९६॥

ऋजु वै मध्यशृङ्गं स्यात् किञ्चिद् वक्रं च पार्श्वयोः ।
हीने चैवं समाख्यातं द्व्यङ्गुलं रोपयेत्तथा ॥९७॥

शेषाणां द्व्यंगुला वृद्धिर्वेशश्चाङ्गुलवृद्धितः ।

हीने कनिष्ठमण्डपे, शेषाणां मध्यमोत्तमानां, वेशः प्रवेशः ।

वास्तुशास्त्रे—

मस्तके द्वादशांशेन शङ्खचक्रगदाम्बुजम् ।
प्रागादिक्रमयोगेन न्यसेत्तेषां स्वदारुजम् ॥९८॥

द्वादशांशं तिर्य्यक्फलकस्य, स्वदारुजं तत्तोरणदारुसजातीयकाष्ठसम्भवम्, तेन कनिष्ठमण्डपे चतुरङ्गुलोच्चं, मध्यमे सार्द्धचतुरङ्गुलमुत्तमे पञ्चाङ्गुलमिति ।

केचित्तु—

तत्र हस्तोन्मिताः कीलाः संस्थाप्या वैष्णवे तथा ।
शङ्खचक्रगदापद्मैर्लाञ्छिताः शूलसन्निभाः ॥९९॥

तत्र तिर्यक्फलकेषु ततः प्रतितोरणमेकैकः कलशः स्थाप्यः, प्रतिकोणं चैकैकः । तदुक्तम्—

गन्धपुष्पाम्बरोपेतान् कुम्भांस्तेषु विनिःक्षिपेत् ।
ध्रुवं धरां वास्पतिं च विघ्नेशं तेषु पूजयेत् ॥१००॥

मण्डपस्य तु कोणस्थकलशेषु क्रमादमी ।
अमृतो दुर्जयश्चैव सिद्धार्थो मङ्गलस्तथा ॥१०१॥
[1]पूजा द्वारस्थकुम्भेषु शक्राद्यास्तन्मन्तूत्तमैः । इति ।

---

१. ख० पूज्या ।

अन्यत्रापि—

मण्डपे कलशौ द्वौ द्वौ द्वारे द्वारे निवेशयेत् ।
गालितोदकसम्पूर्णौ वाम्रपल्लवशोभितौ ॥१०२॥

सारसङ्ग्रहे—

ऊर्ध्वे ध्वजं च बध्नीयात् घण्टाचामरभूषितम् ।
पञ्चहस्तो ध्वजः प्रोक्तो दण्डस्तु दशहस्तकः ॥१०३॥

ततस्तु लोकपालानां पताका बाहुसम्मिताः ।
द्वादशाङ्गुलविस्तारास्तत्तन्मूर्त्या च लाञ्छिताः ॥१०४॥

पीतरक्तश्यामधूम्रश्वेतधूम्रासितार्जुनाः ।
आयुधाङ्काः पताकाः स्युः पुष्पगन्धसमन्विताः ॥१०५॥

यथायोग्यं दण्डयुतास्तत्तन्मन्त्रेण ता न्यसेत् ।

प्रतिष्ठासारसङ्ग्रहेऽपि—

पीतरक्तादिवर्णाश्च पञ्चहस्ता ध्वजाः स्मृताः ।
द्विपञ्चहस्तैर्दण्डैस्ते वंशजैः संयुता मताः ॥१०६॥

द्विपञ्चहस्तैः दशहस्तैः । **अन्यत्रापि—**

पञ्चहस्ता ध्वजा कार्या वैपुल्येन[1] द्विहस्तकाः ।
दण्डश्च दशहस्तः स्यादष्टदिक्षु च ता न्यसेत् ॥१०७॥

क्रियासारे तु विशेषः—

ध्वजानां लक्षणं सम्यगुच्यते तु यथातथम् ।
मण्डपस्य बहिर्दण्डैर्दशहस्तायतैः सह ॥१०८॥

पूर्वाद्यष्टहरित्स्वष्टौ ध्वजान्संस्थापयेद् बुधः ।
तेषां हस्तद्वयं व्यासो मध्यं च करसम्मितम् ॥१०९॥

व्यासार्द्धं शिखरं पुच्छं हस्तत्रितयमानकम् ।
मत्स्याभं शिखरं पुच्छशिखरं तु त्रिकोणकम् ॥११०॥

तयोर्मध्ये चतुःकोणं ध्यजानेवम्प्रकल्पयेत् ।
मातङ्गवस्तमहिषसिंहमत्स्यैणवाजिनः[2]॥१११॥

वृषभं च यथान्यायं ध्वजमध्ये क्रमाल्लिखेत् ।
अथवा दिग्गजानष्टावैरावतपुरःसरान् ॥११२॥

१.ख,० सिंहमत्स्यौन० ।   २. ख० वैपुलेन ।

ध्वजेषु विलिखेदुक्तधातुभिश्च सलक्षणम् ।
एवं ध्वजानां कथितं लक्षणं ते शुभावहम् ॥११३॥ इति।

अष्टौ दिग्गजास्तु—

ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः ।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥११४॥

ध्वजानामावश्यकत्वमुक्तं—

हयशीर्षपञ्चरात्रे—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्वजारोपणमुत्तमम् ।
यत्कृत्वा पुरुषः सम्यक् समस्तफलमाप्नुयात् ॥११५॥

यातुधाना गुह्यकाश्च कूष्माण्डाः खेचरास्तथा ।
चिन्तयन्त्यसुरश्रेष्ठा ध्वजहीनं सुरालयम् ॥११६॥

ध्वजेन रहिते ब्रह्मन्मण्डपे तु वृथा भवेत् ।
पूजाहोमादिकं सर्वं जपाद्यं यत्कृतं बुधैः ॥११७॥

रक्षणेन विना यद्वत् क्षेत्रं नश्यति क्षेत्रिणः ।
ध्वजं विना देवगृहं तथा नश्येत सर्वथा ॥११८॥

विष्णुपारिषदाः क्रूराः कूष्माण्डाद्यास्तु ये स्मृताः ।
पूजादिकं तु गृह्णन्ति देवं दृष्ट्वा न रक्षितम् ॥११९॥

दृष्ट्वा ध्वजांस्तु देवस्य मण्डपे ज्वलनप्रभान् ।
नश्यन्ति सर्वे ते चार्करश्मिक्षिप्तं तमो यथा॥१२०॥

सारसङ्ग्रहे—

प्रतिकुण्डं पताकास्तु प्रोक्ताः शास्त्रार्थकोविदैः ।
सप्तहस्ताः पताकाः स्युः सप्तमांशेन विस्तृताः ॥१२१॥

लोकपालानुवर्णेन नवमी तुहिनप्रभा । इति ।
चन्द्रमण्डलगौरेण वितानेन विभूषितम् ॥
दुकूलवेष्टितस्तम्भं नानादीपाद्यलङ्कृतम् ॥१२२॥

आम्रपल्लवमालाभिः शोभितं द्वारमुत्तमम् ।।
वेष्टितं दर्भरज्वा च विदध्यान्मण्डपं शुभम् ॥१२३॥इति॥

तदुक्तं सिद्धान्तशेखरे—

चूतपल्लवमालाढ्यं वितानैरुपशोभितम् ।
विचित्रवस्त्रसञ्छन्नं तुलास्तम्भविभूषितम् ॥१२४॥

सफलैः कदलीस्तम्भैः क्रमुकैर्नालिकेरजैः ।
लैर्नानाविधैर्भोज्यैर्दर्पणैश्चामरैरपि ॥१२५॥
भूषितं मण्डपं कुर्यादुक्तपुष्पसमुज्ज्वलम् ।इति।

हयशीर्षपञ्चरात्रेऽपि—
दर्पणैश्चामरैर्घण्टैः स्तम्भान् वस्त्रैर्विभूषयेत् ।
कलशैर्घटिकाभिश्च साधारैः कर्करैस्तथा ॥१२६॥ इति ॥

मण्डपान्यथाभावे दोष उक्तः—

क्रियासारे—
अनुक्तसाधनैः क्लृप्तो यदि वा कुटिलाकृतिः ।
मानाधिकोऽथवा न्यूनो मण्डपः कर्त्तृनाशनः ॥१२७॥

आख्यातसाधनैः क्लृप्तः शोभनः सममानकः ।
मनोज्ञो मण्डपो योऽसौ कर्मकर्त्तुः शुभावहम् ॥१२८॥ इति ।

॥ अथैतन्निर्माणप्रकारः ॥

तत्र प्रोक्तविधिना समीकृते भूतले पञ्चवाद्यघोषपुरस्सरं ब्राह्मणैः स्वस्ति वाचयित्वा, यथोद्दिष्टमानहस्तविस्तारं समचतुरस्रं कोणचतुष्टयनिखातशङ्कु-चतुष्टयलग्नरज्जुचतुष्टयं विधाय, पूर्वापरायतं दक्षिणोत्तरायतं च मध्यसूत्रं दूरीकृत्य, तच्चतुरस्रक्षेत्रं पुनर्नवधा विभज्य, परितः कोणचतुष्टये स्तम्भचतुष्टयं दिक्चतुष्टय गतपूर्वापरायतदक्षिणोत्तरायतसूत्रचतुष्ककोटचष्टकगतस्तम्भाष्टकमिति सम्भूय, द्वादशस्तंभान्नातिस्थूलकृशानवक्रानव्रणानेकजातीयान्सुवृत्तान् पञ्चहस्तसमुच्छ्रायान् खातप्रविष्टस्वस्वपञ्चमांशान् प्रमाणबहिरर्द्धस्वस्वस्थौल्यतृतीयांशस्थूलवितस्त्यु-न्नतशिखायुक्तान्, मध्यविभक्तेः कोणचतुष्टये-स्तम्भचतुष्टयं पूर्वस्तम्भसजातीयं पूर्वतः किंचित्स्थूलमुत्तममण्डपे तन्मानस्यार्द्धमानोच्चमन्यमण्डपेष्वष्टहस्तसमुन्नतं[1] पूर्ववत्सशिखं पञ्चमांशेन प्रविष्टभूतलमिति सम्भूय, षोडशस्तम्भान्निखाय, तेषामुपरि समजातीयानि ऋजून्यव्रणानि शिखाप्रवेशयोग्यवेधयुक्तकोटिद्वयवन्ति तिर्यक्काष्ठानि शिल्पिभिः परिकल्पितानि द्वादशस्तम्भाग्रेषु मध्यमस्तम्भ-चतुष्टयाग्रेषु च चतुरस्राकारेण समारोप्य, मध्यस्तम्भचतुष्टयशिखाग्रप्रविष्टमूल वेधयुक्तमेकीकृताग्रचतुष्टयनिविष्टसजातीयकाष्ठकलशकमलाकृतिशोभिताग्रं दिग्वि-दिक्स्थद्वादशस्तम्भशिखाग्रप्रोतमूलमध्यस्तम्भचतुष्टयाग्रं स्पृष्टाग्रमध्यतिर्य्यक्काष्ठ-

१. ख. मण्डपेष्वघृहस्त० ।

चतुष्टयमध्यगताग्रं ऋज्वाकृति यथायोग्यदीर्घस्थौल्ययुतप्रसारितद्वादशकाष्ठयुतमन्यैरपि काष्ठैर्यथायोग्यं दृढीकृतं नारिकेलदलैर्वंशकटैर्वा सम्यगाच्छादितं तैरेव निःशेषपिहितकोणचतुष्टयं चतुर्दिक्षूत्तममध्यकनिष्ठेषु साष्टाङ्गुलहस्तद्वयचतुरङ्गल-'हस्तद्वय'[1] द्विहस्तविस्तारयुतसशाखद्वारचतुष्टयोपेतं मण्डपं विरच्य,[2] मण्डपस्य पूर्वद्वाराद्बहिर्हस्तमात्रं परित्यज्याश्वत्थवृक्षेणोत्तममध्यमकनिष्ठेषु सप्तषट्पञ्चहस्तोच्छ्रितं दशाङ्गुलविस्तृतं पञ्चाङ्गुलस्थूलं विषमचतुरस्रं प्रमाणातिरिक्तवितस्त्युन्नतशिखं द्वारस्योभयपार्श्वयोरुत्तममध्यमकनिष्ठेषु सार्द्धहस्तद्वयसपादहस्तद्वयान्तरालं यथापूर्वं पञ्चमांशेन [3]प्रविष्टभूतलं फलकद्वयं,—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम् ।

इति मन्त्रेण निखाय, तत्सजातीयकाष्ठेन समानविस्तारस्थूल विषमचतुरस्रकोटिद्वयेऽपि शिखाप्रवेशयोग्यवेधयुतं तिर्यक्फलकं समारोप्य, दर्भमालां च बध्नीयात् । एवं दक्षिणद्वारि औदुम्बरतरुमयं तोरणम्

इषे त्वोर्जे त्वावायवस्थोपन्यवस्थदेवोवः ।
सविता प्रार्प्यंयतु श्रेष्ठतमायकर्मणः ॥

इति मन्त्रेण न्यसेत् । ततः पश्चिमद्वारे लक्षमयं तोरणं प्राग्वन्निर्म्मितम्

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
निहोता सत्सि बर्हिषि ॥

इति मन्त्रेण न्यसेत् । ततः उत्तरद्वारे वटवृक्षमयं तोरणं प्राग्वन्निर्मितं

शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शं योरभिस्रवन्तु नः ।

इति मन्त्रेण न्यसेत् ।

ततस्तेषामुपरि गतस्तत्तत्तिर्यक्फलकेषु मध्यतः सुषिरं विधाय, तेषु तोरणसजातीयकाष्ठेन निर्मितमुत्तममध्यमकनिष्ठेषु त्रयोदशैकादशनवाङ्गुलमात्रदैर्घ्यं तत्तच्चतुर्थांशविस्तारं शैवे—त्रिशूलाकारं, वैष्णवे—तोरणोपरिगततिर्यक्फलकस्य द्वादशांशमात्रदीर्घं प्रागादिक्रमेण शङ्खचक्रगदापद्मलाञ्छितं प्रतितोरणमेकैकं कीलमारोपयेत् ।

---

१. '—' चिह्नितोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके । २. ख० विरचय्य । ३. ख० प्रतिष्ठभूतलं ।

ततो मण्डपाग्रे दशहस्तदैर्घ्यवंशदण्डाविलम्बितं[1] हस्तमात्रविस्तृतं पञ्च-हस्तदैर्घ्यं दातव्यमन्त्रदैवतवाहनमूर्त्यङ्कितं घण्टादिभूषिताग्रं सुश्वेतं तत्तद्दैवत-वर्णानुरूपवर्णं वा ध्वजमारोप्य, दशदिक्षु बाहुमात्रदीर्घा यथायोग्यमानदण्डा-वलम्बितास्तल्लोकपालवर्णानुरूपवर्णास्तल्लोकपालवाहनमूर्त्यङ्किता दशाङ्गुल-विस्तृता लोकपालानां वेदोक्ततत्तन्मन्त्रेण पताकाश्च बध्नीयात् ।

तत्रेन्द्रस्य पीतवर्णा, वह्नेः पिङ्गलवर्णा, यमस्य कृष्णवर्णा, निर्ऋतेः श्यामवर्णा, वरुणस्य श्वेतवर्णा, वायोर्धूम्रवर्णा, सोमस्यामलवर्णा, ईशानस्य सितवर्णा, ब्रह्मणो रक्तवर्णा, अनन्तस्य श्वेतवर्णा इति पताकाभिरलङ्कृत्य, मण्डपस्याभ्यन्तरं सुश्वेतवितानपुष्पमाल्यादिभिरलङ्कृत्याऽश्वत्थदलग्रथितदर्भ-रज्जुरूपवन्दनमालया मण्डपमन्तर्बहिश्च परिवेष्ट्य, स्तम्भान् दुकूलैः संवेष्ट्य, तन्मध्यस्तम्भचतुष्टयमध्यगतचतुरस्ररूपे मध्यखण्डे अपक्वेष्टकाभिः स्निग्धमृद्भिर्वा चतुरस्रां दर्पणोदरपार्श्वचतुष्टयमध्यप्रदेशां समतलां वेद्यायामस्यैकादशांशेन नवमांशेन सप्तमांशेन पञ्चमांशेन चतुर्थांशेन तृतीयांशेन वा समुन्नतां हस्तमात्रोन्नतां वा वेदीं विदध्यात् । तदुक्तम्—

सारसङ्ग्रहे—

उच्छ्रायोऽस्या ईशनवसप्तष्वब्धित्रिभागकैः । इति ।

कपिलपञ्चरात्रेऽपि—

चतुर्थांशोच्छ्रितिस्तस्यास्त्रिपञ्चसप्तमाऽपि वा ।
नवैकादशभागैस्तामिष्टकाभिः प्रकल्पयेत् ॥१२९॥ इति

तन्त्रराजे—

विदध्यान्मध्यतो वेदिं करमात्रसमुन्नताम् । इति ।

॥ **मण्डपनिर्माणविधिः** ॥

अत्र कनिष्ठमण्डपेषु दशहस्तमण्डपेऽपि मध्ये त्र्यंशादधिकत्रिकरायता वेदी-कुण्डवेद्योरन्तरालमुभयतः पदद्वयमात्रं, तद्बहिरुभयतः कण्ठमेखलासहितकुण्डद्वय-व्याप्तभूमिश्चतुर्हस्तमिता, तद्बहिः पार्श्वद्वयेऽपि कुम्भस्थापनार्थं हस्तद्वयमिति, समस्तमण्डपभूमिर्व्याप्ता, अतः परमाचार्यऋत्विक्सदस्याद्युपवेशनस्थानमपि न लभ्यत इति नायं पक्षः समीचीनः । तस्मादयं पक्षस्त्वेककुण्डमेखलादिसंक्षेप-चिकीर्षयामेतावतापि चारितार्थ्यात्तद्विषय इति ज्ञेयः । अत्राचरते[2] आचार-

१. ख० दण्डावलम्बितं । २. ख. अत्राचरति ।

यतीत्याचार्यो यजमानस्तस्य मात्राङ्गुलात्मकाङ्गुलिभिर्हस्तादि परिकल्प्य मण्डपं कुर्यात् ।

'एतावदुक्तं यन्मानं यजमानस्य तद्भवेत् ।'

इति **सारसङ्ग्रहवचनात्** । 'कर्त्तुर्दक्षिणहस्तस्ये'ति **शारदातिलक**-वचनाच्च । हस्तस्तु चतुर्विंशाङ्गुलदीर्घः । **अङ्गुलिमानं** तु—**महाकपिलपञ्चरात्रे**—

वातायनं[1] पथं प्राप्य ये भान्ति रविरश्मयः ।
तेषु सूक्ष्मा विसर्पन्तो रेणवस्त्रसरेणवः ॥१३०॥
परमाणोरष्टगुणस्त्रसरेणुरुदाहृतः ।
तेऽष्टौ केशाह्वयास्तेऽष्टौ लिक्षा यूकास्तदष्टकम् ॥१३१॥
तदष्टकं यवस्तेऽष्टावङ्गुलिः समुदाहृता ।
सा तूत्तमाङ्गुलिः सप्तयवा सैव तु मध्यमा ॥१३२॥
षड्यवा साऽधमा प्रोक्ता मानाङ्गुलमितीरितम् ।
विन्यस्तैस्तिर्यगष्टाभिर्यवैर्मानान्तराङ्गुलम् ॥१३३॥
शालिभिर्वा ऋजुन्यस्तैस्त्रिभिर्मानान्तरं भवेत् ।
आचार्यदक्षिणकरे मध्यमाङ्गुलिमध्यमम् ॥१३४॥
पर्वणोरन्तरं दीर्घमात्राङ्गुलमुदाहृतम् ।
विनाङ्गुष्ठेन शेषाभिर्मुष्टिमङ्गुलिभिः कृतम् ॥१३५॥
चतुर्द्धा विभजेदेको भागो मुष्टयङ्गुलः स्मृतः ।
यं कञ्चित्पौरुषायामं विभज्य दशधा पुनः ॥१३६॥
एवं द्वादशधा भागं कृत्वा तेष्वेकमङ्गुलम् ।
देहलब्धाङ्गुलं नाम जानीयात्तस्य तत्पुनः ॥१३७॥
उच्छ्रायः प्रतिमायाः स्यात् महामानाङ्गुलाश्रयः ।
महामानाङ्गुलिरिति मात्राङ्गुलिरिहोच्यते ॥१३८॥
प्रासादादींश्च तेनैव कुर्यान्मानान्तरेण वै ।
वेदिकापीठशिबिकारथादीनां विधिः पुनः ॥१३९॥
मानान्तराङ्गुलेनैव भवेन्नान्येन केनचित् ।
यागोपकरणानां च कुर्यान्मानाङ्गुलेन वै ॥१४०॥

---

१. ख. वातायन ।

होमाङ्गानि स्रुवादीनि कुण्डं मुष्ट्यङ्गुलाश्रयम् ।
देहलब्धाङ्गुलेनैव प्रतिमाङ्गानि कल्पयेत् ॥१४१॥
चतुर्विंशतिसंख्याभिर्हस्तस्त्वङ्गुलिभिर्भवेत् । इति ।

इत्थं मण्डपं विधाय, तस्मिन्मण्डपे प्रागाद्यष्टदिक्षु चतुरश्रयोन्यर्द्धचन्द्र-त्रिकोणवृत्तषट्कोणपद्माष्टाश्राख्यान्यष्टौ कुण्डानि कुर्यात् । तत्रादौ **चतुरश्रकुण्ड-निर्माणप्रकारमाह—**

श्रीतन्त्रराजे—

प्राक्प्रत्यक्सूत्रमास्फाल्य तन्मध्ये चिह्नकल्पनम् ।
कृत्वा तत्पूर्वतः पश्चाद् द्वादशाङ्गुलमानतः ॥१४२॥
ततस्तदश्राण्यालम्ब्य मध्यचिह्नस्य मानतः ।
कुर्याद्धंसपदं कोष्ठान्यभितस्तेषु पातयेत् ॥१४३॥
परं प्रमृज्य तत्रापि विदध्याच्चिह्नयुग्मकम् ।
प्राक्प्रत्यक्चिह्नमानेन तयोरेवावलम्बतः ॥१४४॥
दक्षिणोत्तरतो हंसपदे कृत्वा ततस्तयोः ।
प्रसार्य सूत्रं तस्यापि मार्जयित्वोक्तमानतः ॥१४५॥
चतुष्टयं तु सूत्राणां चतुरस्रं भवेत्समम् ।

॥ अथैतत्कुण्डरचनाप्रकारः— ॥

तत्र वेद्याः पूर्वभागे मुष्ट्यङ्गुलमानेन हस्तमात्रां भुवं परित्यज्य प्राक्क-ल्पितदिक्क्रमेण प्राक्प्रत्यगायतं सूत्रमास्फाल्य, तन्मध्ये चिह्नं कृत्वा, तच्चिह्ना-त्पूर्वतः पश्चिमतश्च द्वादशाङ्गुलमानेन चिह्नं कृत्वा, तत्तदधिकांशं मार्जयित्वा, तच्चिह्नद्वयावष्टम्भेन तत्सूत्रार्द्धातिकिञ्चिदधिकमानभ्रमेण पूर्वापरतः किञ्चिदन्यो-न्यसंश्लिष्टं वृत्तद्वयं विधाय, तयोर्दक्षिणोत्तरसन्दंशरूपहंसपदद्वयप्रापि प्राक्प्रत्यग्-ब्रह्मसूत्रमध्यगतहंसपदसम्भेददक्षिणोत्तरसूत्रमास्फाल्य, तत्रापि मध्यचिह्नाद् द्वादशाङ्गुलमानेन दक्षिणोत्तरं चिह्नद्वयं विधाय, तत्तदधिकांशं मार्जयित्वा, तत्सूत्राग्रचतुष्टयावलम्बनेन द्वादशाङ्गुलमानेन चतुर्षु कोणेष्वपि हंसपदं विधाय, तत्तदग्रात्तत्तद्धंसपदप्रापि प्राक्प्रत्यक्सूत्रद्वयं दक्षिणोत्तरं सूत्रद्वयं च सम्भूय सूत्र-चतुष्टयमास्फाल्य चतुरस्रं कुर्यात् ।

ततस्तत्प्राक्प्रत्यगायतब्रह्मसूत्रमाननिम्नं समचतुरस्रं तत्र खातं कृत्वा, तत्परितः कुण्डमानस्य चतुर्विंशांशमितां भुवं परित्यज्य, तद्बहिर्द्वादशाङ्गुलविस्तारौ

चतुरङ्गुलोत्सेधां मेखलां कृत्वा, तदुपरि बाह्ये परितश्चतुरङ्गुलमानं त्यक्त्वाष्टाङ्गुलविस्तारां चतुरङ्गुलोन्नतां द्वितीयां मेखलां कृत्वा, तदुपरि बाह्ये चतुरङ्गुलं त्यक्त्वा विस्तारोत्सेधाभ्यां चतुरङ्गुलमितां तृतीयां मेखलां कुर्यात् ।

एवं कृते प्रथमा मेखला द्वादशाङ्गुलोन्नता चतुरङ्गुलविस्तृता, द्वितीया मेखलाऽष्टाङ्गुलोन्नता चतुरङ्गुलविस्तृता, तृतीया चतुरङ्गुलोन्नता चतुरङ्गुलविस्तृता च भवतीति ।

अत्र केचित्प्रथमा मेखला चतुरङ्गुलविस्तृता नवाङ्गुलोन्नता, द्वितीया तु त्र्यङ्गुलविस्तृता पञ्चाङ्गुलोन्नता, तृतीया तु द्व्यङ्गुलविस्तृता द्व्यंगुलोन्नतेति मेखलामानमाहुः । एतन्मेखलया सह हस्तमात्रखातपक्षे ज्ञेयम् । तत्र पञ्चदशाङ्गुलनिम्नखातस्यैव **विश्वकर्मणोक्त**त्वात्तदूर्ध्वे नवाङ्गुलोच्छ्रायस्यैवावश्यकत्वादिति ।

हस्तमात्रखातपक्षे तु—

सर्वेषां मेखलामानं वितस्त्यष्टतदूर्ध्वकैः ।
विस्तारोत्सेधयोः कुर्यात्.........॥१४५॥

इति **तन्त्रराजवचनात्** ।

सत्वपूर्वकगुणान्विताः क्रमाद्,
द्वादशाष्टचतुरङ्गुलोच्छ्रिताः ।
सर्वतोऽङ्गुलचतुष्कविस्तृता
मेखलाः सकलसिद्धिदा मताः ॥१४६॥

इति **प्रपञ्चसार**वचनाच्च पूर्वोक्त एव पक्षः समीचीनः । ततः सर्वबाह्यस्थमेखलाया बहिश्चतुरङ्गुलायामविस्तारोत्सेधं चतुरस्रं पीठं मृदा कृत्वा, तदुपरि निहितमूलद्वादशाङ्गुलदीर्घोत्तरोत्तरहीनपरिणाहमध्यमेखलासंलग्नसरन्ध्रनीलयुतां मूले कुम्भद्वययुक्तां मध्ये सगर्त्तामुपरितनमेखलोपरिगतामष्टाङ्गुलमानविस्तारमूलां तत्प्रदेशादुभयपार्श्वतः क्रमेण सङ्कुचितामेकाङ्गुलविस्ताराग्रां द्वादशाङ्गुलमानायामामेकाङ्गुलोत्सेधमेखलायुक्तामश्वत्थपत्राकारां मूलात्किञ्चित् क्रमान्निम्नामीषत्कुण्डप्रविष्टाग्रां योनिं कुर्यात् ।

अथ *कुण्डमध्यस्थहंसपदावलम्बनेन प्रतिदिशं चतुरंगुलमानेन वृत्तं निष्पाद्य, तद्बहिः पुनः षडङ्गुलमानेन च वृत्तं कृत्वान्तर्वृत्तं कर्णिकां*परिकल्प्य, वृत्तद्वयान्तरा-

— चिह्नान्तःस्थोऽंशो नास्ति ख. पुस्तके ।

लवीथ्यामष्टदलानि कृत्वा, षडङ्गुलोच्चं नाभिं कुर्यादिति **चतुरस्रकुण्डनिर्माणविधिः ।**

।। अथ योनिकुण्डमाह ।। तन्त्रराजे—

तन्मध्यपञ्चमांशेन विकाश्य ब्रह्मसूत्रकम् ।
पूर्वतः पश्चिमद्वन्द्वकोष्ठयोर्मध्यदेशतः ।।१४७।।

तत्कोणमानेन तथा भ्रामयेत्पश्चिमाग्रकात् ।
उत्तराग्रावधि तथा दक्षिणाग्रावधि प्रिये ।।१४८।।

तन्मध्यतिर्यक्सूत्राग्रद्वयावष्टम्भतस्तथा ।
विकासितब्रह्मसूत्रावधिसूत्रद्वयं भवेत् ।।१४९।।

योनिकुण्डमिदं भद्रे स्याच्चतुर्भयात्मसु ।
तस्मिन्नेवान्यकुण्डानि वदामि सममानतः ।।१५०।।

चतुरस्राऽभितो या तु त्यक्ता भूः साऽन्यतस्तथा ।
लभ्यते सर्वकुण्डेषु तेन सर्वाणि सर्वतः ।।१५१।।
तत्समान्येव जायन्ते षण्णवत्यङ्गुलात्मना ।इति।

।। अथैतत्कुण्डनिर्म्माणप्रकारः ।।

तत्र प्राग्वच्चतुरस्रं निर्माय, चतुःकोष्ठयुतस्य तस्य ब्रह्मसूत्रं तन्मानपञ्चमांशेन पूर्वस्यां दिशि वर्द्धयित्वा, तत्कोष्ठचतुष्टयात्मकचतुरश्रस्य पश्चिमभागस्थदक्षिणोत्तरकोष्ठयो [1]र्नैर्ऋत्यामीशानान्तमाग्नेयादिवायव्यान्तं च कोणसूत्रद्वयास्फालनेन लक्षितसूत्रद्वयसम्पातविदितमध्यदेशावष्टम्भस्तत्कोणावधिमानेनोत्तरकोष्ठे प्राक्प्रत्यग्ब्रह्मसूत्रपश्चिमाग्रादिदक्षिणोत्तरतिर्यक्सूत्रोत्तराग्रावधि तद्दक्षिणकोष्ठे तत्सूत्रपश्चिमाग्रादितत्तिर्यक्सूत्रदक्षिणाग्रावधि भ्रमादर्धचन्द्रद्वयमुत्पाद्य, तन्मध्यतिर्यक्सूत्राग्रद्वयमारभ्य प्राक्प्रसारितब्रह्मसूत्राग्रावधि सूत्रद्वयास्फालनेन योन्याकारं क्षेत्रं परिकल्प्य, तद्बहिश्च कण्ठमेखलयोर्यथोक्तमानेनोक्तयुक्त्या योनिमण्डलद्वयं निष्पाद्य, प्राग्वत् खातं कृत्वा, योन्याकारमेव [2]कण्ठमेखलादि कल्पयेदिति ।

कुण्डानां यादृशं रूपं मेखलानां च तादृशम् ।
कुर्यात्सर्वेषु कुण्डेषु..................।।१५२।।

इति **कुलप्रकाशवचनात् ।**

---

१. ख, नैर्ऋत्यामीशाना त० । २. ख. कुण्डमेखलादि ।

॥ अथार्द्धचन्द्राकारकुण्डमाह ॥ तन्त्रराजे—

तन्मध्यदशमांशं तु परित्यज्याध ऊर्द्ध्वतः ।
शेषांशांशकमानेन तन्मध्याद् भ्रामयेत्तथा ॥१५३॥
अर्द्धचन्द्राकृतिर्येन भवेत् कुण्डं तदीरितम् । इति ।

अथैतत्कुण्डरचनाप्रकारः—

तत्र प्राग्वच्चतुरस्रं कृत्वा तद्विष्कम्भमानं दशधा विभज्य, तेष्वेकैकांशं प्राक्पश्चिमयोः परित्यज्य, चिह्नद्वयं विधाय, तत्पश्चिमस्थं दक्षिणोत्तरायतं तिर्यक्सूत्रं तच्चतुरस्राद्बहिरप्यंशत्रयमानेन दक्षिणोत्तरयोर्वर्द्धयित्वा, तदग्रद्वयावधि तत्कल्पितपश्चिमब्रह्मसूत्रसंधिमध्यावलम्बनेन प्राग्रेखामध्यगतब्रह्मसूत्रसन्धिमारभ्याष्टांशमानसूत्रभ्रमादर्द्धचन्द्राकारं कुण्डं भवेदिति । इत्थमर्द्धचन्द्राकारं मण्डलं निर्माय, तद्बहिरप्युक्त्या[1] एकाङ्गुलिमानेन चार्द्धचन्द्रनिभं मण्डलद्वयं कृत्वा, प्रथमकृतमण्डलमध्ये हस्तमात्रनिम्नं खातं कृत्वा, बहिःकण्ठस्थानं परित्यज्य प्राग्वन् मेखलादिकं कुर्यादिति ।

॥ अथ त्रिकोणकुण्डमाह ॥ तत्रैव—

तत्रैव[2] षष्ठमंशं तु पार्श्वयोस्तु विकाशयेत् ।
प्रत्येकं पश्चिमं सूत्रं तन्मानेनाथ सूत्रयोः ॥१५४॥
विन्यासाद् ब्रह्मसूत्रं तं[3] द्वयाग्रावधिलम्बनात् ।
कुण्ड त्रिकोणमुदितम्...................... ॥१५५॥

अथैतत्कुण्डरचनाप्रकारः—

तत्र प्रथमवच्चतुरस्रं कृत्वा, तद्ब्रह्मसूत्रस्य प्रागग्रं बहिर्गत्या प्रसार्य, तच्चतुरस्रविष्कम्भमानं षोढा विभज्य, तेष्वेकैकांशमानेन पश्चिमतिर्यक्सूत्राग्रद्वयं पार्श्वद्वयेऽपि बहिः प्रसार्य, तदग्रद्वयाप्तसूत्रमानोपेतसूत्रद्वयस्य प्राक्प्रसारितब्रह्मसूत्रस्य च यत्र सम्पातस्तदवध्यास्फाल्य, त्रिकोणं कुण्डं परिकल्प्य, तद्बहिरेकांशमानेन तद्बहिर्द्वादशांशमानेन चोक्तयुक्त्या त्रिकोणद्वयं निष्पाद्य खातकण्ठमेखलादि प्राग्वत्कल्पयेदिति ।

॥ अथ वृत्तकुण्डमाह ॥ तत्रैव—

तन्मध्याष्टादशांशेन प्राक्सूत्राग्रं विकाशयेत् ।
तिर्यक्सूत्राद्बहिस्तेन मानेन भ्रामयेत्तथा ॥१५६॥
मध्यचिह्नावलम्बेन भवेत्तद्वृत्तकुण्डकम् । इति ।

---

१. ख. ०रप्युक्तयुक्त्या । २. ख. तस्यैव । ३. ख. तद् ।

अथैतत्कुण्डरचनाप्रकारः—

तत्र प्राग्वच्चतुरश्रं कल्पयित्वा, तन्मध्यविष्कम्भमानमष्टादशधा विभज्य, तेष्वेकांशमानतश्चतुरश्राद्बहिर्ब्रह्मसूत्रस्य प्रागग्रं विस्तार्य, मध्यचिह्नमवलम्ब्य विस्तारितब्रह्मसूत्राग्रमानेन परितो भ्रमेण वृत्तं निष्पाद्य, तद्बहिः पुनश्चतुरस्रस्य चतुर्विंशांशमानेन कण्ठार्थं वृत्तं कृत्वा, तद्बहिः पुनर्द्वादशाङ्गुलमानेन वृत्तान्तरं निष्पाद्य, प्रथमकृतवृत्तमध्ये हस्तमात्रनिम्नं खातं कृत्वा, कण्ठवृत्ताद्बहिर्द्वादशाङ्गुलान्तरालवीथ्यां प्राग्वन्मेखलात्रयं योन्यादिकं च रचयेदिति। अत्र वृत्तकुण्डे योनिर्नास्तीति केचित्। तन्न—

योनिकुण्डे योनिमब्जकुण्डे नाभिं च वर्जयेत्।

इति भैरवीतन्त्रवचनाद् योनिकुण्डे योनिः, पद्मकुण्डे च नाभिर्नास्तीति तान्त्रिकसिद्धान्तः।

।। अथ षडश्रकुण्डमाह ।। तत्रैव—

तन्मध्यषोडशांशेन विकाश्य ब्रह्मसूत्रकम्।
तेन मानेन च तथा कृत्वा वृत्तमतिस्फुटम् ।।१५७।।

तद्वृत्ते वृत्तमध्यस्य कुर्यादर्द्धेन लाञ्छनम्।
तत्र षट्सूत्रपातेन भवेत्कुण्डं षडश्रकम् ।।१५८।। इति।

अथैतत्कुण्डरचनाप्रकारः—

तत्र प्राग्वच्चतुरश्रं विधाय तन्मध्यमानं षोडशधा विभज्य, तेष्वेकांशमानेन ब्रह्मसूत्रस्य प्रागग्रं विकाश्य, तन्मानेन चतुरश्रमध्यहंसपदमध्यावलम्बनेन भ्रमाद् वृत्तम् निष्पाद्य, तन्मध्यविष्कम्भमानार्द्धेन तन्मध्यतिर्यक्सूत्रदक्षिणाग्रादि परितो वृत्ते चिह्नषट्कं विधाय, तत्र चिह्नाच्चिह्नं ज्यारूपं सूत्रषट्कमास्फाल्य, तत्तच्चापरूपवृत्तखण्डमार्जनेन षट्कोणकुण्डक्षेत्रं निष्पाद्य, तद्बहिरेकांशतो द्वादशांशतश्चोक्तयुक्त्या षट्कोणद्वयं निष्पाद्य खातादीनि प्राग्वत्कल्पयेदिति।

।। अथ पद्मकुण्डमाह ।। लक्षणसङ्ग्रहे—

चतुरश्रीकृतं क्षेत्रं विभजेदष्टधाऽम्बिके।
अष्टमांशप्रमाणेन कर्कटेन तु मध्यतः ।।१५९।।

वर्तुलं भ्रामयेत्सेयं कर्णिकाकेसराः पुनः।
अष्टमांशद्वयेनैव मध्यतो वर्त्तुलं भवेत् ।।१६०।।

तृतीयेनाष्टमांशेन पत्राणां मध्यभूर्मता ।
चतुर्थं तु भवेत् क्षेत्रव्यासतुल्येन च भ्रमात् ॥१६१॥

चतुर्विंशतिधा भङ्क्त्वा ब्रह्मसूत्रं वरानने ।
तस्यैकं भागमादाय भङ्क्त्वा षोडशधा पुनः ॥१६२॥

पञ्चभिः षोडशैर्भागैर्न्यूनं पञ्चकमष्टकम् ।
भागमादाय तद्बाह्ये पञ्चमं मण्डलं शिवे ॥१६३॥

मध्यतो भ्रामयेत् सर्वैः पत्राणामग्रभूर्मता ।
शास्त्रोक्तविधिना देवि ततः पद्मं समालिखेत् ॥१६४॥

बाह्यवृत्तान्तरालं यत्तन्मानं केसराग्रतः ।
तन्मानं कर्कटं कृत्वा केसराग्रे निधाय च ॥१६५॥

गुरूपदिष्टमार्गेण षोडशार्द्धनिशाकरान् ।
लिखित्वा कृतहस्तेन पत्राग्राणि समालिखेत् ॥१६६॥

कर्णिकाव्याससमानेन परित्यज्य तदुच्चताम् ।
निखनेदवशिष्टं तु केसराणां च मण्डलम् ॥१६७॥

खनेदन्तस्तदाकारं कुर्वन् पत्रभुवं खनेत् ।
पत्राकारा यथा सम्यग्जायन्ते परमेश्वरि ॥१६८॥

पद्मकुण्डमिति प्रोक्तं ....

अथैतत्कुण्डरचनाप्रकारः—

तत्र प्राग्वच्चतुरश्रीकृतं क्षेत्रमष्टधा विभज्य, तन्मध्यचिह्नावलम्बनेन परितश्चेकांशमानेन कर्णिकार्थं वृत्तं निष्पाद्य, तद्बहिरप्यंशद्वयमानेन केसरार्थं वृत्तं कृत्वा, तद्बहिरप्यंशत्रयमानेन दलार्थं वृत्तं विरच्य[1], तद्बहिरप्यंशचतुष्टयमानेन वृत्तं भ्रामयित्वा,तद्बहिरपि सार्द्धषट्कयवमानेन चतुरश्रक्षेत्राद्बहिर्वृत्तमेकं भ्रामयेत् ।

इति वृत्तपञ्चकं कृत्वा, प्रथमवृत्तद्वितीयवृत्तयोरन्तरालं षोडशधा विभज्य केसरान्विधाय,तृतीयवृत्ते दिग्विदिक्षु समान्तरालान्यष्टौ चिह्नानि कृत्वा, तत्तच्चिह्नमवष्टभ्य द्वितीयवृत्तस्पृष्टकेसररेखाग्रात्तुरीयवृत्तस्पृष्टपञ्चमवृत्तावसानान् शृङ्गद्वया-

१. ख. विर ळ्य ।

ग्रकान् षोडशार्द्धचन्द्रान्निष्पाद्य, साग्राण्यष्टदलानि कृत्वा, तन्मध्यकर्णिकावृत्तं विहाय, केसराणि कर्णिकां परितः प्रकाशयेत् ।

केसरवृत्तं दलमध्यवृत्त[२] सम्यक् खनित्वा, चतुर्थपञ्चमवृत्तयोर्दलानि साग्राणि यथा भवन्ति, चतुरश्रकुण्डस्य विस्तारायामखातसमानक्षेत्रफलवत् क्षेत्रफलं यथा भवति तथा गुरूक्तयुक्त्या खननं विधाय बहिःपद्माकारेणैव कण्ठमेखलादिकं कुर्यादिति ।

॥ अथाष्टाश्रकुण्डमाह ॥ तन्त्रराजे—

तन्मध्यस्य चतुर्विंशमाने बाह्येऽपि पूर्ववत् ।
विधाय चतुरश्रं तु पूर्वकोणार्द्धमानतः ॥१६९॥

कोणादभित एवास्य कृत्वा चिह्नानि चाष्ट वै ।
तेषु चिह्नेषु कृत्वाष्टसूत्राणि परितः शिवे ॥१७०॥
कुर्यादष्टाश्रकं कुण्डम्............... । इति ।

अथैतत्कुण्डरचनाप्रकारः—

तत्र प्राग्वच्चतुरश्रं विधाय, तन्मध्यसूत्रमानं चतुर्विंशतिधा विभज्य, तेष्वेकैकांशमानं तद्बहिः प्रतिदिशं प्रसारितसूत्राग्रे पूर्ववच्चतुरश्रं प्रोक्तक्रमेण विधाय, तत्र पूर्वचतुरश्रस्य कोणसूत्रस्यार्द्धमानेन बाह्यचतुरश्रे कोणचतुष्टयं व्यत्यासावष्टम्भादुभयतः प्रतिरेखं चिह्नद्वयक्रमात्सम्भूयाऽष्टचिह्नानि कृत्वा, तच्चिह्नाच् चिह्नं प्राग्वत्सूत्राष्टकमास्फाल्य, तद्बहिर्गतकोणमार्जनादष्टाश्रं कुण्डं भवति । इत्थमष्टाश्रकुण्डक्षेत्रं परिकल्प्य खातकुण्डमेखलादिकं यथावत्कुर्यादिति **दीक्षायामष्टौ कुण्डानि** कार्याणि ।

अथ प्रसङ्गसङ्गत्या काम्यहोमार्थं च पञ्चाश्रसप्ताश्रकुण्डयोरपि लक्षणमुच्यते । तत्रादौ—

॥ पञ्चाश्रकुण्डमाह ॥ तत्रैव—

तन्मध्यसप्तमांशेन ब्रह्मसूत्रं विकाश्य तत् ।
मानेन परितो भ्रान्त्या कृत्वा वृत्तं यथा च तत् ॥१७१॥

तत्त्र्यंशमानात्तद्वृत्ते कृत्वा चिह्नानि तत्र वै ।
पातयेत्पञ्च सूत्राणि तत्स्यात्पञ्चाश्रकुण्डकम् ॥२७२॥ इति ।

---

२. ख. दलमदलवृत्तमध्यस्थं ।

अथैतत्कुण्डनिर्माणप्रकारः—

तत्र प्राग्वच्चतुरस्रं कृत्वा, तन्मध्यमानस्य सप्तमांशेन ब्रह्मसूत्रस्य प्रागग्रं बहिर्विकाश्य, तन्मानेन चतुरस्रमध्यस्थहंसपदावलम्बनेन भ्रमाद् वृत्तं निष्पाद्य, तच्चतुरस्रमध्यसूत्रं चतुर्द्धा कृत्वा, तेष्वंशत्रयेणांशत्रयेण तद्वृत्ते ब्रह्मसूत्रप्रागग्रादि परितः पञ्च चिह्नानि विधाय, तत्र चिह्नाच्चिह्नं ज्यारूपाणि पञ्चसूत्राण्यास्फाल्य, तत्तच्चापवृत्तखण्डमार्जनात्पञ्चास्रकुण्डं भवति। इत्थं पञ्चास्रकुण्डक्षेत्रं परिकल्प्य, तद्बहिरपि प्रोक्तयुक्त्या कण्ठमेखलार्थं पञ्चास्रद्वयं परिकल्प्य, खातादिकं प्राग्वत् कुर्यादिति।

॥ अथ सप्तास्रकुण्डमाह ॥ तत्रैव—

तन्मध्यदशमांशेन विकाश्य ब्रह्मसूत्रकम्।
तेन मानेन सम्भ्रान्त्या कृत्वा वृत्त तथा ततः ॥१७३॥

तच्चतुःषष्टिभागेषु त्रयस्त्रिंशांशमानतः।
वृत्ते विधाय चिह्नानि सप्तसूत्राणि पातयेत् ॥१७४॥
तत्सप्तास्रं भवेत् कुण्डं..................... इति।

अथैतत्कुण्डनिर्माणप्रकारः—

तत्र प्राग्वत्समचतुरश्रं कृत्वा तन्मध्यमानं दशधा विभज्य, तेष्वेकांशमानेन ब्रह्मसूत्रं बहिर्विकाश्य, तन्मानेन चतुरस्रमध्यस्थहंसपदमवष्टम्य, वृत्तं कृत्वा, तच्चतुरस्रमध्यसूत्रप्रमाणं चतुःषष्टिधा विभज्य, तेषु त्रयस्त्रिंशदंशमानेन ब्रह्मसूत्रप्रागग्रादारम्य वृत्ते सप्तचिह्नानि कृत्वा, चिह्नाच्चिह्नं ज्यारूपेण सप्तसूत्राण्यास्फाल्य, तत्तच्चापरूपवृत्तखण्डमार्जनादेतत्सप्तास्रं कुण्डं भवेत् इति **दशविधकुण्डनिर्माणप्रकारः**।

दीक्षायामष्टकुण्डानि प्रागाद्यष्टदिक्षु कार्याणि। आचार्यकुण्डमिन्द्रेशानयोर्मध्ये कार्यम्। तथा चोक्तम्—

शारदातिलके—

प्राक्प्रोक्ते मण्डपे विद्वान्वेदिकाया बहिस्त्रिधा।
क्षेत्रं विभज्य मध्येऽंशे पूर्वादि परिकल्पयेत् ॥१७५॥

आशास्वष्टासु कुण्डानि रम्याकाराण्यनुक्रमात्।
चतुरस्रं योनिमर्द्धचन्द्रं त्र्यस्रं सुवर्तुलम् ॥१७६॥

षडश्रं पङ्कजाकारमष्टाश्रं तानि नामतः । इति ।

आचार्यकुण्डं मध्ये स्याद् गौरीपतिमहेन्द्रयोः ॥१७७॥ इति ।

आचार्यकुण्डं चतुरस्रं वर्तुलं वा कार्यम् । यथोक्तम्—

क्रियासारे—

........................प्रधानकुण्डमुच्यते ।

वृत्तं वा चतुरस्रं स्यान्मध्यस्थाने वृषेशयोः ॥१७८॥ इति ।

अत्र पृथक्पृथग्रचनानि नवानि कुण्डानि कर्त्तुमशक्तः सर्वाणि कुण्डानि चतुरस्राणि वृत्तानि वा कुर्यात् । तथा चोक्त**माम्नायरहस्ये—**

कुण्डानि चतुरस्राणि वृत्तमानाकृतीनि वा । इति ।

सोमशम्भुनाप्युक्तम्—

शस्तानि तानि वृत्तानि चतुरस्राणि वा सदा ॥१७९॥ इति ।

अन्यत्रापि —

वेदाश्राण्येव तानि स्युर्वर्तुलान्यथवा क्वचित् ।

अत्रोत्तमो नवकुण्डी पक्षो बोध्यः, मध्यमस्तु पञ्चकुण्डी पक्षः, कनीयानेककुण्डपक्षः । तदुक्तम्

आम्नायरहस्ये—

नवपञ्चाथ चैकं वा कर्त्तव्यं लक्षणान्वितम् । इति ।

सोमशम्भुनाऽपि—

वेदीपादान्तरं त्यक्त्वा कुण्डानि नव पञ्च च ॥१८०॥ इति ।

तन्निवेशनमुक्तमाम्नायरहस्ये—

विधाने पञ्चकुण्डानामीशाने पञ्चमं भवेत् । इति ।

ज्ञानरत्नावल्यामपि—

दिक्षु वेदास्रवृत्तानि पञ्चमं त्वीशगोचरम् ॥१८१॥ इति ।

अत्र वृत्तशब्देन वृत्तार्द्धचन्द्रपद्मानि गृह्यन्ते । तथा चोक्तम्—

नारदीये—

यत्रोपदिश्यते कुण्डचतुष्कं तत्र कर्मणि ।
वेदास्रमर्कचन्द्रं च वृत्तं पद्मनिभं तथा ॥१८२॥
कुर्यात्कुण्डानि चत्वारि प्राच्यादिषु विचक्षणः ।
पञ्चमं कारयेत्कुण्डमीशदिग्गोचरं द्विज ॥१८३॥

इत्येककुण्डनिवेशनमुक्तमाचार्यैः । अथवा दिशि कुण्डमुत्तरस्यां प्रविदध्याच्चतुरश्रमेकमेवेति । क्वचित् प्रतीच्यामपि निवेशनमुक्तम् ।

भुक्तौ मुक्तौ तथा पुष्टौ जीर्णोद्धारे विशेषतः ।
दीक्षाहोमे तथा शान्तौ वृत्तं वरुणदिग्गतम् ॥१८४॥ इति ।

सोमशम्भुरपि—

एकं वा शिवकाष्ठायां प्रतीच्यां कारयेद् बुधः ।

तत्रैव कुण्डपक्षे चतुरस्रं वृत्तं वा कुण्डं कार्यम् तदुक्तं **क्रियासारे—**

चतुरस्रं भवेत्कुण्डं वृत्तं कुण्डमथापि वा ।
स्थिरार्चने चराच्चर्यां नित्ये हवनकर्मणि ॥१८५॥ इति ।

पिङ्गलामतेऽपि—

कुण्डमेककरं वृत्तं मेखलाकण्ठनाभिमत् ।
नित्ये कर्मणि दीक्षायां शान्तौ पुष्टौ समं शुभम् ॥१८६॥

सिद्धान्तशेखरे—

हस्तमात्राणि सर्वाणि दीक्षासु स्थापनादिषु ।
नित्यहोमे च साहस्रे कुर्यात्कुण्डानि सर्वदा ॥१८७॥ इति ।

॥ **अथ कुण्डे खातविचारः** ॥ तत्र—

शारदातिलके—

यावत्कुण्डस्य विस्तारः खननं तावदेव तु ।

वायवीयसंहितायां 'कुण्डविस्तारवन्निम्नम्' । इति । **अन्यत्रापि** यावन्मात्रं कुण्डविस्तार उक्तस्तावत्खातस्यापि मानम्प्रदिष्टम् ।

प्रपञ्चसारे—

विंशद्भिश्चतुरधिकाभिरङ्गुलीभिः,
सूत्रेणाप्यथ परिसूत्र्य भूमिभागम् ।
ताभिश्च प्रखननन्तु तावतीभिरंशम् ।

इति **प्रयोगसारदिव्यसारस्वतयोः** ।

चतुरस्रं चतुःकोष्ठं सूत्रैः कृत्वा यथा पुरा ।
हस्तमानेन तन्मध्ये तावन्निम्नायतं खनेत् ॥१८८॥

गणेश्वरपरामर्शिण्यामपि—

चतुर्विंशाङ्गुलायामं तावत्खातसमन्वितम् ।

दक्षिणामूर्तिसंहितायाम्—

चतुर्विंशतिसंख्याभिरङ्गुलीभिः सुविस्तृतम् ।
खातं च रचयेत् कुण्डं·········॥१८९॥

मेखलया सह खातमाहुः । तदुक्तं मोहशूरोत्तरे—

हस्तमात्रं खनेत्तिर्यगूर्द्ध्वं मेखलया सह ।

प्रतिष्ठासारसङ्ग्रहे—

पञ्चत्रिमेखलोच्छ्रायं ज्ञात्वा शेषमधः खनेत् ॥१९०॥

विश्वकर्माऽप्याह—

व्यासात्खातः करः प्रोक्तो निम्नं तिथ्यङ्गुलेन तु ।

प्रथमतन्त्रे—

कुण्डं जिनाङ्गुलैस्तिर्यगूर्द्ध्वं मेखलया सह ॥१९१॥

सिद्धान्तशेखरेऽपि—

खातं कुण्डप्रमाणं स्यादूर्ध्वं मेखलया सह । इति ।

एतत्पक्षद्वये युक्तियुक्तः प्रथमपक्ष एव भाति । यतः—

'कुण्डस्वरूपं जानीयात्परमं प्रकृतेर्वपु' रित्यादिना मेखलानामङ्गत्वानभिधानात्तासाम्भूषणरूपत्वात्ताभिः सह खातो नोपपद्यते । भूषणत्वे कदाचित्तासामकर्त्तव्यतापि स्यादिति चेन्न । 'शृङ्गाररहितं यच्च यजमानविनाशकृ' दित्युक्तेर्भूषणस्याप्यावश्यकत्वात् । मेखलाया अननुगमे खातस्याप्यननुगमप्रसङ्गात् । त्रिमेखलापक्षेऽन्यः खातः, पञ्चमेखलापक्षेऽन्यः खातः, द्वादशाङ्गुलमेखलापक्षेऽन्य इति । मेखलया सह खातवचनानि तु रत्न्यरत्न्यादिकुण्डेषु पञ्चाशदादिहोमे खाताधिक्यस्य प्रयोजनाभावात्तद्विषयाणीति ज्ञेयम् ।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
स्मृतिद्वैधे तु विषयः कल्पनीयः पृथक् पृथक् ॥१९२॥

इत्युक्तेः ।

॥ अथ मेखलाः ॥ तत्र शारदातिलके—

कुण्डानां यादृशं रूपं मेखलानां च तादृशम्
कुण्डानां मेखलास्तिस्रो मुष्टिमात्रे तु ताः क्रमात् । १९३॥

उत्सेधायामतो ज्ञेया ह्येकार्धाङ्गुलसम्मिताः ।
अरत्निमात्रे कुण्डे स्युस्तास्त्रिद्व्येकाङ्गुलात्मिकाः ॥१९४॥

एकहस्तमिते कुण्डे वेदाग्निनयनाङ्गुलाः ।
मेखलानां भवेदन्तः परितो नेमिरङ्गुलात् ॥१९५॥

एकहस्तस्य कुण्डस्य वर्द्धयेत्ताः क्रमात्सुधीः ।
दक्षहस्तान्तमन्येषामर्द्धाङ्गुलवशात्पृथक् ॥१९६॥

कुण्डे द्विहस्ते ता ज्ञेया रसवेदगुणाङ्गुलाः ।
चतुर्हस्ते तु कुण्डे ता वसुतर्कयुगाङ्गुलाः ॥१९७॥

कुण्डे रसकरे ताः स्युर्दशाष्टर्त्वङ्गुलान्विताः ।
वसुहस्तमिते कुण्डे मनुभानुदशाङ्गुलाः ॥१९८॥

विस्तारोत्सेधतो ज्ञेया मेखलाः सर्वतो बुधैः ।

वायवीयसंहितायाम्—

मेखलानां त्रयं वापि द्वयमेकमथापि वा ॥१९९॥

क्रियासारेऽपि—

नाभियोनिसमायुक्तं कुण्डं श्रेष्ठं त्रिमेखलम् ।
कुण्डं द्विमेखलं मध्यं नीचं स्यादेकमेखलम् ॥२००॥

सोमशंभौ तु—

त्रिमेखलं द्विजे कुण्डं क्षत्रियस्य द्विमेखलम् ।
मेखलैका तु वैश्यस्य............॥२०१॥ इति ।

कुण्डानां यश्चतुर्विंशो भागः सोऽङ्गुलसंज्ञकः ।
विभज्यानेन कर्त्तव्या मेखला कण्ठनाभयः ॥२०२॥

महाकपिलपञ्चरात्रे—

कुण्डे षड्भागिका त्वाद्या द्वितीयाष्टांशका स्मृता ।
तृतीया द्वादशांशा स्याद्............ ॥२०३॥ इति ।

योगिनीहृदयेऽपि—

मेखलाः शृणु भो देवि हस्तादिषु विशेषतः ।
षण्णागार्कांशसम्भागैर्मिताः स्युर्गोपिताः शुभाः ॥२०४॥ इति ।

पञ्चमेखलापक्षे तन्मानमुक्तं लक्षणसंग्रहे—

मेखलाः पंच वा कार्याः षट्पञ्चाब्धित्रिपक्षकैः । इति ।

सिद्धान्तशेखरे—

षड्बाणाब्धिवह्निनेत्रमिताः स्युः पञ्चमेखलाः ।

द्विमेखलापक्षे **तन्त्रान्तरे—**

षष्ठांशेनाष्टमांशेन मेखलाद्वितयं मतम् ।

एकमेखलापक्षे—

एका षडङ्गुलोत्सेधविस्तारा मेखला मता ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—

मेखलैकाऽथवा स्मृता सा चतुर्थांशविस्तारा ।

सोमशंभुरपि—अङ्गुलैः षड्भिरेका चेति ।

॥ **अथ कण्ठः** ॥ तत्र **वसिष्ठः—**

कण्ठोऽष्टयवमात्रः स्यात् कुण्डे तु करमात्रके ।

कालोत्तरे—

खाताद्वाह्येऽङ्गुलः कण्ठः सर्वकुण्डेष्वयं विधिः ।
चतुर्विंशतिसम्भागमङ्गुलं परिकल्पयेत् ॥२०५॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रे—

चतुर्विंशतिभागेन कण्ठो वै परिकीर्त्तितः ।

अन्यत्रापि—

खाताद्वाह्येङ्गुलः कण्ठस्तद्वाह्ये मेखलाः क्रमात् ॥२०३॥

कामिके त्वन्यथोक्तं 'क्षेत्रार्कांशेन तस्योष्ठ' इति ।

सोमशम्भौ विशेषः—

बहिरेकाङ्गुलः कण्ठो ह्यङ्गुलः क्वचिदागमे । इति ।

पक्षत्रयेऽप्येकाङ्गुलपक्षो बहुतन्त्रसम्मतः ।

॥ **अथ योनिः** ॥ तत्र—

वायवीयसंहितायाम्—

मेखलामध्यतः कुर्यात्पश्चिमे दक्षिणेऽपि च ।
योनिं सुशोभनां किञ्चिन्निम्नामुग्मूलिकां शनैः ॥२०७॥

अग्रेण कुण्डाभिमुखीं किञ्चिदुत्सृष्टमेखलाम् ।
कुम्भद्वयसमायुक्तामश्वत्थदलसन्निभाम् ॥२०८॥ इति ।

तथा **वसिष्ठसंहितायाम्**—

योनिश्च पश्चिमे भागे प्राङ्मुखी मध्यसंस्थिता ।
अष्टाङ्गुलैश्च विस्तीर्णा चायता द्वादशाङ्गुलैः ॥२०९॥
पृष्ठोन्नता गजोष्ठीव सच्छिद्रा मध्यमोन्नता ।इति ।

सच्छिद्रामध्ये 'मध्ये त्वाज्यधृतिस्तथे' ति **त्रैलोक्यसारवचनात्** **आज्य-** धृतिरिति योनिमध्ये गर्त्तः कर्त्तव्य इत्याहुः **साम्प्रदायिकाः** । तथा— **लक्षणसङ्ग्रहे**—

ईषत्कुण्डप्रविष्टाग्रा जिनांशकृतमेखला ।
मेखलार्थे पृथग् भूमिर्न ग्राह्या बाह्यतः प्रिये ॥२१०॥
योनिक्षेत्रे तु सा कार्या...............। इति ।

नारदः—

कुण्डत्र्यंशेन विस्तारा योनिरुच्छ्रायतोऽङ्गुला ।
कुण्डार्द्धेन तु दीर्घा स्यात्.................. ॥२११॥ इति ।

तथा त्रैलोक्यसारे—

दैर्घ्यात्सूर्याङ्गुला नालत्र्यंशोना विस्तरेण तु ।
एकांगुलोच्छ्रिता सा तु............ ॥२१२॥

नालत्र्यंशोना अष्टांङ्गुलविस्तारा नालस्य द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यादिति ।

स्वायम्भुवेऽपि—

मेखलामध्यतो योनिः कुण्डार्द्धा त्र्यंशविस्तृता इति ।

विस्तारो मूलदेशे पिप्पलपत्राकृतित्वात् । द्विहस्तादिकुण्डेष्वप्यनया रीत्या तत्तत्कुण्डार्द्धदीर्घात्तत्तृतीयांशविस्तारात्तच्चतुर्विशांशोच्चा योनिः कार्या यदुक्तम्- **सोमशम्भौ**—

कुण्डानां यश्चतुर्विशो भागः सोऽङ्गुलसंज्ञकः ।
विभज्य तेन कर्त्तव्या मेखलाकण्ठनाभयः ॥२१३॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरेऽपि—

चतुर्विशतिमो भागः कुण्डानामङ्गुलं स्मृतम् । इति ।

सिद्धान्तशेखरे—

दीर्घार्कपर्वभिर्योनिर्विस्तारेण षडङ्गुला ।
उन्नतिद्वर्यंगुलेन स्यात्....................॥२१४॥

इत्युक्तम् । अत्राष्टाङ्गुलषडङ्गुलद्वयङ्गुलयोश्च विकल्पः इति **शारदातिलकवचनात्**—योनिः सर्वत्र होतुरग्रे प्रोक्तविधिना स्थाप्येति । तत्र चतुःकुण्डपक्षे चतुरश्रे अर्द्धचन्द्रे कुण्डे च योनिर्दक्षिणभागस्थमेखलोपरि स्थाप्या तयोर्होत्रोरुत्तराभिमुखत्वात् । अन्यकुण्डेषु पश्चिममेखलोपरि योनिः स्थाप्या तयोर्होत्रोः पूर्वाभिमुखत्वात् ।

दक्षस्था पूर्वयाम्ये तु जलस्था पश्चिमोत्तरे ।
पञ्चमस्यापि कुण्डस्य योनिर्दक्षिणदिक्स्थिता ॥२१५॥

इति । **त्रैलोक्यसारवचनात्** पूर्वाग्नेययाम्येषूदङ्मुखी योनिः, अन्येषु प्राङ्मुखी, नवमस्य तु प्राग्वदेव, पञ्चमस्य आचार्यकुण्डस्येत्यर्थः । **अष्टकुण्डपक्षे तु**—

प्रागग्नियाम्यकुण्डानां प्रोक्ता योनिरुदङ्मुखी ।
शेषाणां प्राङ्मुखी प्रोक्ता............ ॥ २१६ ॥

इति **सारसङ्ग्रहवचनात्** एतेन योनिकुण्डेऽपि योनिः कर्त्तव्येति केचित्, तन्न ।

योनिकुण्डे योनिमब्जकुण्डे नाभिं च वर्ज्जयेत् ।

इति **विश्वकर्मवचनात्** आसां मेखलानां **नालमुक्तम्**—

तन्त्रराजे—

बहिःस्थमेखलामध्यादारब्धनिजनालकम्[1] ॥२१७॥

वितस्तमात्रकमिति । बहिस्थमेखलामध्यात् तन्मध्यगतचतुरश्रपीठादित्यर्थः । तथैव **तट्टीकाकृता मनोरमाकारेण** व्याख्यातत्वात् । **आचार्यचरणैस्तु**—

'योनिस्तत्पश्चिमादावथ दिशि चतुरस्रस्थलारब्धनाला'

इत्युक्तम् । तत्र **पद्मपादाचार्यैर्**मेखलात्रयाद्बहिश्चतुरश्रं पीठं चतुरङ्गुलोच्चायामविस्तारं कृत्वा तत्र नालं स्थाप्यमिति व्याख्यातम् ।

प्रयोगसारे—

योन्याः पश्चिमतो नालमायामे चतुरङ्गुलम् ।
त्रिद्व्येकाङ्गुलविस्तारं क्रमान्न्यूनाग्रमिष्यते ॥२१८॥

इति चतुरङ्गुलमानेन नालमुक्तम् । एतच्चतुरङ्गुलषडङ्गुलादि स्वल्पमेखलापक्षे ज्ञेयम् ।

॥ **नाभिमाह** ॥ **तन्त्रराजे**—

---

१. ख. ०वारभ्य निजनालकम् ।

नाभिं कुर्यात्तु सर्वत्र कुण्डमध्ये विधानतः ।
अष्टच्छदं सरोजं तु विदध्याच्चारुविग्रहम् ॥२१९॥

चतुर्भिरङ्गुलैः कुर्यात् कर्णिकां दलमेव च ।
विस्तारादपि चोत्सेधः षड्भिः षड्भिरुदीरितः ॥२२०॥ इति ।

शारदातिलके—

कुण्डानां कल्पयेदन्तर्नाभिमम्बुजसन्निभम् ।
तत्तत्कुण्डानुरूपं च मानमस्य निगद्यते ॥२२१॥

नेत्रवेदाङ्गुलोपेतः कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत् ।
नाभिक्षेत्रं त्रिधा भित्त्वा मध्ये कुर्वीत कर्णिकाम् ॥२२२॥

बहिरंशद्वयेनाष्टौ पत्राणि परिकल्पयेत् ।
इति नाभिलक्षणमुक्तम् । तत्र यथागुरूपदेशं कार्यमिति ।
आतपे क्षत्रिये नाभिः प्राण्यङ्गेऽपि द्वयोरिति ।
नाभिशब्दः पुंल्लिङ्गोऽप्यस्ति ।

॥ अथ कुण्डानां यथोक्तप्रकारेणाकरणे दोषः ॥

तत्र वसिष्ठः—

अनेकदोषदं कुण्डमत्र न्यूनाधिकं यदि ।
तस्मात्सम्यक् परीक्ष्येदं कर्त्तव्यं शुभमिच्छता ॥२२३॥ इति ।

तत्र दोषानाह विश्वकर्मा—

खाताधिके भवेद्रोगी हीने धेनुधनक्षयः।
वक्रकुण्डे तु संतापो मरणं छिन्नमेखले ॥२२४॥

मेखलारहिते शोकोऽभ्यधिके वित्तसंक्षयः ।
भार्याविनाशकं कुण्ड प्रोक्त योन्या विना कृतम् ॥२२५॥
अपत्यध्वंसनं प्रोक्तं कुण्ड यत्कण्ठवर्जितम् । इति ।

तथा क्रियासारे—

न्यूनाधिकप्रमाणं यत् कुण्डं जर्ज्जरमेखलम् ।
शृङ्गाररहितं यच्च यजमानविनाशकृत् ॥२२६॥ इति ।

तथा जयद्रथयामले—

सूत्राधिके सुहृद्द्वेषो मानहीने दरिद्रता ।
वाग्रोधः कण्ठहीने स्यादसिद्धिर्न्यूनखातके ॥२२७॥

अधिके चासुरे भोगो मानेनाधिकमेखले ।
व्याधयः सम्प्रवर्त्तन्ते वियोनौ स्यादपस्मृतिः ॥२२८॥

उच्चाटः स्फुटिते छिद्रसङ्कुले वाच्यता भवेत् । इति ।

इत्थं निन्दाश्रवणाद्यथोक्तलक्षणसम्पन्नानि सर्वाणि कुण्डानि कार्याणीति ।

॥ अथैतेषां कुण्डानां काम्यहोमेषु कुण्डभेदेन फलभेदः ॥

तत्र कुलप्रकाशतंत्रे —

चतुरश्रे स्तम्भनं स्यात्सर्वसिद्धिकरं च तत् ।
भोगाः पुत्रा योनिकुण्ड अर्द्धचन्द्रं शुभावहम् ॥२२९॥

मारणे केचिदिच्छन्ति त्रिकोणं द्वेषकारकम् ।
रिपुघातकरं[1] केचिद् वृत्तं शान्तिकरं जगुः ॥२३०॥

षट्कोणमुच्चाटमृतिच्छेदेषु च विशिष्यते ।
वृष्टिदं पुष्टिदं चापि पद्मकुण्डं विदुर्बुधाः ॥२३१॥

अष्टकोणं तु मुक्तौ स्यादरोगेऽपीति केचन ।
पञ्चकोणं चाभिचारशमने भूतकृन्तने ॥२३२॥
सप्ताश्रमेव विज्ञाय काम्यकर्माणि साधयेत् ।इति।

शारदातिलके—

सर्वसिद्धिकरं कुण्डं चतुरश्रमुदाहृतम् ।
पुत्रप्रदं योनिकुण्डमर्द्धेन्द्वाभं शुभप्रदम् २३३॥

शत्रुक्षयकरं त्र्यस्रं वर्त्तुलं शान्तिकर्मणि ।
छेदमारणयोः कुण्डं षडस्रं पद्मसन्निभम् ॥२३४॥

वृष्टिदं रोगशमनं कुण्डमष्टास्रमीरितम् ।

अयं च फलविशेषः पूर्वोक्ततत्तद्दिशि कुण्डकरण एव ज्ञेयः । तदुक्तं —

कामिके—

ऐन्द्र्यां स्तम्भे चतुष्कोणमग्नौ भागे[2] भगाकृति ।
चन्द्रार्द्धं मारणे याम्ये द्वेषे निर्ऋतित्रिकोणकम् ॥२३५॥
वारुण्यां शान्तिके वृत्तं षडश्र्युच्चाटनेऽनिले ।
उदीच्यां पौष्टिके पद्मं रौद्र्यामष्टाश्रि मुक्तिदम् ॥२३६॥ इति ।

---

१. ख. रिपुव्रातकरं । २. ख. भोगे ।

पिङ्गलामतेऽपि—

कुण्डं कुशेशयाकारमुत्तरे वश्यकर्मणि ।
षडश्र्युच्चाटने वायावर्द्धेन्दु मारणे यमे ॥२३७॥

वेदाश्रं स्तम्भने प्राच्यामाकर्षेऽग्नौ भगाकृति ।
वारुण्यां शान्तिके वृत्तमीशे त्वष्टाश्रि मुक्तिदम् ॥२३८॥ इति ।

सिद्धान्तशेखरे—

योन्याख्यमुच्यते कुण्डमाग्नेय्यामुत्तरामुखम् ।
प्रजावृद्धौ प्रतापे स्यादर्द्धचन्द्रमथोच्यते ॥२३९॥

याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं सदा ।
नैर्ऋते त्र्यस्त्रकुण्डं स्याद्विद्वेषे पूर्ववक्त्रकम् ॥२४०॥

वृत्तकुण्डमथो वक्ष्ये वारुण्यां शान्तिके हितम् ।
षडस्त्रमुच्यते कुण्डं वायावुच्चाटने पटु ॥२४१॥

पद्मकुण्डमथो वक्ष्ये सौम्ये तत्पुष्टिवर्द्धनम् ।
वक्ष्ये कुण्डमथाष्टास्त्रमीशाने सर्वकामदम् ॥२४२॥ इति ।

क्रियासारे—

कुण्डमत्रोक्तमार्गेण निर्माया‌ऽथ सलक्षणम् ।
क्षत्रियोऽपि समृद्धो वा शूद्रस्ताम्रेण बन्धयेत् ॥२४३॥

तदलाभे त्विष्टकाभिः सम्बद्ध्य सुदृढं यथा ।
पूर्वोदितप्रकारेण मृदया लेपयेत्तथा ॥२४४॥

ताम्रेण लक्षणोपेत कुर्यान्मृत्तिकयाऽपि वा ।
एतत् कुण्डं चरार्चायां गृह्णीयान्न स्थिरार्चने ॥२४५॥

एतत्कुण्डं ताम्रकुण्डम् ।

अम्लेन ताम्रकं कुण्डं मृण्मयं गोमयाम्भसा ।
सौधं च सुधया सम्यक् शोधयेदमरर्षभ ॥२४६॥

मृण्मयानां तु कुण्डानां परितः सन्धिभिः सह ।
रक्तमृच्छालिपिष्टाभ्यां भूषयेद् दृक्प्रियं यथा ॥२४७॥ इति ।

॥ अथ वर्णभेदेन कुण्डभेदः ॥

वर्णानामादितः कुण्डान्युक्तानि क्रमतः शिवे ।
चतुरश्रं वृत्तमर्द्धचन्द्रं त्र्यश्रमिति क्रमात् ॥२४८॥

सर्वेषां चतुरश्रं वा दीक्षायामुत्तमं शिवे ।

शारदातिलके—

विप्राणां चतुरस्रं स्याद्राज्ञां वर्त्तुलमिष्यते ।
वैश्यानामर्द्धचन्द्राभं शूद्राणां त्र्यश्रमीरितम् ॥२४९॥

चतुरस्रं तु सर्वेषां केचिदिच्छन्ति तान्त्रिकाः ।
कुण्डस्य रूपं जानीयात्परमं प्रकृतेर्वपुः ॥२५०॥

प्राच्यां शिरः समाख्यातं बाहू दक्षिणसौम्ययोः ।
उदरं कुण्डमित्युक्तं योनिः पादौ तु पश्चिमे ॥२५१॥

प्रथमतन्त्रे—

परं शरीरं प्रकृतेः कुण्डरूपं पुरः शिरः ।
याम्यसौम्ये करौ कुण्डमुदरं पश्चिमं तथा ॥२५२॥

योनिश्च चरणौ प्रोक्तौ सर्वतन्त्रेषु शाम्भवि ।

॥ अथ होमसंख्याभेदेन कुण्डमानभेदः ॥

शारदातिलके—

मुष्टिमात्रमितं कुण्डं शतार्द्धे सम्प्रचक्षते ।
शतहोमेऽरत्निमात्रं हस्तमात्रं सहस्रके ॥२५३॥

द्विहस्तमयुते लक्षे चतुर्हस्तमुदीरितम् ।
दशलक्षेषु षड्हस्तं कोटयामष्टकरं स्मृतम् ॥२५४॥

एकहस्तमितं कुण्डमेकलक्षे विधीयते ।
लक्षाणां दशकं यावत्तावद् हस्तेन वर्द्धयेत् ॥२५५॥
दशहस्तमितं कुण्डं कोटिहोमेऽपि शस्यते ।

लक्षसागरे—

पञ्चाशत्प्रमिते होमे कुण्डं रत्निमितं भवेत् ।
अरत्निमात्रं तु शते सहस्रमितहोमके ॥२५६॥

चतुर्विंशत्यङ्गुलाढ्यं द्विहस्तमयुते मतम् ।
चतुर्हस्तमितं लक्षे षट्करं दशलक्षके ॥२५७॥
कोटिहोमे चाष्टहस्तं कुण्डं कुर्यान्महेश्वरि ।

प्रकारान्तरं च तत्रैव—

एकं लक्षं समारभ्य यावत्स्याद्दशलक्षकम् ।
तथैकहस्तमारभ्य दशहस्तं विवर्द्धयेत् ॥२५८॥
कोट्यां दशकरं कुण्डं प्रशस्तं परमेश्वरि । इति ।

सिद्धान्तशेखरे—

लक्षार्द्धे त्रिकरं कुण्डं लक्षहोमे चतुःकरम् ।
कुण्डं पञ्चकरं प्रोक्तं दशलक्षाहुतौ क्रमात् ॥२५९॥
षड्हस्तं लक्षविंशत्यां कोटयर्द्धे सप्तहस्तकम् ।

अन्यत्रापि—

केचिद् हस्तं लक्षहोमे द्विहस्तं लक्षद्वन्द्वे वह्निहस्तं त्रिलक्षे ।
होमे कुण्डं वेदलक्षेऽब्धिहस्तं प्राहुर्दोष्णां पञ्चकं पञ्चलक्षे ॥२६०॥
रसहस्तं रसलक्षे सप्तकरं सप्तलक्षे स्यात् ।
वसुलक्षे वसुहस्तं नवहस्ते नवकरं कुण्डम् ॥२६१॥
दशलक्षे दशहस्तं दशकरमेवेहकोटिहोमेऽपि ।
दशहस्तान्नहि कुण्डं परमस्ति महीतलेऽमुष्मिन् ॥२६२॥ इति ।

अत्र अथैतेषां द्विहस्तादिकुण्डविशेषाणां मानाङ्गुलक्षेत्रफलानि च लक्षणसङ्ग्रहे—

फलाङ्गुलानि यावन्ति हस्तक्षेत्रे भवन्ति हि ।
द्विहस्तस्य तु कुण्डस्य ततो द्वैगुण्यमिष्यते ॥२६३॥
हस्तक्षेत्राङ्गुलान्यत्र षट्सप्तत्या सहैव च ।
शतानि पञ्च विद्यन्ते तन्मूलं मध्यसूत्रकम् ॥२६४॥
चतुर्विंशत्यङ्गुलानि विदध्याद् द्विकरे पुनः ।
अङ्गुलानि द्विपञ्चाशदेकादशशतानि च ॥२६५॥
तद्बीजं मध्यतो लिक्षाचतुष्कं चार्द्धसंयुतम् ।
चतस्रश्च तथा यूका यवाः सप्त तथैव च ॥२६६॥
अङ्गुलानि त्रयस्त्रिंशन्मानं सूत्रे तु मध्यमे ।
सप्तदशशतान्यष्टाविंशतिस्त्वङ्गुलानि च ॥२६७॥
क्षेत्रस्य तु त्रिहस्तस्य मानमेवमुदीरितम् ।
तन्मूलमङ्गुलान्येकचत्वारिंशच्चतुर्यवाः ॥२६८॥

यूकाचतुष्टयं किञ्चिन्मूलं लिक्षाचतुष्टयम् ।
चतुरङ्गुलयुक्तानि त्रयोविंशच्च तानि च ॥२६९॥

चतुर्हस्तस्य कुण्डस्य मानमेवमुदीरितम् ।
मूलं तस्या ङ्गुलान्यष्टचत्वारिंशन्मितं भवेत् ॥२७०॥

ब्रह्मसूत्रं ततः पञ्चहस्तक्षेत्राङ्गुलानि तु ।
द्विसहस्रं शतान्यष्टावशीतिर्बीजमुच्यते ॥२७१॥

षट्पञ्चाशदङ्गुलानि चतुस्त्रिंशच्छतानि च ।
तन्मूलमष्टपञ्चाशदङ्गुलानि च षड्यवाः ॥२७२॥

किञ्चिद्भागाधिकं यूकाद्वयं सप्त करस्य च ।
वेदसंख्यसहस्राणि द्वाविंशत्सहितानि च ॥२७३॥

मूलं चतुर्यवैः साकं त्रिषष्टिरङ्गुलानि च ।
ब्रह्मसूत्रं ततश्चाष्टहस्तक्षेत्राङ्गुलानि च ॥२७४॥

वेदसंख्यसहस्राणि साष्टानि षट्शतानि च ।
अङ्गुलानि तथा सप्तषष्टिः सप्तयवाः पुनः ॥२७५॥

किञ्चिदूनं मूलमस्य नवहस्ते तु दृश्यते ।
शतानि त्वेकपञ्चाशच्चतुर्भिरधिकानि च ॥२७६॥

अशीतिरङ्गुलान्यत्र क्षेत्रमानमिदं भवेत् ।
द्वासप्ततीरङ्गुलानि मूलमस्य प्रकीर्त्तितम् ॥१७७॥
फलाङ्गुलानि क्षेत्रस्य दशहस्तमितस्य च ।

सहस्राणीषुसंख्यानि मुनिसंख्यशतानि च ॥२७८॥
षष्टिश्च कथितान्यस्य तन्मूलं ब्रह्मसूत्रकम् ।

वर्द्धयेत्पञ्चसप्तत्याधिकैः सप्तयवैस्तथा ॥२७९॥
अल्पाधिकाभ्यां लिक्षाभ्यां साकमेवं प्रकल्पयेत् ।

अतियत्नं समास्थाय कुण्डान्यारचयेत्सुधीः ॥२८०॥
द्विहस्तादिमितानां च निर्माणं दुर्घटं शिवे । इति ।

अतियत्नमिति । त्रसरेण्वादिदशहस्तपर्यन्तान्मानभेदात्सम्यग्विज्ञाय कुण्ड-विस्तारायामसमाननिम्नखातं यथोक्तमानकण्ठमेखलादिकं च कुर्यादित्यर्थः । दुर्घटमतिप्रयत्नसाध्यत्वात् ।

त्रसरेण्वादिमानभेदास्तु लक्षणसङ्ग्रहे—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्म दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥२८१॥

त्रसरेणुस्तु विज्ञेयो ह्यष्टौ स्युः परमाणवः ।
त्रसरेणोरष्टगुणो रथरेणुस्तु स स्मृतः ॥२८२॥

रथरेणवस्ते ह्यष्टौ बालाग्रं तन्मतं बुधैः ।
बालाग्राण्यष्टलिक्षा तु यूका लिक्षाष्टकं स्मृतम् ॥२८३॥
अष्टौ यूका यवं प्राहुरङ्गुलं तु यवाष्टकम् ।

रत्निरङ्गुलपर्वणां विज्ञेयस्त्वेकविंशतिः ॥२८४॥
कर एव कलांशेन हीनोऽरत्निरुदाहृतम् ।

चत्वारि विंशतिश्चैव हस्तः स्यादङ्गुलानि तु ॥२८५॥ इति ।

एवं कुण्डकरणाशक्तौ होमार्थं स्थण्डिलमप्युक्तम् । शारदातिलके—

नित्यं नैमित्तिकं होमं स्थण्डिले वा समाचरेत् ।
हस्तमात्रेण तत्कुर्याद्वालुकाभिःसुशोभनम् ॥२८६॥
अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तं चतुरश्रं समन्ततः ।[1]

अन्यत्रापि—

कुण्डमेवंविधं न स्यात्[2] स्थण्डिलं वा समाश्रयेत् ॥२८७॥ इति ।

वसिष्ठसंहितायाम्—

इषुमात्रं स्थण्डिलं वा संक्षिप्ते होमककर्मणि । इति ।

क्रियासारे तु स्थण्डिले देशविशेषोऽप्युक्तः ।

होमोऽष्टदिक्षु प्राक्प्रवहः प्रागुदक्प्रवणोऽथवा ।
उदक्प्रहः प्रदेशो वा स्थण्डिलस्य स्थलं स्मृतम् ॥२८८॥

---

१. अतः परं ख. पुस्तके विशेषः—

स्थण्डिलं वापि कुर्वीत सुसिद्धैः सिकतैः सितैः ।
हस्तमात्रप्रविस्तारं सुसमं अङ्गुलोन्नतम् ॥

हस्तेत्युपलक्षणं होमबाहुल्येन महदपि । अर्थात् परिमाणमिति *कात्यायन*वचनात् ।

२. ख. तस्मात् ।

वायवीयसंहितायाम्—

स्थण्डिलं बालुकाभिश्च रक्तमृद्रजसापि वा ।
अथाग्निकार्यं वक्ष्यामि कुण्डे वा स्थण्डिलेऽपि वा ॥२८६॥
वेद्यां वाप्यायसे पात्रे मृण्मये च नवे शुभे ।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मजगोस्वामि-
श्रीशिवानन्दभट्टविरचिते सिंहसिद्धान्त-
सिंधावष्टमस्तरङ्गः ॥८॥

नवमस्तरङ्गः

॥ अथ स्रुक्स्रुवौ ॥

तत्र सारसङ्ग्रहे—

स्रुक्स्रुवौ शिंशुपाश्वत्थश्रीपर्णीखदिराम्रजौ ।
चन्दनद्वयदेवद्रुवैकङ्कतशमीभवौ ॥१॥

बिल्वोदुम्बरपालाशनागकेसरसम्भवौ ।
वकुलाशोकपुन्नागप्लक्षन्यग्रोधचम्पकैः ॥२॥

निर्मिताविति ।

शारदातिलके—

श्रीपर्णीशिंशुपाक्षीरशाखिष्वेकतमं बुधः ।
गृहीत्वा विभजेद् हस्तमात्रं षट्त्रिंशता पुनः ॥३॥

विंशत्यंशैर्भवेद् दण्डो वेदिस्तैरष्टभिर्भवेत् ।
एकांशेन मितः कण्ठः सप्तभागमितं मुखम् ॥४॥

वेदोत्र्यंशेन विस्तारः कण्ठस्य परिकीर्त्तितः ।
अग्रं कण्ठसमानं स्यान्मुखे मार्गं प्रकल्पयेत् ॥५॥

मेखलामुखवेद्योः स्यात्परितोऽर्द्धं समानतः ।
दण्डमूलाग्रयोः कुम्भौ गुणवेदाङ्गुलैः क्रमात् ॥६॥

गण्डीयुगं यमांशैः स्याद्दण्डस्यानाह ईरितः ।
षड्भिरंशैः पृष्ठभागो वेद्यां कूर्माकृतिर्भवेत् ॥७॥

हंसस्य वा हस्तिनो वा पोत्रिणो वा मुखं लिखेत् ।
मुखस्य पृष्ठभागे स्यात्सम्प्रोक्तं लक्षणं स्रुचः ॥८॥

स्रुचश्चतुर्विंशतिभिर्भागैरारचयेत् स्रुवम् ।
द्वाविंशत्या दण्डमानमंशैरेतस्य कीर्त्तितम् ॥९॥

चतुर्भिरंशैरानाहः कर्षाज्यग्राहि तच्छिरः ।
अंशद्वयेन निखनेत्पङ्के मृगपदाकृतिः ॥१०॥

दण्डमूलाग्रयोर्गण्डी भवेत्कङ्कणभूषिता । इति ।
गण्डीयुगं कङ्कणाकारं कङ्कणभूषिता ॥११॥

स्वयमुक्तत्वात्[1] । 'गण्डीकङ्कणवद्भवेदि'ति **वायवीयसंहितावचनाच्च** अन्यत्र तु गण्डी कुम्भः । तत्र तस्यैवावश्यकत्वात् । **वायवीयसंहितायाम्** 'स्रुक्-स्रुवौ तैजसौ वापी'ति । स्रुक्स्रुवाभावे कुम्भसम्भवः ।

पलाशपत्रे निच्छिद्रे रुचिरे स्रुवस्रुवौ मुने ।
निदध्याद्वाऽश्वत्थपत्रे सक्षिप्ते होमकर्मणि ॥१२॥ इति ।

[2]अथैतद्रचनाप्रकारः—

तत्र शिंशपाश्वत्थश्रीपर्णीखदिराम्रचन्दन'रक्तचन्दन'[3]देवदारुवैकङ्कतशमीपलाशोदुम्बरबिल्वपनसबकुलाशोकनागकेसरपुन्नागचम्पकवटवृक्षाणामन्यतमस्य-शुष्कमव्रणमशीर्णं घुणादिभिरदुष्टमुद्दिष्टमानादधिकस्थूलदीर्घं समचतुरस्रं काष्ठं गृहीत्वा, तत्र मुष्ट्यङ्गुलेन चतुर्विंशत्यंगुलमानं षट्त्रिंशदंशेन विभज्य, तेषु विंशत्यंशं दण्डार्थं विभज्यावशिष्टषोडशभागेष्वग्रदेशे भागाष्टकं मुखार्थं परिकल्प्यावशिष्टभागाष्टकेन समचतुरस्रां वेदीं कृत्वा, तन्मध्ये चिह्नं कृत्वा, तच्चिह्नमवलम्ब्यार्द्धांशमानेनाभितो वृत्तं निष्पाद्य, तद्बहिरप्येकांशमानेन वृत्तान्तरं निष्पाद्य, वृत्तयोरन्तराले भागत्रयनिम्नं मध्ये वृत्ताकारां कर्णिकां स्थापयन् गर्त्तं कृत्वा, तद्बहिरर्द्धांशमानेन वृत्तं निष्पाद्य, तद्बहिरप्येकांशमानेन वृत्तान्तरं कृत्वा, वृत्तद्वयान्तरालेऽष्टदलानि परिकल्प्य, तद्बहिरर्धांशमानेन सुषमाकारां चित्रितां वा शोभां विदध्यात् ।

ततोऽग्रेऽवशिष्टाष्टांशेन वेद्यास्तृतीयांशेन पार्श्वद्वयखण्डनेन मध्ये एकांशेन कण्ठं विधाय, कण्ठतः किञ्चिदुच्चमवशिष्टैः सप्तभिरंशैरग्रे कण्ठसमानविस्तारं

१. ख. नास्तिः । २. ख, तथैतद्र० । ३. ख. '—' चिह्नगतोंऽशो नास्ति ।

समतलमधस्तादधोऽधः क्षीयमाणविस्तारं मुखं कृत्वा, मुखेऽपि वेदिवन्मेखलां परिकल्प्य, कण्ठादधोमुखस्थमेखलामभिन्दन् प्रणालिकाकारमेकांशमाननिम्न-कनिष्ठप्रदेशयोग्यं खातं कृत्वा, कर्णिकामध्यस्थखातमध्यान् मुखमध्यस्थप्रणाला-कारखातमध्ये यथा घृतं निस्सरति तथा तप्तलोहशलाकया कण्ठवेदीपरिधिभेदि सुषिरं विधाय, तथैवाग्रेऽपि मुखपरिधिभेदिघृतनिर्गमनाय कनिष्ठप्रवेशयोग्यं रन्ध्रं कुर्यात् ।

ततो वेद्याः पृष्ठभागे कूर्माकारं मध्ये किञ्चित्समतलं भूमौ यथा निश्चलं तिष्ठति तथा कृत्वा, मुखस्य पृष्ठभागे मध्ये किञ्चिन्निम्नं कृत्वा, मुखरन्ध्राधस्ता-दुच्चभागं हंसमुखाकारं, गजमुखाकारं, वराहमुखाकारं वा सुरम्यं कारयित्वा, दण्डस्याग्रे वेद्यधः एकांशेन कङ्कणाकारं त्रयं, चतुष्टयं वा कृत्वा, तदधोंऽशचतुष्टयेन मुखकण्ठमध्यमूलादिसुशोभितमूर्ध्वमुखं कुम्भं निर्माय, तदधः पुनरेकांशेन प्राग्व-त्कङ्कणानि कृत्वा, तदधो नवांशमानं सुवर्त्तुलं षडंशमानदैर्घ्यसूत्रेण वेष्टनयोग्यस्थूलं दण्डमध्यं कृत्वा, तदधः पुनरेकांशेन कङ्कणानि तदधोंऽशत्रयेण प्राग्वदूर्ध्वमुखं कुम्भं, तदधः पुनरेकांशेन कङ्कणानि च कुर्यात् ।

इति स्रुचं निर्माय स्रुचः षट्त्रिंशद्भागेषु चतुर्विंशतिभागदैर्घ्यमग्रदेशेऽशद्व-यमानेन वर्त्तुलाकारस्थूलशिरोभागयुतं सुवर्त्तुलं स्रुवं निर्माय, तस्य मुखप्रदेशे पङ्कमध्यगतमृगपदाकारं कर्षमात्रघृतग्राहिखातं कृत्वा, तदधस्त्वेकांशमानेन प्राग्व-त्कङ्कणानि तदधोंऽशचतुष्टयेन कुम्भं तत एकांशेन पुनः कङ्कणानि तत एकादशां-शमात्रं चतुरंशमानदैर्घ्यसूत्रवेष्टनयोग्यस्थूलं त्यक्त्वा, पुनरेकांशेन कङ्कणानि ततोंऽ-शत्रयेण कुम्भं पुनरेकांशेन कङ्कणानि च कुर्यादिति **स्रुवनिर्म्माणप्रकारः** ।

एवं स्वर्णरौप्यताम्रमयौ वा स्रुक्स्रुवौ कार्यौ । स्रुक्स्रुवाभावे पलाशस्य मध्यपत्रद्वयं पिप्पलदलद्वयं वा होमे ग्राह्यम् । संस्कारोऽपि स्रुक्स्रुवयोरिव पत्रयोरपि कार्यः[1] ।

॥ अथ वास्तुपूजा ॥

तत्र श्रीतन्त्रराजे—

चतुरस्राकृतिः कश्चिदसुरः सर्वनाशकः ।
पुरा तस्य वधायैव सर्वे देवाः समुद्यमम् ।।१३।।

---

१. ख० पुस्तकेऽतोऽग्रेऽयमंशो विशेषः—
विधानमालायाम्—अग्रे धृतो विनाशाय धृतो मध्ये प्रजाक्षयः ।
मूले धृतस्तु होतुश्च मृतिं दद्याच्छ्रुवो ध्रुवम् ।।
अग्रान्मध्याच्च मध्ये तु मूलान्मध्याच्च मध्यतः ।
स्रुवः प्रधार्यो विद्वद्भिः सर्वकामार्थसिद्धये ।।

कृत्वा निहन्तुमुद्युक्तास्तैरवध्योऽभवद्वरात् ।
आवयोस्तन्निरासाय मामेत्याऽकथयंस्तदा ॥१४॥

कथयास्माकमधुना तद्वा स्तुपुरुषस्य तु ।
दर्पशान्ति न चेदस्य विश्वमासीदुपद्रुतम् ॥१५॥

इत्युक्ते तैर्मया प्रोक्तं निधनं तस्य दुःशकम् ।
खात्वा तमवनौ तस्य शरीरे स्थापयेत्तथा ॥१६॥

नित्यशश्च त्रिपञ्चाशन्निस्पन्दाक्रमणाय वै ।
नियोज्य तेषां ये पूजाविमुखास्तैः कृतानि तु ॥१७॥

सुकृतानि समादद्युर्दुष्कृतानि च कुर्वते ।
तस्मात्तेषामर्चनं तु प्रत्यब्दं कुर्वतां सदा ॥१८॥
शुभान्येवाशु जायन्ते नैवाऽशुभकथापि च । इति ।

पदार्थादर्शे—

कश्यपस्य गृहिणी च सिंहिका,
राहुवास्तुतनयावजीजनत् ।
पूर्वजो हरिनिकृत्तकन्धरो
दैवतैरवरजो निपातिते ॥१९॥ इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रे—

पूर्वमासीन्महानुग्रः सर्वभूतभयङ्करः ।
स देवैर्निहितो भूमौ स वास्तुपुरुषः स्मृतः ॥२०॥

यावद्भूमिः स्थिरा लोके तावद्वास्त्वसुरः[1] स्थितः ।
संहारे तु लयं याति देवैः सर्वग्रहादिभिः ॥२१॥

विस्तारोऽस्य समन्ताच्च शतकोटिसुयोजनः ।
संस्थितोऽसौ धरां व्याप्य प्रोत्तानः कृष्णवर्णकः ॥२२॥

जानुकूर्परकौ वास्तोर्वह्निवायुप्रकोष्ठगौ ।
पितृपादपुटश्चायमीशमूर्द्धा हृदञ्जलिः ॥२३॥

ऊर्ध्वकेशः सुपीनश्च वर्त्तुलाक्षोऽसुराकृतिः । इति ।

अन्यत्राधोमुखतोक्ता—

१. क. ०वास्तुसुरः ।

वास्त्वीशनामा ह्यसुरोऽतिकायो
देवैः पुरा दत्तवरोऽभिपूज्यः ।
शेते स भूम्यां प्रविसार्य पादौ,
हस्तौ तथाऽधोवदनः सदैव ॥२४॥

ईशानेस्य शिरोनिवेशितमभूद्वास्तोष्पतेर्मारुते,
वह्नौ चापि करद्वयं पदयुग नक्तञ्चराशास्थितम् ।
इति **सोमशम्भुः** ।
आकुञ्चितकर वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम् ।
स्मरेत्पूजासु कुड्यादिनिवेशे त्वधराननम् ॥२५॥
जानुनी कूर्परासक्ते दिशि वातहुताशयोः ।
पैत्र्यां पादयुग रौद्रयां शिरोऽस्य हृदयेऽञ्जलिः ॥२६॥
मयेनोक्तम् ।
गृहाधिकरणे यत्र नार्चितो वास्तुदैवतः ।
तत्र शून्यं भवेत्सर्वं रक्षोविघ्नादिभिर्हतम् ॥२७॥
तस्माद्वास्त्वर्चनं कार्यं सम्यक्सम्पदमीप्सुभिः ।
शुभकर्मणि दीक्षायां मण्डपकरणे गृहादिविधिषु तथा ।
विहितो वास्तुबलिः स्याद्रक्षोविघ्नोपशांतिसंपद्भ्यः ॥२८॥

महाकपिलपञ्चरात्रे—

भूमेः परिग्रहे पूर्वं शिलानां स्थापने तथा ।
जलाधारग्रहार्थं च यजेद्वास्तुं विशेषतः ॥२९॥
अपरेष्वपि कार्येषु यागहोमादिकेषु च ।
वास्तुमण्डलकं कुर्यात्सूत्रयित्वा समं गुरुः ॥३०॥
सुसमं सुखदं वास्तु विषमं न सुखावहम् ।
ब्रह्माद्यादितिपर्यन्तं पञ्चाशत्त्रयसंयुताः ॥३१॥
सर्वेषां किल वास्तूनां नायकाः परिकीर्त्तिताः ।

शारदातिलके—

राक्षसं वास्तुनामानं हत्वाऽधिष्ठाय तत्तनुम् ।
स्थितास्त्रिपञ्चाशद्देवास्तेभ्यः पूर्वं बलिं हरेत् ॥३२॥
बलिमण्डलमेतेषां यथावदभिधीयते ।
पूर्वापरायतं सूत्रं विन्यसेद् हस्तमानतः ॥३३॥

महाकपिलपञ्चरात्रे विशेषः—

गृहप्रासादकूपानां मण्डपस्य जलस्य च ।
वास्तुमण्डलकं कार्यमष्टहस्तं तु नापरम् ॥३४॥

॥ अथ तत्त्वचक्ररचनाप्रकारः ॥

सारसंग्रहे—

तत्त्वचक्रादिविधानं च यथावदभिधीयते ।
कृत्वा समतलां भूमिं चतुरस्राकृतिं शुभाम् ॥३५॥

अष्टाष्टकोद्यतपदां कोणसूत्रसमन्विताम् ।
चतुष्पदयुते तस्या मध्यकोष्ठे च देशिकः ॥३६॥

ब्रह्माणमर्चयेत्तत्र चतुष्पदयुते पुनः ।
प्रादक्षिण्येन पूर्वादि यजेत्कोष्ठचतुष्टये ॥३७॥

आर्य्यकं च विवस्वन्तं मित्रमन्यं महीधरम् ।
कोणार्द्धकोष्ठयोरेकमेकं मन्त्री समर्चयेत् ॥३८॥

वह्न्यादीशान्तमभितो वक्ष्यमाणेष्वनुक्रमात् ।
सावित्रः सविता शक्र इन्द्रजिद्रुद्रतज्जयौ ॥३९॥

आपापवत्सकौ चेति प्रोक्तास्तेऽष्टौ तु नामतः ।
कोणार्द्धकोणपार्श्वे तु वह्न्यादीशान्तमर्चयेत् ॥४०॥

शर्वं गुहं चार्यमणं जम्भकं पिलपिच्छकम् ।
चरकीं च विदारीं च पूतनां चैव देशिकः ॥४१॥

ततः पूर्वादिपरितो यजेदष्टौ दिशं प्रति ।
ईशानश्चाथ पर्जन्यो जयन्तः शक्रभास्करौ ॥४२॥

सत्यो वृषोऽन्तरिक्षश्च पूर्वाशाकोष्ठगाः क्रमात् ।
अग्निः पूषा च वितथो यमोऽथ गृहरक्षकः ॥४३॥

गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगो दक्षिणदिग्गताः ।
निर्ऋतिश्च तथा दौवारिकः सुग्रीवकस्तथा ॥४४॥

वरुणः पुष्पदन्तश्च सुरः शोषाख्यरोगकौ ।
पश्चिमाशास्थकोष्ठेषु पूज्या एते यथाक्रमम् ॥४५॥

वायुर्नागस्तथा मुख्यः सोमो भल्लाटकस्तथा ।
अर्गलो दितिरप्येवमदितिश्च यथाक्रमम् ॥४६॥

कोष्ठेषूत्तरसंस्थेषु देवा एते समीरिताः ।
चित्रै रजोभिरापूर्य देवतानां पदानि वै ॥४७॥

व्रीहिमुद्गयवैः क्षौद्रघृतदुग्धप्लुतैः क्रमात् ।
अष्टोत्तरशतं चाष्टोत्तरविंशतिमेव वा ॥४८॥

प्रत्येकं तैर्हुनेद् द्रव्यैर्मन्त्रैस्तद्वच्च पायसैः ।
बलिं च तेषां कुर्वीत पायसैर्व्यञ्जनान्वितैः ॥४९॥
ससितैर्दुग्धकदलीफलापूपादिसंयुतम् । इति

॥ अथैतच्चक्ररचनाप्रकारः पूजाविधिश्च ॥

तत्र मण्डपस्य नैर्ऋतकोणे हस्तमात्रविस्तारायामां वितस्त्युन्नतां समचतुरश्रां वेदिकायताश्च नव नव रेखाः कृत्वा, समान्तरालानि चतुःषष्टिकोष्ठानि निष्पाद्य, तत्र वायव्यकोणादाग्नेयकोणगतं नैर्ऋत्यकोणादीशानकोणगतं चेति कर्णसूत्रद्वयमास्फाल्य, वास्तुचक्रं निर्माय, तन्मध्यकोष्ठचतुष्टयमेकीकृत्य, तद्बहिः, प्रागादिचतुर्दिक्षु प्रतिदिशं चत्वारि कोष्ठानि मध्यकोष्ठसंलग्नान्येकीकृत्य, त्रिपञ्चाशद्देवतापूजास्थानानि परिकल्प्य, तानि स्थानानि वक्ष्यमाणपञ्चवर्णरजोभिर्मनोहरं यथा भवति तथा सम्यगापूर्य, पुष्पांजलिमादाय "ब्रह्मादित्रिपञ्चाशद्देवता इहागच्छतागच्छतेति पुष्पाञ्जलिप्रक्षेपेणावाह्य, "ब्रह्मादित्रिपञ्चाशद्देवताः यथास्थानं तिष्ठत तिष्ठते' ति संस्थाप्य, "ब्रह्मादिभ्य इदमासनमि" ति पुरः पुष्पाञ्जलिं दत्वा, सर्वमध्ये—"ॐ ब्रह्मणे नमः; पूर्वादिचतुर्दिक्षु—ॐ आर्यकाय नमः, ॐ विवस्वते नमः, ॐ मित्राय नमः, ॐ महीधराय नमः" इति प्रादक्षिण्येन सम्पूज्याग्नेयादिकोणचतुष्कगतार्द्धकोष्ठाष्टकेषु प्रादक्षिण्येनाग्नेयादीशानकोणपर्यन्तं 'ॐ सावित्राय नमः, एवं सवित्रे, शक्राय, शक्रजिते, रुद्राय, रुद्रजिते, अद्भ्यो, अपवत्सकाय नमः" इति सम्पूज्य, तद्बहिस्थवीथ्यामाग्नेयादिकोणचतुष्कगतसूत्र[1]--भिन्नकोष्ठचतुष्टयपार्श्वगतकोष्ठाष्टके आग्नेयादीशानपर्यन्तं— ॐ शर्वाय, एवं गुहाय, अर्यम्णे, जम्भकाय, पिलिपिच्छकाय, चरक्यै, विदार्यै, पूतनायै नमः" इति सम्पूज्य, ततस्तद्बहिर्गतवीथीचतुष्टये प्राचीदिग्गतवीथ्यामीशानाद्याग्नेयपर्यन्तम् "ॐ ईशानाय नमः, एवं पर्जन्याय, जयन्ताय, शक्राय, भास्कराय; सत्याय, वृषाय, अन्तरिक्षाय नमः" इत्यष्टौ देवताः सम्पूज्य, दक्षिणवीथ्यामाग्ने-

१. ०चतुष्कगतकर्णसूत्र ।

यादिनैर्ऋत्यन्तम्— "ॐ अग्नये नमः, एवं पूष्णे, वितथाय, यमाय, गृहरक्षकाय, गन्धर्वाय, भृङ्गराजाय, मृगाय नमः" इति सम्पूज्य, ततः पश्चिमवीथ्यां नैऋत्यादि वायव्यान्तं— "ॐ निर्ऋतये नमः, दौवारिकाय, सुग्रीवाय, वरुणाय, पुष्पदन्ताय, असुराय, शोषाय, रोगाय नमः" इति सम्पूज्योत्तरवीथ्यां वायव्यादीशानान्तं "ॐ वायवे नमः, ॐ नागाय, मुख्याय, सोमाय नमः, भल्लाटकाय, अर्गलाय, दित्यै, अदित्यै नमः" इति गन्धपुष्पाद्यैस्त्रिपञ्चाशद्देवताः सम्पूज्य, कुण्डस्थण्डिलादौ वक्ष्यमाणविधिनाऽग्निस्थापनं कृत्वा—"ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, ॐ आर्यकाय स्वाहा" इत्यादि पूजितदेवतानां स्वाहान्तैर्नाममन्त्रैः प्रत्येकं व्रीहियवमुद्गघृतमधुदुग्धपरिप्लुतैः सघृतैः पायसैश्चैकैकद्रव्येणाष्टोत्तरशतसंख्यमष्टाविंशतिसंख्यं चैकैकदेवतानाम्ना हुत्वा "ॐ ब्रह्मणे एष बलिर्नमः" इत्यादिपूजितदेवताभ्यस्तत्तन्नाम्ना तिलदुग्धकदलीफलापूपनानाव्यञ्जनान्वितैः पायसैस्तत्तत्पदे तस्यै तस्यै बलिं निवेदयेदिति **वास्तुपूजाविधिः** ।

अथ वास्तुदेवतानां ध्यानं तन्त्रान्तरोक्तं लिख्यते—

उक्तानां सर्वदेवानां स्वरूपं च निगद्यते ।
अक्षमालां स्रुवं दक्षे वामे दण्ड कमण्डलुम् ॥५०॥
दधानमष्टनयनं यजेन्मध्येऽम्बुजासनम् ।
सर्वे चतुर्भुजा देवा वास्तुदेहे व्यवस्थिताः ॥५१॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्वे खड्गखेटकपाणयः ।
ब्रह्माणं सन्निरीक्षन्ते तद्वक्त्राभिमुखाश्च ते ॥५२॥
स्वस्वस्थानस्थिताश्चैव साधारणमुदाहृतम् ।

अत्र प्रतिदैवतं **बलिद्रव्यभेदा मन्त्राश्चोक्ता—महाकपिलपञ्चरात्रे—**

पायसोदनलाजैश्च युक्तं धूपैः प्रसूनकैः ।
अक्षततिलसंयुक्तं माषभक्तादिमण्डितम् ॥५३॥
गृहाणेमं बलिं ब्रह्मन् वास्तुदोषं प्रणाशय ।
गन्धादिशर्करापूपं पायसोपरि संस्थितम् ॥५४॥
आर्यकाख्य गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ।
चन्दनाद्यर्चितं नाथ कर्पूरागुरुमण्डितम् ॥५५॥
विवस्वन्वै गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ।
सगुडं पायसं नाथ पुष्पादिसुसमन्वितम् ॥५६॥
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मित्र शान्तिं प्रयच्छ मे ।
माषोदनं समांसं च गन्धादिक्षीरसंयुतम् ॥५७॥

गृहाणेमं महीभूत्त्वं सर्वदोषं प्रणाशय ।
क्षीरखण्डसमायुक्तं पुष्पादि च सुशोभितम् ॥५८॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यमापः शान्ति प्रयच्छ मे ।
दधीदं गुडसम्मिश्रं गन्धादि च सुमण्डितम् ॥५९॥

गृहाणेमं बलिं वत्स विघ्नमत्र प्रणाशय ।
पुष्पादि कुशपानीयं कर्पूरागुरुवासितम् ॥६०॥

सावित्र वै गृहाणेमं शान्तिमत्र प्रयच्छ मे ।
पिष्टकं सगुडं नाथ रक्तगन्धादिशोभितम् ॥६१॥

गृहाणेमं बलिं सूर्य विघ्नमत्र प्रणाशय ।
शीतमन्नं तथा पुष्पं कुङ्कुमादिसमन्वितम् ॥६२॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं शक्रदेव नमोऽस्तु ते ।
ओदनं घृतसंयुक्तं वस्त्रगन्धादिमण्डितम् ॥६३॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यमिन्द्रजय नमोऽस्तु ते ।
पक्वापक्वमिदं मांसं वस्त्रपुष्पादिसंयुतम् ॥६४॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं रुद्रदेव नमाम्यहम् ।
हृन्मांसं सघृतं पक्वं गन्धपुष्पादिसंयुतम् ॥६५॥

गृहाणेमं बलिं रुद्रजय स्वस्ति प्रयच्छ मे ।
रक्तपुष्पं समांसं वै रक्तवस्त्रादिसंयुतम् । ६६॥

विदारि वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ।
पित्तं रक्तास्थिसंयुक्तं रक्तगन्धादिमण्डितम् ॥६७॥

गृहाणेमं बलिं पापो रक्षोविघ्नं प्रणाशय ।
सघृतं मांसभक्तं च वस्त्रगन्धाद्यलङ्कृतम् ॥६८॥

बलिं गृहाण शर्वेमं रक्षोविघ्न प्रणाशय ।
मांसपुष्पादिसंयुक्तं माषभक्तोपरि स्थितम् ॥६९॥

गृहाणेमं बलिं स्कन्द रक्षोविघ्नं प्रणाशय ।
श्वमांसं पिष्टकैर्युक्तं पक्वमांसोदकान्वितम् ॥७०॥

अर्यमन्वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ।
रक्तमांसोदनं मत्स्यं गन्धपुष्पसमन्वितम्[1] ॥७१॥

जृम्भक त्वं गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ।
छागकर्णान्वितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम् ॥७२॥

पिलिपिच्छ गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ।
घृतेन साधितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम् ॥७३॥

चरकि वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय ।
सघृतं चाक्षतान्नं च वस्त्रगन्धाद्यलङ्कृतम् ॥७४॥

गृहाणेमं बलिं त्वीश वास्तुदोषापहारकम् ।
उत्पलं पायसैर्युक्तं वस्त्रादिकसमन्वितम् ॥७५॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं मेघराज नमोऽस्तु ते ।
पञ्चहस्तं सुपीतं च ध्वजं भक्तादिमण्डितम् ॥७६॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं जिष्णुसुत नमोऽस्तु ते ।
ओदनं घृतसम्पूर्णं पञ्चरत्नादिमण्डितम् ॥७७॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं देवराज नमोऽस्तु ते ।
रक्तपुष्पयुतं भक्तं रक्तगन्धादिभिर्युतम् ॥७८॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं भास्कर त्वं नमोऽस्तु ते ।
वितानं धूम्रवर्णाभं गन्धादिकसुशोभितम् ॥७९॥

रक्तयुक्तं गृहाणेमं बलिं सत्य नमोऽस्तु ते ।
इदं तु मांसभक्तं वै रक्तवस्त्रादिपूजितम् ॥८०॥

गृहाणेमं वृष बलिं वास्तुदोषं प्रणाशय ।
इदं तु शाबलं मांसं नैवेद्यादिषु संयुतम् ॥८१॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं व्योम शान्तिं प्रयच्छ मे ।
सुवर्णपिष्टकं नाथ गन्धवस्त्रादिभिर्युतम् ॥८२॥

घृतान्वितं गृहाणेमं सप्तजिह्व नमोऽस्तु ते ।
क्षीरं लाजासमायुक्तं रक्तपुष्पादिमण्डितम् ॥८३॥

---

१. ख. गन्धधूप० ।

गृहाणेमं बलिं हृद्यं पूषदेव नमोऽस्तु ते ।
दधिगन्धादिभिर्युक्तं पीतपुष्पसमन्वितम् ॥८४॥
बलिं वितथ गृह्णेमं विघ्नमत्र प्रशामय ।
भक्तं मधुप्लुत चैणरक्तवस्त्रादिमण्डितम् ॥८५॥
गृहाणेमं बलिं हृद्यं यमदेव नमोऽस्तु ते ।
पक्वमांसोदनं चैव नीलवस्त्रादिमण्डितम् ॥८६॥
प्रीतिकरं गृहाणेमं गृहरक्ष नमोऽस्तु ते ।
नानागन्धसमायुक्तं रक्तपुष्पादिभिर्युतम् ॥८७॥
बलिं गृहाण गन्धर्व सर्वदोषं प्रशामय ।
इमां तु शाकुनीं जिह्वां माषभक्तोपरिस्थिताम् ॥८८॥
गृहाणेमं बलिं भृङ्गराज शान्तिं प्रयच्छ मे ।
एवं घृततिलोपेतं गन्धपुष्पादिसंयुतम् ॥८९॥
गृहाणेमं बलिं हृद्यं मृगदेव नमोऽस्तु ते ।
शर्करासंयुतं खण्डं वस्त्रगन्धादिमण्डितम् ॥९०॥
प्रीतो बलिं गृहाणेमं रक्षोराज नमोऽस्तु ते ।
चन्दनागुरुकाष्ठं च गन्धपुष्पादिभिर्युतम् ॥९१॥
गृहाणेमं बलिं हृद्यं दौवारिक नमोऽस्तु ते ।
इदं तु पायसं नाथ गन्धपुष्पादिमण्डितम् ॥९२॥
सुग्रीव वै गृहाणेमं बलिं शान्तिं प्रयच्छ मे ।
यवाग्राणि च गोदुग्धं भक्तोपरिसुरोपितम् ॥९३॥
गृहाणेमं बलिं हृद्यं जलराज नमोऽस्तु ते ।
माषयुक्तं कुशस्तम्बघृतगन्धादिसंयुतम् ॥९४॥
पुष्पदन्त गृहाणेमं सर्वदोषं प्रशामय ।
मधुना साधितं पिष्टं गन्धाद्यैरुपशोभितम् ॥९५॥
बलिं गृहाणासुरेम सर्वदोषं प्रशामय ।
घृतं चान्नसमायुक्तं कर्पूरादिसमन्वितम् ॥९६॥
गृहाणेम बलिं शेष सर्वशान्तिं प्रयच्छ मे ।
यवजं तण्डुलं नाथ गन्धपुष्पादिशोभितम् ॥९७॥

गृहाणेमं बलिं रोग सर्वरोगं प्रशामय ।
सघृतं मण्डकं चेदमन्नाद्यैरुपशोभितम् ॥९८॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं मृगवाह नमोऽस्तु ते ।
इदं तु कृसरं चान्नं गन्धपुष्पादिमण्डितम् ॥९९॥

पातालेश गृहाणेमं विघ्नमत्र प्रशाम्यतु ।
नालिकेरोदकं भक्तं पीतवस्त्रादिसंयुतम् ॥१००॥

गृहाणेमं बलिं मुख्य वास्तुदोषं प्रणाशय ।
पायसं मधुना मिश्रं नानापूजोपशोभितम् ॥१०१॥

गृहाणेमं बलिं सोम सर्वदोषं प्रणाशय ।
ओदनं घृतसम्मिश्रं गन्धपुष्पसमन्वितम् ॥१०२॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं भल्लाटक[1] नमोऽस्तुते ।
माषान्नं तु घृताभ्यक्तं पुष्पगन्धादिमण्डितम् ॥१०३॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यमर्गलाख्य नमोऽस्तु ते ।
क्षीरखण्डसमायुक्तं नानापूजोपशोभितम् ॥१०४॥

दैत्यमातर्गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय ।
पोलिकां मधुसम्मिश्रां वस्त्रगन्धादिसंयुताम् ॥१०५॥

गृहाणेमं बलिं हृद्यं देवमातर्नमोऽस्तु ते ।
स्वर्गपातालमर्त्ये च ये देवा वास्तुसम्भवाः ॥१०६॥

गृह्णन्त्वमुं बलिं हृद्यं तुष्टा यान्तु स्वमन्दिरम् ।
मातरो भूतवेताला ये चान्ये बलिकाङ्क्षिणः ॥१०७॥

विष्णोः पारिषदा ये च तेऽपि गृह्णन्त्विमं बलिम् ।
पितृभ्यः क्षेत्रपालेभ्यो बलिं दत्वा प्रकामतः ॥१०८॥
अभावादुक्तमार्गस्य कुशपुष्पादिभिर्यजेत् ।

प्रयोगसारे—

वास्तुशेषक्रियाभूतः सर्वरक्षाविभूतिकृत् ।
भूतप्रीतिप्रदश्चास्मिन् दिशां बलिरुदीर्यते ॥१०९॥

---

१. ख. भल्लाट त्वं ।

दिक्पालपरिषत्सर्वभूतानुद्दिश्य नामभिः ।
पूजा विसर्जनान्ता या स विज्ञेयो दिशां बलिः ॥११०॥

दध्यम्बुरजनीपुष्पलाजसक्तुतिलान्धसा ।
द्रव्येण वितरेद्दिक्षु बलिं दिक्क्रमयोगतः ॥१११॥

सुराणा तेजसां चैव प्रेतानां रक्षसामपि ।
तथा जलानां प्राणानां नक्षत्राणां च यत्पुनः ॥११२॥

विद्यानामधिपानां च तान् यथोक्त्वा बलिं हरेत् ।
सवाहनपदं प्रोक्त्वा परिवाराय शक्तये ॥११३॥

तत्पार्षदेभ्यश्च ततः सर्वेभ्य इति संयुतम् ।
भूतेभ्यश्च क्रमाद् भूयः प्रादक्षिण्यात्क्षिपेद्बलिम् ॥११४॥

द्विषत्पिशाचवेतालरक्षोरक्षाभयार्तिहा ।
दिशां बलिर्विशेषेण सर्वसम्पत्समृद्धिदः ॥११५॥

वास्तौ ग्रहे प्ररोहे भूतद्रोहे गृहप्रवेशे च वितते च शांतिहोमे दिशां बलिः सिद्धये प्रयोक्तव्य इति ।

वास्तूपशमनं कुर्यात्समिद्भिर्बलिकर्मणा ।
होमस्त्रिमेखले कार्यः कुण्डे हस्तप्रमाणके ॥११६॥

यवैः कृष्णतिलैस्तद्वत्समिद्भिः क्षीरवृक्षजैः ।
पालाशैः खादिरैर्वापामार्गोदुम्बरसम्भवैः ॥११७॥

कुशदूर्वामयैर्वापि मधुसर्पिःसमन्वितैः ।
होमान्ते भक्ष्यभोज्यैस्तु वास्तुदेशे बलिं हरेत् ॥११८॥

अथ वास्तुपूजाफलं तदकरणे फलवैपरीत्यं च श्रीतन्त्रराजे—

एवं सिंहगते भानौ पूर्णायां प्रतिवत्सरम् ।
स्वगेहे वास्तुपूजां यो मण्डले तु समाचरेत्[1] ॥११९॥

न बालमरणव्याधिभूतप्रेताधिकानि च ।
न सर्वपीडा नान्योन्यकलहाद्यशुभानि च ॥१२०॥

---

१. ख. समर्चयेत् ।

पुत्रपौत्रधनारोग्यपशुदासीसमृद्धिभाक् ।
अरोगी विजयी ख्यातश्चिरं जीवति तद्गृहे ॥१२१॥

राजवेश्मसु सर्वत्र तथा च महिषीगृहे ।
सचिवामात्यसेनानीभवनेषु पुरे तथा ॥१२२॥

विदध्यात्प्रतिवर्षं तु प्रोक्तसिद्धयै तु देशिकः ।
न चेदुक्तान्यथारूपफलैः क्लेशोऽनिशं भवेत् ॥१२३॥

अथाङ्कुरार्पणविधिः । तत्र **सारसंग्रहे**—

सप्तभिर्नवभिर्वापि दिनैर्दीक्षादिनात्पुरा ।
बीजारोपणकर्मेदं कर्त्तव्यं सर्वकामदम् ॥१२४॥

सिद्धान्तशेखरे—

प्रतिष्ठायां च दीक्षायां स्थापने चोत्सवे तथा ।
सम्प्रोक्षणे च शान्त्यर्थं विवाहे मौञ्जिबन्धने ॥१२५॥

सर्वमङ्गलकार्येषु कारयेदङ्कुरार्पणम् ।
प्रतिष्ठादिवसात्पूर्वं नवमे सप्तमे दिने ॥१२६॥
पञ्चमे वा तृतीये वा सद्यो वा चाङ्कुरार्पणम् ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—

पुण्याहघोषणं कृत्वा ब्राह्मणैः सह देशिकैः[1]
मङ्गलाङ्कुरसंरोपं कुर्यात्तत्रैव चाहनि ॥१२७॥
सप्तमान्नवमाद्वापि प्रागेवं यज्ञकर्मणः । इति ।

अन्यत्राऽपि—

उत्सवेषु विविधेष्वपि दीक्षास्थापनादिषु पवित्रविधौ च मङ्गलाङ्कुरविधिं विदधीत इति । तत्र पूर्वेद्युरुपोष्य नान्दीश्राद्धं स्वगृह्योक्तविधानेन विधाऽयाङ्कुरार्पणं कुर्यात् । तदुक्तम्—

गुरुर्विशुद्धः प्रागेव शुद्धाहात्सप्तमेऽहनि ।
सङ्कल्प्योपोष्य कर्त्तव्यमङ्कुरारोपणं शुभम् ॥१२८॥

कुर्यान्नान्दीमुखं श्राद्धं पूर्वेद्युः स्वस्तिवाचनम् ।
स्वगृह्योक्तप्रकारेण तदेतद्विदधीत वै ॥१२९॥

---

१. ख. देशिकः ।

संहितायाम्—

सर्वत्राभ्युदयश्राद्ध मङ्कुरोत्पादनं तथा ।
आदावेव प्रकुर्वीत कर्मणोऽभ्युदयात्मनः ॥१३०॥

शारदातिलके—

मण्डपस्योत्तरे भागे शालां पूर्वापरायताम् ।
गूढां कुर्यात्ततस्तस्यां मण्डलं रचयेत्सुधीः ॥१३१॥

सारसङ्ग्रहे—

मण्डपोत्तरदिग्भागे सुसंवृत्ततरे परे ।
भवने मण्डलं कुर्यादिके प्राग्वरुणायतम् ॥१३२॥

याम्योदीच्यायतं त्वन्ये प्रवदन्ति मनीषिणः ।
पदानि द्वादशात्र स्युस्तेषु स्थानत्रयं भवेत् ॥१३३॥

चतुष्टयपदोपेते[1] पदान्यापूरयेत्ततः ।
पीतरक्तसितश्यामै रजोभिर्वह्निपूर्वकम् ॥१३४॥

ईशान्तं क्रमतस्त्वाहुः पात्राणि विविधानि च ।
वैष्णव्यः पालिकाः प्रोक्ताश्चतुर्विंशाङ्गुलोच्छ्रिताः ॥१३५॥

वैरिञ्च्यः पञ्चमुख्यश्चाप्युच्छ्रिताः षोडशाङ्गुलैः ।
शैवाः शरावाश्चत्वारो भान्वङ्गुलसमुच्छ्रिताः ॥१३६॥

सिद्धान्तशेखरे—

यथासम्भवमानं वा पालिकादि समाचरेत् ।इति।

तथा सारसङ्ग्रहे—

प्रक्षाल्य सूत्रैः संवेष्टय स्थानेष्वग्न्यादि विन्यसेत् ॥१३७॥

शालिपूर्णेषु गन्धादिदर्भकूर्चयुतेषु च ।
पूरयेत्तानि पात्राणि बालुकामृत्करीषकैः ॥१३८॥

मृदानयने विशेषः । सिद्धान्तशेखरे—

गन्धादिभिश्च कुद्दालं पूजयित्वा दिनान्तरे ।
गीतनृत्यसमायुक्तं गजवाजिसमन्वितम् ॥१३९॥

---

१. क० पदोपेतं ।

गुर्वादयो रथारूढा गजारूढास्तथापरे ।
गत्वा तीरं तडागस्य नद्याः पुष्पवनस्य वा ॥१४०॥

तत्र शुद्धं भुवो भागं दर्भैः सम्मृज्य चास्त्रतः ।
अभ्युक्ष्य चार्घतोयेन तत्तन्मन्त्रमनुस्मरन् ॥१४१॥

हृदा भूमिं समावाह्य गन्धपुष्पैः समर्चयेत् ।
कुद्दालमस्त्रमन्त्रेण खात्वा भूमिमथो मृदम् ॥१४२॥

गृहीत्वा वामदेवेन पूरयेत्कांस्यपात्रके ।
हृदा मृदं च सम्मृज्य वस्त्रेणाच्छाद्य धारयेत् ॥१४३॥

पुरं वा निलयं वापि सर्वमङ्गलनिःस्वनैः ।
गुरुः प्रदक्षिणं कृत्वा मण्डपं त्वानयेत्ततः ॥१४४॥
एतत्कर्म दिवा काले कुर्याद्रात्रौ न बुद्धिमान् ।

सारसङ्ग्रहे—

शंखस्वनेन नादैश्च पञ्चभिर्ब्राह्मणाशिषा ।
क्षालयेद् दुग्धवंबीजैस्ततो बीजानि निर्वपेत् ॥१४५॥

सारस्वतमते—

बीजानि तानि प्रक्षाल्य जलक्षीरेण च क्रमात् ।इति।

शारदातिलके—

सुधाबीजेन बीजानि दुग्धे प्रक्षाल्य मन्त्रवित् ।
मूलमन्त्रेण जप्तानि पञ्चघोषपुरःसरम् ॥१४६॥

आशीर्वाग्भिर्द्विजातीनां मङ्गलाचारपूर्वकम् ।
निर्वपेत्तेषु पात्रेषु देशिको यतमानसः ॥१४७॥

जप्तानीत्यत्र जपसंख्याष्टोत्तरशतम् । तदुक्तम्—

महाकपिलपञ्चरात्रे—

संख्यानुक्तौ शतं साष्टं सहस्रं वा जपादिषु । इति ।

पञ्चघोषास्तु पटहझञ्झामृदङ्गमुखवाद्यशङ्खाः ।

सारसंग्रहे बीजान्युक्तानि—

तानि प्रियङ्गुश्यामाकतिलसर्षपशालयः ।
मुद्गाढकीसुनिष्पावखल्वमाषाः प्रकीर्त्तिताः ॥१४८॥

शारदातिलके—

शालिश्यामाढकीमुद्गतिलनिष्पावसर्षपाः ।
कुलत्थकङ्गुमाषाश्च बीजान्यङ्कुरकर्मणि ॥१४६॥

निष्पावाः वल्लाः न तु राजमाषाः 'निष्पावान् राजमाषांश्च सुप्ते देवे विवर्जयेदि'ति पृथगुक्तेः । सर्वाणि बीजान्येकीकृत्य प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा निशायां निर्वपेत् । तदुक्तम्—

सिद्धान्तशेखरे—

बीजं मुख्येन मूलेन प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
वापयेत्सर्वबीजानि पालिकादिष्वनुक्रमात् ॥१५०॥
बीजानामधिपः सोमस्तस्माद्रात्रौ तु निर्वपेत् ।

सारस्वतमते—

बीजानां दैवतं सोमः स रात्रौ कान्तिमान्यतः ।
तस्माद् गुरुस्तु बीजानि निशायामेव वापयेत् ॥१५१॥

एतेषु बीजेषु पूज्यदेवता अत्रैवाह—

स्कन्दं प्रियङ्गौ निष्पावे वायुमग्निं कुलत्थके ।
आढक्यां निर्ऋतिं सोमं मुद्गे वैवस्वतं तिले ॥१५२॥
प्रजापतिं शालिपुञ्जे त्वनन्तं सर्षपेऽर्चयेत् ।
इन्द्रं श्यामे च माषेषु वरुणं च नगात्मजे ॥१५३॥

हरिद्रासेचने मन्त्रः प्रयोगसारे—

त्र्यम्बकाय देवाय शङ्कराय शिवाय च ।
सर्वलोकप्रधानाय शास्वताय नमो नमः ॥१५४॥

सिद्धान्तशेखरे तु प्रत्यहं तेषु सोमपूजाप्युक्ता ।

विकीर्याऽनेन मन्त्रेण हरिद्राचूर्णमिश्रितम् ।
तोयं प्रवर्षयेत्तेषु सिञ्चेत्तान्वै दिनं प्रति ॥१५५॥ इति ।
सोमं सम्पूजयेन्नित्यमधिवासदिनावधि ।
अधिवासदिने प्राप्ते सोममुद्वासयेद् गुरुः ॥२५६॥ इति ।

सारसङ्ग्रहे—

हरिद्राद्भिश्च संसिच्य वस्त्रैराच्छादयेद् गुरुः ।
सन्ध्ययोरुभयो रात्रौ प्रदद्यादुत्तमं बलिम् ॥१५७॥
त्रिविधस्यापि पात्रस्य सप्तस्वपि दिनेषु च ।
प्रथमेऽहनि भूतेभ्यस्तिला लाजा हरिद्रया ॥१५८॥

दधिसक्त्वन्नमित्युक्तं पितृभ्यस्तिलतण्डुलाः ।
तृतीयेऽहनि यक्षेभ्यः करम्भा लाजसंयुताः ॥१५९॥

चतुर्थेऽहनि नागेभ्यो नारिकेलजलाप्लुतम् ।
सक्तुपिष्टं च सम्प्रोक्तं पञ्चमे ब्रह्मणे बलिः ॥१६०॥

पञ्चाक्षताश्च षष्ठेऽह्नि शिवायापूपसंयुतम् ।
अन्नं स्यात्सप्तमे चाह्नि विष्णवे स्याद् गुडौदनम् ॥१६१॥

यदि स्यान्नवरात्रं च तदोभयदिने बलिः ।
विष्णवे स्याच्च दुग्धान्नं कृसरं स्यात्क्रमात्ततः ॥१६२॥

प्रणवाद्यैर्हृदन्तैः स्वनामभिर्बलिमन्त्रकाः । इति ।

करम्भा दधिसक्तवः, पञ्चाक्षताः पञ्चबीजानि, कृसरस्तिलमुद्गैः सह सिद्ध ओदनः ।

अथैतन्मण्डलरचनाप्रकारः—

तत्र दीक्षादिनात्पूर्वमेव नवभिः सप्तभिर्वा दिनैः प्राङ् निर्मितमण्डपस्योत्तरभागे सुसंवृतं गृहं निर्माय गोमयोपलिप्ते सुसमे भूतले प्राक्प्रत्यगायताः पञ्चहस्तदीर्घाः पञ्चरेखा याम्योदीच्यायता वितस्त्यन्तरालाश्चैकादशरेखाः कृत्वा, चत्वारिंशत्कोष्ठोपेतं सार्द्धद्वयहस्तविस्तारोपेतं मण्डलं कृत्वा, तत्र चतुर्दिग्गतचतुर्विंशतिकोष्ठान्येकीकृत्य, वीथीः कृत्वा, मध्यचतुष्कस्योभयपार्श्वयोः कोष्ठद्वयं मार्जयित्वाऽवशिष्टचतुष्कत्रयात्मकं द्वादशपदोपेतं विपुलं मण्डलं निर्माय, चतुश्चतुःकोष्ठैरेकमेकं स्थानं ब्रह्मविष्णुरुद्राणां पश्चिममध्यपूर्वक्रमेण परिकल्प्य, तत्र पश्चिमादिचतुष्क*त्रयेऽपि प्रतिचतुष्क*–माग्नेयकोष्ठमारभ्येशानकोष्ठपर्यन्तं पीतरक्तश्वेतश्यामवर्णैं रजोभिः प्रतिचतुष्कमेकेन रजसैकं कोष्ठमिति क्रमेण द्वादशकोष्ठान्यापूर्य्य, वीथीचतुष्टयं रक्तरजसा रेखाः सर्वाः श्वेतरजसा चापूर्य्य, तत्र स्थानत्रये मध्यचतुष्के विष्णुदैवत्याश्चतुर्विंशत्यङ्गुलोन्नतिविस्तृतियुक्ता डमरुकाकाराश्चतस्रः पालिका मध्ये दूर्वापिप्पलदलाम्रपल्लवैः सह सूत्रेण संवेष्टिताः संस्थाप्यास्तथा पश्चिमचतुष्केऽप्येकस्मिन्पात्रे पञ्च पात्राणि यथा भवन्ति तथा शिल्पिवरनिर्मितानि प्राग्वद् डमरुकाकाराणि षोडशाङ्गुलोन्नतिविस्तृतियुक्तानि ब्रह्मदैवत्यानि चत्वारि पात्राणि तथैव पिप्पलदलादियुक्तानि संस्थाप्य, तथा पूर्वचतुष्के द्वादशाङ्गुलोन्नतिविस्तृतिभृतः शिवदैवत्याः प्राग्वत्पिप्पलदलादियुक्ता-

— चिह्नगतोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके ।

श्चत्वारः शरावाः संस्थाप्याः । इति द्वादशपात्राणि प्रक्षालितानि द्वादशकोष्ठेषु प्रतिकोष्ठमेकमेकं पात्रं शालिपुञ्जेषु गन्धाक्षतकूर्च्चयुक्तेषु संस्थाप्य, तानि पात्राणि बालुकामृत्करीषैः सम्पूर्य्य, प्रियङ्ग्वादिदशबीजानि दशपात्रेषु कृत्वा, वक्ष्यमाणपूजाक्रमेण स्ववामादिदक्षिणान्तं पङ्क्त्याकारेण संस्थाप्य, तेषु प्रियङ्गुषु "स्कदाय नमः, निष्पावेषु—वायवे नमः, आढकीषु—निर्ऋतये नमः, मुद्गेषु—सोमाय नमः, तिलेषु—वैवस्वताय नमः, शालिषु—प्रजापतये नमः, सर्षपेषु—अनन्ताय नमः, श्यामाकेषु—इन्द्राय, माषेषु—वरुणाय नम इति गन्धादिभिः सम्पूज्य, तानि दशबीजानि एकैकस्मिन्नूतनभाण्डे स्वर्णादिरचिते मृण्मये वा प्रियङ्गुश्यामाकतिलसर्षपशालिमुद्गाढकीनिष्पावखल्वमाषाख्यानि दशधान्यान्येकीकृत्य वमित्यमृतबीजेन गोदुग्धैः प्रक्षाल्य, शंखस्वनादिपञ्चवाद्य-घोषपुरस्सरं तेषु पात्रेषु प्रथमं ब्रह्मदैवत्येषु, ततो विष्णुदैवत्येषु, ततः शिवदैवत्येषु इति क्रमेण बीजानि निर्वाप्य, हरिद्रामिश्रितैर्जलैः संसिच्य, नूतनवस्त्रैराच्छाद्य सन्ध्ययोरर्द्धरात्रे च सप्तस्वपि दिनेषु प्रतिदिनं बलिं दद्यात् ।

तत्र प्रथमदिवसे तिललाजासक्तुशाल्योदनानि हरिद्राचूर्णयुक्तान्येकीकृत्य, कवलत्रयं निष्पाद्य, पात्रत्रये कृत्वा, त्रिविधस्यापि पात्रस्य समीपे त्रिकोण-मण्डले साधारं तद्बलिपात्रं निधाय, प्रथमं ब्रह्मदैवतपात्रस्य समीपे "सर्वभूतानि इहागच्छतेह तिष्ठतेति" भूतान्यावाह्य, संस्थाप्य, "ॐ सर्वभूतेभ्यो नमः" इति गन्धादिभिः सम्पूज्य "सर्वभूतबलिद्रव्याय नमः" इति बलिद्रव्यं च सम्पूज्य हस्ततले जलं गृहीत्वा, वामहस्तेन बलिपात्रं स्पृशन् "ॐ सर्वभूतेभ्य एष बलिर्नमः" इति बलिपात्रोपरि जलं निःक्षिपन् बलिमुत्सृजेत् । एवं विष्णुपात्रसमीपे तथा शिवपात्रचतुष्कसमीपे च बलिं दद्यादिति प्रोक्तकालत्रयेऽपि **बलिदानविधिः** ।

अत्र केचिन्मण्डलस्य चतुर्दिक्षु बलिर्देय इत्याहुस्तत्र यथागुरूपदेशं कार्य-मिति । ततो द्वितीयदिने पितृभ्यस्तिलतण्डुलैः प्रागुक्तपरिपाट्यैव प्रोक्तकाल-त्रयेऽपि बलिं दद्यात् । एवं तृतीयदिवसे यक्षेभ्यो दधिसक्तुलाजामिश्रितं बलिं दद्यात् । चतुर्थेऽहनि नागेभ्यो नालिकेरजलाप्लुतसक्तुपिष्टबलिः । पञ्चमदिने ब्रह्मणे पद्माक्षतबलिः । षष्ठदिने शिवायापूपसंयुतौदनबलिः । सप्तमे दिने विष्णवे गुडौदनबलिः । नवरात्रपक्षे तु विष्णव एवाष्टमदिने दुग्धौदनबलिः । नवमदिने कृसरबलिर्देयः । अत्र सर्वत्र बलिदाने प्रथमदिने प्रोक्त एव विधिर्ज्ञेयः । तत्तन्नाम्ना पूजनं बल्युत्सर्जनं च ज्ञेयमिति । अत्र नवस्वपि दिनेषु प्रतिदिनं तत्तद्देवताबलिदानानन्तरं दशदिक्पालेभ्योऽपि तत्तद्दिक्षु "ॐ इन्द्राय एष बलिर्नमः" इत्यादि तत्तन्नाम्ना घृतशर्करासहितपायसेन बलिर्देय इति **बीजारोपणविधिः** ।

॥ अथाङ्कुरपरीक्षा ॥ सारस्वतमते—

प्ररूढाण्यङकुराण्यन्यो न वीक्षेत कदाचन ।
आचार्य एव प्रविशेत्तच्छिष्यो वा तदाज्ञया ॥१६३॥

सिद्धान्तशेखरे—

यजमानाभिवृद्धयर्थमङ्कुराणि परीक्षयेत् ।
सम्यगूर्ध्वप्ररूढानि कोमलानि सितानि तु ॥१६४॥

धूम्रवर्णान्यपूर्णानि तथा तिर्यग्गतानि तु ।
श्यामलानि च कुब्जानि वर्जयेदशुभानि च ॥१६५॥

अवृष्टिं कुरुते रक्तं धूम्राभं कलहं तथा ।
अपूर्णं जननाशाय दुर्भिक्षं श्यामलाङ्कुरम् ॥१६६॥

तिर्यग्गते भवेद् व्याधिः कुब्जे शत्रुभयं तथा ।
अशुभे चाङ्कुरे जाते शान्तिहोमं समाचरेत् ॥१६७॥

मूलमन्त्रेण जुहुयाद् गुरुर्मन्त्रिवरैः सह ।
अघोरास्त्रेण चाज्येन शतं वाथ सहस्रकम् ॥१६८॥ इति ।

सारस्वतमतेऽपि—

प्ररूढैरङ्कुरैः कर्त्तुर्निर्दिशेच्च शुभाशुभम् ।
श्यामैर्धूम्रैरङ्कुरैरर्थहानि—
स्तिर्यग्रूढैर्व्याधिरान्दोलितैस्तैः ।
कुब्जैर्दुःखं दुःप्ररूढैर्मृतिर्वा,
रोगो भुग्नैः स्थानदेशेऽष्टहानिः ॥१६९॥ इति ।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मजगोस्वामि-
श्रीशिवानन्दभट्टविरचिते
सिंहसिद्धान्तसिन्धौ नवमस्तरङ्गः ॥९॥

दशमस्तरङ्गः

॥ अथ दीक्षायाः पूर्वकृत्यम् ॥

पुण्याहं वाचयित्वादौ ब्राह्मणैः स्वस्तिपूर्वकम् ।
पञ्चवाद्यनिनादैश्च वेदघोषैः सुहृद्वृतः ॥१॥

गत्वा गुरुगृहं शिष्यः प्रणम्य गुरुपादुकाम् ।
दत्वा वरणसामग्रीं सङ्कल्प्य वृणुयाद् गुरुम् ॥२॥

उच्चार्यामुकमन्त्रस्य ग्रहणाय द्विजोत्तमाः ।
गुरुत्वेनेति सम्भाष्य त्वामहं च ततो वृणे ॥३॥

इत्युक्त्वा वृणुयाच्छिष्यो वृतोऽस्मीति ततो गुरुः ।
यथोचितं गुरोः कर्म कुरुष्वेति वदेच्छिशुः ॥४॥

करवाणीति चोच्चार्य पञ्चवाद्यपुरःसरम् ।
ततः शिष्येण सहितो यायाद्यागगृहं गुरुः ॥५॥

सारसङ्ग्रहे—

पुण्याहवाचनं कृत्वा शिष्यो भक्तिपरायणः ।
हारकुण्डलकेयूरमुद्रिकाङ्गदभूषणैः ॥६॥

हेमयज्ञोपवीतैश्च मधुपर्कैर्यथाविधि ।
महार्घवस्त्रैस्ताम्बूलफलपुष्पसुगन्धकैः ॥७॥

अवित्तशाठ्यमभ्यर्च्य यथावद् वृणुयाद् गुरुम् ।
ऋत्विजोऽपि तथाऽभ्यर्च्य वृणुयादुक्तसंख्यकान् ॥८॥

मधुपर्कविधानमुक्तं डामरे—

मधुपर्कविधानं ते यथावत्कथयाम्यहम् ।
श्रीपर्णीवृक्षपीठानि हस्तमानानि मानतः ॥९॥

अष्टाङ्गुलसमुच्छ्रायसहितानि समानि च ।
सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता ॥१०॥

विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्तितम् ।
सुकोष्णोदकसम्पूर्णाः पाद्यार्थे ताम्रगड्डुकाः ॥११॥

शङ्खा अर्घप्रदानाय गन्धपुष्पजलान्विताः ।
दूर्वोदकसमायुक्ताः स्थापनीयाः पृथक् पृथक् ॥१२॥

सुताम्रस्य करण्डल्व आचम्योदकपूरिताः ।
सम्पुटा मधुपर्कार्थं कांस्या दध्यादिपूरिताः ॥१३॥

महान्त्यर्घाणि वस्त्राणि मुद्रिकाद्यं सुभूषणम् ।
मयूरपत्रच्छत्राणि सोष्णीषाणि समाहरेत् ॥१४॥

पादुका आहरेत्तत्र चार्माभूषणभूषिताः ।
अन्यत्स्मार्त्तं यदस्त्युक्त मधुपर्कस्य पूजने ॥१५॥

तत्कृत्वा फलमाप्नोति महायज्ञार्हणोपमम् ।
अन्येभ्यो मधुपर्कस्य विप्रेभ्यः पूजनं स्मृतम् ॥१६॥

भक्त्या तद्द्विगुणं दद्यादाचार्याय सुभक्तिमान् ।
अन्यैर्द्विजैः समं यत्र देशिकस्य प्रपूजितम् ॥१७॥
तस्मिन् यज्ञे फलं स्वल्पमनावृष्टौ यथा क्षितेः । इति ।

सारसंग्रहे—

देशिकेन्द्रो विधानेन स्नात्वा निर्वर्त्तिताह्निकः ।
मौनमास्थाय भूषाढ्यो गच्छेद्यागगृहं प्रति ॥१८॥

आचार्यः पूर्वदिवसे उपवेश्य समासने ।

पूर्वदिवसे तद्दिनपूर्वभागे । प्रातरेवेत्यर्थः ।

शिष्यं मूलेन सञ्जप्तं दद्याद्वै दन्तधावनम् ॥१९॥

दन्तान्विशोध्य पुरतः स्थण्डिले हस्तमात्रके ।
चतुरश्रे त्याजयेत्तत्परीक्षेत ततो गुरुः ॥२०॥

ईशानाग्रे ज्ञानलाभः प्रागग्रे भूतिरुत्तमा ।
आग्नेयाग्रे मनस्तापो बन्धुनाशश्च दक्षिणे ॥२१॥

राक्षसाग्रे मृत्युभयं वारुण्यग्रे मनःशुचे ।
वायव्याग्रे व्यग्रता च कौबेराग्रे सुखावहम् ॥२२॥
अमङ्गलस्थानपाते प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।

प्रायश्चित्तं तु—

दुर्निमित्तविनाशाय जुहुयाच्छतमस्त्रतः ॥२३॥ इति ।

वायवीयसंहितायाम्—

अशस्ताशामुखे तस्मिन् गुरुस्तद्दोषशान्तये ।
शतमर्द्धं तदर्द्धं वा जुहुयान्मूलमन्त्रतः ॥२४॥ इति ।

सारसंग्रहे—

ततः स्वप्नपरीक्षां च कुर्याद्देशिकसत्तमः ।
क्रूरस्वप्नेऽधमा दीक्षा ह्यक्रूरे मध्यमा मता ॥२५॥
उत्तमस्वप्नपूर्वा तु दीक्षा सर्वोत्तमा मता ।

स्वप्नलक्षणानि तन्निवेदनप्रकारश्चाग्रे वक्ष्यते । तथा—

एवं विचार्य ततो गुरुः पूजां समाचरेत् ॥२६॥
विधायाऽऽवपनं तत्र सामान्यार्घं विधाय च ।

द्वारपूजोक्तैव ।

अर्घोदकेन सम्प्रोक्ष्य द्वारपूजां समाचरेत् ॥२७॥
ततश्च देशिको विघ्नान् दिव्यानालोकनेन च ।
अन्तरिक्षगतानस्त्रोदकैरुत्सारयेत् क्रमात् ॥२८॥
पार्थिवान्पार्ष्णिघातैश्च त्रिभिरुत्सार्य यत्नतः ।
अङ्ग सङ्कोच्य किञ्चित्तु शाखां वामगतां स्पृशन् ॥२९॥
उत्सारितानां विघ्नानां ददद्वर्त्म तु दक्षिणे ।
पादेन दक्षिणेनाथ प्रविशेद्यागमण्डपम् ॥३०॥

दक्षिणपादपुरःसरं प्रवेशः पुन्दैवतविषयः । शाक्ते तु वामपादपुरःसरमेव ।

वामपादं पुरस्कृत्य प्रविशेद्यागमण्डपम् ।

इति त्रिपुरार्णववचनात् । तथा—

ब्रह्माणं वास्त्वधीशं च नैर्ऋत्यां दिशि पूजयेत् ।
अर्घाम्बुना च गव्ये यागस्थाने सुषिञ्चिते ॥३१॥
वीक्षणाद्यैस्ततः शुद्धिं चतुर्द्वारान्तमाचरेत् ।
संवीक्ष्य मूलमनुना ह्यस्त्रेण प्रोक्षयेत्ततः ॥३२॥
कुर्यात्ताडनमस्त्रेण कवचेनाऽथ सेचयेत् ।
श्रीखण्डागुरुचन्द्रैश्च धूपितेऽस्त्रेण सप्तधा ॥३३॥
जप्तान् चन्दनसिद्धार्थदूर्वाभस्माक्षतान् कुशान् ।
सलाजान्विकिरेन्मन्त्री प्रत्यूहघ्नान् हि मण्डपे ॥३४॥
मार्जयेदस्त्रमन्त्रेण तान्मन्त्री दर्भमुष्टिना ।
आसनाय तु वर्द्धन्या ईशाने स्थापयेच्च तान् ॥३५॥

पुण्याहं वाचयित्वाऽथ विप्रान्संतोष्य यत्नतः ।
वेदिकायां लिखेत्पश्चात्सर्वतन्त्रानुसारतः ॥३६॥

तल्लक्षणमथो वक्ष्ये सर्वतन्त्रानुसारतः ।
देशिको वेदिकामध्ये गोमयेनोपलेपिते ॥३७॥

पूर्वोक्तक्रमयोगेन चतुरश्रं प्रकल्पयेत् ।
चतुःकोष्ठसमायुक्तं [1]कर्णसूत्रविभूषितम् ॥३८॥

तत्र कोष्ठचतुष्कान्तःसूत्राणां स्याच्चतुष्टयम् ।
कोणाख्यकोष्ठमध्येषु दृश्यन्ते मत्स्यका यथा ॥३९॥

ऐन्द्रवारुणगं युग्मं सौम्ययाम्यगतं द्वयम् ।
मकरेष्वेषु सूत्राणि दद्याच्चत्वारि मन्त्रवित् ॥४०॥

पूर्वपश्चिमगं तद्वद्दक्षिणोत्तरगं पुनः ।
मकरान्पूर्ववत्कुर्यात्तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥४१॥

शतयुग्मं च पञ्चाशत्षट्पदानि यथा पुनः ।
प्रादुर्भवन्ति सूत्राणि रम्याण्येवं विकाशयेत् ॥४२॥

षट्त्रिंशत्कोष्ठके मध्ये सरोजं परिकल्पयेत् ।
तद्बहिः परितः पीठमेकपङ्क्त्या प्रकल्पयेत् ॥४३॥

पङ्क्तिद्वयेन तद्बाह्ये वीथीकल्पनमीरितम् ।
ततोऽन्त्यपङ्क्तियुग्मेन द्वारशोभे विधानतः ॥४४॥

उपशोभाश्च कोणानि मन्त्रवित्परिकल्पयेत् ।
अथ वक्ष्ये विधानेन सरोजलिखनक्रमम् ॥४५॥

सरोजस्थानजं भागं द्वादशं तु परित्यजेत् ।
ततो वृत्तत्रयं मध्ये कुर्यात्सम्यग्यथाविधि ॥४६॥

कर्णिकां मध्यवृत्तेन द्वितीयेन तु केसरान् ।
अन्त्यवृत्तेन पत्राणि पत्राग्रं त्यक्तभागतः ॥४७॥

अन्त्यवर्त्तुलमध्यस्य परिमाणं तु यद्भवेत् ।
किञ्जल्काग्रेषु संस्थाप्य पार्श्वतस्त्वर्द्धचन्द्रकान् ॥४८॥

संलिख्य सन्धिसम्बद्धसूत्रन्यासं विधाय च ।
दलाग्रमानतो वृत्तं कुर्यात्सम्यग्विचक्षणः ॥४९॥

---

१. ख. वर्णसूत्र० ।

वृत्तान्तर्मध्यसूत्रस्य पार्श्वयोस्तु यथाविधि ।
बहिः करेण कुर्वीत पत्राग्राणि विधानवित् ॥५०॥

किञ्जल्कान्यत्र मूलेषु द्विशः कुर्वीत देशिकः ।
सामान्यं कमलं ह्येतत् शास्त्रे सर्वत्र गीयते ॥५१॥

त्रिभिः पादैस्तु पीठस्य पादान्कोणेषु कल्पयेत् ।
अतिरिक्तैः पदैः पीठगात्राणि रचयेत्ततः ॥५२॥

वीथीपङ्क्तिद्वयं सम्यगेकीकृत्य प्रमार्जयेत् ।
ततो द्वाभ्यां चतुर्भिश्च कोष्ठैर्द्वारचतुष्टयम् ॥५३॥

चतुर्दिक्षु विधानेन रम्याकारं प्रकल्पयेत् ।
कोष्ठत्रयेण चैकेन प्रत्येकं द्वारपार्श्वयोः ॥५४॥

शोभा भवन्त्यतः कोष्ठैरेकतस्त्रिभिरेव च ।
उपशोभास्ततः कोष्ठैः षड्भिः कोणानि कल्पयेत् ॥५५॥

रजोभिर्भूषयेत्पञ्चवर्णैरेतत्तु मण्डलम् ।
निशारजो भवेत्पीतं शुक्लं तण्डुलजं स्मृतम् ॥५६॥

रक्तं कौसुम्भमुद्दिष्टं कृष्णमाहुर्मनीषिणः ।
पुलाकदाहसम्भूतं श्यामं विल्वच्छदोद्भवम् ॥५७॥
पञ्चवर्णाः समाख्याता दीक्षामण्डलकर्मणि ।

शारदातिलकेऽपि—

पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात् सितं तण्डुलसम्भवम् ।
कुसुम्भचूर्णमरुणं कृष्णं दग्धपुलाकजम् ॥५८॥
विल्वादिपत्रकं श्याममित्युक्तं वर्णपञ्चकम् ।

'स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये' इत्यमरः ।

महाकपिलपञ्चरात्रे—

पीतं क्षितिस्तु विज्ञेया शुक्लमापः प्रकीर्त्तिता ।
तेजो वै रक्तवर्णं स्यात् श्यामं वायुः प्रकीर्त्तितः ॥५९॥

आकाशं कृष्णवर्णं तु पञ्चमं तु महामुने ।
सिते तु देवता रुद्रो रक्ते ब्रह्मादिदेवताः ॥६०॥

पीते तु देवता विष्णुः कृष्णे चैवाच्युतः स्मृतः ।
श्यामे तु देवता नागः समाख्यातो मयाऽनघ ॥६१॥

शुक्लं ग्रहापदो हन्ति रक्तं क्रूरगणोद्भवम् ।
कृष्णं सर्वासुरोत्साहं नीलं वैनायकीं तथा ॥६२॥
पैशाचीं राक्षसीं चैव निहन्ति हरितं रजः ।
तस्माद् होमेऽभिषेके च योगे चैव विशेषतः ॥६३॥
वर्त्तयेन्मण्डलं तैस्तु देवसन्तुष्टिकारकम् । इति ।

तन्त्रान्तरे तु विशेषः—

शक्तस्तु वाञ्छेद्यदि सिद्धिमुग्रां,
तद्वर्णरत्नैरिह मण्डलानि ।
आभूषयेन्मौक्तिकपुष्परागमाणिक्यनीलैर्हरितैश्च रत्नैः ॥६४॥ इति ।

तथा —उत्सेधतारतो रेखाः शुक्ला अङ्गुलमानतः
तारो विस्तारः ।
सर्वाः सीमागताः कार्याः शुक्ला मण्डलकर्मणि ॥६५॥
पीतवर्णेन चूर्णेन कर्णिकां पूरयेत्ततः ।
किञ्जल्कानुक्तवर्णेन[1] दलानि श्वेतवर्णतः ॥६६॥
श्यामेन रजसा सन्धीन् मन्त्रविच्चाभिपूरयेत्[2] ।
*अथवा कर्णिकां मन्त्री पीतेनैव प्रपूरयेत् ॥६७॥
किञ्जल्कान् पीतरक्तेन रक्तेनैव दलान्यपि ।
कृष्णेन रजसा सन्धीन् कुर्यान्मन्त्रवित्तमः* ॥६८॥
[3]पीतेनैवाथ कृष्णेन पीठगर्भप्रपूरणम् ।
पीठपादांस्तु रक्तेन पीठगात्राणि शुभ्रतः ॥६९॥
वीथीचतुष्कमध्येषु कल्पवल्लीः प्रकल्पयेत् ।
पत्रमूलफलाकारमण्डिता हृदयङ्गमाः ॥७०॥
नानावर्णरजोभिस्ता रञ्जयेत्कुशली गुरुः ।
शुभ्रेण रजसा द्वारचतुष्कं पूरयेत्ततः ॥७१॥

---

१. ख० रक्तवर्णेन ।
२. ख. कुर्यान्मन्त्रविदुत्तमः । *—* चिह्नान्तर्गतांशो नास्ति ख. पुस्तके ।
३. ख. पीतेन वाथ ।

रक्तवर्णेन तच्छोभाः पीतेनैवोपशोभिकाः ।
कृष्णवर्णेन कोणानि बहीरेखात्रयं ततः ॥७२॥

शुक्लारुणाख्यकृष्णैस्तु रजोभिर्भूषयेत्क्रमात् ।
सामान्यं सर्वतोभद्रमण्डलं ह्येतदुत्तमम् ॥७३॥

वसिष्ठसंहितायां दलेषु विशेषः —

पीतं पूर्वे सितं देयं पश्चिमेऽप्युत्तरे तथा ।
रक्तं तु दक्षिणे कृष्णं पाटलं वह्निसंस्थितम् ॥७४॥

नैर्ऋत्ये नीलवर्णं च वायव्ये धूम्रवर्णकम् ।
ईशे गौरं विनिर्दिष्टमष्टपत्रेष्वयं क्रमः ॥७५॥

अथैतन्मण्डलरचनाप्रकारः—

तत्र प्राक्प्रत्यगायता दक्षिणोत्तरायताः समान्तरालाः सप्तदश सप्तदश रेखाः कृत्वा, षट्पञ्चाशदुत्तरशतद्वयकोष्ठयुतं चतुरश्रमण्डलं कृत्वा, तन्मध्यगतषट्त्रिंशत्कोष्ठान्येकीकृत्य, तद्बहिश्चतुर्दिक्ष्वेकपंक्तिं परितः सम्मार्ज्यैकीकृत्य, पीठं परिकल्प्य, तद्बहिरपि चतुर्दिग्गतपङ्क्तिद्वयमेकीकृत्य, सम्मार्ज्य, वीथीं परिकल्प्य, सर्वमध्यगतसरोजस्थाने बहिः परितो द्वादशभं[1] भागं परित्यज्य, सर्वमध्यावलम्बनेन समान्तरालं वृत्तत्रयं सम्पाद्य, तत्र सर्वमध्यवृत्तमध्ये कर्णिकां परिकल्प्य, तद्बहिर्गतवृत्तवीथीं केसरार्थं परिकल्प्य, केसरस्थानं षोडशधा विभज्य, तच्चिह्नावलम्बनेन [2]द्वितीयतृतीयवृत्तयोरन्तरालमानसूत्रमानेन गुरूक्तयुक्त्या, षोडशार्द्धचन्द्रान्परिकल्प्य, तैरष्टदलानि कृत्वा, तृतीयवृत्ताद्बहिस्त्यक्तैकांशतो मध्यचिह्नावलम्बनेन वृत्तान्तरं निष्पाद्य, गुरूक्तयुक्त्या पत्राग्राणि विधायैकैकदलमूले केसरद्वयं यथा दृश्यते तथा विरच्य,[3] पद्मं कृत्वा, पद्मबहिर्गतैकपङ्क्तिरूपचतुरश्रपीठस्य कोणचतुष्टयेऽपि कोष्ठत्रयेण कोष्ठत्रयेण पीठपादान्परिकल्प्यावशिष्टकोष्ठैरेकीभूतैः पीठगात्राणि विधाय, तद्बहिर्गतपङ्क्तिद्वयकोष्ठानि सम्यक्प्रमार्ज्य, वीथीं विधाय, तद्बहिर्गतपंक्तेश्चतुर्दिक्षु मध्ये मध्यकोष्ठद्वयमेकीकृत्य, सर्वबाह्यगतपङ्क्तेरपि चतुर्दिक्षु प्रतिदिशं कोष्ठचतुष्टयमार्जनेन द्वारचतुष्टयं परिकल्प्य, द्वारचतुष्टयस्यापि पार्श्वयोः पङ्क्तिद्वयगतकोष्ठेषु अन्तःपङ्क्तेः कोष्ठत्रयं बहिःपङ्क्तेः कोष्ठमेकमिति कोष्ठचतुष्टयमेकीकृत्य, शोभां विधाय, तत्पार्श्वयोरप्यन्तःपङ्क्तेः कोष्ठमेकं बहिःपङ्क्तेः कोष्ठत्रयमिति कोष्ठचतुष्टयं

१. ख द्वादशं । २. ख. तृतीय' इति नास्ति । ३. ख. विरचय्य ।

कोष्ठचतुष्टयमेकीकृत्योपशोभाः परिकल्प्यावशिष्टैः षड्भिः षड्भिः कोष्ठैश्चत्वारि कोणानि कल्पयेदिति सर्वतोभद्रमण्डलं निर्माय, सरोजकर्णिकाकेसरदलदलाग्रपीठवीथीद्वारशोभोपशोभाकोणस्थानानि पञ्चवर्णरजोभिर्भूषयेत् ।

पञ्चवर्णरजांसि तु—हरिद्राचूर्णं पीतं रजः, तण्डुलचूर्णं शुक्लं, कुसुम्भचूर्णं रक्तं, दग्धतुच्छधान्यचूर्णं कृष्णवर्णम्, बिल्वपत्रचूर्णं श्याममिति ।

रजोविन्यासप्रकारस्तु—सीमागताः सर्वा रेखाः शुक्लरजसा एकाङ्गुलोत्सेधविस्तारयुताः कार्याः । पीतरजसा कमलकर्णिकां केसराणि च समापूर्य, शुक्लरजसा दलानि च सम्पूर्य, श्यामरजसा दलसन्धीनापूरयेत् । अथवा कर्णिकाः पीतेन, केसरान् पीतरक्ताभ्यां, दलानि रक्तेन, दलसन्धीन् कृष्णेन रजसा सम्पूर्य, पीतेन कृष्णेन वा पीठगर्भमापूर्य, पीठपादान् रक्तेनापूर्य, पीठगात्राणि शुभ्ररजसाऽऽपूर्य, वीथीचतुष्टये कल्पवल्लीः कोरकपुष्पपल्लवफलमण्डिता नानावर्णरजोभिरारचय्य, शुभ्रेण रजसा द्वारचतुष्कमापूर्य, रक्तवर्णेन द्वारशोभाः, पीतेनोपशोभाः, कृष्णेन कोणानि चापूर्य, तद्बही रेखात्रयमेकैकाङ्गुलान्तरालं शुक्लरक्तकृष्णरजोभिः कुर्यादिति **सर्वतोभद्रमण्डलनिर्माणविधिः** ।

अन्यानि मण्डलान्यत्र वक्ष्यन्ते च प्रसङ्गतः ।
पूर्वोक्ते चतुरश्रे तु तावत्सूत्राणि पातयेत् ॥७६॥

यावत्स्यात्कोष्ठशतकं चत्वारिंशत्समन्वितम् ।
वेदान्वितं तु तन्मध्ये पद्मं षट्त्रिंशता शुभम् ॥७७॥

एकपङ्क्त्या भवेत्पीठं वीथिका नात्र दृश्यते ।
पूर्ववद् द्वारशोभा स्यादुपशोभाऽत्र नास्ति वै ॥७८॥

षड्भिः कोष्ठैस्ततः कुर्यात्कोणानि प्रोक्तवर्त्मना ।
अन्यत्सर्वं विधातव्यं पूर्वमण्डलवच्छुभम् ॥७९॥

एतन्मण्डलमन्यत्तु चतुरस्रे सुशोभने ।
पातयेत्क्रमशः सूत्रं यावत्कोष्ठानि सर्वतः ॥८०॥

चतुष्षष्टिमितान्यत्र जायन्ते तत्र मध्यतः ।
चतुर्भिः पङ्कजं कार्यं चतुष्कं तत्समन्ततः ॥८१॥

वीथीः कुर्यान्मण्डलान्तर्दिग्गतेषु चतुर्ष्वपि ।
चतुष्केषु[1] तु पद्मानि विदध्यान्मन्त्रिकोविदः ॥८२॥

---

१. ख. चतुर्ष्वेषु ।

चतुष्कानि विदिक्स्थानि चत्वारि विभजेत्सुधीः ।
यावत्षोडशकोष्ठानि भवन्त्येतानि मार्जयेत् ॥८३॥

तथा यावत्स्वस्तिकानामाकारः प्रकटीभवेत् ।
रजोभिः शुक्लहारिद्ररक्तनीलैः प्रपूरयेत् ॥८४॥

स्वस्तिकानीशतश्चान्यत्पूर्ववत्परिकल्पयेत् ।
उदितं मण्डलं ह्येतन्नवनाभं सुशोभनम् ॥८५॥

एतदेवोक्तमार्गेण त्रिस्वस्तिकमनुत्तमम् ।
मण्डलं स्यात्तु पद्माब्जं सर्वकामफलप्रदम् ॥८६॥

दीक्षायां वा महादाने देवपूजाव्रतादिषु ।
एतन्मण्डलमध्ये तु कुर्यादन्यतमं बुधः ॥८७॥
वेदिकायामासने स प्राङ्मुखः संविशेदथ ।

श्रीविद्यादीक्षायां तु मण्डलस्थाने श्रीचक्रनिर्माणमुक्तम् । तथा च—

ललिताविलासे—

इत्थं श्रीचक्रमुद्धृत्य सिन्दूरेणातिसुन्दरम् ।
वेदिकायामासने स्वे प्राङ्मुखः पूजिते विशेत् ॥८८॥ इति ।

एतद्रचनाप्रकारस्तु श्रीविद्याप्रकरणेऽभिधेयः ।
वद्धपद्मासनो मौनी ऋजुकायो जितेन्द्रियः ॥

शारदातिलके—

उक्तेषु मण्डलेष्वेकं वेदिकायां समालिखेत् ।
विशेन्मृद्वासने मन्त्री प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ॥८९॥

बद्धपद्मासनो मौनी समाहितजितेन्द्रियः ।
स्थापयेद्दक्षिणे भागे पूजाद्रव्याणि देशिकः ॥९०॥

सुवासिताम्बुसम्पूर्णं सव्ये कुम्भ सुशोभितम् ।
प्रक्षालनाय करयोः पात्रं पश्चान्निवेशयेत् ॥९१॥

घृतप्रज्वलितान् दीपान् स्थापयेत्परितः शुभान् ।
दर्पणं चामरं छत्रं तालवृन्तं मनोहरम् ॥९२॥

मङ्गलाङ्कुरपात्राणि स्थापयेद्दिक्षु देशिकः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वामदक्षिणपार्श्वयोः ॥९३॥

नत्वा गुरुं गणेशानं भूतशुद्धिं समाचरेत् ।
करशुद्धिं समासाद्य कुर्यात्तालत्रयं ततः ॥९४॥

ऊर्ध्वोर्ध्वमस्त्रमन्त्रेण दिग्बन्धमपि देशिकः ।
तेन सञ्जनितं तेजोरक्षां कुर्यात्समन्ततः ॥९५॥

सारसङ्ग्रहे—

भूतशुद्धिं ततः कृत्वा प्राणस्थापनमाचरेत् ।
न्यासादिकं ततः कुर्याद्देशिको यतमानसः ॥९६॥

ऋषिं न्यसेत्ततो मूर्ध्नि छन्दो वक्त्रगतं न्यसेत् ।
देवतां हृदये न्यस्य मूलमन्त्रस्य देशिकः ॥९७॥

षडङ्गं विन्यसेन्मन्त्री पञ्चाङ्गं वा यथाविधि ।
यस्य मन्त्रस्य पञ्चाङ्गं नेत्रं तस्य विहीयते ॥९८॥

अङ्गैर्विहीनस्य मनोरङ्गं तेनैव कल्पयेत् ।
तत्तत्तन्त्रोक्तमार्गेण न्यासानन्यान्समाचरेत् ॥९९॥

शरीरे स्वस्य मन्त्रज्ञो योगपीठं प्रकल्पयेत् ।
देहात्मके ततः पीठे ध्यायेन्मन्त्रस्य देवताम् ॥१००॥
दर्शयित्वा ततो मुद्राः स्थापयेदर्घमुत्तमम् ।
जलेन पूरितां दक्षे प्रोक्षणीं स्थापयेत्ततः ॥१०१॥

तत्राल्पमल्पं शङ्खाम्बु तत उत्तरतो न्यसेत् ।
पाद्यमाचमनीयं च मधुपर्कं च मन्त्रवित् ॥१०२॥

ततो मूलाणुना मन्त्री प्रोक्षण्यद्भिः समाहितः ।
स्वात्मानं मण्डलं चान्यपूजोपकरणादिकम् ॥१०३॥

प्रोक्षयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्देहे स्वे देशिकोत्तमः ।
योगपीठं समभ्यर्च्य न्यासमार्गेण मन्त्रवित् ॥१०४॥

पीठान्तं ततस्तत्र पूजयेदिष्टदेवताम् ।
देवतात्मा ततः पञ्च कुर्याच्च सुमनोऽञ्जलीन् ॥१०५॥

शीर्षे हृदि तथाऽऽधारे चरणे सर्वगात्रके ।
पूजयेच्च निवेद्येन रहितैश्चन्दनादिभिः ॥१०६॥

सर्वोपचारैस्तच्छेषं गुर्वादिष्टेन वर्त्मना ।
समापयेदिदं सर्वं प्रोक्षण्यद्भिः समाचरेत् ॥१०७॥

पानीयं प्रोक्षणीसंस्थं त्यक्त्वा सम्पूर्य पूर्ववत् ।
उपचारैश्चन्दनाद्यैर्मण्डलं पूजयेद् गुरुः ॥१०८॥
पूरयेत्कर्णिकां पूर्वं शालिभिस्तण्डुलैस्ततः ।

शारदातिलकेऽपि—

ततस्तन्मण्डलं मन्त्री गन्धाद्यैः साधु पूजयेत् ।
शालिभिः कर्णिकामध्यमापूर्योपरि तण्डुलैः ॥१०९॥

शालितण्डुलप्रमाणं पदार्थादर्शे—

शालींस्तु कर्णिकायां च निक्षिप्याढकसम्मितान् ।
तण्डुलांश्च तदष्टांशान्………………॥११०॥ इति ।

आढकलक्षणं तु पिङ्गलामते—

गुञ्जाभिर्दशभिर्माषैः शाणो माषचतुष्टयम् ।
द्वौ शाणौ धटकः कोलो बदरं द्रक्षणश्च सः ॥१११॥

तौ द्वौ पाणितलं कर्षः सुवर्णं कवलग्रहः ।
पिचुर्विडालपदकं तिन्दुकीक्षश्च तद्द्वयम् ॥११२॥

शुक्तिरष्टमिका ते द्वे पलं बिल्वं चतुर्थिका ।
मुष्टिराम्रं प्रकुञ्चोऽथ द्वे पले प्रसृतिस्तथा ॥११३॥

भविष्यत्पुराणे—

पलद्वयं तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम् ।
चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः प्रस्थाश्चत्वार आढकः ॥११४॥

आढकैस्तैश्चतुर्भिश्च द्रोणस्तु कथितो बुधैः ।
कुम्भो द्रोणद्वयं शूर्पः खारी द्रोणास्तु षोडश ॥११५॥ इति ।

शारदातिलके—

अलङ्कृत्य पुनस्तेषु दर्भानास्तीर्य तन्त्रवित् ।
कूर्चमक्षतसंयुक्तं न्यसेत्तेषामथोपरि ॥११६॥

सारसङ्ग्रहे—

छिन्नमूलाः कुशा दीर्घाः सप्तविंशतिसंख्यकाः ।
ब्रह्मग्रन्थियुतास्त्वग्रदेशे कूर्च इहोच्यते ॥११७॥

डामरेऽपि—

सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता ।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्त्तितम् ॥११८॥

शारदातिलके—

आधारशक्तिमारभ्य पीठं मन्त्रमयं यजेत् ।
अधःकूर्मशिलारूढां शरच्चन्द्रनिभप्रभाम् ॥११९॥

आधारशक्तिं प्रयजेत्पङ्कजद्वयधारिणीम् ।
मूर्ध्नि तस्याः समासीनं कूर्म्मं नीलाभमर्चयेत् ॥१२०॥

ऊर्द्ध्वे ब्रह्मशिलासीनमनन्तं कुन्दसन्निभम् ।
यजेच्चक्रधरं मूर्ध्नि धारयन्तं वसुन्धराम् ॥१२१॥

तमालश्यामलां तत्र नीलेन्दीवरधारिणीम् ।
अभ्यर्चयेद्वसुमतीं स्फुरत्सागरमेखलाम् ॥१२२॥

तस्यां रत्नमयं द्वीपं तस्मिंश्च मणिमण्डपम् ।
यजेत्कल्पतरूंस्तस्मिन् साधकाभीष्टसिद्धिदान् ॥१२३॥

अधस्तात्पूजयेत्तेषां वेदिकां मण्डलोज्ज्वलाम् ।
पश्चादभ्यर्च्चयेत्तस्यां पीठं धर्मादिभिः पुनः ॥१२४॥

रक्तश्यामहरिद्रेन्द्रनीलाभान् पादरूपिणः ।
वृषकेसरिभूतेभरूपान् धर्मादिकान्यजेत् ॥१२५॥

गात्रेषु पूजयेत्तांस्तु नञ्पूर्वानुक्तलक्षणान् ।
आग्नेयादिषु कोणेषु दिक्षु वाऽथाम्बुजं यजेत् ॥१२६॥

आनन्दकन्दं प्रथमं संविन्नालमनन्तरम् ।
सर्व्वतत्वात्मकं पद्ममभ्यर्च्य तदनन्तरम् ॥१२७॥

मन्त्री प्रकृतिपत्राणि विकारं[1] मयकेसरान् ।
पञ्चाशद्वर्णबीजाढ्यां कर्णिकां पूजयेत्ततः ॥१२८॥

कलाभिः पूजयेत्सार्द्धं तस्यां सूर्येन्दुपावकान् ।
प्रणवस्य त्रिभिर्वर्णैरथ सत्वादिकान्गुणान् ॥१२९॥

---

१. ख. विकार ।

आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमर्च्चयेत् ।
ज्ञानात्मानं च विधिवत्पीठमन्त्रावसानकम् ॥१३०॥

पीठशक्तीः केसरेषु मध्ये च सवराभयाः ।
हेमादिरचितं कुम्भमस्त्राद्भिः क्षालितान्तरम् ॥१३१॥

चन्दनागुरुकर्पूरधूपितं शोभनाकृतिम् ।
आवेष्टिताङ्गं नीरन्ध्रं तन्तुना त्रिगुणात्मना ॥१३२॥

अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैर्दूर्वाक्षतसमन्वितम् ।
नवरत्नोदर मन्त्री स्थापयेत्तारमुच्चरन् ॥१३३॥

हेमादीत्यत्रादिशब्देन राजतताम्रमृण्मयाः कलशाः शक्त्यनुसारेण ज्ञेयाः । तदुक्तम्—

महाकपिलपञ्चरात्रे—

सौवर्णं कलशं रम्यं रौप्यं ताम्रमथापि वा ।
निर्द्दोषं मृण्मयं वापि चन्दनेन विलेपितम् ॥१३४॥ इति ।

अन्यत्र कलशप्रमाणमुक्तम्—

पञ्चाशदङ्गुलो व्यास उत्सेधः षोडशाङ्गुलम् ।
कलशानां प्रमाणं तन्मुखमष्टाङ्गुलं भवेत् ॥१३५॥ इति ।

सूत्रे तु विशेषोऽन्यत्रोक्तः—

कन्याकर्त्तितसूत्रेण त्रिगुणेन च कर्मणा ।
गुणत्रयात्मकेनैवं वेष्टयेदभितः समम् ॥१३६॥ इति ।

वायवीयसंहितायां सूत्रेण कण्ठ एवं वेष्टनमुक्तम् । यथा—

सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं मृण्मयमेव वा ।
गन्धपुष्पाक्षताकीर्णं कुशदूर्वाङ्कुरार्च्चितम् ॥१३७॥
सितसूत्रावृतं कण्ठे नववस्त्रयुगावृतम् । इति ।

नवरत्नानि तु सारसङ्ग्रहे—

पुष्पं नीलं च वैदूर्य्यं विद्रुमं मौक्तिकं तथा ।
ततो मरकतं वज्रं गोमेदं पद्मरागकम् ॥१३८॥

प्रोक्तानि नवरत्नानि देशिकैस्तन्त्रवित्तमैः ।
नवरत्नानि निक्षिप्य कुम्भे कूर्चमथोपरि ॥१३९॥

दूर्वाचन्दनसंयुक्तं विन्यसेदक्षतान्वितम् ।
क्षाद्यन्तक्रमतो मन्त्री मातृकां मनसा जपन् ॥१४०॥

मूलमन्त्रं जपन्नन्ते चिन्तयन्नैक्यमात्मनः ।
घटस्य पीठाभेदं च चिन्तयन्साधकोत्तमः ॥१४१॥

पञ्चाशदौषधिक्वाथैः पूरयेत्तदनन्तरम् ।
दुग्धवृक्षत्वचां क्वाथैर्ब्रह्मभूरुट्त्वगुद्भवैः ॥१४२॥
गन्धपङ्कप्रसूनादिवासितैर्वा शुभैर्ज्जलैः ।

शारदातिलकेऽपि—

क्षीरद्रुमकषायेण पालाशत्वग्भवेन वा ।
तीर्थोदकैर्वा कर्पूरगन्धपुष्पसुवासितैः ॥१४३॥

आत्माभेदेन विधिवन्मातृकां प्रतिलोमतः ।
जपन्मूलमनुं तद्वत्पूजयेद्देवताधिया ॥१४४॥

शङ्खे क्वाथाम्बुसम्पूर्णे गन्धाष्टकमभीष्टदम् ।
विलोड्य पूजयेत्तस्मिन्नावाह्य सकलाः कलाः ॥१४५॥

दश वह्नेः कलाः पूर्वं द्वादश द्वादशात्मनः ।
कलाः षोडश सोमस्य पश्चात्पञ्चशतं कलाः ॥१४६॥

जपित्वा प्रतिलोमेन मूलमन्त्रं च मन्त्रवित् ।
समाहितेन मनसा ध्यायन्मन्त्रस्य देवताम् ॥१४७॥

प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीत तत्र तन्त्रविचक्षणः[1] ।
कलात्मकं शङ्खसंस्थं क्वाथं कुम्भे विनिःक्षिपेत् ॥१४८॥

गन्धाष्टकं तत्त्रिविधं शक्तिविष्णुशिवात्मकम् ।
चन्दनागुरुकर्पूरचोरकुङ्कुमरोचनाः ॥१४९॥
जटामांसीकपियुता शक्तेर्गन्धाष्टकं विदुः ।

चोरः कचूर इति प्रसिद्धः । कपिः गठिवना[2] इति प्रसिद्धः ।

सारसङ्ग्रहे त्वन्यथोक्तम्—

चन्दनागुरुकर्पूरकाश्मीरै रोचनान्वितैः ।
सशिह्लकजटामांसीसटीभिः शक्तिसम्भवम् ॥१५०॥
गन्धाष्टकं शुभं वश्यं शक्तिमन्त्रेषु योजयेत् ।

---

१. ख. तत्र विचक्षणः ।   २. ख. वाठिवना ।

काश्मीरः कुङ्कुमः, रोचना गोरोचनाः, शिह्लकं शिलारस इति प्रसिद्धम्, सटी कचूर इति प्रसिद्धम् ।

शारदातिलके—

ह्रीवेरं चन्दनं कुष्ठमगुरुः कुङ्कुमं मुरम् ।
सेव्यकं च जटामांसी वैष्णव तदुदीरितम् ॥१५१॥

ह्रीवेरं बालकं, मुरं मुरहरीति प्रसिद्धं, सेव्यकं उसीरम् ।

जलकाश्मीरकुष्ठैश्च रक्तचन्दनचन्दनैः ।
तमालागुरुकर्पूरैः शाम्भव चाष्टगन्धकम् ॥१५२॥

जलं वालकम् ।

गन्धाष्टकस्य[1] संयोगात्सामर्थ्याद्देशिकस्य च ।
सशक्तिकं जलं कुम्भे भवेदेव विदुर्बुधाः ॥१५३॥

आदौ कृशानुसम्बन्धि कलादशकमर्च्चयेत् ।
कलाद्वादशकं सौरं पूजयेत्तदनन्तरम् ॥१५४॥

कलाषोडशकं चान्द्रं यजेत्पश्चाद् गुरूत्तमः ।
वेदादिभेदसञ्जाताः कलाः पञ्चाशतं तु वा ॥१५५॥

सन्निधाप्य समभ्यर्च्येत्ततो मंत्री तु ताः क्रमात् ।

सन्निधाप्य इत्यनेनावाहनमप्युक्तं सन्निधापनस्यावाहनपूर्वकत्वात् ।

मध्ये मध्ये ऋचः पञ्च पूजनीया इमा अपि ॥१५६॥
आत्ममन्त्रं समुच्चार्य्य [2]शुचिषत्पदमुच्चरेत् ।
वसुरन्तपदं तद्वद्रिक्षसद्धो-पद ततः ॥१५७॥

वदेत्तावेदिषपदं दतिथिर्दुपद ततः ।
रोणसत्पदमुच्चार्य्य नृषद्वरपदं वदेत् ॥१५८॥

वदेत्सदृतसद्व्योमसदब्जागोपदं वदेत् ।
वदेज्जात्रातजेत्यस्मदद्रिजाशब्दमुच्चरेत् ॥१५९॥

सप्तमस्वरमुच्चार्य्य सबिन्द्वाषाढिनं वदेत् ।
उक्त्वा बृहत्पदं चान्ते प्रथमो मन्त्र ईरितः ॥१६०॥

---

१. ख. गन्धाष्टकस्य । २. क. शुचिषद्पद० ।

आत्ममन्त्रः हंस इति, सप्तमस्वरऋकारः, आषाढी तकारः, अन्यानि पदानि स्वरूपाणि । तथा—

लोहितो वह्निसहितः पूतना ह्यन्तिका ततः ।
उक्त्वा ष्णुस्तवते-पश्चाद्वीर्येण-मृपदं वदेत् ॥१६१॥
गोनभीमश्च कुचरो गिरिष्ठाश्च ततो वदेत् ।
यस्योरुषु त्रिषुपदं ततौ विक्रमणेष्वधि ॥१६२॥
क्षियंति भुपदं ब्रूयाद्वनानि च ततो वदेत् ।
तोयस्थो माधवः पश्चाद्वान्तः स्यात्तोयकान्तियुक् ॥१६३॥
द्वितीयो मनुराख्यातस्तृतीयः प्रोच्यतेऽधुना ।

लोहितः पकारः, वह्निः रेफः, तद्युक्तस्तेन प्र, पूतना तकारः, तोयं वकारः तत्स्थो माधव इकारः तेन वि, वान्तः शः, तोयं वः, कान्तिः आ ताभ्यां युक्तस्तेन श्वा इति, अन्यानि पदानि स्वरूपाणि ।

णान्तोऽग्निमान्तोपान्त्यस्थकलायुक्पतृतीयकः ।
चतुर्मुखः सचन्द्रार्द्धस्ततः स्याच्च यजामहे ॥१६४॥
पदं[1] सुगन्धिम्पुष्टीति वर्द्धनं च ततो वदेत् ।
पदमुर्वारुकमिवबन्धनान्मृपदं वदेत् ॥१६५॥
त्योर्मुक्षीयपदं पश्चान्मामृतात्पदमुच्चरेत् ।

णान्तः तकारः, अग्निः रेफ, मान्तो यकारः, उपान्त्यकलाबिन्दुः, एतैः त्र्यं इति । पतृतीयो बकारः, चतुर्मुखः ककारः चन्द्रार्द्धो बिन्दुः तेन कं इति । अन्यानि पदानि स्वरूपाणि ।

गायत्र्यात्मा चतुर्थः स्यान्मन्त्रः ख्यातो जगत्यलम् ॥१६६॥
तोयस्था शाल्मली प्रोक्ता सहजा-ढान्त-विष्णुयुक् ।
अग्निश्च केवलः प्रोक्तो योनिं कल्पपदं वदेत् ॥१६७॥
यतु-त्वष्टा-पदं पश्चात्तेजोरूपाणि पिंशतु[2] ।
आसिञ्चतु प्रजा पश्चात्पतिर्द्धाता-पदं वदेत् ॥१६८॥
गर्भं दधात्विति पदमाषाढीपद्मनाभयुक् ।
पञ्चैते वैदिका मन्त्रास्तेष्वेकैकं प्रपूजयेत् ॥१६९॥

तोयं वकारः, शाल्मली इकारः, तेन वि इति । सहजा षकारः, ढांतो

---

१. ख. सुगन्धि । २. ख. विंशतु ।

णकारः, विष्णुयुक् उकारयुक्तः, तेन ष्णु इति । अग्नी रेफः, केवलः विस्वरः, आषाढी तकारः, पद्मनाभ एकारः तेन ते इति ।

तारस्य पञ्चभेदोत्थकला- नामान्तरे सुधीः ।
आवाह्यादौ कलाः पश्चात्सन्निधाप्याऽत्र देशिकः ।
प्राणा न्संस्थाप्य चाभ्यर्चेद् गन्धाद्यैः साधकोत्तमः ॥१७०॥
यत्र यत्र कलापूजा विधिस्तत्रैवमेव हि ।
तारस्य पञ्चभेदोत्थकलानां पूजने सुधीः ॥१७१॥
कलादशकमावाह्य सृष्ट्याद्यं सन्निधाप्य च ।
हंसः शुचिषदित्याद्यां ऋचं संजाप्य पूजयेत् ॥१७२॥
प्राणसंस्थापनं कुर्यात् कलानां पूजयेच्च ताः ।
एव जराद्यास्तीक्ष्णाद्याः पीताद्याश्च विधानवित् ॥१७३॥
निवृत्याद्याश्चापि यजेदुक्तयुक्त्या विचक्षणः ।
अकारोकारकौ प्रोक्तौ सकारो नादबिन्दुकौ ॥१७४॥
शक्तिसान्तावमी सप्त ध्रुवभेदाः समीरिताः ।
अन्तिमौ द्वाविमौ भेदौ पृथगेव समीरितौ । १७५॥

शक्तिः सकारः, सांतो हकारः, अत्राग्निसूर्यसोमकलाः सामान्यार्घस्थापनविधौ प्रागुक्ता एव, तारोत्थपञ्चाशत्कला न्यासप्रकरण उक्ताः ।

सारसङ्ग्रहे—

ततो रसालपनसपिप्पलद्रुमपल्लवैः ।
सुत्रामवल्लरीनद्धैः कल्पवृक्षमनीषया ॥१७६॥
कलशस्याननं मन्त्री पिदधीत समाहितः ।
पश्चादक्षतसंयुक्तां सफलां शुभचक्रिकाम् ॥१७७।
देशिकेन्द्रः समादाय स्थापयेत्पल्लवोपरि ।
कल्पवृक्षफलानां हि मत्या विशदधीर्गुरुः ॥१७८॥
पट्टाम्बरयुगेनैव घटं पश्चात्प्रवेष्टयेत् ।

शारदातिलकेऽपि—

पश्चादश्वत्थपनसचूतकोमलपल्लवैः ।
इन्द्रवल्लीसमाबद्धैः सुरद्रुमधिया गुरुः ॥१७९॥
कुम्भवक्त्रं पिधायाऽस्मिंश्चषकं सफलीकृतम् ।
संस्थापयेत्फलधिया विधिवत्कल्पशाखिनाम् ॥१८०॥
ततः कुम्भं निर्मलेन क्षौमयुग्मेन वेष्टयेत् ।

अन्यत्रैकवस्त्रेणापि वेष्टनमुक्तम्—

अतिसूक्ष्मतरेणैव विशुद्धेन नवेन च ।
मायातत्वस्वरूपेण वेष्टयेद्वाससा घटम् ।।१८१।।

सारसङ्ग्रहे—

प्रधानकुम्भं संस्थाप्य वेद्यामेवं गुरूत्तमः ।
तोरणानां समीपेषु पूर्वादिषु यथाक्रमम् ।।१८२।।

तोरणशब्देन तोरणसमीपस्थानि द्वाराणि लक्ष्यन्ते तेन द्वारसमीपे इत्यर्थः ।

प्राग्वन्मण्डलमालिख्य पद्मं वाष्टदलं[1] शुभम् ।
प्रागुक्तविधिना तेषु कुम्भान्संस्थाप्य देशिकः ।।१८३।।

ध्रुवं धरां वाक्पतिं च विघ्नेशं तेषु पूजयेत् ।
आग्नेयादिषु कोणेषु कुम्भान्संस्थाप्य पूर्ववत् ।।१८४।।

अमृतं दुर्जयं चैव सिद्धार्थं मङ्गलं तथा ।
सम्पूज्य वह्निकोणादिष्विन्द्रादीनथ पूजयेत् ।।१८५।।

पूर्वादिष्वष्टकुम्भेषु तेषां मन्त्रैस्तु वैदिकैः ।
पुनः पूर्वादिकुम्भेषु पूजयेद्दिग्गजानपि ।।१८६।।

ऐरावतं पुण्डरीकं वामनं कुमुदाञ्जनौ ।
पुष्पदन्तं सार्वभौमं सुप्रतीकं च देशिकः ।।१८७।।

पुनर्वेद्यां गुरुर्गत्वा उपविश्य निजासने ।
सञ्चिन्त्य मूलमन्त्रेण मूर्त्तिं तस्मिन् गुरूत्तमः ।।१८८।।
तस्यां मूर्त्तौ समावाह्य पूजयेदिष्टदेवताम् ।

शारदातिलकेऽपि—

मूलेन मूर्त्तिमिष्ट्वास्मिञ्छायायां कल्पशाखिनाम् ।
आवाह्य पूजयेत्तस्यां मन्त्री मन्त्रस्य देवताम् ।।१८९।।

पदार्थादर्शे—

मन्त्रस्य देवतामित्येकमन्त्रदीक्षायाम् । पञ्चायतनदीक्षापक्षे पञ्चकलशान् संस्थाप्य तत्तत्कलशे तत्तद्देवतामावाहयेदिति मन्त्रीत्यनेनोक्तम् । तदुक्तमाचार्यैः—

प्रोक्तेनैवं कलशविधिनैकेन वाऽनेककुम्भैः ।इति ।

---

१. ख. चाष्टदले ।

पञ्चायतनदेवतास्थापनविधिस्तु पूर्वमुक्त एव। तत्तत्स्थाने तत्तत्कलशं स्थापयेत्। इति।

सारसङ्ग्रहे—

स्मृत्वा मूलमनुं मन्त्री सम्यङ्नाडीपथा ततः।
निर्गमय्य च चैतन्यं नासिकाग्रविनिर्गतम् ॥१९०॥

अञ्जलौ मातृकापद्मे महः पुष्पान्विते गुरुः।
मस्तकान्तं समुत्थाप्य तस्यामावाहयेत्ततः ॥१९१॥

संस्थापनं प्रथमतः सन्निधानमतः परम्।
सन्निरोधं च सकलीकरणं त्ववगुण्ठनम् ॥१९२॥

अमृतीकरणं परमीकृतिं च स्वस्वमुद्रया, सन्निरोधं चेति चकारात्सम्मुखीकरणमपि ज्ञेयम्।

क्रमाद्विदध्याच्च तत उपचारान्प्रकल्पयेत्।
आसनादिप्रसूनान्तानुपचारान्प्रकल्प्य च ॥१९३॥

तत्तन्मन्त्रविधानेषु प्रोक्ताङ्गावरणान्यपि।
सर्वान्ते लोकपालानां तदस्त्राणां च पूजनम् ॥१९४॥

विधाय पूजामेवं हि धूपदीपनिवेदकैः।

प्रपञ्चसारे—

कृते निवेद्ये च ततो मण्डलं परितः क्रमात्।
मङ्गलाङ्कुरपात्राणि स्थापनीयानि मन्त्रिणा ॥१९५॥

वेदिकायां दक्षभागे कृत्वा स्थण्डिलमुत्तमम्।
संस्थाप्य वह्निं संस्कृत्य वैश्वदेवं समाचरेत् ॥१९६॥

यथाविधि ततस्तत्र गन्धाद्यैर्देवतां यजेत्।
तत्र प्रणवपूर्वाभिर्हुत्वा व्याहृतिभिः पुरा ॥१९७॥

मूलाणुना ततो हुत्वा साज्येन हविषा सुधीः।
पञ्चविंशतिधा पश्चाद् हुत्वा व्याहृतिभिः पुनः ॥१९८॥

सम्पूज्य तां चन्दनाद्यैः पीठमूर्त्तौ तु योजयेत्।
अग्निं विसृज्य शिष्टेन पायसेन बलिं हरेत् ॥१९९॥

पार्षदेभ्यश्चन्दनादि पुष्पाक्षतसमन्वितम् ।
तत उत्थाप्य नैवेद्यं तत्स्थलं शोधयेत्सुधीः ॥२००॥
पुनर्य्यजेच्चोपचारैः पञ्चभिर्दर्शयेत्ततः ।

छत्रं चेति च चकाराद्दर्पणव्यजने गृह्येते ।

सहस्रं च जपेन्मन्त्री मूलमन्त्रं समाहितः ।
देवतायै निवेद्याऽथ तं जपं सम्पदे ततः ॥२०१॥

शारदातिलके—

ततः शम्भोर्द्दिशि गुरुर्विकिरेत्पूर्वसञ्चिते ।
हेमवस्त्रादिसंयुक्तां कर्करीं तोयपूरिताम् ॥२०२॥

संस्थाप्य तस्यां सिंहस्थां खड्गखेटकधारिणीम् ।
घोररूपां पश्चिमास्यां पूजयेदस्त्रदेवताम् ॥२०३॥

चलासनेन सम्पूज्य तामादाय गुरुः पुनः ।
रक्षेति लोकपालानां नालमुक्तेन वारिणा ॥२०४॥

देवाज्ञां श्रावयन्नन्तः परिवृत्य प्रदक्षिणम् ।
अस्त्रमन्त्रं समुच्चार्य्य यथापूर्वं निवेशयेत् ॥२०५॥

अभ्यर्च्य भूयो गन्धाद्यैरस्त्रं जप्त्वा स्थिरासने ।
ततश्चमत्कृते वह्नौ गोक्षीरेण चरुं पचेत् ॥२०६॥

अस्त्रेण क्षालिते पात्रे नवे ताम्रमयादिके ।

ताम्रमयादिकेत्यत्रादिशब्देन मृण्मयमपि पात्रं ग्राह्यम् । तदुक्तम्-

कात्यायनेन—

तिर्य्यगूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढा नातिबृहन्मुखी ।
मृण्मय्यौदुम्बरी वापि चरुस्थाली प्रशस्यते ॥२०७॥

समिन्मात्रा प्रादेशमात्रप्रमाणा प्रादेशान्नाधिका नोनेति **कपिलवचनात्** ।

शारदातिलके—

तण्डुलान् शालिसम्भूतान्मूलमन्त्राभिमन्त्रितान् ।
प्रसृतीनां पञ्चदश क्षिप्त्वा चास्त्रमनुं जपन् ॥२०८॥

तण्डुलान् त्रिः प्रक्षाल्य क्षिपेदित्युक्तं **गोभिलेन** । यथा—त्रिःफलीकृतांस्तण्डुलांस्त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेदिति । तथा—

प्रक्षाल्य पात्रवदनं पिधाय कवचाणुना ।
प्राङ्मुखो मूलमन्त्रेण देशिकेन्द्रश्चरुं पचेत् ॥२०६॥
मेक्षणेनोर्ध्वमवघट्टयन् पचेत्............... ।

इत्युक्तं **गोभिलेन** यथा—

'कुशलः भृतमिव स्थालीपाकं श्रपेत् प्रदक्षिणमुदायुवन्निति' । उत् ऊर्ध्वं आयुवन् आमिश्रयन् अवघट्टयन्नित्यर्थः । **मेक्षणलक्षणं** तु **कात्यायनेनोक्तम्**—

इध्मजातीयमिध्मार्द्धप्रमाणं मेक्षणं भवेत् ।
वृत्तं वार्क्षं च पृथ्वग्रमवदानक्रियाक्षमम् ॥२१०॥ इति ।

तथा— स्रुवेणाज्येन संस्विन्ने दद्यात्तप्ताभिधारणम्[1] ।
मूलेन पश्चात्तत्पात्रं कवचेनाऽवतारयेत् ॥२११॥

स्विन्नलक्षणं तु—
स्वशाखोक्तश्च सुस्विन्नो ह्यदग्धोऽकठिनः शुभः ।
न चातिशिथिलः पाच्यो न च वीतरसो भवेत् ॥२१२॥

तथा— अस्त्रजप्ते कुशास्तीर्णे मण्डले विधिवद्गुरुः ।
तं विभज्य त्रिधा भागमेकं देवाय कल्पयेत् ॥२१३॥
अन्यमग्नौ प्रजुहुयादपरं देशिकः स्वयम् ।
शिष्येण सार्द्धं भुञ्जीत विहिताचमनस्ततः ॥२१४॥

भोजने विशेषः **सोमशम्भौ**—
चरोस्तृतीयभागं तु ग्रासत्रितयसम्मितम् ।
अष्टग्रासप्रमाणं वा दशनस्य स्पर्शवर्जितम् ॥२१५॥
पालाशे पुटके मुक्तौ भुक्तौ पिप्पलपत्रजे ।
हृदा सम्भोजयेन्मन्त्री पूतैराचामयेज्जलैः ॥२१६॥ इति ।

तथा— आचान्तं शिष्यमानीय सकलीकृत्य देशिकः ।
तालप्रमाणं हृज्जप्तं क्षीरवृक्षादिसम्भवम् ॥२१७॥
दन्तकाष्ठं तदा दद्याच्छिष्याय नियतात्मने ।

काललक्षणं तु—
अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ ये हस्तस्य प्रसारिते ।
तदग्रयोरन्तरालं तालमाहुर्मनीषिणः ॥२१८॥ इति ।

---

१. ख. दद्यात्तप्राज्ञाभिध्वारणम् ।

दन्तधावनदानमन्त्रस्तु पिङ्गलामते—

माया दण्डिनि ठद्वन्द्वं प्रदद्यादमुना च तत् । इति ।

माया ह्रीमिति, दण्डिनि इति स्वरूपं, ठद्वन्द्वं स्वाहा । तथा—

दन्तान्विशोध्य स पुनस्तत्प्रक्षाल्य विसर्ज्जयेत् ॥२१६॥

नारायणीये—

दन्तकाष्ठं हृदा जप्तं क्षीरवृक्षादिसम्भवम् ।
सम्मार्ज्य दन्तांस्तच्छित्वा प्रक्षाल्यैतद्भुवि क्षिपेत् ॥२२०॥

पातनानन्तरं परीक्षा तु पूर्वमेवोक्ता । तथा—

यथाविधि तमाचान्तं शिखाबन्धाभिरक्षितम् ।
विधाय सार्द्धममुना वेद्यां दर्भास्तरे गुरुः ॥२२१॥
शयीत तस्यां तां रात्रिमधिवासः समीरितः ।

सोमशम्भौ तु विशेषः—

गृहस्थान् दर्भशय्यायां पूर्वशीर्षान्विरक्षितान् ।
हृदा सद्भस्मशय्यायां यतीन्दक्षिणमस्तकान् ॥२२२॥ इति ।

वायवीयसंहितायां तु—

देवस्य दक्षिणे भागे शिष्यं तमधिवासयेत् ।
अहतास्तरणास्तीर्णे सदर्भशयने शुचिः ॥२२३॥

मन्त्रिते च शिवं ध्यायन्प्राक्शिरस्को निशि स्वपेत् ।
शिखाबन्धस्य सूत्रस्य शिखया तच्छिखां गुरुः ॥२२४॥

आवेष्ट्याऽहतवस्त्रेण तमाच्छाद्य च वर्मणा ।
रेखात्रयं च परितो भस्मना[1] तिलसर्षपैः ॥२२५॥
कृत्वाऽस्त्रजप्तैस्तद्बाह्ये दिगीशानां बलिं हरेत् । इति ।

योगिनीतन्त्रे—

यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैव—
मावृत्य मन्त्रान् प्रयतस्त्रिरेतान् ।
लघ्वेकभुग्दक्षिणपार्श्वशायी
स्वप्नं परीक्ष्येत यथोपदेशम् ॥२२६॥

---

१. ख. सभस्म ।

मन्त्रानिति बहुवचनेन सकलं सूक्तं गृह्यते ।

तथा— ॐ भगवन्देवदेवेश शूलभृद् वृषवाहन ।
इष्टानिष्टे समाचक्ष्व मम सुप्तस्य शास्वत ॥२२७॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे—
ॐ हृत्सकललोकाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
विश्वाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥२२८॥
[1]स्वप्नमाणवमन्त्रोऽयं कथितो नारदादिभिः ।

शैवशाक्तादौ तु पिङ्गलामते—
तारो हिलिद्वयं शूलपाणये द्विठ ईरितः ।
[2]स्वप्नमाणवमन्त्रोऽयं शम्भुना परिकीर्त्तितः २२९॥ इति ।
वामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ॥२३०॥

तन्त्रान्तरे विशेषः—
[3]नमोऽजाय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय महात्मने ।
स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः ।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥२३१॥ इति ।

प्रातश्च स्वप्नपरीक्षा कार्या । तदुक्तं पिङ्गलामते—
स्वप्ने शुभाशुभं दृष्टं पृच्छेत्प्रातः शिशुं गुरुः ।
शुभे शुभं वदेत्तस्य जुहुयादशुभे शतम् ॥२३२॥
अस्त्रेणेति क्रमात्प्रोक्तो विधिः शिष्याधिवासने । इति ।

महाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—
गुरुपादार्च्चनं कृत्वा उपवासी जितेन्द्रियः ।
दर्भशय्यागतो रात्रौ दृष्ट्वा स्वप्नं निवेदयेत् ॥२३३॥

अत्रोपवासीति रागप्राप्तभोजननिषेधः, न तु वचनविहितचरुभोजन-निषेधः ।[4]

---

१. २. क. स्वप्नमानवमन्त्रोऽयं । ३. ख. नभोजाय ।

४. अतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—
निबन्धे—प्रातः परीक्षयेत्स्वप्नं क्रूरश्चेदधमां वदेत् ।
किञ्चिद्दुष्टे मध्यमाख्यां दीक्षां श्रेष्ठे महाफलाम् ॥१॥
स्वप्नाभावे सिद्धिहीनामिति निश्चित्य भावयेत् ।
दुष्टे क्रूरे च हीने च प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥२॥

॥ अथ शुभसूचकस्वप्नाः ॥ तत्र—

योगिनीतन्त्रे—

त्रिविधं दर्शनं तस्य यथार्थमयथार्थकम् ।
अपाचकं यत्सुस्थानां संयतानां हि दर्शनम् ॥२३४॥

यथार्थं तदयथार्थमस्वस्थानां विकारजम् ।
अपाचकं मानसं च यथार्थं फलमुच्यते ॥२३५॥

एषां स्वरूपमाह—यदिति । दर्शनं देवादीनां, विकारजं पित्तादीनां, मानसं मनोविकारजम् ।

आगमसिद्धान्ते—

आद्ये वर्षे वत्सरार्द्धाद् द्वितीये,
यामे पाको वर्षपादात्तृतीये ।
मासे पाकः शर्वरीतुर्ययामे,
सद्यःपाको यो विसर्गेषु दृष्टः ॥२३६॥

आद्ये यामे दृष्टस्य स्वप्नस्य वर्षमात्रे पाकः फलं, एवमग्रेऽपि । विसर्गे निशान्ते । तथा—

क्रूरेऽधमा मध्यमा स्याददृष्टेऽनुत्तमोत्तमे ।

न विद्यते उत्तमो यस्याः सा सिद्धिरुत्तमे स्वप्ने इत्यर्थः । तानेवाह तत्रैव—

स्वप्ने पश्यति वै देवं निजेष्टं सर्वतोमुखम् ।
गुरुं प्रसादसुमुखं निर्मलं चन्द्रमण्डलम् ॥२३७॥

गङ्गां गां भारतीं भानुं लिङ्गिनं लिङ्गमैश्वरम् ।
प्रसन्नं तत्र जानीयात्सिद्धिं स्वप्ननिदर्शने ॥२३८॥

प्रसन्नं निजेष्टदेवम् । अत एव सिद्धिमपि ।

नारदपञ्चरात्रे—

क्षितिलाभः क्षतजाब्धितरणं चाग्निपूजनम् ।
होमश्च ज्वलिते वह्नौ सङ्ग्रामविजयस्तथा ॥२३९॥

हंसकोकमयूराणां रथारोहणमेव च ।

कोकश्चक्रवाकः

कपिलपञ्चरात्रे—

कन्यां छत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम् ।
कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फलितं द्रुमम् ॥२४०॥
पर्वतं च हयं मेध्यमाममांसं सुरासवम्
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुवात् ॥२४१॥

श्रुतिरपि—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥२४२॥

भैरवीतन्त्रे—

नदीसमुद्रतरणमाकाशगमनं तथा ।
भास्करोदयनं चैव प्रज्वलन्तं हुताशनम् ॥२४३॥
ग्रहनक्षत्रताराणां चन्द्रमण्डलदर्शनम् ।

नक्षत्राण्यश्विन्यादीनि, तारा अन्यानि ।

हर्म्यस्यारोहणं चैव प्रासादशिरसोऽपि वा ॥२४४॥
नागाश्ववृषभेन्द्राणां तरुशैलावरोहणम् ।
विमानगमनं चैव सिद्धमन्त्रस्य दर्शनम् ॥२४५॥
लाभः सिद्धिकरश्चैव देवीनां चैव दर्शनम् ।
एवमादीनि सन्दृष्ट्वा नरः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२४६॥
स्वप्ने तु मदिरापानमाममांसस्य भक्षणम् ।
कृमिविष्ठालेपनं च रुधिरेणाभिषेचनम् ॥२४७॥
भोजनं दधिभक्तस्य श्वेतवस्त्रानुलेपनम् ।
सिंहासनस्थं यानं च ध्वजं राज्याभिषेचनम् ॥२४८॥
रत्नान्याभरणादीनि दृष्ट्वा स्वप्ने प्रसीदति ।

नारदपञ्चरात्रे—

गुरुर्देवो द्विजः कन्यागोगजाश्वाश्च केसरी ।
दर्प्पणं शंखभेर्य्यौ च तन्त्रीवाद्यं च रोचनम् ॥२४९॥
ताम्बूलभक्षणं चैव तथा दध्यभिवन्दनम् ।
सिद्धान्नमाममांसं च मद्यस्त्रीमदिरासवाः ॥२५०॥
छत्रं यानं सितं वस्त्रं तथान्यच्छ्वेतचन्दनम् ।
माल्यमुक्ताफलं हारः पूर्णः समुदितः शशी ॥२५१॥

प्रचण्डकिरणः स्वस्थो निम्नगाऽथ महोदधिः ।
प्रफुल्लपादपः शालिरोचनाकुङ्कुमं मधु ॥२५२॥

लाजा सिद्धार्थकाबीजं नवभाण्डं च पायसम् ।
उपसन्नोऽप्यथाऽचार्य्यो गायत्रीवरसङ्गता ॥२५३॥

मनःप्रीतिकराश्चान्ये लोके शस्तपदं गताः ।
सर्वे स्वप्नाः शुभाः प्रोक्ताः सिद्धिमोक्षफलप्रदाः ॥२५४॥

॥ **अथाशुभसूचकाः** ॥ **नारदपञ्चरात्रे**—

चण्डालं कलभं काकं गर्त्तं शून्यममङ्गलम् ।
तैलाभ्यक्तं नरं नग्नं शुष्कवृक्षं सकण्टकम् ॥२५५॥

प्रासादमतलं दृष्ट्वा नरो रोगमवाप्नुयात् ।

कलभं बालगजम् । तत्र प्रायश्चित्तमाह **कपिलः**—

दृष्ट्वा दुःस्वप्नकं चैव होमात्सिद्धिमवाप्नुयात् ।
शुभे शुभं भवेत्तस्य जुहुयादशुभे शतम् ॥२५६॥

अस्त्रेणेति क्रमाद्विद्वान्……………। इति ।[1]

नारदपञ्चरात्रे—

दृष्ट्वा समाचरेद् होमं दन्तकाष्ठोदितं मुने ।
केवलेनाथ चाज्येन सिंहमन्त्रेण शान्तये ॥२५७॥

दन्तकाष्ठप्रकरणे तावदाह स्वयमेव—

शतं सहस्रं साष्टं वा यथाशक्त्याऽथवा द्विज ।
अस्त्रसम्पुटितेनैषां नाम्नां स्वाहान्वितेन च ॥२५८॥

दोषान् जहि जहीत्येवं पदं नामावसानगम् ।

अत्राऽस्त्रसिंहमन्त्रयोर्विकल्पः । एषां दोषनिदानानाम् ।

॥ **अथ स्वप्ननिवेदनम्** । **तत्रैव**—

शिष्यस्तु शुचिराचांतः पुष्पहस्तो गुरूत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा हृष्टस्तस्मै स्वप्नं निवेदयेत् ॥२५९॥

---

१. ख. पुस्तकेऽतः परमयमधिकोऽस्त्यंशः—

नारायणं शार्ङ्गधरं श्रीधरं पुरुषोत्तमम् ।
वामनं खड्गिनं चैव दुःस्वप्नेषु सदा स्मरेत् । इति निबन्धात् ।

स्वप्ने वाऽक्षिसमक्षं वा आश्चर्यमतिहर्षदम् ।
अकस्माद्यदि जायेत न ख्यातव्यं गुरोर्विना ॥२६०॥

मन्त्रप्रसादजनितं लिङ्गं च न गुरोर्विना ।
प्रकाशनीयं विप्रेन्द्र कस्यचित्सिद्धिमिच्छता ॥२६१॥

प्रकाशयति यो मोहादौत्सुक्यान्मन्त्रजं सुखम् ।
निकटस्थाश्च तास्तस्य सिद्धयो यान्ति दूरतः ॥२६२॥
आविर्भवन्ति दुःखानि शोकाश्च विविधा अपि ।

इति स्वप्ननिवेदनम् ।

पिङ्गलामते सद्योऽधिवासोप्युक्तः—

सद्योऽधिवासमथवा प्रकुर्वीत यथाविधि । इति ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—

दिनद्वयेनैव कुर्याद्दीक्षाकर्म विचक्षणः ।
सद्योऽधिवासनं वा स्यादेकस्मिन् दिवसे यदि ॥२६३॥ इति ।

अधिवासशब्दार्थ उक्तो **महाकपिलपञ्चरात्रे—**

वसतेरधिपूर्वस्य भावे घञ्प्रत्यये कृते ।
अधिवास इति ह्येष प्रयोगे सिद्धिमेति च ॥२६४॥

गुर्वादिसहितो वासो रात्रौ नियमपूर्वकः ।
सोऽस्यार्थो हि निपातानामनेकार्थतया मतः ॥२६५॥ इति ।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मजगोस्वामि-
श्रीशिवानन्दभट्टविरचिते
सिंहसिद्धान्तसिन्धौ दशमस्तरङ्गः ॥१०॥

एकादशस्तरङ्गः

।। अथाग्निस्थापनम् ।।

शारदातिलके—

ततोऽग्नियजनं वक्ष्ये सर्वतन्त्रानुसारतः ।
आचार्यकुण्डे विधिवत्संस्कृते शास्त्रवर्त्मना ।।१।।
अष्टादश स्युः संस्काराः कुण्डानां तत्र चोदिताः ।
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ।।२।।
तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्म्मणाऽभ्युक्षणं मतम् ।
अस्त्रेण खननोद्धारौ हृन्मन्त्रेण प्रपूरणम् ।।३।।
समीकरणमस्त्रेण सेचनं वर्म्मणा मतम् ।
कुट्टनं हेतिमन्त्रेण वर्ममन्त्रेण मार्ज्जनम् ।।४।।
विलेपनं कलारूपकल्पनं तदनन्तरम् ।
त्रिशूलीकरणं पश्चाद् हृदयेनार्च्चनं मतम् ।।५।।
अस्त्रेण वज्रीकरणं हृन्मन्त्रेण कुशैः शुभैः ।
चतुष्पथं तनुत्रेण तनुपादक्षपाटनम्[1] ।।६।।

शरेण तत्तदङ्गभूतास्त्रमन्त्रेण प्रोक्षणमुत्तानहस्ताग्रेण उत्तानेन हस्तेन प्रोक्षयेदिति सूत्रणात् । अभ्युक्षणं मुष्टिबन्धेन सर्वत्र सेचनम् । उद्धारः—खातमृदः पूरणं अन्यमृदा ।

नारदपञ्चरात्रे—

गृहीत्वा चैकदेशात्तु कुण्डमध्यात्तु मृत्तिकाम् ।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च हृदयेनाथ पूरयेत् ।।७।। इति ।

सेचनमभ्युक्षणमेव, कलारूपकल्पनं सोमसूर्याग्निकलारूपप्रकल्पनम्, त्रिसूत्रीकरणं सूत्रत्रयेण वेष्टनम् । हृदयेन पूजनं तु मेखलात्रयस्यैव । तदुक्तम्—

नारदपञ्चरात्रे—

समभ्यर्च्य ततोऽर्घाद्यैर्मध्यतः प्रणवेन च ।
तेनैव विधिना नाभिं पूजयेच्चन्द्रसन्निभम् ।।८।।
मेखलात्रयपूजायां हृन्मन्त्रं तु प्रयोजयेदिति ।

१, ख. तनुयापक्ष० ।

वज्रीकरणं वज्रवद्दृढचिन्तनम्, चतुष्पथं कुशैश्चतुर्दिक्षु मार्गचतुष्टय-करणम् । **अक्षपाटनलक्षणं** तु तत्रैव—

अच्छिन्नाग्रैस्ततोदर्भैरस्त्रमन्त्राभिमन्त्रितैः ॥९॥
कुण्डभित्तिगणं सर्वं वर्मणा परिभूषयेत् ।
इत्येवमक्षपाटाख्यं कुण्डसंस्कारमुत्तममिति ॥१०॥

हुंकारेण राक्षसनिवारणमिति केचित्—

तिस्रस्तिस्रो लिखेल्लेखा हृदा प्रागुदग्रगाः ।
प्रागग्रानां स्मृता देवा मुकुन्देशपुरन्दराः ॥११॥
रेखाणामुदगग्राणां वर्म वैवस्वतेन्दवः ।

अत्र रेखालेखने कुत आरम्भः कुत्रावसान इत्याकाङ्क्षायामाह—

सौत्रामणीतन्त्रे—

प्राचीमूर्ध्वमुदक्संस्थं दक्षिणारम्भमालिखेत् ।

प्राचीमूर्ध्वं प्रागग्राम् ।

उदगग्रं पुरःसंस्थं पश्चिमारम्भमालिखेत् ॥१२॥

इति पुरःसंस्थं पूर्वं दिग्गतम् ।

नारदपञ्चरात्रे—

उल्लिखेदस्त्रराजेन दर्भकाण्डेन यत्नतः ।
[1]भूमावभ्यन्तरे कुण्डे दक्षिणांशादितः क्रमात् ॥१३॥
उत्तराशावधिं यावद्दद्याद् रेखात्रयं समम् ।
प्रत्यग्भागात्समारभ्य यावत्पूर्वावधिं तथा ॥१४॥ इति ।

अत्र हृन्मन्त्रास्त्रमन्त्रयोर्विकल्पो **यामले**—

'षट्कोणेनावृतं देवि त्रिकोणं तत्र संलिखेत् ।'

शारदातिलकेऽपि—

अथवा षट्कोणवृत्तं त्रिकोणं तत्र संलिखेत् ।
सर्वाण्यभ्युक्ष्य तारेण योगपीठमथार्चयेत् ॥१५॥

सोत्रामणीतन्त्रे तु—'प्रोक्षयेद्वाग्भवेन वे'त्युक्तम् । तेन तारवाग्भवयोर्वि-

---

१. ख. भूवावभ्यन्तरे ।

कल्पः । अभ्युक्षणं तु कुशजलेन विधेयम् 'अभ्युक्षितकुशाम्भोभि' रिति **योगिनीतन्त्र-**
वचनात् । [2]योगपीठार्च्चनं प्रयोगेऽभिधेयम् ।

शारदातिलके—

वागीश्वरीमृतुस्नातां नीलेन्दीवरसन्निभाम् ।
वागीश्वरेण संयुक्तामुपचारैः प्रपूजयेत् ॥१६॥

सारसङ्ग्रहेऽपि—

तत्र शक्तिं च संस्मृत्य सम्यगृतुमतीं शुभाम् ।
अतीन्द्रियाभां सकलजगदात्म स्वारूपिणीम् ॥१७॥

ईशानसहितां तत्र सम्यग्गन्धादिभिर्यजेत् ।
शक्तिमन्त्रेण तां शक्तिमीशानं मूलमन्त्रतः ॥१८॥

शारदातिलके—

सूर्यकान्तादिसम्भूतं यद्वा श्रोत्रियगेहजम् ।
आनीय वह्निं पात्रेण क्रव्यादांशं परित्यजेत् ॥१६॥

अभ्यर्च्य मन्त्रवित्सम्यङ् मणिजं वारणेयकम् ।
कुलीनद्विजगेहोत्थं पात्रे हुतवहं ततः ॥२०॥

सारसङ्ग्रहेऽपि—

आनाय्याऽस्त्रेण नैर्ऋत्यां क्रव्यादांशं परित्यजेत् ।
देवांशं मूलमन्त्रेण स्थापयेदग्रतः सुधीः ॥२१॥

अत्र पात्रे ताम्रादिपात्रे । यदाहात्रिः—

पात्रान्तरेण पिहिते ताम्रपात्रादिके शुभे ।
अग्निप्रणयनं कुर्याच्छरावे तादृशेऽपि वा ॥२२॥

शरावे भिन्नपात्रे वा कपाले वोल्मुकेऽपि वा ।
नाग्निप्रणयनं कुर्य्याद् व्याधिहानिभयावहम् ॥२३॥

स्मृतिसार इति लिखितवचनं पुरातनमृत्पात्रपरम् । अभिनवेत्युक्तेः ।

---

२. ख. इतः पूर्वमधःस्थोंशो विशेषः—

प्रपञ्चसारे—'प्राणाग्निहोत्रविधिनाऽथावसथीयाह्वयेऽनलस्थाने'

प्राणाग्निहोत्रविधिरपि तत्रैव—

मध्येन्द्रवरुणशशियमदिग्गतानि क्रमेण कुण्डानि ।
आवसथ्यसभ्याहवनीयानाहार्यगार्हपत्यानि ॥ इति ।

शारदातिलके—

संस्कुर्यात्तं यथान्यायं देशिको वीक्षणादिभिः ।
औदर्यबैन्दवाग्निभ्यां भौमस्यैवत्रं स्मरन्वसोः ॥२४॥

योजयेद् वह्निबीजेन चैतन्यं पावके तदा ।
तारेण मन्त्रितं मन्त्री धेनुमुद्रामृतीकृतम् ॥२५॥

अस्त्रेण रक्षितं पश्चात् [1]तनुत्रेणावगुण्ठितम् ।
अर्चितं त्रिः परिभ्राम्य कुण्डस्योपरि देशिकः ॥२६॥

प्रदक्षिणं तदा तारमन्त्रोच्चारणपूर्वकम् ।
आत्मनोऽभिमुखं वह्निं जानुस्पृष्टमहीतलः ॥२७॥

शिवबीजं धिया देव्या योनावेनं विनिःक्षिपेत् ।
पश्चाद्देवस्य देव्याश्च दद्यादाचमनादिकम् ॥२८॥

वैष्णवयागे तु नारदपञ्चरात्रे—

तत्र नारायणाख्यस्य शक्तिर्विद्योतलक्षणा ।
लक्ष्म्याकृतिपदं प्राप्ता अमृतामृतजीवनी ॥२९॥

तथा कपिलपञ्चरात्रे—

कामोन्मत्तं ततः कृष्णं लक्ष्मीमृतुमतीं स्मरेत् ।
तयोः सङ्गमयोगेन वह्निः सञ्जातसंस्थितिः ॥३०॥ इति ।

कुम्भसम्भवोऽप्याह—

लक्ष्मीमृतुमतीं भद्रां प्रभोर्नारायणस्य च ।
ग्राम्यधर्मेण सञ्जातमग्निं तत्र विचिन्तयेत् ॥३१॥ इति॥

भैरवीतन्त्रे तु—

'योनावेवं विन्यसेत्स्वाभिवक्त्रं'
पश्चादग्निं मूलमन्त्रेण मन्त्री ।'

इत्युक्तम् । तदत्र प्रणवमूलमन्त्रयोर्विकल्पः । उदरे भव औदर्यः । बिन्दुः परमात्मा तस्याग्नीषोमात्मकत्वात्तद्भवो वह्निर्बैन्दवः । भूमौ भवो भौमः, वसोरग्नेः, वसुर्ह्रदे हुताशे चेति कोषात् ।

शारदातिलके—

१. ख. तनुरत्रेणाव० ।

ज्वालयेन्मनुनाऽनेन तमग्निमथ देशिकः ।
चित्पिङ्गल हन दह पचयुग्मानुदीर्य च ॥३२॥
सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा मन्त्रोऽयं प्रागुदीरितः ।

सारसङ्ग्रहेऽपि—

उक्त्वा चित्पिङ्गलपदं हनयुग्मं पचद्वयम् ।
दहयुग्मं च सर्वज्ञमाज्ञापय ततो द्विठः ॥३३॥
अमुं मनुं प्रभाष्यैव कृशानुं ज्वालयेत्ततः ।

सर्वज्ञमिति कर्मणि द्वितीयामन्त्रेण सम्बुद्धयन्तं ज्ञेयम् । 'सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहेति' **दक्षिणामूर्तिसंहितावचनात्**

शारदातिलके—

अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम् ।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं सर्वतोमुखम् ॥३४॥
उपतिष्ठेत विधिवन्मनुनाऽनेन पावकम् ।

पदार्थादर्शे—

जुहूषुश्च हुताग्निश्च पाणिसूर्पस्रुवादिभिः ।
न कुर्यादग्निधमनं कुर्याद्व्यजनादिना ॥३५॥
मुखेनैव धमेदग्निं [1]मुखादेशोध्यजायत ।
नाग्निं मुखेनेति तु यल्लौकिके योजयेत्तु तत् ॥३६॥

कुम्भसम्भवः—कुशैः प्रज्वालयेत्ततः' । **पदार्थादर्शे—अत्राग्निज्वालने** ज्वालिनीमुद्रां प्रदर्शयेन् । तल्लक्षणं तु—

मणिबन्धौ समौ कृत्वा करौ तु प्रसृताङ्गुली ।
मध्यमे मिलिते कृत्वा तन्मध्येऽङ्गुष्ठकौ क्षिपन् ॥३७॥
इयं सा परमा **मुद्रा ज्वालिनी** होमकर्मणि ।इति।

शारदातिलके—

विन्यसेदात्मनो देहे मन्त्रैर्जिह्वा हविर्भुजः ।
लिङ्गपायुशिरोवक्त्रघ्राणनेत्रेषु सर्वतः ॥३८॥
वह्नीरार्घीशसंयुक्ताः सादि-यान्ताः सबिन्दवः ।
वर्णा मन्त्राः समुद्दिष्टा जिह्वानां सप्त देशिकैः ॥३९॥
जिह्वास्तास्त्रिविधाः प्रोक्ता गुणभेदेन कर्मसु ।
हिरण्या गगना रक्ता कृष्णाऽन्या सुप्रभा मता ॥४०॥

---

१. ख. मुखादेषो० ।

बहुरूपाऽतिरक्ता च सात्विक्यो यागकर्मसु ।
पद्मरागा सुवर्णान्या तृतीया भद्रलोहिता ॥४१॥

लोहिताऽनन्तरं श्वेता धूमिनी च करालिका ।
राजस्यो रसना वह्नेर्विहिताः काम्यकर्मसु ॥४२॥

विश्वमूर्त्तिस्फुलिंगिन्यौ धूम्रवर्णा मनोजवा ।
लोहिताऽन्या करालाख्या काली तामस्य ईरिताः ॥४३॥

एताः सप्त नियुज्यन्ते क्रूरकर्मसु मन्त्रिभिः ।
स्वस्वनामसमानाः[१] स्युर्जिह्वाः कल्याणरेतसः ॥४४॥

अमर्त्यपितृगन्धर्वयक्षनागपिशाचकाः ।
राक्षसाः सप्त जिह्वानामीरिता अधिदेवताः ॥४५॥

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे तु—'हिरण्या कनका रक्ते'ति पाठः । वह्नी रेफः, ईरः—यकारः, अर्घीश ऊकारः, कल्याणरेतसः अग्नेरित्यर्थः ।

शारदातिलके—

वह्नेरङ्गमनून् न्यस्येत्तनावुक्तेन वर्त्मना ।
सहस्रार्चिः स्वस्तिपूर्णा उत्तिष्ठ पुरुषः पुनः ॥४६॥

धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्द्धर इति क्रमात् ।
षडङ्गमनवः प्रोक्ता जातिभिः सह संयुताः ॥४७॥

मूर्त्तीरष्टौ ततो न्यस्येद्देशिको जातवेदसः ।
मूर्द्धांसपार्श्वकट्यन्धुकटिपार्श्वांसिकेषु च ॥४८॥

प्रदक्षिणवशान्न्यस्येदुच्यन्ते ता यथाक्रमात् ।
जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहनसंज्ञकः ॥४९॥

अश्वोदरजसंज्ञोऽन्यः पुनर्वैश्वानराह्वयः ।
कौमारतेजाः स्याद्विश्वमुखो देवमुखः स्मृतः ॥५०॥

ताराग्नये पदाद्याः स्युर्नत्यन्ता वह्निमूर्त्तयः ।
आसनं कल्पयित्वाऽग्नेर्मूर्ति तस्य विचिन्तयेत् ॥५१॥

इष्टं शक्तिं स्वस्तिकाभीतिमुच्चैर्दीर्घैर्दोर्भिर्धारयन्तं जपाभम् ।
हेमाकल्पं पद्मसंस्थं त्रिनेत्रं ध्यायेद्वह्निं बद्धमौलिं जटाभिः ॥५२॥

---

१. ख. ०समाभा : ।

सारसङ्ग्रहे—

प्रदक्षिणक्रमेणैव संसिच्य च ततो जलैः ।
मेखलोपरि संशुद्धैः पुनर्दर्भचतुष्टयैः ॥५३॥
दिक्क्रमेण परिस्तीर्य्य दिक्ष्वैन्द्रीवर्जमात्मवित् ।
न क्षिपेत्परिधीन् ब्रह्मविष्णवीशांस्तेषु पूजयेत् ॥५४॥

दर्भचतुष्टयैः प्रागुदगग्रगैः पूर्वाग्रैरुत्तराग्रैश्च दर्भैरग्निं परिस्तरेदिति **गणेश्वरपरामर्शिणी**वचनात् । 'प्रागग्रैरथ दर्भैर्द्धनददिशाग्रैः परिस्तीर्यकुण्ड' मिति **भैरवीतन्त्र**वचनाच्च । त्रिमेखलकुण्डे मध्यमेखलायां परिस्तरणपरिधिप्रक्षेपः कार्यः । तदुक्तं **योगिनीतन्त्रे—**

'एकमेखलके कुण्डे मेखलाधः परिस्तरेत् ।
द्विमेखले द्वितीयायां मध्यमायां त्रिमेखलः ॥५५॥

ननु पश्चिममेखलासंलग्नतया नालस्य विद्यमानत्वान्मध्यमेखलायां परिस्तरपरिधिप्रक्षेपः कथं भवेदित्याकाङ्क्षायामाह—**सारसङ्ग्रहे—**

नालमेखलयोर्मध्ये परिधेः स्थापनस्य तु ।
रन्ध्रं कुर्यात्तथा विद्वान्मध्यस्थमेखलोपरि ॥५६॥ इति ।

तथा— 'स्थण्डिले सिकतानां तु बाह्ये परिस्तरेदिति ।'

परिधयस्तु कात्यायनेनोक्ताः—

परिधीन्परिदधात्याद्रानेकवृक्षीयान् बाहुमात्रान् पालाशवैकंकतकाश्मर्य्यवैल्वानिति । 'स्थण्डिलके सिकतानां बाह्येऽथ विन्यसेत्परिधीनि'ति च । ऐन्द्रीवर्ज्जं परिधीन्दिक्षु निक्षिपेदिति सम्बन्धः । दिक्ष्-पश्चिमदक्षिणोत्तरासु, स्थविष्ठो मध्यमः, अणीयान् द्राघीयान्, दक्षिणार्द्धः कनिष्ठो ह्रसिष्ठ उत्तरार्द्धं इति सूत्राद् पश्चिमे उत्तराग्रं अन्ययोः पूर्वाग्रं चेति । **संहितायाम्—**

पात्राण्यासाद्य विधिवद् द्वन्द्वशश्चापि मन्त्रवित् ।
तान्यवोक्ष्य पवित्रेण चोत्तानानि विधाय च ॥५७॥
पुनः प्रक्षालयेत्पात्रं परिपूर्य शुभाम्बुना ।
दत्वाऽक्षतान् पवित्रं च तदुत्पूय निधापयेत् ॥५८॥
दिश्युत्तरस्यां तत्पात्रं प्रणीतेत्युच्यते बुधैः ।
ततः किञ्चित्प्रणीताम्बु प्रोक्षण्याऽऽधाय तज्जलैः ॥५९॥
यज्ञसाधनसम्भारं प्रोक्षयेन्मूलमन्त्रतः । इति ।
ततो ब्रह्माणमावाह्य ह्यर्चयेन्मूलमन्त्रतः ॥६०॥ इति ।

तत्राधोमुखेन हस्तेन सेचनं अवोक्षणम् 'अवाङ्मुखेन हस्तेनावोक्षयेदि'ति सूत्रणात् ।

अन्यत्रापि—

स्ववामभागे प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य्य चोपरि ।
यथावित्तानुसारेण सौवर्णादीनि कर्मणि ॥६१॥

अधोमुखानि पात्राणि द्वन्द्वरूपाणि विन्यसेत् ।
उत्तानीकृत्य पात्राणि जलाज्यैः सम्प्रपूरयेत् ॥६२॥ इति ।

शारदातिलके—

ध्यातं वह्निं यजेन्मध्ये गन्धाद्यैर्मनुनाऽमुना ।
वैश्वानरजातवेदपदे पश्चादिहावह ॥६३॥

लोहिताक्षपदस्यान्ते सर्वकर्माणि साधय ।
वह्निजायावधिः प्रोक्तो मन्त्रः पावकवल्लभः ॥६४॥

मध्ये षट्स्वपि कोणेषु जिह्वाज्वालारुचो यजेत् ।
केसरेषूक्तमार्गेण पूजयेदङ्गदेवताः ॥६५॥

दलेषु पूजयेन्मन्त्री शक्तिस्वस्तिकधारिणीः ।
लोकपालांस्ततो दिक्षु पूजयेदुक्तलक्षणान् ॥६६॥

सोमशम्भौ—

रुद्रेन्द्रवह्निमांसादवरुणानिलगोचरे ।
हिरण्याद्याः स्थिता वह्ने रसनाः षट् ह्यनुक्रमात् ॥६७॥
मध्यतो बहुरूपा तु·····················।इति।

गणेश्वरपरामर्शिण्यामपि—

मध्ये च कोणषट्के च जिह्वाः सम्पूजयेत्ततः ।
हिरण्या तप्तहेमाभा शूलपाणिदिशि स्थिता ॥६८॥

वैदूर्य्यवर्णा कनका प्राच्यां दिशि समाश्रिता ।
तरुणादित्यसङ्काशा रक्ता जिह्वाऽग्निसंस्थिता ॥६९॥

कृष्णाञ्जनचयप्रख्या नैर्ऋत्यां दिशि संस्थिता ।
सुप्रभा पद्मरागाभा वारुण्यां दिशि संस्थिता ॥७०॥

अतिरक्ता जपाभासा वायव्यां दिशि संस्थिता ।
बहुरूपा यथार्थाभा दक्षिणोत्तरमध्यगा ॥७१॥

नारदपञ्चरात्रेऽपि—

प्रभा दीप्तिः प्रकाशा च मरीचिस्तापनी तथा।
कराला लेलिहा चेति कुण्डं व्याप्य व्यवस्थिताः ॥७२॥

ईशपूर्वाग्निदिग्भागे प्रभाद्यं त्रितयं स्थितम् ।
रक्षोवारुणवायव्ये मरीच्याद्यं त्रयं तथा ॥७३॥

सौम्येऽथ मध्यमे याम्ये स्थितैका लेलिहाभिधा । इति ।

हिरण्यादीनामेव नामान्तराणि प्रभादीनि । यद्वा वैष्णवयागे त्वेताः स्वतन्त्राः । तथा—

वायवीयसंहितायाम्—

हिरण्या प्रागुदक्जिह्वा कनका पूर्वतः स्थिता ।
रक्ताऽऽग्नेयी नैर्ऋती च कृष्णाऽन्या सुप्रभा मता ॥७४॥
अतिरक्ता मरुज्जिह्वा स्वनामानुगुणप्रभा ।

अन्यावारुणी ।

त्रिशिखा मध्यमा जिह्वा बहुरूपासमाह्वया ॥७५॥

तच्छिखैका दक्षिणतो ज्वलन्ती वामतः परा ।

इति **सात्विकजिह्वाः** । राजस्यस्तामस्यश्च वक्ष्यन्ते । केचित्तु—

कुण्डस्य मध्ये त्वथ सा प्रशस्ता जिह्वा हिरण्या भुवि कार्मणादौ ।
स्तम्भनादिषु मता कनकाऽन्तर्द्वेषणादिषु मता खलु रक्ता ।
मारणे निगदिता भुवि कृष्णा सुप्रभा बुधवरैरिह शान्त्याम् ॥७६॥

'उच्चाटनेऽतिरक्तान्तरि'ति वदन्ति ज्वालारुच इति जिह्वानां ध्यानम् ।

'जिह्वाः सर्वाः परिज्ञेया ज्वालाभासः स्वरूपतः ।'

इति **प्रयोगसार**वचनात् ।

एता ज्वालारुचा वीता वराभययुता अपि ॥७७॥

इति **गणेश्वरपरामर्शिणी**वचनाच्च ।

पिङ्गलामते—

'कुण्डे चाष्टादश ज्ञेयाः संस्काराः शिवशास्त्रतः ।'
घृते स्रुचि स्रुवे वाष्टा........................॥७८॥

इति स्रुक्स्रुवयोः संस्कारमाह ।

शारदातिलके—

पश्चादादाय पाणिभ्यां स्रुक्स्रुवौ तावधोमुखौ ।
त्रिः सम्प्रतापयेद्वह्नौ दर्भानादाय देशिकः ॥७९॥
तदग्रमध्यमूलानि शोधयेत्तैर्यथाक्रमम् ।
गृहीत्वा वामहस्तेन प्रोक्षयेद्दक्षिणेन तौ ॥८०॥
पुनः प्रताप्य तौ मन्त्री दर्भानग्नौ विनिक्षिपेत् ।
आत्मनो दक्षिणे भागे स्थापयेत्तौ कुशास्तरे ॥८१॥

शैवागमे—

गृहीत्वा स्रुक्स्रुवावूर्ध्वमुखौ चाधोमुखौ क्रमात् ।
प्रताप्याऽग्नौ त्रिधा दर्भमूलमध्याग्रकैः स्पृशेत् ॥८२॥
मूलमध्याग्रदेशे तु आत्मविद्याशिवात्मकम् ।
क्रमात्तत्वत्रयं न्यस्येद्धां हीं हूं बीजकैः प्रिये ॥८३॥
स्रुचि शक्तिं स्रुवे शम्भुं विन्यस्य हृदयाणुना ।
त्रिसूत्रवेष्टितग्रीवौ पूजितौ कुसुमादिभिः ॥८४॥
कुशानामुपरिष्टात्तु स्थापयेत्तौ स्वदक्षिणे ।

पिङ्गलामते—

पुनस्त्रिशः प्रताप्याऽधोमुखावग्नौ कुशान्क्षिपेत् ।
मूलमध्याग्रके न्यस्येच्छक्तीरिच्छादिकाः क्रमात् ॥८५॥

इच्छादिकाः इच्छाज्ञानक्रियाः ।

शारदातिलके—

आज्यस्थालीमथाऽदाय प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।
तस्यामाज्यं विनिःक्षिप्य संस्कृतं वीक्षणादिभिः ॥८६॥
निवृत्य वायव्येऽङ्गारान् हृदा तेषु विनिःक्षिपेत् ।
इदं तापनमुद्दिष्टं देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः ॥८७॥
सन्दीप्य दर्भयुग्मेन नीराज्याऽज्यं सवर्म्मणा ।
अग्नौ विसर्ज्जयेद्दर्भमभिद्योतनमीरितम् ॥८८॥
घृते प्रज्वलितान्दर्भान् प्रदर्श्याऽस्त्राणुना गुरुः ।
जातवेदसि तान्न्यस्येदुद्योतनमिदं मतम् ॥८९॥
गृहीत्वा घृतमङ्गारान्समूह्याऽग्नौ जलं क्षिपेत् ।
अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्यां दर्भौ प्रादेशसम्मितौ ॥९०॥

कृत्वोत्पुनीयादस्त्रेण घृतमुत्पवनं त्विदम् ।
तद्वद् हृदयमन्त्रेण कुशाभ्यामात्मसम्मुखम् ॥६१॥
घृते संप्लवन कुर्युः संस्काराः षडुदीरिताः ।

पिङ्गलामते—

उत्तमं गोघृतं प्रोक्तं मध्यमं महिषीभवम् ।
अधम छागलीजातं तस्माद् गव्यं प्रशस्यते ॥६२॥

शैवागमे—

गव्यमाज्यं समादाय मूलमन्त्राभिमन्त्रितम् ।
स्वकां ब्रह्ममयीं मूर्त्तिं संचिन्त्य परितापयेत् ॥६३॥

तथा वायवीयसंहितायाम्—

न्यस्य मन्त्रं घृते मुद्रां दर्शयेद्धेनुसंज्ञिताम् ।

शैवागमे—

प्रादेशमात्रदर्भाभ्यामङ्गुष्ठानामिकाग्रकैः ।
घृताभ्यां सम्मुखं वह्नेरस्त्रेणोत्पवमाचरेत् ॥६४॥

शारदातिलके—

प्रादेशमात्रं सग्रन्थि दर्भयुग्मं घृतान्तरे ।
निक्षिप्य भागौ द्वौ कृत्वा पक्षे शुक्लतरौ स्मरेत् ॥६५॥
वामे नाडीमिडां भागे दक्षिणे पिङ्गलां पुनः ।
सुषुम्णां मध्यतो ध्यात्वा कुर्याद् होमं यथाविधि ॥६६॥
स्रुवेण दक्षिणाद्भागादादायाऽऽज्यं हृदा गुरुः ।
जुहुयादग्नये स्वाहेत्यग्नेर्दक्षिणलोचने ॥६७॥
वामतस्तद्वदादाय वामे वह्निविलोचने ।
जुहुयादथ सोमाय स्वाहेति हृदयाणुना ॥६८॥
मध्यादाज्यं समादाय वह्नेर्भालविलोचने ।
जुहुयादथाग्नीषोमाभ्यां स्वाहेति हृदयाणुना ॥६९॥
हृन्मन्त्रेण स्रुवेणाऽऽज्यं भागादादाय दक्षिणात् ।
जुहुयादग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति तन्मुखे ॥१००॥
इति सम्पातयेत्तत्तद्भागेष्वाज्याहुतिं क्रमात् ।
इत्यग्निनेत्रवक्त्राणां कुर्यादुद्घाटनं गुरुः ॥१०१॥

सताराभिर्व्याहृतिभिराज्येन जुहुयात्पुनः ।
जुहुयादग्निमन्त्रेण त्रिवारं देशिकोत्तमः ॥१०२॥

गर्भाधानादिका वह्नेः क्रिया निर्वर्त्तयेत् क्रमात् ।
अष्टाभिराज्याहुतिभिः प्रणवेन पृथक्पृथक् ॥१०३॥

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं पुनः ।
अनन्तरं जातकर्म स्यान्नामकरणं तथा ॥१०४॥

उपनिःक्रमणं पश्चादन्नप्राशनमीरितम् ।
चौलोपनयने भूयो महानाम्न्यं महाव्रतम् ॥१०५॥

तथोपनिषदं पश्चाद्गोदानोद्वाहकौ मृतिम् ।
शुभेषु स्युर्विवाहान्ताः क्रियास्ताः क्रूरकर्मसु ॥१०६॥
मरणान्ताः समुद्दिष्टा वह्नेरागमवेदिभिः ।

नारदपञ्चरात्रे—

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य्य कर्मनाम समुच्चरेत् ।
सम्पादयामि स्वाहेति सर्वकर्मस्वयं विधिः ॥१०७॥

सौत्रामणीतन्त्रे तु "विवाहान्ता वाग्भवेने" त्युक्तं तदेतयोर्विकल्पः । नामकर्मणि शिवाग्निर्नारायणाग्निर्दुर्गाग्निरित्यादि नाम कर्तव्यम् । तदुक्तम्—

वायवीयसंहितायाम्—

जातं ध्यात्वैवमाकारं जातकर्म समारभेत् ।
नालापनयनं कृत्वा ततः संशोध्य सूतकम् ॥१०८॥

शिवाग्निरिति नामास्य कृत्वाऽऽहुतिपुरःसरम् ।
पित्रोर्विसर्ज्जनं कृत्वा चूडोपनयनादिकम् ॥१०९॥
अथोद्वाहावसानं च कृत्वा संस्कारमस्य तु । इति ।

शारदातिलके—

ततश्च पितरौ तस्य सम्पूज्याऽऽत्मनि योजयेत् ।
समिधः पञ्च जुहुयान्मूलाग्रघृतसम्प्लुताः ॥११०॥

मन्त्रैर्जिह्वाङ्गमूर्त्तीनां क्रमाद्वह्नेर्यथाविधि ।
प्रत्येकं जुहुयादेकामाहुतिं तन्त्रवित्तमः ॥१११॥

अवदाय स्रुवेणाज्यं चतुः स्रुचि पिधाय ताम् ।
स्रुवेण तिष्ठन्नेवाऽग्नौ देशिको यतमानसः ॥११२॥
जुहुयाद्वह्निमन्त्रेण[1] वौषडन्तेन सम्पदे ।

प्रपञ्चसारे—

जिह्वायां मध्यसंस्थायां मन्त्री ज्वालावलीतनोः ॥११३॥
ताराद्यैर्दशभिर्भेदैः पूर्वपूर्वसमन्वितैः ।
मनुना गाणपत्येन हुनेत्पूर्वं दशाहुतीः ॥११४॥
जुहुयाच्च चतुर्वारं समस्तेनैव तेन तु ।
आज्येन साध्यमनुना पञ्चविंशतिसंख्यकम् ॥११५॥
जुहुयात्सर्वहोमेषु सुधीरनलतृप्तये ।
तान्त्रिकाणामयं न्यायो हुतानां समुदीरितः ॥११६॥

गाणपत्येन महागणेशमन्त्रेण । तदुक्तं—

गणेश्वरपरामर्शिण्याम्—

महागणेशमन्त्रेण पूर्वपूर्वयुतेन च ।
तारादिबीजषट्केषु करणेष्वद्रिवर्णकैः ॥११७॥
भिन्नेन दशधा तेन समस्तेन हुनेत्प्रिये ।

मन्त्रः प्रयोगे वक्ष्यते । इषवः पञ्च, करणानि इन्द्रियाणि पञ्च, अद्रयः सप्त, बीजषट्क इषु इति पदच्छेदः । चरुहोमे तु चरुमिदानीं श्रपयेत्, तत्प्रकारः प्रागेव प्रपञ्चितः ।

शारदातिलके—

ततः पीठं समभ्यर्च्य देवताया हुताशने ।
अर्चयेद्वह्निरूपां तां देवतामिष्टदायिनीम् ॥११८॥
तन्मुखे जुहुयान्मन्त्री पञ्चविंशतिसंख्यया ।
आज्येन मूलमन्त्रेण वक्त्रैकीकरणं त्विदम् ॥११९॥
वह्निदैवतयोरैक्यमात्मना सह भावयन् ।
मूलमन्त्रेण जुहुयादाज्येनैकादशाहुतीः ॥१२०॥
नाडीसन्धानमुद्दिष्टमेतदागमवेदिभिः ।
जुहुयादङ्गमुख्यानामावृतीनामनुक्रमात् ॥१२१॥
एकैकामाहुतिं सम्यक्सर्पिषा देशिकोत्तमः ।

---

१. क. ०वह्निमात्रेण ।

सारसङ्ग्रहे—

पूर्वादिदिक्षु कुण्डेषु सर्वेष्वपि यथाविधि ।
गुरुर्वह्निं प्रविहरेत् संस्कृतेषूक्तवर्त्मना १२२।।

सर्वर्त्विजश्चन्दनाद्यैः सम्पूज्य प्रोक्तदेवताम् ।
सर्वावरणसंयुक्तां मूलेन जुहुयुस्ततः ।।१२३।।
पञ्चविंशतिधा सर्पिःसंयुतेन पयोऽन्धसा ।

वायवीयसंहितायाम्—

स्रुवेणाज्यं समित्पाण्या स्रुचा शेषं करेण वा ।
तत्र दिव्येन होतव्यं तीर्थेनार्षेण वा तथा ।।१२४।।

छन्दोगपरिशिष्टे—

दैवेन तीर्थेन च हूयते हविः,
स्वङ्गारिणि स्वर्विधि तच्च पावके ।
योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः ।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चोपजायते ।।१२५।।

तथा प्रपञ्चसारे—

हुनेत्तु देशिकः पश्चान्मण्डले बलिमाहरेत् ।
नक्षत्राणां सवाराणां सराशीनां यथाक्रमम् ।।१२६।।

दद्याद्बलिं गन्धपुष्पधूपपूर्वकमादरात् ।
ताराणामश्विन्यादीनां[1] राशिः पादाधिकं द्वयम् ।।१२७।।

मेषादिमुक्त्वा नक्षत्रसंज्ञा पूर्वमनन्तरम् ।
देवताभ्यः पदं प्रोक्त्वा दिवा नक्तं वदेत्तथा ।।१२८।।

चरिभ्यश्चाथ सर्वेभ्यो भूतेभ्यश्च नमो वदेत् ।
एवं रात्रौ तु सम्पूर्णे तस्मिंस्तद्वत्प्रयोजयेत् ।।१२९।।

तथा राश्यधिपानां च ग्रहाणां तत्र तत्र च ।
सप्तानां करणानां च दद्यान्मीनाद्वमेषयोः ।।१३०।।

अन्तराले बलिस्त्वेवं सम्प्रोक्तः कलशात्मकः ।
पुनर्निवेद्यमुद्धृत्य पूर्ववत्परिपूज्य च ।।१३१।।

---

१. ख ०माश्विनादीनां ।

मुखवासादिकं दत्वा स्तुत्वा तद्युक्तया पुनः ।
स्तुत्वा यथावत्प्रणमेद्भक्तियुक्तस्तु[1] साधकः ॥१३२॥

मीनाह्वमेषयोरन्तराले ईशानपूर्वदिशोर्मध्ये । तथा च—

तन्त्रराजे—

प्राच्यां मेषवृषौ वह्नौ मिथुनं दक्षिणे तथा ।
कुलीरसिंहौ च तथा नैऋत्ये कन्यका स्थिता ॥१३३॥

तुलाकीटौ पश्चिमतो धनुर्वायौ तु संस्थितम् ।
नक्रकुम्भावुत्तरतो मीनमीशे तु संस्थितम् ॥१३४॥

शारदातिलके—

प्रातरुत्थाय जुहुयुः पुनराज्यान्वितैस्तिलैः ।
द्रव्यैर्वा कल्पविहितैः सहस्रं साष्टकं पृथक् ॥१३५॥

ततस्तु धौतदन्तास्यं स्नातं शिष्यं समाहितम् ।
पाययित्वा पञ्चगव्यं कुण्डस्यान्तिकमानयेत् ॥१३६॥

विलोक्य दिव्यदृष्टया तं तच्चैतन्यं हृदम्बुजात् ।
गुरुरात्मनि संयोज्य कुर्यादध्वविशोधनम् ॥१३७॥

उक्तं कलाध्वा तत्वाध्वा भुवनाध्वेति च त्रयम् ।
वर्णाध्वा च पदाध्वा च मन्त्राध्वेत्यपरं त्रयम् ॥१३८॥
निवृत्याद्याः कलाः पञ्च कलाध्वेति प्रकीर्त्तिताः ।

सारसङ्ग्रहे—

शैवादिनिगमैर्भिन्नास्तत्त्वाध्वानो बहुक्रमाः ।
तत्र **शैवानि तत्वानि** षट्त्रिंशत्प्रमितान्यथ ॥१३९॥

वक्ष्यन्ते शिवशक्ती च सदाशिव इतीश्वरः ।
विद्या चैतानि शुद्धानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च ॥१४०॥

माया विद्या कला रागः कालो नियतिरेव च ।
पुरुषश्चाप्यशुद्धानि प्रकृतिर्बुध्यहङ्कृती ॥१४१॥

मनश्चेन्द्रियदशकं तन्मात्रा भूतपञ्चकम् ।
उक्तानि शैवतत्वानि षट्त्रिंशन्मन्त्रवेदिभिः ॥१४२॥

---

१. क. ०भक्तियुक्तंस्तु ।

अथ वैष्णवतत्वानि द्वात्रिंशत्प्रमितानि च ।
वक्ष्यन्ते जीवसहितः प्राणो बुद्धिर्मनस्ततः ॥१४३॥

दशेन्द्रियाणि तन्मात्रा भूतानाम्पञ्चकं तथा ।
हृत्पद्मं तेजसां चैव त्रयं चत्वार एव च ॥१४४॥

वासुदेवादयः सौराण्युच्यन्ते भूतपञ्चकम् ।
तन्मात्राश्चेन्द्रियाणि स्युर्मनोऽहङ्कारबुद्धयः ॥१४५॥

प्रधानञ्चेति शक्तेस्तु तत्वानि स्युर्दशैव हि ।
आत्मविद्याशिवा एते विपरीतास्त एव च ॥१४६॥

सर्वतत्त्वं च सम्प्रोक्तास्तत्वाध्वानस्तु देशिकैः ।
भुवनानीह सर्वाणि भुवनाध्वा प्रकीर्त्तितः ॥१४७॥

भुवनानि लोकास्ते तु **कुलार्णवे**—

अतलो वितलश्चैव सुतलश्च महातलः ।
रसातलश्च तदनु तलातल इति स्मृतः ॥१४८॥

पातालो भूर्भुवः स्वश्च महज्जनतपाह्वयाः ।
सत्यलोकश्च सम्प्रोक्ता लोका एते यथाक्रमम् ॥१४९॥

आदिक्षान्तांस्तथा वर्णान्वर्णाध्वानं प्रचक्षते ।
पदाध्वा वर्णवृन्दं स्यान्मन्त्राध्वा पदसञ्चयः ॥१५०॥

शिष्ये स्मरेत्तान्पादाम्बुनाभिहृद्भालमूर्द्धसु ।
कूर्चेन तं गुरुः शिष्यं स्पृशन् कुण्डे स्वके हुनेत् ॥१५१॥

तिलैर्घृताक्तैस्ताराद्यममुकाध्वानमत्र च ।
शोधयामि द्विठान्तेन मन्त्रेणाऽष्टाहुतीः पृथक् ॥१५२॥

अत्र **तत्त्वानां शुद्धादिलक्षणं पदार्थादर्शे** निरूपितम् । यथा—आणवकार्मणमायीयमलत्रयरहितत्वात् शुद्धत्वम् । तत्राणवो नाम सदाशिवस्य स्वस्यानवमर्शः । कार्मो नाम पुण्यपापवाहनमिति प्रतीतिः । मायीयो नाम अहङ्कारादावात्मबुद्धिः । तदुक्तञ्च—

वायवीयसंहितायाम्—

शिवः[1] शक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुः सदाशिवः ।
तस्मान्महेश्वरो जातः शुद्धा विद्या महेश्वराद् ॥१५३॥

१. ख ०शिवं ।

इति शुद्धाशुद्धानीति करणत्वेन मलत्रयराहित्याच्छुद्धत्वं, कार्यरूपेण तदुक्तत्वादशुद्धत्वम् । तदुक्तमुवायवीयसंहितायाम्—

सा वाचामीश्वरी शक्तिर्वागीशाख्यस्य शूलिनः ।
या सा वर्णस्वरूपेण मातृकेति विजृम्भिता ॥१५४॥ इति ।

अथानन्तसमायोगान्मायां कालमवासृजत् ।
नियतिं च कलां विद्यां कलातो रागपूरुषौ[1] ॥१५५॥

इत्यादि—
षट्त्रिंशत्संख्ययोपेतः शुद्धाशुद्धोभयात्मकः ।

इत्यन्तेन ।

श्रीकुलार्णवे—

शूद्रसङ्करजातीनां नाध्वशुद्धिर्विधीयते ।
पादोदकप्रदानाद्यैः कुर्यात्पाशविमोचनम् ॥१५६॥

तथा— षडध्वनः क्रमात्सम्यक् प्रविलाप्य शिवावधि ।
सृजेत्सृष्ट्या विलीनांस्तान् शिवान्ताञ्च गुरूत्तमः ॥१५७॥

देशिकेन्द्रश्च तं शिष्यं दृष्ट्वा दृष्ट्या च दिव्यया ।
तच्चैतन्यं स्थितं स्वस्मिंस्तस्मिन्नेव नियोजयेत् ॥१५८॥

हुनेन्महाव्याहृतिभिस्ततो देशिकसत्तमः ।
अङ्गप्रभृत्यावृत्तीनां हुनेद्भूयो घृतेन वै ॥१५९॥

भूरग्नये च पश्चाच्च पृथिव्यै च युतो मनुः ।
भुवो स्याद्वायवे चान्तरिक्षाय च युतो मनुः ॥१६०॥

स्वरादित्याय च दिवे च युतो मनुरितीरितः ।
भूर्भुवःस्वश्चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यश्च पूर्वतः ॥१६१॥

दिग्भ्यस्ततो वदेदेष मन्त्रः प्रोक्तस्तुरीयकः ।
महते च द्विठान्ताः स्युर्महाव्याहृतिमन्त्रकाः ॥१६२॥

महते इति पदं भूरित्यादिषु चतसृष्वप्यन्वेति । द्विठः स्वाहाकारः ।

ब्रह्मार्प्पणाद्वा मन्त्रेण सर्वकर्मच्छिदे सुधीः ।
जुहुयादाहुतीरष्टौ केवलाज्येन मन्त्रवित् ॥१६३॥

ब्रह्मार्पणमन्त्रस्तु पूजासमर्प्पणे उक्तः ।

---

१. क. ०रातपूरुषौ ।

कपिलपञ्चरात्रे—

अर्चयित्वा यथान्यायं जुहुयाद्वै पुनः सुधीः ।
न्यूनातिरिक्तपूर्णार्थं ददामि सघृतं तिलम् ॥१६४॥
वष्णबीजं समुच्चार्य साङ्गं कुरु कुरु द्विठः ।
यानुलोमाष्टमं वर्णं षष्ठोपान्त्यस्वराकुलम् ॥१६५॥
प्रणवेन समायुक्तं विष्णोर्बीजं प्रकीर्त्तितम् ।

यानुलोमाष्टमं हकारः, षष्ठस्वर ऊकारः, उपान्त्यस्वरो बिन्दुः ।

शैवागमे—

कृत्वा तु मृडनामाग्निमभ्यर्च्य प्रयतः पठेत् ।
सहस्रार्चिर्महातेजा नमस्ते बहुरूपधृक् ॥१६६॥
सर्वाशिने सर्वगतपावकाय नमोऽस्तु ते ।
त्वं रौद्रघोरकर्मा च घोरहा त्वं नमामि ते ॥१६७॥
विष्णुस्त्वं लोकपालोऽसि शान्तिमत्र प्रयच्छ मे ।
सर्पिषा स्रुचमापूर्य पुष्पं चोपर्यधोमुखम् ॥१६८॥
स्रुगुपरि स्रुचं दत्वा पुष्पं तत्र प्रयोजयेत् ।
सव्योत्तरकराभ्यां च सम्पुटाभ्यां च शंखवत् ॥१६९॥
सङ्गृह्योत्थाय संलग्नौ नाभौ तिर्यङ् निधाय च ।
पूर्णा दर्वीति मन्त्रेण मूलेन च सुसंयुतः ॥१७०॥
दद्यात्पूर्णाहुतीस्तिस्रः सर्वकामप्रपूरणीः ।

पुष्पदानं स्रुगुपरि । तदुक्तं **वायवीयसंहितायाम्—**

ततो होमावशिष्टेन घृतेनापूर्य वै स्रुचम् ।
निधाय पुष्पं तस्याग्रे स्रुवेणाऽधोमुखेन ताम् ॥१७१॥
सदर्भेण समाच्छाद्य मूलेनाञ्जलिनोत्थितः ।
वौषडन्तेन जुहुयाद्धारां जवसमन्विताम् ॥१७२॥ इति ।

पूर्णा दर्वी शाखाविशेषे वैदिकहोमे । मूलेन वौषडन्तेन । 'स्वाहाकारं ततो होमे पूर्णायां वौषडेव हि ।' इति तदीयवचनात् ।

हुत्वा च हविषा दद्यात्स्रुचा पूर्णाहुतित्रयम् ।
वौषडन्तेन मन्त्रेण वैष्णवेन सुरोत्तम ॥१७३॥

इति **हयशीर्षपञ्चरात्र**वचनाच्च । घृताभावे तु **नारदपञ्चरात्रे—**

अभावे तु घृतस्यैव होमद्रव्येण पूरयेत् ।
तस्योपरि घृतं दद्यात्तदूर्ध्वं कुसुमादिकम् ॥१७४॥ इति ।

देवीहोमे तु **तूर्णयागे—**

आज्येन स्रुवमापूर्य तेनापूर्य धिया ततः । इति ।

सारसङ्ग्रहे—

पुनः सम्पूज्य गन्धाद्यैर्मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ।
कुण्डादुद्वास्य चाचार्यो देवतां कलशे न्यसेत् ॥१७५॥

साङ्गां सावरणां तत्र पूजयेच्च यथाविधि ।
सप्तव्याहृत्यग्निजिह्वादीनामेकाहुतिं क्रमात् ॥१७६॥
हुत्वाऽद्भिः परिषिच्याग्निम्............।

गणेश्वरपरामर्शिण्याम्—

ॐ भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ।
कर्मान्तरेऽपि सम्प्राप्ते सन्निधिं कुरु सादरम् ॥१७७॥
इति मन्त्रेण सम्प्रार्थ्य वह्निमुद्वासयेदिति ।

कपिलः—

ततो ब्रह्माणमुद्वास्य ब्राह्मणाय प्रदापयेत् ।
द्वात्रिंशत्पलमात्रेण निर्मितं ताम्रपात्रकम् ॥१७८॥

तण्डुलेन समापूर्य सहिरण्यं सदक्षिणम् ।
गुरुर्वृताय तत्तस्मै पूर्णपात्रं विदुर्बुधाः ॥१७९॥

सारसङ्ग्रहे—

ततः परिस्तरानग्नौ परिधीन्निक्षिपेन्न तु ।
नित्ये नैमित्तिके तांस्तु क्षिपेद्देशिकसत्तमः ॥१८०॥

शारदातिलके—

पावकं योजयित्वा स्वे परिधीन्सपरिस्तरान् ।
नैमित्तिके दहेन्मन्त्री नित्ये तु न दहेदिमान् ॥१८१॥

नेत्रे शिष्यस्य बध्नीयान्नेत्रमन्त्रेण वाससा ।

महाकपिलपञ्चरात्रे—नवेन शुक्लवस्त्रेण नेत्रे बद्ध्वेति ।

करे गृहीत्वा तं शिष्यं कुण्डतो मण्डलं नयेत् ।
तस्याञ्जलिं पुनः पुष्पैः पूरयित्वा यथाविधि ॥१८२॥

कलशे देवताप्रीत्यै क्षेपयेन्मूलमुच्चरन् ।

नारायणीये—

न्यासं शिष्यतनौ कृत्वा तं प्रदक्षिणमानयेत् ।
पश्चिमद्वारमानीय क्षेपयेत्कुसुमाञ्जलिम् ॥१८३॥ इति ।

पिङ्गलामते—

पुष्पैरञ्जलिमापूर्य योगपीठे प्रदापयेत् ।
पश्चिमोत्तररुद्रेन्द्रे पुष्पपातः शुभोऽशुभे ॥१८४॥
अष्टोत्तरशतं शान्त्यै जुहुयादस्त्रमन्त्रतः ।

सारसङ्ग्रहे—

नेत्रबन्धमपास्योपवेशयेत्कुशसंस्तरे ।
ततश्च पाठयेच्छिष्यं मन्त्रमेनं गुरूत्तमः ॥१८५॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१८६॥

शारदातिलके—

आत्मयागक्रमाद्भूयः संहृत्योत्पाद्य देशिकः ।
तत्तन्मन्त्रोदितान्न्यासान् कुर्याद्देहे शिशोस्तथा ॥१८७॥

आत्मयागः अन्तर्यागः । **प्रयोगसारे—**

गुणांशेन पृथिव्यादिभूतानि विलयं नयेत् ।
यथावत्पिण्डसंस्थानि संहारक्रतयोगतः ॥१८८॥
ततः सृष्टिक्रमेणैवं पिण्डं सम्भावयेत्तदा ।

मन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—

उपविश्याऽसने दिव्ये संहरेत्तस्य विग्रहम् ।
गन्धादिघ्राणसंयुक्तां पृथिवीमप्सु संहरेत् ॥१८९॥

इत्यादिना 'उत्पन्नं भावयेत्तत' इत्यन्तेन । अत्र **देवताप्रार्थनामाहुराचार्याः** ।

कारुण्यनिलये देवि सर्वसम्पत्तिसंश्रये ।
शरण्यवत्सले मातः कृपामस्मिन् शिशौ कुरु ॥१९०॥
आणवप्रमुखैः पाशैः पाशितस्य सुरेश्वरि ।
दीनस्यास्य दयाधारे कुरु कारुण्यमीश्वरि ॥१९१॥
ऐहिकामुष्मिकैर्भोगैरपि संवर्द्धतामसौ ।
स्वभक्तिः सकला चास्मै दीयतां निष्कलाश्रये ॥१९२॥

शारदातिलके—

पञ्चोपचारैः कुम्भस्थां पूजयेदिष्टदेवताम् ।
तस्यां तत्रोक्तमार्गेण विदध्यात्सकलीकृतिम् ॥१९४॥
मण्डलेऽलङ्कृतं शिष्यमन्यस्मिन्नुपवेशयेत् ।

सोमशम्भौ—

यागालयाद्दिशीशस्य रचिते स्नानमण्डपे ।
कुर्यात्करद्वयायामां वेदिमष्टाङ्गुलोच्छ्रिताम् ॥१९५॥
श्रीपर्णाद्यासने तत्र विन्यस्यानन्तमासनम् ।
शिष्यं निवेश्य पूर्वास्यं सकलीकृत्य पूजयेत् ॥१९६॥

श्रीविद्यादीक्षायां तु सर्वतोभद्रमण्डलं निर्माय तत्र शिष्यमुपवेश्याऽभिषेकः कर्त्तव्य इत्युक्तम् । तथा च—

ललिताविलासे—

अथोपवेशयेच्छिष्यं भूषितं मण्डलान्तरे ।
सुशुभे सर्वतोभद्रे वेद्या उत्तरदिग्गते ॥१९७॥ इति ।

प्रयोगसारे—

अथैशान्यां दिशि यथा मन्त्रविन्यस्तविग्रहम् ।
पीठस्थं चतुरस्रायां वेद्यां दर्भाग्रपाणिनम् ॥१९८॥
अभिषिञ्चेत्स्वकं शिष्यमात्मतत्त्वानुवर्त्तिनम् ।

भुक्तौ प्राङ्मुखं मुक्तावुदङ्मुखमिति ज्ञेयम् । तदुक्तं **सोमशम्भौ—**

स्नाने तूदङ्मुखं मुक्तौ पूर्ववक्त्रं च भुक्तये ॥१९९॥

शारदातिलके—

नदत्सु पञ्चवाद्येषु सार्द्धं विप्राशिषा गुरुः ।
विधिवत्कुम्भमुद्धृत्य तन्मुखस्थान् सुरद्रुमान् ॥२००॥
शिशोः शिरसि विन्यस्य मातृकां मनसा जपन् ।
मूलेन साधितैस्तोयैरभिषिञ्चेत्तमात्मवित् ॥२०१॥

सारसङ्ग्रहेऽपि—

येन प्रकारेण पुरा पूजितश्च सुधामयैः ।
तोयैरक्षरसंयुक्तैर्घटस्तेनैव वर्त्मना ॥२०२॥
तथैवेनं चाभिषिञ्चेदाशु सम्पदवाप्तये ।

शारदातिलके—

पूजितां पुनरादाय वर्द्धिनीमस्त्ररूपिणीम् ।
तस्यां सुसाधितैस्तोयैः सिञ्चेद्रक्षार्थमञ्जसा ॥२०३॥

अवशिष्टेन तोयेन शिष्यमाचामयेद् गुरुः ।
ततस्तं सकलीकुर्याद्देवतात्मानमात्मवित् ॥२०४॥

उत्थाय शिष्यो विमले वाससी परिधाय च ।
आचम्य वाग्यतो भूत्वा निषीदेत्सन्निधौ गुरोः ॥२०५॥

देवतामात्मनः शिष्ये सङ्क्रान्तां देशिकोत्तमः ।
पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैरैक्यं सम्भावयंस्तयोः ॥२०६॥
दद्याद्विद्यां ततस्तस्मै विनीतायाम्बुपूर्वकम् ।

पदार्थादर्शे—

तत इत्यनेन शिष्यमूर्द्धनि हस्तं दत्वाऽष्टोत्तरशतं मन्त्रं जपेदिति सूचितम् ।

तदुक्तं **वसिष्ठसंहितायाम्—**

ततस्तच्छिरसि स्वस्य हस्तं दत्वा शतं जपेत् ।
अष्टोत्तरं ततो मन्त्रं दद्यादुदकपूर्वकम् ॥२०७॥

सारसङ्ग्रहेऽपि—

गुरुः सम्पूज्य शिष्यस्थां देवतां भावयंस्तयोः ।
ऐक्यं गुरुर्विनीतस्य सम्यक् तस्य मनुं त्रिशः ॥२०८॥

दक्षकर्णे वदेद्विद्वान् विप्रायोदकपूर्वकम् ।
अन्येभ्यस्तु वदेदेवमेव मन्त्रं विचक्षणः ॥२०९॥

अन्यत्राऽपि—

ऋष्यादियुक्तमथ मन्त्रवरं यथावद्,
ब्रूयात् त्रिशो गुरुरनर्घ्यमवामकर्णे ।

दानानन्तरम्—

अगस्त्यः—

आवयोस्तुल्यफलदो भवत्वेवमुदीरयेत् ।
प्रसन्नवदनस्तस्मै शिष्याय मुनिपुङ्गव ॥२१०॥

स्वतो ज्योतिर्मयीं विद्यां गच्छन्तीं भावयेद् गुरुः ।
आगतां भावयेच्छिष्यो धन्योऽस्मीति विशेषतः ॥२११॥

श्रीविद्यादीक्षायां तु वस्त्रपरिधानानन्तरं **ललिताविलासे**—

वक्ष्यमाणेण विधिना कारयेत्तत्त्वशोधनम् ।
ऋष्यादिन्यासपूर्वांस्तान्न्यासांस्तस्मिन् प्रविन्यसेत् ॥२१२॥

पाशच्छेदं ततस्तस्य विदध्याद्देशिकोत्तमः ।
मूलाधारे ह्यधिष्ठाने मणिपूरे त्वनाहते ॥२१३॥

आज्ञायां बिन्दुचक्रे चाप्यर्द्धेन्दौ रोधिनीस्थले ।
[1]नादनादान्तयोः शक्तौ व्यापिकायां ततः परम् ॥२१४॥

समनास्थान उन्मन्यां ध्रुवमण्डल एव च ।
विद्यायाः षोडशार्णायाः षोडशार्णान्विभावयेत् ॥२१५॥

त्रिकूटस्योपदेशे तु प्रातः स्मृतिवदेव तु ।
षडाधारेषु षट्कूटभावना परिकीर्त्तिता ॥२१६॥

पञ्चमी च त्रिकूटेव[2] षट्शत्यां प्रतिपादिता ।
आधारानाहताज्ञासु ब्रह्मरन्ध्रे च भावयेत् ॥२१७॥

चतुःकूटां शाङ्करीं च सम्यग् देशिकसत्तमः ।
ततस्तु षोडशार्णायाः षोडशार्णेषु संस्थिताः ॥२१८॥
गुणत्रयगुणातीतस्वरूपाणां कलाः क्रमात् ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यातुरीयाणां विचिन्त्य च ॥२१९॥
अवस्थानां गुरुः शिष्यं दिव्यदृष्ट्याऽवलोकयेत् ।
ज्ञानार्णवे तु याः प्रोक्तास्ताः कलाः कथयाम्यहम् ॥२२०॥
उत्पत्तिर्जागरो बोधो मनोव्यावृत्तिरेव च ।
कला जाग्रदवस्थायाश्चतस्रः परिकीर्त्तिताः ॥२२१॥

अभिलाषो भ्रमश्चिन्ता स्मृतिः स्वप्नकला इमाः ।
मारणं विस्मृतिर्मूर्च्छा निद्रा चैव सुषुप्तिजाः ॥२२२॥

वैराग्यं च मुमुक्षा च समाधिश्च तृतीयका ।
विवेकाख्या चतुर्थी स्यात्तुर्यायाश्च कला इमाः ॥२२३॥

ततश्च धनपुत्रादिमूलं पातकपत्रकम् ।
अभिलाषप्रसूनाढ्यं पापपुण्यफलान्वितम् ॥२२४॥

---

१. ख. नादे नादाऽन्तयोः । २. ख. त्रिकूटे च ।

संसारपादपं ध्यात्वा तस्य शाखाद्वये पृथौ ।
श्रुतदृष्टाभिधाने तु निषण्णं स्वशिशोर्गुरुः ॥२२५॥

मोहमात्सरकामाख्यक्रोधाहङ्कारनामभिः ।
समदैः पिच्छतां यातैः सम्भृताभ्यां निरन्तरम् ॥२२६॥

तं सङ्कल्पविकल्पाख्यपक्षाभ्यामतिचञ्चलम् ।
ज्ञानोपदेशपाशेन दृढं बद्ध्वा मनःखगम् ॥२२७॥

तृष्णाचञ्चुपुटं कृत्याकृत्यरूपपदद्वयम् ।
श्रीगुरुर्दिव्यदृष्टयाख्यशस्त्रेण छेदयेत्ततः ॥२२८॥

तस्य पक्षौ छिन्नपक्षो निश्चलो जायते क्षणात् ।
ततस्त्रुटितसंसारपाशस्य च शिशोर्गुरुः ॥२२९॥

उन्मनीभावयुक्तस्य ब्रह्मरन्ध्रे सपुष्पकम् ।
सफलं दक्षिणं हस्तं निधायाऽस्मिन्नियोजयेत् ॥२३०॥

वाच्यरूपं परं वस्तु ब्रह्मै वाऽहमिति स्मरन् ।
सहस्रदलपद्मस्य कर्णिकान्तरगं तु यत् ॥२३१॥

गुरुस्तवं[1] बोधयित्वा षट्चक्राणि च बोधयेत् ।
श्रीपात्रामृतविप्लुड्भिः कारयेत्तत्वशोधनम् ॥२३२॥

ततो नूतनवस्त्रेण ह्याच्छाद्य च शिशोः शिरः ।
तस्य दक्षिणकर्णे तु प्रथमं प्रवदेद् गुरुः ॥२३३॥

विद्यां श्रीपादुकाख्यां तु स्वस्वपादुकया युताम् ।
स्त्रीशूद्रपतितव्रात्यमहापातकिनामपि ॥२३४॥

दीक्षायां ब्रह्मविद्याया अधिकारो भवेद्यया ।
सन्ध्याप्रकरणे त्वग्रे वक्ष्यमाणां महाप्रभाम् ॥२३५॥

त्रिपुरां ब्रह्मभूतां तां गायत्रीमुपदिश्य च ।
ततोपदिश्य बालाख्यां श्रीविद्यां षोडशीं ततः ॥२३६॥

त्रिकूटां च तदन्तःस्थां त्रिकूटां केवलां तु वा ।
स्वयं ज्योतिर्मयीं विद्यां गच्छन्तीं भावयेद् गुरुः ॥२३७॥

आगतां भावयेच्छिष्यो धन्योऽस्मीति विशेषतः ।
ततश्चक्रेश्वरीविद्या विद्यास्ताः पञ्चपञ्चिकाः ॥२३८॥

---

१. ख. गुरुस्तत्वं ।

ततो वदेत्पञ्चदश नित्याविद्याः क्रमेण तु ।
या या विद्याश्चोपयुक्तास्ताः सर्वाश्च वदेत् क्रमात् ॥२३९॥

गणेशसूर्यविष्णवीशशक्तिमन्त्रानपि क्रमात् ।
उपदिश्य ततस्तस्य नामाद्यक्षरपूर्वकम् ॥२४०॥

आनन्दनाथशब्दान्तं नाम कुर्याद्विचक्षणः ।
ततस्तस्मै वदेत्सम्यक् स्वक्रमं सकलं गुरुः ॥२४१॥

वक्ष्यमाणमशेषेण नामपारायणादिकम् ।
ततस्तद्दिननाथस्य नाम तन्नाम कल्पयेत् ॥२४२॥

मातापितृकृतं पूर्वं पारपर्म्यागतं ततः ।
कालावाप्तं तृतीयं स्यात् त्रीणि नामानि साधके ॥२४३॥

वायवीयसहितायाम्—

अथ गुर्वाज्ञया शिष्यः शिवाग्निगुरुसन्निधौ ।
भक्त्यैवमभिसन्धाय दीक्षावाक्यमुदीरयेत् ॥२४४॥

वरं प्राणपरित्यागश्छेदनं शिरसोऽपि वा ।
नत्वनभ्यर्च्य भुञ्जीयां भगवन्तं त्रिलोचनम् ॥२४५॥

पदार्थादर्शे— विद्यादानानन्तरं गुरुरष्टोन्तरसहस्रं मन्त्रं जपेत् । तदुक्तम् 'अष्टोत्तरसहस्रं स्वशक्तिहानानवाप्तये' जप्यादिति ।

नारायणीयमहाकपिलपञ्चरात्रयोरपि—

मन्त्रं दत्वा सहस्रं वै स्वसिद्ध्यै देशिको जपेत् । इति ।

सारसङ्ग्रहे—

अष्टोत्तरशतं शिष्यः प्रजपेद् गुरुणोदितम् ।
अष्टाविंशतिवारं वा ह्यष्टकृत्वोऽथवा जपेत् ॥२४६॥

तन्त्रराजे—

देवता गुरुमन्त्रात्मतत्त्वैक्यं भावयन्मुदा ।
शतं जपेत्तदग्रस्थो निकटे त्रिदिनं वसेत् ॥२४७॥

नो चेत्सञ्चारिणी शक्तिर्गुरुमेति न संशयः ।
तस्मात्तदन्तिके तस्य पूजादेशादिकृद् वसेत् ॥२४८॥

तदात्म्यमात्मनो लब्धुं गुरोर्मन्त्रात्मनो यतः ।
ततस्तदा समारभ्य तदायत्तो धनादिभिः ॥२४९॥

तथा सारसङ्ग्रहे—

गुरुदेवात्ममन्त्राणामैक्यं शिष्यो विभावयन् ।
प्रणामं गुरवे कुर्यात्साधको भक्तिमान्मुहुः ॥२५०॥
सोऽष्टाङ्गश्चाथ पञ्चाङ्गः पूजाकर्मसु सम्मतः ।

अष्टाङ्ग-पञ्चाङ्गनमस्कारलक्षणं पूजाप्रकरण उक्तम् ।

शारदातिलके—

प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ गुरुं तं देवतात्मकम् ।
तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं निजमूर्द्धनि योजयेत् ॥२५१॥
शरीरमर्थं प्राणं च सर्वं तस्मै निवेदयेत् ।

सारसङ्ग्रहे—

प्रदद्याद् गुरवे शिष्यः स्वधनार्द्धं तदर्द्धकम् ।
दशांशं वा प्रदद्याच्च वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥२५२॥

कुम्भसम्भवः—

कृतकृत्यस्ततः शिष्यः सर्वं तस्मै निवेदयेत् ।
यच्च यावच्च तद्भक्त्या गुरवे हृष्टचेतनः ॥२५३॥

[1]गोभूहिरण्यविपिनगृहक्षेत्रादिकं मुने ।
न चेदर्धं तदर्द्धं वा दशांशमथवाऽपि वा ॥२५४॥

अक्लेशादन्नवस्त्रादि दद्याद्वित्तानुसारतः ।
प्रकारान्तरमालम्ब्य गुरुं यत्नेन तोषयेत् ॥२५५॥

सारसङ्ग्रहे—

तदधीनमना नित्यं तच्चिन्तनपरायणः ।
तत्पदाब्जरजोभूषो भवेत्साधकसत्तमः ॥२५६॥

तन्त्रराजे—

गुरवे दक्षिणां दद्यात्प्रत्यक्षाय शिवात्मने ।
सर्वस्वं वा तदर्धं वा तदर्द्धं वा तदाज्ञया ॥२५७॥
न चेत्तच्छक्तिसङ्क्रान्तिः कथमस्य भविष्यति ।
गजाश्वमहिषीमेषपशुदासीमहीयुतम् ॥२५८॥
सुवर्णं भूषणं वासो भवनं चान्यदीप्सितम् ।
दद्यात्स्वशक्तितो भक्त्या················॥२५९॥ इति ।

---

१. भूगो ।

वायवीयसंहितायाम्—

मण्डपं गुरवे दद्याद्यागोपकरणैः सह

सारसङ्ग्रहे—

अलङ्कारांश्च वासांसि दद्यादृत्विग्भ्य आदरात् ।
ईश्वरार्पणबुद्ध्या तु द्विजाशीर्भिश्च नन्दितः ॥२६०॥

शारदातिलकेऽपि—

ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दद्यात्समग्रां प्रीतमानसः ।
ब्राह्मणांस्तर्पयेत्पश्चाद्भक्ष्यभोज्यैः सदक्षिणैः ॥२६१॥

सारसङ्ग्रहे—

ततो नानाविधैर्भक्ष्यैर्लेह्यैश्चोष्यैस्तथेतरैः ।
ब्राह्मणान् भोजयेत्सम्यक् प्रदद्याद् भूरिदक्षिणाम् ॥२६२॥
एवं **क्रियामयी दीक्षा** सम्पद्दात्री निरूपिता ।

शारदातिलके—

अथ **वर्णात्मिका** वक्ष्ये **दीक्षा**मागमचोदिताम् ।
पुम्प्रकृत्यात्मका वर्णाः शरीरमपि तादृशम् ॥२६३॥
यतस्तस्मात्तनौ न्यस्येद्वर्णांञ्छिष्यस्य देशिकः ।
तत्तत्स्थानयुतान् वर्णान्प्रतिलोमेन संहरेत् ॥२६४॥
स्वाज्ञया देवताभावाद्विधिना देशिकोत्तमः ।
तदा विलीनतत्त्वोऽयं शिष्यो दिव्यतनुर्भवेत् ॥२६५॥
परमात्मनि संयोज्य तच्चैतन्यं गुरूत्तमः ।
तस्मादुत्पाद्य तान्वर्णान् न्यसेच्छिष्यतनौ पुनः ॥२६६॥
सृष्टिक्रमेण विधिवच्चैतन्यं च नियोजयेत् ।
जायते देवताभावः परानन्दमयः शिवः ॥२६७॥
एषा **वर्णमयी दीक्षा** प्रोक्ता ज्ञानप्रदायिनी ।
ततः **कलावती दीक्षा** यथावदभिधीयते ॥२६८॥
निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्चभूतानां शक्तयो यतः ।
तस्माद्भूतमये देहे ध्यात्वा तं वेधयेच्छिशोः ॥२६९॥
निवृत्तिर्जानुपर्यन्तं तलादारभ्य संस्थिता ।
जानुनोर्नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठा व्याप्य तिष्ठति ॥२७०॥
नाभेः कण्ठावधि व्याप्ता विद्या शान्तिस्ततः परम् ।
कण्ठाल्ललाटपर्यन्तं व्याप्ता तस्माच्छिखावधि ॥२७१॥

शान्त्यतीता कला ज्ञेया कला व्याप्तिरितीरिता ।
संहारक्रमयोगेन स्थानात्स्थानान्तरं गुरुः ॥२७२॥

संयोज्य वेधयेद्विद्वानाज्ञया ताः शिवावधि
इयं प्रोक्ता **कलादीक्षा** दिव्यभावप्रदायिनी ॥२७३॥

ततो **वेधमयीं** वक्ष्ये **दीक्षां** संसारमोचिनीम् ।
ध्यायेच्छिष्यतनोर्मध्ये मूलाधारे चतुर्द्दले ॥२७४॥

त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसंयुक्तां तडित्कोटिसमप्रभाम् ॥२७५॥

शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरां शक्तिं भित्वा षट्चक्रमञ्जसा ॥२७६॥

गच्छन्ती मध्यमार्गेण दिव्यं परशिवावधि ।
वादिसान्तदलस्थार्णात्संहरेत्कमलासने ॥२७७॥

तं षट्पत्रमये मध्ये वादिलान्ताक्षरान्विते ।
स्वाधिष्ठाने समायोज्य वेधयेदाज्ञया गुरुः ॥२७८॥

तान्वर्णान्संहरेद्विष्णौ तं पुनर्नाभिपङ्कजे ।
दशपत्रे डादिफान्ते वर्णाख्ये योजयेद् गुरुः ॥२७९॥

तान्वर्णान्संहरेद्रुद्रे तं रुद्रं हृदयाम्बुजे ।
कादिगान्तार्कपत्राढ्ये योजयित्वेश्वरे गुरुः ॥२८०॥

तान्वर्णान्संहरेदस्मिस्तं भूयः कण्ठपङ्कजे ।
स्वराढ्ये षोडशदले योजयित्वा स्वरान्पुनः ॥२८१॥

सदाशिवे तान्संहृत्य तं पुनर्भ्रूसरोरुहे ।
द्विपत्रे हक्षलसिते योजयित्वा ततो गुरुः ॥२८२॥

तदर्णौ संहरेद्बिन्दौ कलायां तं नियोजयेत् ।
तान्नादेऽनन्तरं नादं नादान्ते योजयेद् गुरुः ॥२८३॥

तदुन्मन्यां समायोज्य बिन्दुं चक्रान्तरे च तम् ।
तं पुनर्गुरुवक्त्रे तु योजयेद्देशिकोत्तमः ॥२८४॥

सहैवमात्मना शक्तिं वेधयेत्परमे शिवे ।
गुर्वाज्ञया छिन्नपाशस्तदा शिष्यः पतेद्भुवि ॥२८५॥

सञ्जातदिव्यबोधोऽसौ सर्वं वदति तत्क्षणात् ।
साक्षाच्छिवो भवत्येष नात्र कार्या विचारणा ॥२८६॥

एषा **वेधमयी दीक्षा** प्रोक्ता संवित्प्रदर्शिनी ।
क्रमाच्चतुर्विधा दीक्षा तन्त्रेऽस्मिन्सम्यगीरिता ॥२८७॥

श्रीकुलार्णवे—

हस्ते शिवपुरं ध्यात्वा जपन्मूलाङ्गमालिनीम् ।
गुरुः स्पृशेच्छिष्यतनुं **स्पर्शदीक्षा** भवेदियम् ॥२८८॥

चित्तं तत्त्वे समाधाय परतत्त्वोपबृंहितान् ।
उच्चरेत्संहतान्मन्त्रान् **वाग्दीक्षे**ति निगद्यते ॥२८९॥

निमील्य नयने ध्यात्वा परतत्त्वं प्रसन्नधीः ।
सम्यक् पश्येद् गुरुः शिष्यं **दृग्दीक्षा** सा भवेत्प्रिये ॥२९०॥

गुरोरालोकमात्रेण भाषणात्स्पर्शनादपि ।
सद्यः सञ्जायते ज्ञानं सा **दीक्षा शाम्भवी** स्मृता ॥२९१॥

ज्ञेया सिद्धान्तशास्त्रार्थसम्प्रदायादिहेतुभिः ।
अन्तरेणोपदिष्टा ये मन्त्राः स्युर्विफला यतः ॥२९२॥

पदार्थादर्शे—

आणवी बहुधा **दीक्षा** शाक्तेयी **शाम्भवी** पुनः ।
एकधैवेति विद्वद्भिः पठ्यते शास्त्रकोविदैः ॥२९३॥

आणवी बहुधेत्युक्ता तद्भेदा अधुनोच्यते ।
स्मार्त्ती मानसिकी यौगी चाक्षुषी स्पार्शनी तथा ॥२९४॥

वाचिकी मान्त्रिकी हौत्री शास्त्री चैत्याभिषेचिकी ।
विदेशस्थो गुरुः स्मृत्वा शिष्यपाशत्रयं क्रमात् ॥२९५॥

विश्लेष्य लयभोगाङ्गविधानेन परे शिवे ।
सम्यग्योजनरूपैषा **स्मार्त्ता दीक्षे**ति कथ्यते ॥२९६॥

स्वसन्निधौ समासीनमालोक्य मनसा शुचिः ।
मलत्रयादुपायैर्या मोचिका सा तु **मानसी** ॥२९७॥

योगक्रमात्ततो योगी शिष्यदेहं प्रविश्य तु ।
गृहीत्वा तस्य चात्मानं स्वात्मना योजनात्मिका ॥२९८॥

योगदीक्षेति सा प्रोक्ता मलत्रयविनाशिनी ।
शिवोऽहमिति निश्चित्य वीक्षणं करुणार्द्रया ॥२९९॥

दृशा सा **चाक्षुषी दीक्षा** सर्वपापप्रणाशिनी ॥
स्वयं परशिवो भूत्वा निस्सन्दिग्धमना गुरुः ॥३००॥

शिवहस्तेन शिष्यस्य समन्त्रं मूर्ध्नि संस्पृशेत् ।
स्पर्शदीक्षेति सा प्रोक्ता शिवाभिव्यक्तिकारिणी ॥३०१॥

शिवहस्तलक्षणं सोमशम्भौ—

गन्धैर्मण्डलकं स्वीये विदध्याद् दक्षिणे करे ।
विधिनाऽत्राऽर्चयेद् देवमित्थं स्याच्छिवहस्तकम् ॥३०२॥ इति ।

गुरुर्वक्त्रं निजं वक्त्रं विभाव्य गुरुरादरात् ।
गुरुवक्त्रप्रयोगेन दिव्यमन्त्रादिकं शिशोः ॥३०३॥

मुद्रान्यासादिभिः सार्द्धं दद्यात् सेयं स **वाचिकी** ।
दीक्षाऽपरा तथा मन्त्रन्याससंयुक्तविग्रहः ॥३०४॥

स्वयं मन्त्रतनुर्भूत्वा सक्रमं मन्त्रमादरात् ।
दद्याच्छिष्याय सा **दीक्षा मान्त्री** मलविघातिनी ॥३०५॥

कुण्डे वा स्थण्डिले वाऽपि निक्षिप्याग्निं विधानतः ।
लयभोगक्रमेणैव प्रत्यध्वानं यथाक्रमम् ॥३०६॥

मन्त्रवर्णकलातत्त्वपदविष्टपमेव च ।
शुद्ध्यर्थं होमरूपैषा **हौत्री दीक्षा** समीरिता ॥३०७॥

योग्यशिष्याय भक्ताय शुश्रूषणपराय च ।
सार्द्धं शास्त्रं यदा त्रय्या **शास्त्री दीक्षे**ति चोच्यते ॥३०८॥

शिवं च शिवपत्नीं च कुम्भे सम्पूज्य सादरम् ।
शिवकुम्भाभिषेकात्मा **दीक्षा स्यादाभिषेचिकी** ॥३०९॥

कुलार्णवे—

देवास्तमेव शंसन्ति पारम्पर्य्यप्रवर्त्तकम् ।
गुरुमन्त्रागमाभिज्ञं समयाचारपालकम् ॥३१०॥

गुरुः शिष्याधिकारार्थं विरक्तोऽपि शिवाज्ञया ।
कश्चित्कालं विधायैतत् सुशिष्याय समर्पयेत् ॥३११॥

तस्यार्पिताधिकारस्य योगः साक्षात्परे शिवे ।
ततस्तु शाश्वती मुक्तिरिति शङ्करभाषितम् ॥३१२॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साक्षात्परशिवोदितम् ।
सम्प्रदायमविच्छिन्नं सदा कुर्याद् गुरुः प्रिये ॥३१३॥

भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं परीक्ष्य विधिवद् गुरुः ।
पश्चादुपदिशेन्मन्त्रमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥३१४॥

अन्यायेन च यो दद्याद् गृह्णात्यन्यायतश्च यः ।
ददतो गृह्णतो देवि कुलशापो[1] भविष्यति ॥३१५॥

गुरुशिष्यावुभौ मोहादपरीक्ष्य परस्परम् ।
उपदेशं ददत्तौ[2] तु प्राप्नुयातां पिशाचताम् ॥३१६॥

अशास्त्रीयोपदेशं तु यो गृह्णाति ददाति च ।
भुञ्जाते तावुभौ घोरान्नरकानेकविंशतिम् ॥३१७॥

असंस्कृत्योपदेशं तु यः करोति विमूढधीः ।
विनश्यति च तन्मन्त्रः[3] सैकते शालिबीजवत् ॥३१८॥

अनर्हे मन्त्रविज्ञानं न तिष्ठति कदाचन ।
तस्मात्परीक्ष्य वक्तव्यमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥३१९॥

सच्छिष्यायातिभक्ताय यज्ज्ञानमुपदिश्यते ।
तत्प्रापयति तत्तत्वं गोक्षीरात्तु यथा घृतम् ॥३२०॥

[4]धनाद्यभयलोभाद्यैरयोग्यं यदि दीक्षयेत् ।
देवताशापमाप्नोति कृतं च विकृतं भवेत् ॥३२१॥

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मजप गोस्वामि
श्रीशिवानन्दभट्टविरचिते सिंहसिद्धान्तसिन्धौ
एकादशस्तरङ्गः ॥११॥

---

१. क. ख. कुलशायो । २. ख. ददातो । ३. ख. तुन्मन्त्रैः । ४. ख. धनेष्ठ भय० ।

द्वादशस्तरङ्गः

मन्त्रतन्त्रप्रकाशे —

[1]स्नानं सन्ध्ये सदाचारं नित्यकाम्ये तथैव च ।
मन्त्रसिद्धिप्रकारांश्च शिष्यायाऽभिवदेद् गुरुः ॥१॥

अन्यत्रापि—

अभिवाद्य ततः शृणोतु सम्यक्,
समयान् भक्तिभरावनम्रमूर्त्तिः ।

सदाचार उक्तः **प्रयोगसारे—**

देवस्थाने गुरुस्थाने श्मशाने वा चतुष्पथे ।
पादुकासनविण्मूत्रमैथुनानि विवर्ज्जयेत् ॥२॥

देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताम् ।
सिद्धं सिद्धाधिवासांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत् ॥३॥

प्रमत्तामन्त्यजां कन्यां पुष्पितां पतितस्तनीम् ।
विरूपां मुक्तकेशीं च कामार्त्तां च न निन्दयेत् ॥४॥

कन्यायोनिं पशुक्रीडां दिग्वस्त्रां प्रकटस्तनीम् ।
नाऽलोकयेत्परद्रव्यं परदारांश्च वर्ज्जयेत् ॥५॥

धान्यगोगुरुविप्राग्निविद्याकोशनरान्प्रति ।
नैव प्रसारयेत्पादौ नैतानपि च लङ्घयेत् ॥६॥

आलस्यमदसम्मोहशाठ्यपैशुन्यविग्रहान् ।
असूयामात्मसम्मानं परनिन्दां च वर्ज्जयेत् ॥७॥

आलस्यमनुद्यमं, मदः विद्याधनाभिजात्यसम्पत्समुत्थितो मनस उल्लासः, मोहो मिथ्याऽभिनिवेशः, शाठ्यं शक्तिगूहनम्, पैशुन्यं परोक्षे परदोषप्रकाशनम्, असूया गुणेषु दोषारोपः, आत्मसम्मानं आत्मनि सम्यक्पूज्यत्वबुद्धिः ।

लिङ्गिनं व्रतिनं विप्रं वेदवेदाङ्गसंहिताः ।
पुराणागमशास्त्राणि कल्पांश्चापि न दूषयेत् ॥८॥

वेदाङ्गानि शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति षडङ्गानि, संहिताः मन्वादिप्रणीतस्मृतयः, आगमशास्त्राणि, शिवाद्युक्तयामलादीनि ।

---

१. ख. स्नानसन्ध्ये ।

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखम् ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥९॥

इत्यागमशब्दनिरुक्तिः । कल्पान् नक्षत्रकल्पो विधानकल्पोऽभिचारकल्पः शान्तिकल्पश्चेत्य**थर्ववेद**विभागरूपान् श्राद्धकल्पादिकानन्यांश्च ।

युगं मुसलमश्मानं दाम चुल्हीमुलूखलम् ।
शूर्प्पं सम्मार्ज्जनीं दण्डं ध्वजं वैदुर्यमायुधम् ॥१०॥

कलशं चामरं छत्रं दर्प्पणं भूषणं तथा ।
भोगयोग्यानि चान्यानि यागद्रव्याणि यानि च ॥११॥

महास्थानेषु वस्तूनि यानि वा देवतालये ।
दिव्योक्तानि पदार्थानि भूताविष्टानि यानि च ॥१२॥

लङ्घयेज्जातु नैतानि नैतानि च पदा स्पृशेत् ।
या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ॥१३॥

परहिंसात्मिका या च न तामवतरेत्क्वचित् ।
प्रतिग्रहं न गृह्णीयादात्मभोगविधित्सया ॥१४॥

देवतागुरुपूजार्थं यत्नतोऽप्यर्ज्जयेद्धनम् ।
धारयेदार्ज्जवं सत्यं सौशील्यं समतां धृतिम् ॥१५॥

क्षान्तिं दयामनास्थां च दिव्यां शक्तिं च सर्वदा ।
विभीतकार्क्ककारंजस्नुहीछायां न संश्रयेत् ॥१६॥

स्तम्भदीपमनुष्याणामन्येषां प्राणिनां तथा ।
नखाग्रकेशनिर्ध्दूतस्नानवस्त्रघटोदकम् ॥१७॥

तथा **सोमशम्भुः**—

न निन्देत्कारणं देवं न शास्त्रं तेन निर्मितम् ।
न गुरुं साधकं चैव लिङ्गच्छायां न लङ्घयेत् ॥१८॥
[1]नाऽघा (थां) ळङ्घेन्न निर्माल्यं तद्द्याच्छिवदीक्षिते ।

तच्छिवनिर्माल्यं यथा **षडन्वयमहारत्ने**—

न लङ्घयेद् गुरोराज्ञामुत्तरं न वदेत्तथा ।
रात्रौ दिवा च तस्याज्ञां दासवत्परिपालयेत् ॥१९॥

---

१. ख. नाद्या० ।

असत्यमशुभं तद्वद्बहुवादं परित्यजेत् ।
अप्रियं च तथाऽऽलस्यं कामक्रोधौ विशेषतः ॥२०॥

अप्रच्छन्नमुखो ब्रूयाद् गुरोरग्रे कदाचन ।
अद्वैतं देवपूजां च गुरोरग्रे परित्यजेत् ॥२१॥

पादुकायोगपट्टादि गुरुचिह्नानि सादरम् ।
न लङ्घयेत्स्पृशेन्नैव पादाभ्यां प्रणमेत्सदा ॥२२॥

अभिमानं न कुर्वीत धनजात्याश्रमादिभिः ।
गुरुद्रव्यं न भोक्तव्यं तेनादत्तं कदाचन ॥२३॥

पर्यङ्कशयनं तद्वत्तथा पादप्रसारणम् ।
अङ्गभङ्गं च लीलां च न कुर्याद् गुरुसन्निधौ ॥२४॥

गमनागमने कुर्यात् प्रणम्य गुरुपादुकाम् ।
*छायां न लङ्घयेत्तद्वन्न गच्छेत्पुरतो गुरोः ॥२५॥

पश्चात्पादेन निर्गच्छेत्प्रणम्य च गुरोर्गृहात् ।
गुरोरग्रे न कुर्वीत प्रभावं शिष्यसङ्ग्रहम् ॥२६॥*

अहङ्कारं न कुर्वीत नोल्वणं धारयेद्वपुः ।
प्रगुरोः सन्निधौ नैव स्वगुरुं प्रणमेद् बुधः ॥२७॥

नमस्काराय चोद्युक्तं गुरुर्दृष्ट्या निवारयेत् ।
नियोगं गुरोर्दद्यात् युष्मदा नैव भाषयेत् ॥२८॥

उपयुक्तं परेणैव यदि वा दीक्षितेन तु ।
छत्रोपानहवस्त्राद्यं नोपयुञ्जीत कर्हिचित् ॥२९॥

असम्पत्तावथाऽपत्सु न दोषः क्षालिते सति ।
स्वकुले दीक्षितानां चाप्याचार्याणां तथैव च ॥३०॥
उपयुक्तान्न दोषः स्यात्तद्दत्तादाहृतादपि ।
मन्त्रोपयुक्तमन्नाद्यं तथा यन्मन्त्रसंस्कृतम् ॥३१॥

प्राप्तमायतनाद्देव्याः शिरसा प्रणतो वहेत् ।
निःक्षिपेदम्भसि ततो न पतेदवनौ यथा ॥३२॥

— चिह्नान्तर्गतांशो नास्ति ख. पुस्तके ।

जातायामापदि भ्रंशे शपथं गुरुसंज्ञकम् ।
न कुर्याद्भगवत्संज्ञं प्रमादेन क्रियेत चेत् ।।३३।।

तदर्थं निर्वहेद्यत्नादन्ते पूजाजपाहुतिः ।
अनिर्वाहे तु कार्यस्य यदर्थं शपथः कृतः ।।३४।।

प्रायश्चित्तजपो देवि सहस्रं स्वमनोस्ततः ।
लोकोद्वेगकरी या च या च मर्मनिकृन्तनी ।।३५।।

स्थित्युद्वेगकरी या च तां गिरं नैव भाषयेत् ।
रम्यमप्युज्वलमपि मनसोऽपि समीहितम् ।।३६।।

लोकविद्वेषणं वेषं न गृह्णीयात्कथंचन ।
अत्रोक्तान्यः सदा ह्येतानैहिकामुष्मिकोचितान् ।।३७।।

आचारानादृतः शान्तिं दीक्षितः सोऽधिगच्छति ।
स्त्रीणां विशेषतो हृद्यात्समयांश्चामलाशयः ।।३८।।

पालनात् समयानां च सिद्धिरुत्पाद्यतेऽचिरात् ।
मन्त्रः साम्मुख्यमायाति समयस्थस्य सर्वदा ।।३९।।

सिद्धयस्समयस्थस्य सर्वाः स्युर्मोक्षपश्चिमाः ।
अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।।४०।।

अष्टम्यां पूर्णिमायां च तेषु नैमित्तिको जपः ।
नित्यात्त्रिगुणितः सोऽथ पूजां चैव समाचरेत् ।।४१।।

न्यायार्जितैः साधनैश्च दानहोमार्चनादिकम् ।
कुर्यान्न चेदधो याति भक्त्या कुर्वन्नपीश्वरि ।।४२।।

।। [1]अथ पादुकाचारविधिः ।।

---

१. ख. इतः पूर्वमयमंशो विशेषः—

निबन्धे—**चन्दनं चाक्षतं पुष्पं स्वर्णं ताम्बूलमम्बरम् ।**
पात्रे निधाय गुरवे शिष्यो दद्यान्न पाणिना ।।१।।

कुलार्णवे—**रिक्तहस्तश्च नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम् ।**
फलपुष्पाम्बरादीनि यथाशक्ति समर्चयेत् ।।२।।
एवं यो नाचरेद्देवि ब्रह्मराक्षसतां व्रजेत् ।

श्रीकुलार्णवे—

वागुरा मूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः ।
एवं कुलागमे ज्ञानं पादुकायां प्रतिष्ठितम् ॥४३॥

कोटिकोटिमहादानात् कोटिकोटिमहाव्रतात् ।
कोटिकोटिमहायज्ञात्परा श्रीपादुकास्मृतिः ॥४४॥

कोटिमन्त्रजपात्कोटिपुण्यतीर्थावगाहनात् ।
कोटिदेवार्च्चनाद्देवि पराश्रीपादुकास्मृतिः ॥४५॥

महारोगे महोत्पाते महादुःखे महाभये ।
महापदि महापापे स्मृता रक्षति पादुका ॥४६॥

तेनाधीतं श्रुतं ज्ञातं दत्तमिष्टं च पूजितम् ।
जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य सदा श्रीपादुका प्रिये ॥४७॥

सकृच्छ्रीपादुकां देवि यो वा जपति भक्तितः ।
स सर्वपापरहितः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥४८॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वा यो भक्त्या स्मरति पादुकाम् ।
अनायासेन धर्मार्थकाममोक्षाँल्लभेत सः ॥४९॥

श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते ।
तस्यां दिशि नमः कुर्याद्भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये ॥५०॥

न पादुकापरो मन्त्रो न देवः श्रीगुरोः परः
न हि शाक्तात्परो मार्गो न पुण्यं कुलपूजनात् ॥५१॥

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
शास्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥५२॥

गुरुमूलाः क्रियाः सर्व्वा लोकेऽस्मिन् कुलनायिके ।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं सिद्ध्यर्थं भक्तिसंयुतैः ॥५३॥

तावदार्त्तिभयं दुःखं मोहशोकभ्रमादयः ।
यावन्न याति शरणं श्रीगुरुं भक्तवत्सलम् ॥५४॥

तावद् भ्रमति संसारे सर्वदुःखमलीमसः ।
यावन्न भजते भक्त्या श्रीगुरुं शिवरूपिणम् ॥५५॥

सर्वसिद्धिफलोपेतो मन्त्रस्कन्धोऽतिशोभनः[1] ।
गुरुप्रसादमूलोऽयं परतत्त्वमहाद्रुमः ॥५६॥

यथा ददाति सन्तुष्टः प्रसन्नो वरदो मनुम् ।
तथा भक्त्या धनैः प्राणैर्गुरुं यत्नेन तोषयेत् ॥५७॥

यदा दद्याच्छिवाय स्वमात्मानं देशिकोत्तमः ।
तदा भुक्तो भवेच्छिष्यो न ततोऽस्ति पुनर्भवः ॥५८॥

तावदाराधयेच्छिष्यः सुप्रसन्नो यथा भवेत् ।
गुरौ प्रसन्ने शिष्यस्य सद्यः पाशक्षयो भवेत् ॥५९॥

मनसाऽपि न काङ्क्षेत भक्तो मानानुजीविकाः ।
सम्पादयन्ति तत्सर्वं स्वामिनो भक्तवत्सलाः ॥६०॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानदेवतामुनियोगिनः ।
कुर्व्वन्त्यनुग्रहं तुष्टा गुरौ तुष्टे न संशयः ॥६१॥

भक्त्या सन्तुष्टगुरुणा योपदिष्टः कृपालुना ।
कर्ममुक्तो भवेच्छिष्यो भुक्तिमुक्त्योः स भाजनम् ॥६२॥

शिष्येणापि तदा ग्राह्यं यदा सन्तोषितो गुरुः ।
तस्माद् गुरोः प्रियं कुर्यान्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥६३॥

यदि वा परितुष्टेन गुरुणा यत्र कुत्रचित् ।
मुक्तोऽसीति समादिष्टः सोऽपि मुक्तो भवेत्प्रिये ॥६४॥

अथवा निष्प्रपञ्चेन धाम्ना केनचिदीश्वरि ।
करोमि गुरुरूपेण पशुपाशविमोचनम् ॥६५॥

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स तु पूज्यो ह्यहं यथा ॥६६॥

विप्रोऽपि गुणयुक्तो वाऽप्यभक्तो न प्रशस्यते ।
म्लेच्छोऽपि गुणहीनो वा भक्तिमान्स विशिष्यते ॥६७॥

गुरुभक्तिविहीनस्य तपो विद्या व्रतं कुलम् ।
निःफलं हि कुलेशानि केवलं लोकरञ्जनम् ॥६८॥

---

१. क. 'तन्त्रस्कन्धो०' ।

गुरुभक्त्याख्यदहनदग्धदुर्जातिकल्मषः[1] ।
श्वपचोऽपि परैः पूज्यो न विद्वानपि नास्तिकः ॥६९॥

धर्मार्थकामैः किं तस्य मोक्षस्तस्य करे स्थितः ।
सर्वार्थैः श्रीगुरौ देवि यस्य भक्तिः स्थिरा सदा ॥७०॥

स शिवो गुरुरूपेण भुक्तिमुक्तिप्रदो मम ।
इति भक्त्या स्मरेद्यस्तु तस्य सिद्धिरदूरतः ॥७१॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते कुलेश्वरि ॥७२॥

नारायणे महादेवे मातापित्रोश्च राजनि ।
यथा भक्तिर्भवेद्दिवि तथा कार्या निजे गुरौ ॥७३॥

लक्ष्मीनारायणौ वाणीधातारौ गिरिजाशिवौ ।
श्रीगुरुं गुरुपत्नीं पितराविति चिन्तयेत् ॥७४॥

गुरुभक्त्या यथा देवि प्राप्यन्ते सर्वसिद्धयः ।
यज्ञदानतपस्तीर्थव्रताद्यैर्न तथा प्रिये ॥७५॥

श्रीगुरोर्निश्चला भक्तिर्वर्द्धते हि यथा यथा ।
तथा तथाऽस्य विज्ञानं वर्द्धते कुलनायिके ॥७६॥

किं तीर्थाद्यैर्म्महायासैः किं व्रतैः कायशोषणैः ।
निर्व्याजसेवा देवेशि भक्तिर्येषां हि सद्गुरौ ॥७७॥

कायक्लेशेन महता तपसा वापि यत्फलम् ।
तत्फलं लभते देवि सुखेन गुरुसेवया ॥७८॥

भोगमोक्षार्थिनां ब्रह्म विष्णूवीशपदकाङ्क्षिणाम् ।
भक्तिरेव गुरौ देवि नान्यः पन्था इति श्रुतिः ॥७९॥

अशुभानि च सर्वाणि स महापातकानि च ।
भक्तिः क्षणेन दहति तूलराशिमिवानलः ॥८०॥

विश्वासाय नमस्तस्मै सर्व्वसिद्धिप्रदायिने ।
येन मृद्दारुदृषदः फलन्त्यविकलं फलम् ॥८१॥

---

१. ख. ०दग्धदुर्नीति० ।

न योगो न तपो नार्चाक्रमः योऽपि निगद्यते ।
अमाये कुलमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेव विशिष्यते ॥८२॥

साक्षाद्गुरुमये देवि सर्व्वस्मिन् भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः केषां न सिद्धयति ॥८३॥

गुरौ मनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिताम् ।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ॥८४॥

गुरुं न मर्त्यं बुद्धयेत यदि बुद्धयेत तस्य तु ।
कदापि न भवेत्सिद्धिर्मन्त्रैर्वा देवतार्च्चनैः ॥८५॥

श्रीगुरुं प्राकृतैः सार्द्धं ये स्मरन्ति वदन्ति च ।
तेषां च सुकृतं सर्वं पातकं भवति प्रिये ॥८६॥

जन्महेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नतः ।
गुर्र्विशेषतः पूज्यो धर्माधर्मप्रदर्शकः ॥८७॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्द्देवं गुरुर्गतिः ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥८८॥

गुरोर्हितं च कर्तव्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
अहिताचरणाद्देवि विष्ठायां जायते कृमिः ॥८९॥

शरीरवित्तप्राणांश्च श्रीगुरुं वञ्चयन्ति ये ।
कृमिकीटपतङ्गत्वं प्राप्नुवन्ति नराधमाः ॥९०॥

गुरुत्यागाद्भवेन्मृत्युर्म्मन्त्रत्यागाद्दरिद्रता ।
गुरुमन्त्रपरित्यागाद्रौरवं नरकं व्रजेत् ॥९१॥

गुर्व्वर्थं धारयेद्देहं तदर्थं धनमर्ज्जयेत् ।
निजप्राणान्परित्यज्य गुरुकार्यं समाचरेत् ॥९२॥

गुरूक्तं परुषं वाक्यमाशिषं चिन्तयेत्प्रिये ।
तेन सन्तापितो वापि प्रसादमिति संस्मरेत् ॥९३॥

भोगयोग्यानि वस्तूनि गुरवे सर्वमर्पयेत् ।
तच्छेषमिति सञ्चिन्त्य चानुभूयात्कुलेश्वरि ॥९४॥

गुर्व्वग्रे न तपः कुर्यान्नोपवासादिकं व्रतम् ।
तीर्थयात्रां च नो कुर्यान्न स्नायादात्मशुद्धये ॥९५॥

न नियोगं गुरोर्दद्याद्युष्मदा नैव भाषयेत् ।
ऋणदानं तथा दानं वस्तूनां क्रयविक्रयम् ॥९६॥

न कुर्याद् गुरुभिः सार्द्धं शिष्यो भूष्णुः कदाचन ।
न कुर्यान्नास्तिकैर्वादं सम्भाषणमपीश्वरि ॥९७॥

विलोक्य दूरतो गच्छेन्नासीत सह तैः क्वचित् ।
गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यमन्तिके ॥९८॥

स याति नरकं घोरं सा पूजा निष्फला भवेत् ।
शिरसा न वहेद्भारं गुरुपादाब्जधारिणा ॥९९॥

तदाज्ञया तत्कर्त्तव्यमाज्ञारूपो गुरुः स्मृतः ।
मन्त्रागमाद्यमन्यत्र श्रुतं तस्मै निवेदयेत् ॥१००॥

गुर्वाज्ञया तद् गृह्णीयात्तदनिष्टं विवर्ज्जयेत् ।
स्वशास्त्रोक्तं रहस्यार्थं न वदेद्यस्य कस्यचित् ॥१०१॥

यदि ब्रूयात्स समयाच्च्युत एव न संशयः ।
अद्वैतं भावयेन्नित्यं नाद्वैतं गुरुणा सह ॥१०२॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु हितं कुर्यात्कुलेश्वरि ।
आत्मस्थानाङ्गसद्भावैः शुश्रूषा स्याच्चतुर्विधा ॥१०३॥

शुश्रूषया तया देवि शिष्यः सन्तोषयेद् गुरुम् ।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥१०४॥

शुश्रूषणपरो यस्तु गुरुदेवमहात्मनाम् ।
केवलं गुरुशुश्रूषा तत्कृपाकारिणी प्रिये ॥१०५॥

सद्भक्तिसहिता सा चेत् सर्वकामफलप्रदा ।
क्षीयन्ते सर्वपापानि वर्द्धन्ते पुण्यराशयः ॥१०६॥

सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि गुरुशुश्रूषया प्रिये ।
यद्यदात्महितं वस्तु तत्तद्वित्तं न वञ्चयेत् ॥१०७॥

गुरुदेवार्चको यस्तु तस्य पुण्यं न गण्यते ।
भक्त्या वित्तानुसारेण गुरुमुद्दिश्य यत्कृतम् ॥१०८॥

स्वल्पं वा बहु वा पुण्यं तुल्यमाढ्यदरिद्रयोः ।
सर्वस्वमपि यो दद्याद् गुरवे भक्तिवर्ज्जितः ॥१०९॥

शिष्यो न फलमाप्नोति भक्तिरेव हि कारणम् ।
यस्मिन्द्रव्ये गुरोरस्ति स्पृहा नानुभवेच्च तत् ॥११०॥

अवश्यं यदि वाञ्छा स्यादनुभूयात्तदाज्ञया ।
यस्तिलार्द्धं तदर्द्धं वा गुरुस्वमुपजीवति ॥१११॥

लोभान्मोहात्स पच्येत नरके च त्रिसप्तके ।
अल्पादल्पं गुरुद्रव्यमदत्तं स्वीकरोति यः ॥११२॥

तिरश्चां योनिमापन्नः क्रव्यादैर्भक्ष्यते प्रिये ।
गुरुद्रव्याभिलाषी च गुरुस्त्रीगमनोत्सुकः ॥११३॥

पतितस्य क्षुल्लकस्य प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
आज्ञाभङ्गोऽर्थग्रहणं गुरोरप्रियवर्त्तनम् ॥११४॥

गुरुद्रोहमिदं प्राहुर्यः करोति स पातकी ।
स्वद्रव्यविनियोगं च नानिवेद्य गुरोश्चरेत् ॥११५॥

अनिवेद्य तु यः कुर्यात्स भवेद् ब्रह्मघातकः ।
गुरुस्थानं संप्रदायं तद्धर्मं यो विनाशयेत् ॥११६

गुरुभिः स बहिः कार्यो दण्ड्यो वध्यश्च पातकी ।
गुरुकोपान्न नाशोऽन्यो गुरुद्रोहान्न पातकम् ॥११७॥

न मृतिर्गुरुनिन्दा या गुर्व्वनिष्टान्न चापदः ।
जीवेदग्निप्रविष्टो वा नरः पीतविषोऽपि वा ॥११८॥

मृत्युहस्तगतो वापि नाऽपराधकरो गुरोः ।
यत्र श्री गुरुनिन्दा स्यात् पिधाय श्रवणे स्वके ॥११९॥

सद्यस्तस्मादपक्रामेद् दूरं न शृणुयाद्यथा ।
गुरुर्नाम जपेत्पश्चाच्छ्रवणे सा प्रतिक्रिया ॥१२०॥

गुरुमित्रसुहृद्दासीदासाद्यान्नापमानयेत् ।
न निन्देदस्य समयान्वेदशास्त्रागमादिकान् ॥१२१॥

श्रीगुरोः पादुका भूषा गुरुनामस्मृतिर्जपः ।
गुर्वाज्ञाकरणं कृत्यं शुश्रूषा भजनं गुरोः ॥१२२॥

विविक्षुर्देशिकावासं शान्तचित्तोऽतिभक्तिमान् ।
व्यजनं पादुका छत्रं चामरं वाहनादिकम् ॥१२३॥

ताम्बूलमुल्वणं वेषमुत्सृज्य प्रविशेच्छनैः ।
वाहनं पादुकां छत्रमासनं वसनादिकम् ॥१२४॥

दृष्ट्वा गुरोर्नमस्कुर्यान्नात्मभोगाय कारयेत् ।
पादप्रक्षालनं स्नानमभ्यङ्गं दन्तधावनम् ॥१२५॥

मूत्रं निष्ठीवनं क्षौरं शयनं स्त्रीनिषेवणम् ।
वीरासनं च दुर्वाक्यमासनं हास्यरोदनम् ॥१२६॥

केशमोचनमुष्णीषं कञ्चुकं नग्नतां तथा ।
पादप्रसारणं वादं कलहं दूषणं प्रिये ॥१२७॥

अङ्गभङ्गाङ्गवाद्यादिकरास्फालनधूननम् ।
द्यूतकुक्कुटमल्लादियुद्धमित्यादि चाम्बिके ॥१२८॥

गुरुयोगिमहासिद्धपीठक्षेत्राश्रमेषु च ।
नाचरेदाचरेन्मोहाद्देवताशापमाप्नुयात् ॥१२९॥

उपचारं विना तिष्ठेद् गुर्वग्रे नेच्छया विशेत् ।
मुखावलोकी सेवेत तदुक्तं च समाचरेत् ॥१३०॥

गुरूक्तानुक्तकार्येषु नोपेक्षां कारयेत्प्रिये ।
सदसद्यद् गुरुर्ब्रूयात्तत्कार्यमविशङ्कया ॥१३१॥

निग्रहानुग्रहे वापि गुरुः सर्वस्य कारणम् ।
निर्गतं यद् गुरोर्वक्त्रात्सर्वं शास्त्रं तदुच्यते ॥१३२॥

गुरुकार्ये स्वयं शक्तो नापरं प्रेषयेत् प्रिये ।
बहुत्वे तत्परैर्भृत्यैः सहितोऽप्यतिभक्तिमान् ॥१३३॥

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपञ्जाग्रज्जपञ् जुह्वन् प्रपूजयन् ।
गुर्वाज्ञामेव कुर्वीत तद्गतेनान्तरात्मना ॥१३४॥

अभिमानो न कर्त्तव्यो जातिविद्याधनादिभिः ।
सर्वदा सेवयेन्नित्यं शिष्यः श्रीगुरुसन्निधौ ॥१३५॥

छायाभूमिपरित्यागी विनीतस्त्वतिभक्तिमान् ।
देवी गुर्वग्रतस्तिष्ठेद् गुरुकार्यसमुत्सुकः ॥१३६॥

स्वकार्यमन्यकार्य्यं वा शिष्यः श्रीगुरुचित्तवत् ।
गुरुपार्श्वगतो नम्रः प्रच्छन्नास्यो मितं वदेत् ॥१३७ ॥

सामान्यतो निषेवंश्चेत्सद्गुरोर्यदि सन्निधौ ।
आचरेद्यदि मूढात्मा दोषं कोटिगुणं भवेत् ॥१३८॥

अनादृत्य गुरोर्वाक्यं शृणुयाद्यः पराङ्मुखः
अहितं वाऽहितं वापि रौरवं नरकं व्रजेत् ॥१३९॥

गोब्राह्मणवधं कृत्वा यत्पापं समवाप्नुयात् ।
तत्पापं समवाप्नोति गुर्वग्रेऽनृतभाषणात् ॥१४०॥

स्थानान्तरगतं चार्थव्यसने विषमे स्थितम् ।
श्रीगुरुं न त्यजेत्क्वापि तदादिष्टो व्रजेत्प्रिये ॥१४१॥

अधःस्थिते गुरावूर्ध्वे न तिष्ठेत कदाचन ।
न गच्छेदग्रतस्तस्य न विशेदुत्थिते गुरौ ॥१४२॥

शक्तिच्छायां गुरुच्छायां देवच्छायां न लङ्घयेत् ।
स्वच्छायां तेषु नो कुर्यान्न स्वपेद् गुरुसन्निधौ ॥१४३॥

भाषणं पठनं गानं भोजनं शयनादिकम् ।
अनादिष्टो न कुर्वीत न चावन्दनपूर्वकम् ॥१४४॥

ब्रह्महत्याशतं कुर्याद् गुर्वाज्ञां परिपालयन्
विना गुर्वाज्ञया शिष्यो निःश्वसेन्नातिशासनात् ॥१४५॥

सर्वं गुर्वाज्ञया कुर्यान्नालिङ्गेत स्त्रियं प्रिये ।
भक्त्या प्रणम्य चोत्तिष्ठेद्बद्धाञ्जलिपुटः प्रिये ॥१४६॥

पश्चात्पादेन निर्गच्छेन्नमस्कृत्य गुरोर्गृहात् ।
एकासनेनोपविशेद् गुरुणा तत्समैः सह ॥१४७॥

न विशेदासने देवि देवतागुरुसन्निधौ ।
गुरोः सिंहासनं देयं ज्येष्ठानामुत्तमासनम् ॥१४८॥

देश्यासनं कनिष्ठानामितरेषां समासनम् ।
जातिविद्याधनाढ्यो वा दूने दृष्ट्या गुरुं मुदा ॥१४९॥

दण्डप्रणामं कुर्वीत त्रिःप्रदक्षिणमाचरेत् ।
ततस्त्रिषड्द्वादश वा ज्येष्ठादिष्वेकमेव च ॥१५०॥

गुरुतद्गुरुयोगे तु वन्देत परमं गुरुम् ।
ततो नमेद् गुरुं सोऽपि गुर्वग्रे तं निवारयेत् ॥१५१॥

प्रगुरोः सन्निधौ शिष्यः स्वगुरुं मनसा नमेत् ।
गुरुबुद्धया नमेत्सर्वं दैवतं तृणमेव वा ॥ १५२॥

न नमेद्देवबुद्ध्या तु प्रतिमां लोहमृण्मयीम् ।
गुरोः प्रणामत्रितयं ज्येष्ठानामेकमेव च ॥१५३॥

पूज्यानामञ्जलिस्तद्वदन्येषां वाक्यवन्दनम् ।
देवान् गुरून् कुलाचार्यान् ज्ञानवृद्धांस्तपोधनान् ॥१५४॥

विद्याधिकान् स्वकर्मस्थान् प्रणमेत्कुलनायिके ।
स्त्रीद्विष्टं गुरुभिः शप्तं पाखण्डं पतित शठम् ॥१५५॥

विकर्मिणं कृतघ्नं वा नाश्रमिणं च नो नमेत् ।
अनिवेद्य गुरौ भुङ्क्ते यस्त्वेकगृहसंस्थितः ॥१५६॥

अमेध्यं तेन भुक्तं स्यात्सूकरो जायते मृतः ।
एकग्रामस्थितः शिष्यस्त्रिसन्ध्यं प्रणमेद् गुरुम् ॥१५७॥

क्रोधमात्रस्थितो भक्त्या गुरुं प्रतिदिनं नमेत् ।
अर्द्धयोजनगः शिष्यः प्रणमेत्पञ्चपर्वसु ॥१५८॥

एकयोजनमारभ्य योजनद्वादशावधि ।
तत्तद्योजनसंख्यातमासैर्गत्वा नमेद् गुरुम् ॥१५९॥

दूरदेशस्थितः शिष्यो भक्त्या तत्सन्निधिं गतः ।
अतिदूरस्थितः शिष्यो यदीच्छा स्यात्तदा व्रजेत् ॥१६०॥

रिक्तहस्तस्तु नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम् ।
फलपुष्पाम्बरादीनि यथाशक्त्या समर्पयेत् ॥१६१॥

एवं यो नाचरेद्देवि ब्रह्मराक्षसतां व्रजेत् ।
गुरुशक्तिश्च तत्पुत्रो ज्येष्ठभ्राता गुरोः समः ॥१६२॥

आत्मवच्च कनीयांसः पुत्रवत्कुलपालकाः ।
लोकाचार्यस्य देवेशि गुरुज्येष्ठकनिष्ठयोः ॥१६३॥

गुरुकल्पस्य कुर्वीत प्रणामं स्वगुरोर्यथा ।
स्वज्येष्ठश्च क्रमज्येष्ठः कुलज्येष्ठस्तृतीयकः ॥१६४॥

गुरुज्येष्ठस्तु देवेशि इति ज्येष्ठचतुष्टयम् ।
यावज्ज्येष्ठाभिवादे तु क्रमकोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥१६५॥

गुरोश्च कुलवृद्धस्य वन्दनाद्धिविधानतः ।
पितृमात्रादिसर्वेषु पूज्यकोटिषु बन्धुषु ॥१६६॥

अभ्युत्थानप्रणामाद्यैरव्यक्तो दोषलाघवः ।
यदा त्वाचार्यरूपेण स्वात्मानं सम्प्रकाशयेत् ॥१६७॥

अभ्युत्थानप्रणामाद्यैर्दोषः स्यात्तु तदा प्रिये ।
पतिर्भूत्वा पशुभ्यस्तु प्रणामं यः करिष्यति ॥१६८॥
स महापशुरित्युक्तो देवताशापमाप्नुयात् ।
यो गुरुस्थानकं प्राप्तः पादुकापरिसंख्यया ।
गुरुवत्स तु मन्तव्यो ज्येष्ठैर्वन्द्यो न च प्रिये ॥१६९॥

॥ इति पादुकाचारविधिः ॥

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

गुरुः सम्पूज्यते यत्र तत्कर्म सफलावहम् ।
स चेन्न पूज्यते यत्र क्रिया सा निष्फला तदा ॥१७०॥

गुरोरभावे तत्पुत्रं पुत्राभावे तदङ्गनाम् ।
तदभावे च तत्पौत्रं दौहित्रं तदसम्भवे ॥१७१॥

सर्वाभावेऽर्चयेदन्यं गुरुगोत्रसमुद्भवम् ।
पूज्यते स्वगुरुर्यत्र तत्रैताः सफलाः क्रियाः ॥१७२॥
न पूज्यते निष्फलास्ता भवन्ति परमेश्वरि ।

॥ अथ समायाचारः ॥ तत्र—

श्रीकुलार्णवे—

श्रीगुरुं कुलशास्त्राणि पूज्यस्थानानि यानि तु ।
भक्त्या श्रीपूर्वकं देवि प्रणम्य परिकीर्त्तयेत् ॥१७३॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यस्य मे गुरुसन्ततिः ।
तस्य मे सर्वशिष्यस्य को न पूज्यो महीतले ॥१७४॥

गुरुं नाम्ना न भाषेत जपकालादृते प्रिये ।
श्रीनाथ-देव-स्वामीति विवादे बोधने वदेत् ॥१७५॥

श्रीगुरोः पादुकां मुद्रां मूलमन्त्रं स्वपादुकाम् ।
शिष्यादन्यत्र देवेशि न वदेद्यस्य कस्यचित् ॥१७६॥

पारम्पर्यागमाम्नायमन्त्राचारादिकं प्रिये ।
सर्वं गुरुमुखाल्लब्धं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥१७७॥

श्रीशास्त्राश्रयभूतं च पुस्तकं देववत्प्रिये ।
नित्यं समर्चयेद्भक्त्या पशुहस्ते न निःक्षिपेत् ॥१७८॥

स्वदारवन्निषेवेत कुलशास्त्राणि पार्वति ।
पशुशास्त्राणि सर्वाणि वर्जयेत्परदारवत् ॥१७९॥

श्वचर्मस्थं यथा क्षीरमपेयं स्याद् द्विजोत्तमैः ।
तथा पशुमुखाद्धर्मो न श्रोतव्यश्च कौलिकैः ॥१८०॥

यः शृणोति कुलाचारं यथाशास्त्रं च यो वदेत् ।
तावुभौ गच्छतः साक्षाद् योगिनीवीरमेलनम् ॥१८१॥

अश्रद्दधाना ये चात्र कुलधर्मं कुलेश्वरि ।
नरकान्न निवर्त्तन्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥१८२॥

ऊढा धृता तथा क्रीता मूल्येन च समाहृता ।
सकृत्कामगता वापि पञ्चधा गुरुयोषितः ॥१८३॥

अलङ्घ्याः पूजनीयाः स्युर्गुरुवद्गुरुयोषितः ।
कृष्णांशुकां कृष्णवर्णां कुमारीं च कृशोदरीम् ॥१८४॥

मनोहरां यौवनस्थामर्चयेद्देवताधिया ।
सहकारमशोकं च क्रीडालोलां कुमारिकाम् ॥१८५॥

एकवृक्षं श्मशानं च समूहं योषितामपि ।
नारीं च रक्तवसनां दृष्ट्वा वन्देत भक्तितः ॥१८६॥

गुरुशक्तिसुतज्येष्ठकनिष्ठकुलदेशिकान् ।
प्रेरकान्सूचकांश्चापि वाचकान्दर्शकांस्तथा ॥१८७॥

शिक्षकान् बोधकान् योगियोगिनीसिद्धपूरुषान् ।
कन्याः कुमारिका नग्ना उन्मत्तामपि योषितम् ॥१८८॥

न निन्देन्न जुगुप्सेत न हस्येन्नापमानयेत् ।
न प्रियं नानृतं ब्रूयात्कस्यापि कुलयोगिनः ॥१८९॥

कुरूपेत्यतिकृष्णेति न वदेत्कुलयोषितम् ।
न पश्येद्वनितां नग्नामुन्मत्तां प्रकटस्तनीम् ॥१९०॥

न दिवा सेवयेन्नारीं तद्योनिं न निरीक्षयेत् ।
या काचिदङ्गना लोके सा मातृकुलसम्भवा ॥१९१॥
कुप्यन्ति कुलयोगिन्यो वनितानामतिक्रमात् ।
शतापराधां वनितां पुष्पेणापि न ताडयेत् ॥१९२॥
दोषान्न गणयेत्स्त्रीणां गुणानेव प्रकाशयेत् ।
तिष्ठन्ति कुलयोगिन्यः कुलवृक्षेषु सर्वदा ॥१९३॥
तत्पत्रेषु न भोक्तव्यमर्कपत्रे विशेषतः ।
न स्वपेत्कुलवृक्षाधो न चोपद्रवमाचरेत् ॥१९४॥
दृष्ट्वा भक्त्या नमस्कुर्याच्छेदयेन्न कदाचन ।
श्लेष्मातककरञ्जाक्षनिम्बाश्वत्थकदम्बकाः ॥१९५॥
बिल्वो वटोदुम्बरश्च कुलवृक्षा नव स्मृताः ।
देवतागुरुशास्त्राणां सिद्धाचारविडम्बकः ॥१९६॥
विद्याचोरो गुरोर्द्रोही ब्रह्मराक्षसतां व्रजेत् ।
गुरुं मोहादनादृत्य निर्भर्त्स्य वीरपूरुषान् ॥१९७॥
विकल्प्य कुलशास्त्राणि भवन्ति ब्रह्मराक्षसाः ।
एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नैव मन्यते ॥१९८॥
श्वानयोनिशतं गत्वा चण्डालत्वमवाप्नुयात् ।
गुरुं प्रकाशयेद्धीमान्मन्त्रं नैव प्रकाशयेत् ॥१९९॥
अप्रकाशप्रकाशाभ्यां क्षीयन्ते सम्पदायुषः ।
कुलधर्मं समाश्रित्य ह्याचारं यो न पालयेत् ॥२००॥
यथेष्टाचारिणस्तस्य महापातकिनः प्रिये ।
आपदो दुरिता रोगा दारिद्र्यं कलहो भयम् ॥२०१॥
योगिनीनां प्रकोपश्च स्खलितं च पदे पदे ।
भ्रष्टमानः प्रनष्टश्च तेजोहीनोऽतिदुःखितः ॥२०२॥
निन्दितः सर्वविद्विष्टो विह्वलः सङ्गवर्जितः ।
देशाद्देशान्तरं याति कार्यहानिश्च सर्वदा ॥२०३॥
तत्रापि कुलमार्गस्थाः शाकिन्यः कुलपालिकाः ।
भक्षयन्ति पुरा तासां वरो दत्तो मयैव तु ॥२०४॥
तस्मादाचारवान्देवि योगिनीनां प्रियो भवेत् ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं मन्त्रतन्त्रादिलोपजम् ॥२०५॥

अनर्हपशुदुःसङ्गं मन्त्रसाङ्कर्यसम्भवम् ।
गुप्तप्रकटसम्भूतं ज्ञानाज्ञानकृतं प्रिये ॥२०६॥

एवमादिषु दोषेषु पापस्य गुरुलाघवम् ।
देशं कालं च यो वित्तं सम्यग् ज्ञात्वा यथाविधि ॥२०७॥

प्रायश्चित्तं गुरुर्दद्यात्सर्वपापविशुद्धये ।
शिष्योऽपि च तथा प्रोक्तः प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥२०८॥

अथवा सर्वपापानां गुरुनामजपः स्मृतिः ।
जाम्बूनदस्य कालुष्यं परिशुद्धं यथाऽग्निना ॥२०९॥

अनाचारस्य मालिन्यं प्रायश्चित्ताग्निना दहेत् ।
बहुनात्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति ॥२१०॥

वर्णाश्रमाणां सर्वेषामाचारः सद्गतिप्रदः ।
गुरुश्चिवारमाचारं कथयेत्कुलनायिके ॥२११॥

तन्न गृह्णाति शिष्यश्चेत्तदापायं गुरोर्नहि ।
मन्त्रिदोषश्च राजानं भार्यादोषः पतिं यथा ॥२१२॥
तथा प्राप्नोत्यसन्देहः शिष्यपापं गुरुः प्रिये ।[1]

इति समयाचारः ।

॥ अथ होमद्रव्यमानम् ॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि मानं हवनसिद्धिदम् ।
पुष्पं समग्रं जुहुयात्कमलं चापि पुष्कलम् ॥२१३॥

कुसुम्भबाणपुष्पाणि यथेष्टानि हुनेत्प्रिये ।
शतसंख्या राजिकास्तु तिलाश्च शतसंख्यया ॥२१४॥

---

१. इतः परमयमशो विशेषः ख. पुस्तके—

श्रीगुरुं लक्षणोपेतं संशयच्छेदकारणम् ।
लब्ध्वा ज्ञानप्रदं देवि न गुर्वन्तरमाश्रयेत् ॥१॥
अनभिज्ञं गुरुं प्राप्य संशयच्छेदकारकम् ।
शिष्यो गुर्वन्तरं गत्वा तद्दोषेण न लिप्यते ॥२॥
शैवे गुरुत्रयं प्रोक्तं वैष्णवे गुरुपञ्चकम् ।
वेदशास्त्रेषु शतशो गुरुरेकः कुलान्वये ॥३॥

लाजा मुष्टिप्रमाणाः स्युर्घृतं गट्यानमात्रकम् ।
चुलुकार्द्धं पयः क्षीरमन्नं ग्रासमितं भवेत् ।।२१५।।

स्थूलं फलं महेशानिकूष्माण्डं मातुलुङ्गकम् ।
मनःप्रियैश्च खण्डैश्च फलं भवति निश्चयात् ।।२१६।।

रम्भाफलं चतुःखण्डं लघु चेत् खण्डितं नहि ।
नालिकेरस्य खण्डं हि स्थूलं कुर्यान्मनःप्रियम् ।।२१७।।

पर्वस्थाने चेक्षुदण्डं मनःसंतोषकारि वा ।
द्राक्षाफलं समग्रं स्यान्नारङ्गं खार्ज्जुरं तथा ।।२१८।।

गुग्गुलुः क्रमुकार्द्धं तु कुङ्कुमं च तथा भवेत् ।
गुञ्जासमं सकर्पूरं कस्तूरी घुसृणं तथा ।।२१९।।

चन्दनं चागुरुं देवि क्रमुकेण समं भवेत् ।
मनःप्रियाहुतीः कृत्वा होमं कुर्यात्सुलोचने ।।२२०।।

एतदाहुतिमानं ते कथितं सर्वसिद्धिदम् ।
यथेच्छया वरारोहे श्रीविद्यां परितोषयेत् ।२२१।।

श्रीविद्यामित्युपलक्षणम् । तथा—

शारदातिलके—

कर्षमात्रं घृतं होमे शुक्तिमात्रं पयः स्मृतम् ।
दधि प्रसृतिमात्रं स्यात् लाजाः स्युर्मुष्टिसंमिता ।।२२२।।

पृथुकास्तत्प्रमाणाः स्युः सक्तवोऽपि तथोदिताः ।
गुडः पलार्द्धमानः स्याच्छर्कराऽपि तथा मता ।।२२३।।

ग्रासार्द्धं चरुमानं स्यादिक्षुः पर्वमितः स्मृतः ।
एकैकं पत्रपुष्पाणि तथाऽपूपानि कल्पयेत् ।।२२४।।

कदली नागरंगाणां फलान्येकैकशो विदुः ।
मातुलुङ्गं चतुःखण्डं पनसं दशधा कृतम् ।।२२५।।

अष्टधा नालिकेराणि खण्डितानि विदुर्बुधाः ।
त्रिधा कृतं बिल्वफलं कपित्थं खण्डितं त्रिधा ।।२२६।।

उर्वारुकफलं होमे कथितं खण्डितं त्रिधा ।
फलान्यन्यान्यखण्डानि समिधः स्युर्द्दशाङ्गुलाः ।।२२७।।

दूर्वात्रयं समादिष्टं गुडूची चतुरङ्गुला ।
व्रीहयो मुष्टिमात्राः स्युर्मुद्गा माषा यवा अपि ॥२२८॥

तण्डुलाः स्युस्तदर्द्धांशाः कोद्रवा मुष्टिसम्मिताः ।
गोधूमा रक्तकलमा विहिता मुष्टिमानतः ॥२२९॥

तिलाश्चुलुकमात्राः स्युः सर्षपास्तत्प्रमाणकाः ।
शुक्तिप्रमाणं लवणं मरिचान्यपि विंशतिः ॥२३०॥

पुरुं बदरमानं स्याद्रामठं तत्समं स्मृतम् ।
चन्दनागुरुकर्पूरकस्तूरीकुङ्कुमानि च ॥२३१॥
तिन्तिडीबीजमानानि समुद्दिष्टानि देशिकैः । इति ।

कर्षलक्षणमुक्तं सारसङ्ग्रहे—

माषो दशगुञ्जा स्यात्षोडशमाषो निगद्यते कर्ष ।

इति । तैलस्याप्येतदेव प्रमाणम् । शुक्तिः कर्षद्वयम्: प्रसृतिमात्रं पलद्वयमात्रम्, मुष्टिः पलं, पलार्द्धं कर्षद्वयं, ग्रासार्द्धं अशीतिरत्तिकामितम् । तदुक्तं **पिङ्गलामते—**

गुञ्जाभिर्दशभिर्माषः शाणो माष चतुष्टयम् ।
द्वौ शाणौ धटकः कोलो बदरं द्रक्षणश्च सः ॥२३२॥

तौ द्वौ पाणितलं कर्षः [1]सुवर्णकवलग्रहः ।
पिचुर्विडालपदक[2]तिन्दुकोऽक्षश्च तद्द्वयम् ॥२३३॥

शुक्तिरष्टमिका ते द्वे पलं बिल्वं चतुर्थिका ।
मुष्टिराम्रं प्रकुञ्चोऽथ द्वे पले प्रसृतिस्तथा । इति ॥२३४॥
मातुलुङ्गं बीजपूरं उर्वारुकं च कर्कटी ।

तदर्द्धांशाः शुक्तिमिताः, चुलुकमात्राः पाणितलप्रमाणाः कर्षमात्रा इत्यर्थः । पुरुः गुग्गुलुः, बदरमानं अशीतिगुञ्जामितम् । तथा **नारदपञ्चरात्रे—**

तृतीयखण्डं मूलानां ह्रस्वानि स्वप्रमाणतः ॥२३५॥

शैवागमेऽपि—

खण्डत्रयं स्यान्मूलानां सूक्ष्माण्येवं च होमयेत् ।
कन्दानामष्टमं भागं लतानामङ्गुलद्वयम् ॥२३६॥ इति ।

---

१. ख. सुवर्णं० । २. ०पदकं० ।

समिधः

नारदपञ्चरात्रे—

समित्प्रादेशमात्रेण समच्छेदान्विता तथा ।
विशीर्णा द्विदला ह्रस्वा वक्रा स्थूला कृशा द्विधा ॥२३७॥

कृमिदष्टाश्च दीर्घाश्च निस्त्वचः परिवर्ज्जिताः ।
विशीर्णायुःक्षयं कुर्याद् द्विदलाद् व्याधिसम्भवः ॥२३८॥

ह्रस्वायां मृत्युमाप्नोति वक्रा विघ्नकरी तथा ।
स्थूलाभिर्हरते लक्ष्मीं कृशायां जायते क्षयः ॥२३९॥

द्विधायां नेत्रदोषाः स्युः कीटदष्टाऽर्थनाशिनी ।
द्वेषं प्रकुरुते दीर्घाः प्राणघ्न्यो निस्त्वचः स्मृताः ॥२४०॥

सक्षीरा नाधिका न्यूनाः समिधः सर्वकामदाः ।
आर्द्रत्वचं महच्छेदां तर्ज्जन्यङ्गुलवर्त्तुलाम् ॥२४१॥

ईदृशं होमयेत्प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ।
श्रौते स्मार्त्ते च तन्त्रोक्ते समिधः परिकीर्त्तिताः ॥२४२॥

तथा वायवीयसंहितायाम्—

ताः पालास्यः परा वापि यज्ञीया द्वादशाङ्गुलाः ।
अवक्रा अस्वयं शुष्काः सत्वचो निर्व्रणाः समाः ॥२४३॥

दशाङ्गुला वा विहिता कनिष्ठाङ्गुलसम्मिताः ।
प्रादेशमात्रा वाऽलाभे होतव्याः सकला अपि ॥२४४॥

शारदातिलके—

वैश्वानरं स्थितं ध्यायेत्समिद्धोमेषु देशिकः ।
शयानमाज्यहोमेषु निषण्णं शेषवस्तुषु ॥२४५॥

गुहकल्पे—

सर्वकार्यप्रसिद्ध्यर्थं जिह्वायां तस्य होमयेत् ।
चक्षुःकर्णादिकं ज्ञात्वा होमयेद्देशिकोत्तमः ॥२४६॥

अग्निकर्णे हुतं यत्तु कुर्याच्च व्याधितो भयम् ।
नासिकायां महद्दुःखं चक्षुषोर्नाशनं भवेत् ॥२४७॥

केशे दारिद्र्यदं प्रोक्तं तस्माज्जिह्वासु होमयेत् ।
यत्र काष्ठं तत्र कर्णौ यत्र धूमस्तु नासिके ॥२४८॥

यत्राल्पज्वलनं नेत्रं यत्र भस्म तु तच्छिरः ।
यत्रैव ज्वलितो वह्निस्तत्र जिह्वा प्रकीर्त्तिता ॥२४९॥ इति ।

तथा शारदातिलके—

आस्यान्तर्जुहुयाद्वह्नेर्विपश्चित्सर्वकर्मसु ।
कर्णहोमे भवेद् व्याधिर्नेत्रे त्वन्धत्वमीरितम् ॥२५०॥

नासिकायां मनःपीडा मस्तके धनसंक्षयः ।
सधूमोऽग्निः शिरः प्रोक्तो निर्धूमश्चक्षुरेव च ॥२५१॥

ज्वलन् कृशो भवेत्कर्णः काष्ठलग्नश्च नासिका ।
अग्निः सञ्जायते यत्र शुद्धस्फटिकसन्निभः ॥२५२॥
तन्मुखं तत्र विज्ञेयं चतुरङ्गुलमानतः । इति ।

॥ **अथाऽग्नेर्वर्णाद्याः** ॥ तत्र—

नारदपञ्चरात्रे—

अग्नेर्भासश्च गन्धाश्च शब्दाश्चाकृतयस्तथा ।
विकाराश्च शिखाश्चैव संवेद्याः कर्मसिद्धये ॥२५३॥

पद्मरागद्युतिः श्रेष्ठो लाक्षारससमप्रभः ।
बालार्कवर्णो हुतभुग्जयार्थं शस्यते बुधैः ॥२५४॥

इन्द्रगोपकसङ्काशः शोणिताभोऽथ पावकः ।
शक्रचापनिभः श्रेष्ठः कुसुम्भाभस्तथैव च ॥२५५॥
रक्तानां पुष्पजातीनां वर्णनाग्निरिहोच्यते ।

पदार्थादर्शे—

मारणोच्चाटनोत्सादकर्मण्यस्मिन् सुशोभनः ।
कृष्णानां पुष्पजातीनां वर्णनाग्निरिहोच्यते ॥२५६॥

शंखस्फटिककुन्देन्दुवर्णेभ्योऽपि सितः शुभः ।
शान्तिके पौष्टिके चापि विहितः सर्वदाऽनलः ॥२५७॥

॥ **अथ गन्धः** ॥

सुगन्धद्रव्यगन्धोऽग्निर्घृतगन्धः सुशोभनः ।
आयुर्दः पद्मगन्धः स्याद्बिल्वगन्धश्च सुव्रतः ॥२५८॥

॥ अथ शब्दः ॥

जीमूतवल्लकीशङ्खमृदङ्गध्वनितुल्यकः ।
शब्दोऽग्नेः सिद्धये होतुरतोऽन्यः स्यादसिद्धिदः ॥२५९॥

तथा शारदातिलके—

भेरीवारिदहस्तीन्द्रध्वनिर्वह्नेः शुभावहः ।

॥ अथाऽऽकृतिः ॥

नारदपञ्चरात्रे—

छत्राकारोऽथ हंसानां मयूराणां च सिद्धिदः ।
तथाऽऽकृतिः सदा वह्निः सद्यः सिद्धिकरः स्मृतः ॥२६०॥

शेषाणां दंष्ट्रिणां रूपं न शस्तं होमकर्मणि ।
यद्रूपं कथितं चैतद्यदि तस्य प्रदक्षिणम् ॥२६१॥
अन्योऽन्यत्वं [1]प्रपद्येत तदा सिद्धिकरोऽनलः ।

॥ अथ शिखास्तत्रैव ॥

विषमाश्च शिखा वह्नेस्त्र्यादयश्च शुभावहाः ।
ह्रस्वा ह्रस्वोन्नता दीर्घाऽग्निज्वालाः सिद्धिदाः स्मृता ॥२६२॥

तथा शारदातिलके—

प्रदक्षिणास्त्यक्तकम्पाः छत्राभाः शिखिनः शिखाः ।
शुभदा यजमानस्य राज्यस्यापि[2] विशेषतः ॥२६३॥

तथा नारदपञ्चरात्रे—

प्रदीप्ते लेलिहानेऽग्नौ निर्धूमे सगुणे तथा ।
हृद्ये तुष्टिप्रदे चैव होतव्यं सिद्धिमिच्छता ॥२६४॥

स्निग्धः प्रदक्षिणावर्त्तः सुशब्दश्चापि यो भवेत् ।
नित्यमेवं शुभकरो यदन्यैर्वर्जितो गुणैः ॥२६५॥

तथा निषिद्धो नारदपञ्चरात्रे—

---

१. क. प्रद्येत । २. क. राजस्यापि ।

अल्पतेजाश्च रूक्षश्च विस्फुलिङ्गसमन्वितः ।
धूमावलीढज्वालश्च कृशानुर्नैव सिद्धिदः ॥२६६॥

दुर्गन्धश्चावलीढश्च सितः कृष्णश्च यो भवेत् ।
भूमिं च विलिखेद्यस्तु सोऽपि दद्यात्पराभवम् ॥२६७॥

तथा शारदातिलके—

कृष्णः कृष्णगतेर्वर्णो यजमानं विनाशयेत् ।
पूतिगन्धो हुतभुजो होतुर्दुःखप्रदो भवेत् ॥२६८॥

छिन्ना वृत्तशिखा[1] कुर्यान्मृत्युं धनपरिक्षयम् ।
शुकपक्षनिभो धूमः पारावतसमप्रभः ॥२६९॥
हानिं तुरगजातीनां गवां च कुरुते चिरात् ।

तथा नारदपञ्चरात्रे—

खरोष्ट्रमहिषादीनां रुतमत्र न सिद्धये ।
कृष्णश्चटचटाशब्दस्त्वपसव्यगतिः सदा ॥२७०॥

उल्लिखेद्वसुधां यश्च यश्चाधःशिख एव च ।
नेष्यतेऽसौ मुनिश्रेष्ठ शास्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे ॥२७१॥ इति ।

अत्रैवंविधेषु दोषेषु प्रायश्चित्तमुक्तम्—

शारदातिलके—

एवंविधेषु दोषेषु प्रायश्चित्ताय देशिकः[2] ।
मूलेनाज्येन जुहुयात्पञ्चविंशतिमा(रा)हुतीः ॥२७२॥

इति पञ्चविंशतिरेकैकस्मिन्दोषे इति ज्ञेयम् ।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मज-गोस्वामि-
श्रीशिवानन्दभट्टविरचिते सिंहसिद्धान्तसिन्धौ
द्वादशस्तरङ्गः ॥१२॥

---

१. ख. वृत्ता शिखा ।   २. क. देशिकं ।

त्रयोदशस्तरङ्गः

।। अथ दीक्षाप्रयोगः ।।

तत्र प्रमाणोक्तसत्फलमास-पक्ष-तिथि-नक्षत्रादिशुद्धदीक्षादिवसात्पूर्वदिवसे शिष्यः प्रातःस्नानं विधाय, नित्यकृत्यं कृत्वा, भूषितः पञ्चवाद्यशब्दपुरस्सरं विप्रैः कृतस्वस्तिवाचनः सुहृत्साधकैः सार्द्धं द्विजगुरोर्गृहं गत्वा, श्रीगुरुं साष्टाङ्गं नमस्कृत्य, तन्निदेशेन प्राणायामपूर्वकं "ॐ अद्याऽमुकस्मिन्मासे अदकोराशिगते भानावमुकस्मिन्पक्षेऽमुकस्मिन् (स्यां) तिथौ विप्रश्चेददकोगोत्रोऽदकःशर्मा, क्षत्रियश्चेददकोवर्मा, वैश्यश्चेददकोगुप्तः, शूद्रश्चेददकोदासोऽहं, चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिकामोऽदकोमन्त्रग्रहणं करिष्ये" इति कुशकरः प्राग्वदन उदग्वदनो वा सङ्कल्पं कृत्वा, प्रमाणोक्तमधुपर्कसाधनैः स्वशाखोदीरितविधानेन श्रीगुरुं मधुपर्केण सम्पूज्य, पट्टवस्त्रयुगल-कनकाङ्गुलीय-कनककर्णालङ्कार-कनकोपवीतादिनानाविधवरणसाधनं श्रीगुरुसमीपे निधाय,'ऽद्येत्यादि-तिथ्युल्लेखनान्तेऽदकोगोत्रोऽदकःशर्मेत्यादि यथावर्णमुच्चार्य्याऽहं चतुर्विधपुरुषार्थ सिद्धिकामनयाऽदकोमन्त्रग्रहणायादकोगोत्रमदकोवेदान्तर्गतादकःशाखापाठिनमदकःशर्माणं भवन्तमेतैर्यथाशक्तिकृतवरणसाधनैर्गुरुत्वेन वृणे' इति श्रीगुरुचरणाब्जयोः समीपे प्रणम्य, वरणसामग्रीं निवेदयेत् ।

ततो वृतोऽस्मीति गुरुणा प्रतिवाक्ये दत्ते शिष्यो विहिताञ्जलि 'र्यथायोग्यं गुरुकर्म कुरुष्वे'ति वदेत् । ततो गुरुः 'करवाणी'ति वदेत् । इत्थं श्रीगुरोर्वरणं कृत्वा, तदादेशेन श्रुतिश्रुत्यङ्गपारगामिनः सदाचारशालिनो दीक्षितानष्टौ द्विजान् वरणोक्तसाधनै ऋत्विक्त्वेन वृणुयात् । [1]चतुःकुण्डपक्षे ऋत्विजः चत्वार एव वरणीयाः ।

ततः शिष्येणैवं पूजितो गुरुः स्वनित्यकृत्यं विधायाऽलङ्कृतः पञ्चवाद्यनिनादपूर्वकं बहुभिर्भूदेवैः सुहृद्भिश्च संयुतः शिष्येण साकं मण्डपाभ्यन्तरे द्वारं गत्वोक्तविधिना द्वारपूजनं कृत्वा, भूतोत्सादनं विधाय, मण्डपाभ्यन्तरे प्रविश्य, पञ्चगव्यार्घसलिलेन मण्डपाभ्यन्तरं प्रोक्ष्य, चतुर्भिर्वीक्षणादिसंस्कारैः संस्कृत्य, श्रीखण्डागुरुघनसारादिधूपद्रव्यधूमेन धूपितं विधाय, तत्र सर्षपदूर्वाभस्मचन्दनलाजाक्षतानुपदेष्टव्यमन्त्रास्त्रमन्त्रेण सप्तधाऽभिमन्त्रितांस्तत्र विकीर्य्यास्त्रमन्त्रेण दर्भपुञ्जेन सम्मार्ज्य, मण्डपस्येशकोणे तद्विकिरपुञ्जं संस्थाप्य, विप्रैः स्वस्तिवाचनं कारयित्वा, वास्तुपुरुषसपर्यादिकं कृत्वा, भैरवनिदेशपुरःसरं वेदिकायां

---

१. ख० चतुःकुण्डीपक्षे ।

निजासनमास्तीर्य्योक्तविधिना सम्पूज्य, तत्र प्राग्वदन उपविश्य स्वाग्रतः सुषमे महीतले प्रोक्तविधिना सर्वतोभद्रमण्डलं विधाय, वेदीं परितः प्रदीपान् प्रज्वाल्य, पूजाद्रव्याणि पूर्वोक्तप्रकारेण संस्कृत्य, प्रकीर्णकाऽऽतपत्राऽऽदर्शतालवृन्तादिकं यथास्थानं निधाय, श्रीगुरुप्रणामपूर्वकं करशुद्धितालत्रयाऽऽशाबन्धनाऽनलप्रकारत्रय-भूतशुद्धि-प्राणप्रतिष्ठामातृकान्यासयोगपीठन्यासपुरस्सरं मूलमन्त्रन्यासं विधाय, तत्तद्देवतामुद्रा विरच्य, तत्तद्देवताध्यानमानसपर्यान्तवैश्वदेवमूलमन्त्रजपतत्समर्पणार्घस्थापनाऽऽत्मपूजनान्तर्हवनमूलमन्त्रजपतत्समर्पणानि कृत्वा, "सर्वतोभद्र-मण्डलाय नमः" इति मण्डलं गन्धादिपञ्चोपचारैरभ्यर्च्यार्घाम्बुना प्रोक्ष्य, तत्रोक्त-विधिना पीठपूजां कृत्वा, तत्कर्णिकामाढकपरिमितशालिभिरापूर्य्य, तदुपरि तदष्टां-शपरिमाणपरिमितांस्तण्डुलान् कुशान् दूर्वा यथोक्तलक्षणं कूर्चं च निधाय, तत्र शालिपुञ्जोपरि वह्निमण्डलं पूर्वोक्ता वह्निकलाश्च सम्पूज्य, तत्र हिरण्यादिरचितं त्रिगुणीकृतसूत्रावृतसमस्तावयवं चन्द्रचन्दनागुरुधूपधूपितं कलशं 'ओंकार' मुच्चरन् संस्थाप्य, तत्र नवरत्नानि ससुवर्णानि निक्षिप्य, कुम्भस्योपरि गन्धाक्षतदूर्वान्वितं प्रोक्तलक्षणं कूर्चं निधाय, तत्र "क्षं लं वं हं सं षं शं वं लं रं यं मं भं बं फं पं नं धं दं थं तं णं ढं डं ठं टं ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं अः अं औं ओं ऐं एं लॄं लृं ॠं ऋं ईं इं आं अं" इति विलोममातृकान्ते मूलमन्त्रं त्रिर्जपन्नात्मनः कुम्भस्य योगपीठस्य चैक्यं भावयन्नुक्तपञ्चाशदौषधक्वाथैर्दुग्धवृक्षत्वक्क्वाथैः पलाशवृक्षत्वक्क्वाथैः श्रीखण्डमृगमदकाश्मीरकर्पूरवासितैस्तीर्थतोयैर्वा कुम्भमापूर्य, स्वपुरतः प्रोक्तविधिना शङ्खं संस्थाप्य कुम्भजलसजातीयजलेनाऽऽपूर्य, तत्र तत्त-द्देवतागन्धाष्टकं विलोड्य, प्रागुक्ता वह्निकलाः, सूर्यकलाः, सोमकलाश्चाऽऽवाह्य, पृथक्पृथक् प्राणप्रतिष्ठापूर्वकं सम्पूज्य कलामातृकान्यासोक्ता एकपञ्चाशत्कलाः पूजयेद् यथा—

प्रथममकाराद् ब्रह्मणः समुद्भूताः कचवर्गोत्थाः सृष्ट्यादिदशकलाः समावाह्य, 'हंसः शुचिषदित्यृचो वामदेव ऋषिः, जगतीछन्दः, सूर्यो देवते'ति ऋष्यादीन्संस्मृत्य,

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥१॥

इति मन्त्रमुच्चार्य्य, 'ब्रह्मणे नमः' इति सम्पूज्य पूर्वोक्तप्राणप्रतिष्ठामन्त्रे 'मम' पदस्थाने 'सृष्ट्यादीनामि'ति पदं दत्वा, सृष्ट्यादीनां प्राणप्रतिष्ठां कृत्वा 'ॐ कं सृष्ट्यै नमः' इत्यादि दशकलाः सम्पूज्य,

उकाराद्विष्णोरुत्पन्नाष्टतवर्गोत्था जरादिदशकलाः समावाह्य 'प्र तद्विष्णु-रित्यृचो दीर्घतमा ऋषिः, त्रिष्टुप् छन्ददः, विष्णुर्देवते'ति ऋष्यादीन् स्मृत्वा—

ॐ प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियंति भुवनानि विश्वा ॥२॥

इति पठित्वा, 'विष्णवे नमः' इति सम्पूज्य, प्राग्वज्जरादिदशकलानां प्राणप्रतिष्ठां विधाय, जरादिदशकलाः सम्पूज्य,

मकाराद्रुद्रादुत्पन्नाः पयवर्गोत्थास्तीक्ष्णादिदशकलाः समावाह्य, "त्र्यंबक-इति मन्त्रस्य वसिष्ठ ऋषिरनुष्टुप्छन्दः, मृत्युञ्जयरुद्रो देवते"ति, ऋष्यादिकं स्मृत्वा,

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात् ॥३॥

ॐ रुद्राय नमः" इति सम्पूज्य तासां प्राणप्रतिष्ठां विधाय, 'ॐ पं तीक्ष्णायै नमः' इत्यादि सम्पूज्य,

ईश्वराद्विष्णोरुत्पन्नाः षकारादिक्षकारान्तपञ्चवर्णोत्थाः पीतादिपञ्च-कला आवाह्य 'गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिः, गायत्री छन्दः, सविता देवते'ति-ऋष्यादिस्मरणपूर्वकं गायत्रीमुच्चार्य्य 'ईश्वराय नमः' इति सम्पूज्य, तासां प्राण-प्रतिष्ठां विधाय, 'ॐ षं पीतायै नमः' इत्यादि पञ्चकलाः सम्पूज्य,

नादोत्थाः सदाशिवादुत्पन्नाः स्वरजा निवृत्याद्याः षोडशकलाः समावाह्य, 'विष्णुर्योनिं कल्पयत्विति मन्त्रस्य त्वष्टा गर्भकर्त्ता ऋषिर्विष्णुर्देवताऽनुष्टुप्छन्दो-गर्भधारणार्थे विनियोगः',

'विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते' ॥४॥ इति

पठित्वा 'सदाशिवाय नमः' इति सम्पूज्य, तासां प्राणप्रतिष्ठां विधाय 'अं निवृत्यै नमः' इत्यादि षोडशकलाः सम्पूज्येत्थं चतुर्नवतिदेवताः शङ्खे सम्पूज्य सकलकला-मयं शङ्खजलं मूलमन्त्रेण कुम्भजले संयोज्य, ततः पिप्पलपनसरसालकिशलयानि इन्द्रवारुणीलतया संवेष्ट्य, कल्पद्रुमबुध्या कुम्भवदने निधाय, तदुपरि कुम्भ-सजातीयं तण्डुलपूरितं नारिकेलफलसमेतं कल्पतरुफलधिया पात्रं संस्थाप्य, पट्टवस्त्रयुगलेन कलशं वेष्टयेदिति ।

वेद्यां प्रधानकलशस्थापनं कृत्वा, प्रागादिद्वारसमीपेषु मण्डपाभ्यन्तर एव पूर्वोदीरितमण्डलेषु अष्टच्छदपद्मेषु वा शालिपुञ्जोपरि प्रतिद्वारमेकमेकं कुम्भं संस्थाप्य, तत्र पूर्वदिग्गते कलशे ध्रुवं, दक्षिणदिग्गते धरां, पश्चिमदिग्गते

वाक्पतिमुत्तरदिग्गते विघ्नेशं चाभ्यर्च्य, तथैवाग्नेयादिकोणचतुष्टये कलशान्संस्थाप्याग्नेयकोणगते कलशे अमृतं, नैर्ऋत्यकोणगते दुर्ज्जयं, वायव्यकोणगते सिद्धार्थमीशानकोणगते मङ्गलं च सम्पूज्य, पुनः पूर्वादिदिग्गतकुम्भेषु शक्रादिलोकपालानावाह्य, वैदिकतत्तन्मन्त्रेण सम्पूज्य, पुनः प्रागाद्यष्टहरित्सु कुम्भेभ्यो बहिरैरावतं, पुण्डरीकं, वामनं, कुमुदाञ्जनौ, पुष्पदन्तं, सार्वभौम, सुप्रतीकं चेति दिग्गजानभ्यर्च्य,

पुनः गुरुर्वेद्यां गत्वा, निजासन उपविश्य, स्वेष्टमनुना प्राणायामत्रयं विधाय, तस्य ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकं सकलं न्यासं कृत्वा, देवं ध्यात्वा, मानसोपचारैरभ्यर्च्य, प्रधानकलशे प्रागुक्तप्रकारेण मूलेन मूर्त्तिं परिकल्प्य, तत्र निजेष्टदेवतामावाह्य, प्रागुक्तप्रकारेण तत्तत्कल्पोक्तविधिना साङ्गां सावरणां षोडशोपचारैरभ्यर्च्य, वेद्या दक्षिणभागे करमात्रायामविस्तारमङ्गुष्ठपर्वमात्रोन्नतं सिकताभिः समचतुरस्रं स्थण्डिलं निर्माय, तत्र नित्यहोमोक्तविधिना वैश्वानरं संस्थाप्य, चरुं श्रपयित्वा, वह्नौ देवतामावाह्याऽभ्यर्च्य, नित्यहोमोक्तविधिना सघृतेन तेन चरुणा हुत्वा, पुनः परदेवतामभ्यर्च्य, कलशस्थितमूर्त्तौ संयोज्य, तथैवाग्निं सम्पूज्य, विसृज्य, प्रागुक्तविधिना सर्वभूतबलिं तत्तत्कल्पोक्तबलिदानं च कृत्वोत्तरापोशनादिनीराजनान्तं नित्यपूजोक्तप्रकारेण कृत्वा, प्राणायामत्रयं ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकं मूलमन्त्रमष्टोत्तरसहस्रं प्रजप्य, देवतायै[1] जपं समर्प्य, पूर्वं मण्डपेशकोणस्थापितस्य विकिरपुञ्जस्योपरि हिरण्यगर्भं वस्त्रयुगलवेष्टितं तोयपूरितं करकं विन्यस्य, तत्राऽस्त्रदेवतां मृगेन्द्रारूढां दक्षवामहस्तयोः खड्गखेटकधारिणीं घोररूपां पश्चिमदिगभिमुखीं गन्धादिभिः पञ्चोपचारैस्तिष्ठन्नभ्यर्च्य, प्रणम्य, तं करकं पाणिभ्यामुत्थाप्य, मण्डपान्तःप्रदक्षिणं भ्रमन्, तन्नालेन जलधारां निःक्षिपन्, शम्भोर्लोकपालानां चाज्ञया शिष्यसहितं मां रक्ष रक्षेति वदन्, प्रदक्षिणं परिक्रम्य, करकं स्वस्थाने स्थापयित्वोपविश्याऽस्त्रमन्त्रेण पुनस्तामस्त्रदेवतां पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य, ततो निर्मितेषु कुण्डेषु इन्द्रेशानमध्यगताऽऽचार्यकुण्डे गुरुर्वह्निस्थापनं कुर्यात् ।

तत्र प्रथमतो गोमयेन कुण्डमुपलिप्य, तत्सन्निधौ स्वासनमास्तीर्याऽभ्यर्च्य, तत्रोत्तरदिग्वदन उपविश्य, मूलेन प्राणायामत्रयं ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासान्विधाय, देवतां ध्यात्वा, मानसोपचारैरभ्यर्च्य, स्वेष्टमन्त्रस्य यथाशक्तिजपं कृत्वा, जपं समर्प्य, श्रीगुरुं नमस्कृत्य, कुण्डसंस्कारान् कुर्यात् ।

---

१. ख० श्वेतायै ।

तत्र प्रथमतो मूलेन कुण्डं सम्प्रेक्ष्याऽस्त्रमनुना सम्प्रोक्ष्य, तेनैव त्रिःकुशैः सन्ताड्य, कवचमनुनाऽभ्युक्ष्याऽस्त्रमन्त्रेण मध्येकुण्डं किञ्चित् खननं कृत्वाऽस्त्रमन्त्रेण तां मृत्तिकामङ्गुष्ठानामिकाभ्यामुद्धृत्य, बहिः परित्यज्य, हृदयमन्त्रेण शुद्धया मृदा खातस्थानमापूर्याऽस्त्रमन्त्रेण समीकृत्य, कवचमनुनाऽद्भिः संसिच्याऽस्त्रमन्त्रेण काष्ठपाषाणादिना कुट्टयित्वा, द्रढीकृत्य, कवचमनुना दर्भैः कुण्डं सम्मार्ज्य, तेनैव गोमयोदकेन सलिप्य, तेनैव वह्निभानुसोमाष्टत्रिंशत्कलारूपं सञ्चिन्त्य, तेनैव मेखलात्रयेऽपि प्रतिमेखल त्रिसूत्रीकृतसूत्रेण त्रिभिः संवेष्ट्य "ॐ अमुकस्मै कुण्डाय एतदासनं ते नमः" "अमुकस्मै कुण्डाय एषोऽर्घः स्वाहा" इत्यादि आसनादिदीपान्तैरुपचारैः प्रणवपूर्वकं चतुरस्रादितत्तत्कुण्डनाम्ना चतुर्थीनमोऽन्तेन सम्पूज्य, तद्वन्नाभिं च सम्पूज्य, मेखलात्रय हृन्मन्त्रेण तद्वत्सम्पूज्याऽस्त्रमन्त्रेण कुण्डं कुलिशवद्दृढं सञ्चिन्त्य हृन्मन्त्रेण कुशैः कुण्डस्य चतुर्दिक्षु वैश्वानरस्य ज्वालाविलासाय मार्गचतुष्टयं परिकल्प्य, कवचमन्त्रेणाऽच्छिन्नाग्रैः कुशैरस्त्रमनुनाभिमन्त्रितैः कुण्डभित्तिगणं सर्वमाछादयन्नच्छपाटनं कुर्यादित्य**ष्टादशसंस्कारा**न्विदध्यात्।

अशक्तः पूर्वोदीरितैश्चतुर्भिरेव संस्कारैः कुण्डं संस्कृत्य, तत्र हृन्मन्त्रेणाऽस्त्रमन्त्रेण वा दक्षिणमध्योत्तरेषु प्रागग्राः पश्चिममध्यपूर्वेषूदगग्रा इति तिस्रस्तिस्रो रेखाः कुशमूलेन विलिख्य, प्राच्यग्रासु रेखासु दक्षिणरेखायां—'विष्णवे नमः,' मध्यरेखायां—'रुद्राय नमः', उत्तररेखायां—'इन्द्रायनमः', उत्तराग्रासु रेखासु पश्चिमरेखायां—'ब्रह्मणे नमः', मध्यरेखायां—'यमाय नमः', पूर्वरेखायां—'सोमाय नमः' इत्यभ्यर्च्य, तत्रोक्तयोगपीठसपर्याक्रमेण मण्डूकादिपरतत्वान्तं योगपीठं सम्पूज्य, तत्कमलकिञ्जल्केषु स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन मध्यान्त—"ॐ जयायै नमः, ॐ विजयायै नमः, ॐ अजितायै नमः, ॐ नित्यायै, ॐ दोग्ध्र्यै०, ॐ विलासिन्यै, ॐ अघोरायै, ॐ मङ्गलायै नमः", इति सम्पूज्य, "ह्रीं सर्वशक्तिकमलासनाय नमः" इति मध्ये पुष्पाञ्जलिं निक्षिप्य, तत्र भुवनेश्वरीं तन्मन्त्रेणाऽवाह्याऽऽवाहनादिपरमीकरणान्ता मुद्राः प्रदर्श्याऽसनादिषोडशोपचारैरभ्यर्च्य, तत्र श्रीशिवं ध्यात्वा, मूलेन तद्वत्तं शिव सम्पूज्य ऋतुस्नातां देवीं कामोन्मत्त देवं च सञ्चिन्त्य, **वैष्णवयागे** तु मण्डूकादिपरतत्वान्तं योगपीठं सम्पूज्य, तत्सरोजकेसरेषु "विभूत्यै नमः, उन्नत्यै०, कान्त्यै०, सृष्ट्यै०, कीर्त्यै०, पुष्ट्यै०, उत्कृष्ट्यै०, ऋद्ध्यै०, ह्रीं सर्वशक्तिकमलासनाय नमः" इति मध्ये पुष्पाञ्जलिं दत्वा, लक्ष्मीमन्त्रेण लक्ष्मीमावाह्य, तथैव मुद्राः प्रदर्श्य, तथैव षोडशोपचारैरभ्यर्च्य तत्र श्रीकृष्णं ध्यात्वा, मूलमन्त्रेण तथैव तं सम्पूज्य, लक्ष्मीं ऋतुस्नातां श्रीकृष्णं च कामोन्मत्तं सञ्चिन्त्य, ततः कनकादिपात्रे तदसम्भवे नूतनेन मृत्पात्रेण वा सूर्यकान्तादिपाषाणभवं

आरणेयं वा श्रोत्रियब्राह्मणभवनाद्वा वह्निमस्त्रमन्त्रेण पात्रे धृत्वा, तत्पात्रसजातीयेन पात्रान्तरेण कवचमनुना पिधाय, कन्यया सुवासिन्या वाऽऽनीतं गुरुरादायाऽस्त्रमनुना तन्मध्यतः क्रव्यादांशमेकमङ्गारं रक्षःकोणे परित्यज्य, मूलेन स्वपुरतो देवांशं संस्थाप्य, मूलेन वीक्ष्याऽस्त्रेण प्रोक्ष्य, तेनैव कुशैः सन्ताड्य, कवचेनाऽभ्युक्ष्य, तत्र निजमूलाधारस्थिताऽग्निमण्डलान्तर्गतपरमात्मस्वरूपाग्नीषोमात्मकबिन्दोः सकाशादग्निं निजमणिपूरगामिजठराग्निना सार्द्धं सुषुम्णाऽध्वना वहन्नासापुटमार्गेण निष्काश्य 'रँ' इति वह्निबीजं वदन्नग्रतः पात्रस्थिताग्नौ वह्निचैतन्यं संयोज्य, बैन्दवौदर्य्यपार्थिवाग्नीनामैक्यं विभावयन्प्रणवेनाभिमन्त्र्य 'वँ' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्याऽस्त्रमनुना संरक्ष्य, कवचमनुनाऽवगुण्ठ्य "ॐ अग्नये नमः" इत्यग्निं गन्धाद्यैरुपचारैरभ्यर्च्य, जानुभ्यां धरणीं गतस्तत्पात्रं पाणिभ्यां गृहीत्वा, कुण्डस्योपरि त्रिः प्रदक्षिणं परिभ्राम्य, देव्या योनौ शिवबीजमिति ध्यायन्, **वैष्णवयागे**—लक्ष्म्या योनौ श्रीकृष्णबीजमिति ध्यायन्, स्वाभिमुखं मध्येकुण्डं तारमुच्चरन्नग्निं तं निःक्षिप्य, सुरतान्तधिया देवदेव्योराचमनं दत्वा "ॐ चित्पिङ्गल हन हन पच पच दह दह सर्वज्ञाऽऽज्ञापय स्वाहे" ति मन्त्रमुच्चरन्मुखफूत्कारेण कुशैर्वह्निं प्रज्वाल्य, काष्ठैः पटूकृत्य विहिताञ्जलिस्तिष्ठन् —

"ॐ अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम् ।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं सर्वतोमुखम् ॥५॥

इति ज्वलन्तमग्निमुपस्थायोपविश्य, "ॐ वैश्वानर जातवेदरिहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहे" ति मन्त्रेण प्राणायामत्रयं विधाय, शिरसि—भृगुऋषये नमः, मुखे—गायत्री छन्दसे नमः, हृदये—अग्नये देवतायै नमः, गुह्ये—रं बीजाय नमः, पादयोः—स्वाहाशक्तये नमः" इति विन्यस्य, दीक्षाङ्गहोमे विनियोग इति कृताञ्जलिर्वदेत् । लिङ्गे 'ॐ रंयचूं हिरण्यायै नमः, गुह्ये यंचूं कनकायै नमः, शिरसि—ॐ रंयचूं रक्तायै नमः, मुखे—ॐ वंचूं कृष्णायै नमः, नासिकायां—ॐ लंचूं सुप्रभायै नमः, नेत्रयोः—(ॐ रंूं बहुरूपायै नमः—सर्वाङ्गे—ॐ यंचूं)[1] अतिरक्तायै नमः" इति सप्तजिह्वा विन्यस्य,

"ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः, ॐ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा, ॐ उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै वषट्, ॐ धूमव्यापिने कवचाय हुं, ॐसप्तजिह्वाय नेत्राय वौषट्, ॐ धनुर्द्धरायाऽस्त्राय फट्", इति मन्त्रानङ्गुष्ठादितलान्तं करयोर्विन्यस्य हृदयादिषडङ्गेष्वपि न्यसेत् ।

१. कोष्ठबद्धोंऽशः क. पुस्तके नास्ति ।

ततः शिरसि—"ॐ अग्नये जातवेदसे नमः, वामांसे—ॐ अग्नये सप्तजिह्वाय नमः, वामपार्श्वे—ॐ अग्नये हव्यवाहनाय नमः, वामकट्यां—ॐ अग्नये अश्वोदराय नमः, लिङ्गे—अग्नये वैश्वानराय नमः, दक्षिणकट्यां—ॐ अग्नये कौमारतेजसे नमः, दक्षिणपार्श्वे—ॐ अग्नये विश्वमुखाय नमः, दक्षिणांसे—ॐ अग्नये देवमुखाय नमः इति विन्यस्य, स्वात्मानं वह्निरूपं ध्यात्वा ज्वालिनीमुद्रां सप्तजिह्वामुद्रां प्रदर्श्य, कुण्डस्योत्तरभागे कुशास्तरे स्रुक्स्रुवौ प्रणीताप्रोक्षणीपात्रे, आज्यस्थालीं चरुस्थालीं परिधित्रयसमित्पञ्चकात्मकमिध्म समूलसाग्रदीर्घकुशमुष्टिं तथैवान्यान्यपि होमद्रव्यं दध्यक्षतादिपवित्रबलिद्रव्याणि गन्धादिपूजाद्रव्याणि च स्वसन्निधौ संस्थाप्य, पात्राण्यधोमुखानि कृत्वा, स्रुक्स्रुवादीनि तानि सपवित्राधोमुखहस्तसेकरूपावोक्षणपूर्वकमुत्तानानि विधाय, प्रणीतापात्रं प्रक्षाल्य, स्वाग्रतः कुशास्तरे निधाय, शुद्धसलिलैरापूर्य्य, तत्र गन्धं तण्डुलांश्च निःक्षिप्य, प्रादेशप्रमाणं साग्रं मध्ये ब्रह्मग्रन्थियुतं पवित्रं उत्तराग्रं जलमध्ये निधाय, करद्वयानामिकाङ्गुष्ठाभ्यां पवित्रमूलाग्रे धृत्वाऽस्त्रमनुमुच्चरन् पवित्रमध्येन जलं पात्राद्बहिः त्रिवारं भूमौ निःक्षिपेदित्युत्पवनं विधाय, तज्जलमध्ये किंचिद्घृतं निक्षिप्य, तत्पात्रं पाणिभ्यामामस्तकमुत्थाप्य, कुण्डस्योत्तरभागे कुशास्तरणे स्थापयित्वा, तदुपरि प्रागग्रान्दर्भान्निक्षिपेदिति प्रणीतापात्रं संस्थाप्य, प्रोक्षणीपात्रं प्रक्षाल्य, शुद्धसलिलेनापूर्य, पात्रान्तरोद्धृतं प्रणीतापात्रजलं तत्र किञ्चिद्दत्वा, तेन प्रोक्षणीपात्रजलेन मूलोच्चारपूर्वकं सर्वाणि पात्राणि, पूजाद्रव्याणि, होमद्रव्याणि च प्रोक्षयेदिति प्रोक्षणीपात्रं कुशास्तरे संस्थाप्य, प्रोक्षणीपात्रजलेन वह्निं परिषिच्य, गर्भैश्चतुर्भिश्चतुर्भिर्दर्भैः[1] प्राचीं दिशमारभ्य प्राच्यामुत्तराग्रैरीशानादिनैर्ऋत्यन्तं परिस्तीर्य, पुनर्दक्षिणस्यां प्रागग्रैः पूर्वपरिस्तरणमूलमग्रैराच्छादयन्, पुनः पश्चिमायामुत्तराग्रैर्दक्षिणपरिस्तरणमूलं मूलेनाच्छादयन्, पुनरुत्तरस्यां प्रागग्रैः पश्चिमपरिस्तरणाग्रं मूलेन पूर्वपरिस्तरणाग्रमग्रेण वाऽऽच्छादयन्, परिस्तीर्य्य परिधित्रयमादाय, सर्वतः स्थूलं पश्चिमे उत्तराग्रं, ततः कनिष्ठं दक्षिणे, पूर्वाग्रं पश्चिमे, परिधेर्मूलोपरि मूलं यथा भवति तथा, पुनस्ततोऽपि कनिष्ठमुत्तरस्यां, पूर्वपश्चिमपरिधेरग्रे परिस्तरणमूलमिति कुण्डस्य मध्यमेखलोपरिस्थपरिस्तरणोपरि परिधित्रयं निक्षिपेत् ।

अत्र पश्चिममेखलायां तु परिस्तरणपरिधिस्थापनं योनिनालयोरंतराले कार्यम् । ततः पश्चिमपरिधौ—'ॐ ब्रह्मणे नमः, दक्षिणपरिधौ—ॐ विष्णवे नमः, उत्तरपरिधौ—ॐ रुद्राय नमः' इति सम्पूज्य दीक्षितं द्विजमाहूय कुण्ड-

---

१. ख. 'चतुर्भिर्दर्भै' रिति पाठः ।

दक्षिणभागे कुशविष्टरे समुपवेश्य 'अदकोगोत्रोऽदकःशर्माऽहं अदकोगोत्रं अदको-
वेदांतर्गतादकः शाखापाठिनं अदकःशर्माणं त्वां दीक्षाङ्गभूतहोमकर्मणि कृता-
कृतावेक्षणाय ब्रह्मत्वेन वृणे' इति वस्त्रालङ्कारादिभिर्वरणं विधाय, गन्धादिभिः
सम्पूज्य, ब्रह्मणोऽलाभे कुशवटुं वा सम्पूज्य वह्निमन्त्रेण प्रागुक्तविधिनाऽर्घ्यपाद्या-
चमनीयमधुपर्कपात्राणि संस्थाप्य, षट्कोणगर्भितं चतुर्द्वारयुक्तचतुरस्रत्रयवेष्टितं
अष्टदलपद्मं वह्नेः पूजाचक्रं विभाव्य, प्रोक्तप्रकारेण मण्डूकादिपरतत्वान्तं तत्र
योगपीठं सम्पूज्याऽष्टदलकेसरेषु स्वाग्रादिप्रादक्षिण्येन मध्यान्तं—"ॐ पीतायै
नमः, श्वेतायै०, एव अरुणायै०, कृष्णायै०, धूम्रायै०, तीव्रायै०, विस्फुलि-
ङ्गिन्यै०, रुचिरायै०, ज्वालिन्यै नमः" इति नवशक्तीः सम्पूज्य, 'रं सर्वशक्ति-
कमलासनाय नमः' 'इति समस्तं पीठं सम्पूज्य, तन्मध्ये यथोक्तरूपं वह्निं
ध्यात्वा, सप्तजिह्वामुद्रां प्रदर्श्य, 'वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि
साधय स्वाहा अग्नये नमः' इति पुष्पाञ्जलिना वह्निं त्रिः सम्पूज्य, पुनर्वह्निमन्त्र-
मुच्चार्य्य 'अग्नये एष तेऽर्घः स्वाहा' एवं एतत्ते 'आचमनीय सुधा, एष ते मधुपर्कः
सुधा, एतत्ते आचमनीयं सुधा०, एतत्ते स्नानं नमः" इति स्नानान्तानुपचारान्
मेखलाया बहिः पात्रान्तरे तत्तदङ्गभावनया दत्वा, पुनराचमनीयं निवेद्य, वस्त्रं
वह्नावेव दत्वा, पुनराचमनीय दत्वा, यज्ञोपवीतं दत्वा, पुनराचमनीयं दत्वा,
गन्धपुष्पे वह्नावेव दत्वा षट्कोणेषु देवाग्रकोणमारभ्य मध्यान्तं—"ॐ स्य्रूं
हिरण्यायै नमः, ॐ ध्य्रूं कनकायै नमः, ॐ श्य्रूं रक्तायै नमः, ॐ व्य्रूं कृष्णायै
नमः, ल्य्रूं सुप्रभायै नमः, ॐ य्रूं बहुरूपायै नमः, ॐ ख्य्रूं अतिरक्तायै नमः,
इति सप्तजिह्वाः सम्पूज्याऽष्टदलकेसरेषु अग्नीशासुरवायव्यदेवाग्रतदादिचतुर्दिक्षु
च—"ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः, ॐ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे नमः, ॐ उत्तिष्ठ-
पुरुषाय शिखायै नमः, ॐ धूमव्यापिने कवचाय नमः, ॐ सप्तजिह्वाय नेत्राय
नमः, ॐ धनुर्द्धरायास्त्राय नमः" इति षडङ्गानि सम्पूज्याऽष्टदलेषु देवाग्रदलमारभ्य
"अग्नये जातवेदसे नमः, ॐ अग्नये सप्तजिह्वाय नमः, ॐ अग्नये हव्यवाहनाय
नमः, ॐ अग्नये अश्वोदरजाय नमः, ॐ अग्नये वैश्वानराय नमः, ॐ अग्नये
कौमारतेजसे नमः, ॐ अग्नये विश्वमुखाय नमः, ॐ अग्नये देवमुखाय नमः"
इति प्रादक्षिण्येनाष्टौ मूर्त्तीः सम्पूज्य, तद्बहिश्चतुरस्रे इन्द्रादीन्सायुधान्सम्पूज्य,
पुनर्वह्निमन्त्रेण वह्निं सम्पूज्य, धूपादि दत्वा, नैवेद्यमुत्सृज्याऽग्नावेव निक्षिप्याऽऽ-
चमनीयं दत्वा, ताम्बूलमग्नावेव निवेद्याऽग्निं प्रणम्य, स्रुक्स्रुवौ गृहीत्वा, तावधो-
मुखौ वह्नौ प्रताप्य, कुशानादाय, कुशानामग्रैस्तयोरग्रं, मध्यैर्मध्यं, मूलैर्मूलमिति
त्रिः सम्मार्ज्य, पुनस्तावधोमुखौ प्रताप्य, वामपाणिनाऽऽदाय, दक्षकराग्रेण प्रोक्ष-
णीपात्रजलेन प्रोक्ष्य, प्राग्वत्पुनरपि प्रताप्य, कुशानद्भिः सस्पृश्याऽग्नौ प्रक्षिप्य,

स्वदक्षिणभागे स्रुक्स्रुवौ कुशास्तरे निधायाऽऽज्यस्थालीं गृहीत्वाऽस्त्रमनुना प्रक्षाल्य, स्वाग्रतः कुशास्तरे निधाय, तदुपरि उत्तराग्रं प्रादेशमात्र मध्यब्रह्मग्रन्थियुतकुशद्वयरूपं पवित्रं निधाय, गोघृतं शुद्धं सुगन्धि 'वीक्षादिचतुःसंस्कारसंस्कृतं 'वं' इति धेनुमुद्रयाऽमृतीकृतं मूलेनाऽष्टधाऽभिमन्त्रितमाज्यस्थाल्यां निक्षिप्य, कुण्डादङ्गारानुद्धृत्य, मेखलाया बहिर्भूमौ वायव्यकोणे निक्षिप्य, तेषु हृन्मन्त्रेणाऽऽज्यस्थालीं निधाय, कुशद्वयं प्रज्वाल्य, हृन्मन्त्रेणाज्ये निक्षिप्य, शेषमग्नौ निक्षिप्य, पुनः कुशद्वयं प्रज्वाल्य, कवचमनुनाऽऽज्यस्थालीं परितः परिभ्राम्य, दग्धशेषमग्नौ निक्षिप्य, पुनः कुशान्प्रज्वाल्य, हृदयमन्त्रेणाज्ये प्रदर्श्य दग्धशेषं वह्नौ निक्षिप्याऽऽज्यस्थालीमुत्थाप्य, प्रादक्षिण्येन कुण्डं परितो भ्रामयन्नानीय स्वाग्रतः कुशास्तरणे निधाय, बहिःस्थानाङ्गारारान् कुण्डमध्ये निक्षिप्य, जलं संस्पृश्याऽङ्गुष्ठानामिकाभ्यां पाणिद्वयेन पवित्रमूलाग्रे धृत्वाऽस्त्रमनुमुच्चरन्, तथैव पवित्रमध्येन घृतमुत्पूय हृन्मन्त्रमुच्चरन्, तथैव पवित्रमध्येन स्वाभिमुखं आज्यं त्रिः सम्प्लाव्य, तत्पवित्रमाज्यस्थाल्यां पूर्वाग्रं मध्ये निवेश्य, भागद्वयं विधाय, दक्षभागं[2] सितपक्षं वामभागमसितपक्षं परिकल्प्य, पुनस्तत्रैव वामभागे इडां, दक्षिणे पिङ्गलां, मध्ये सुषुम्णामिति नाडीत्रयं सञ्चिन्त्य, स्रुवेण हृन्मन्त्रेण दक्षभागादाज्यमादाय, 'अग्नये स्वाहा' इत्यग्नेर्दक्षिणलोचने हुत्वा 'अग्नये इदं न मम' इत्युद्देशत्यागं कृत्वा, पुनर्हृन्मन्त्रेण वामभागादाज्यमादाय 'ॐ सोमाय स्वाहे'त्यग्नेर्वामनेत्रे हुत्वा, 'सोमायेदं न ममे'त्युद्देशत्यागं कृत्वा, हृन्मन्त्रेण मध्यात्पुनराज्यमादाय 'ॐ अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' इत्यग्नेर्ललाटनेत्रे हुत्वाऽग्नीषोमाभ्यां इदं न ममे'त्युद्देशत्यागं कृत्वा, पुनर्हृन्मन्त्रेण दक्षभागादाज्यमादाय अग्नये स्विष्टकृते स्वाहे'त्यग्नेर्वदने हुत्वा 'अग्नये स्विष्टकृते इदं न ममे'त्युद्देशत्यागं विधाय, 'ॐ भूःस्वाहाऽग्नये इदं न मम, 'ॐ भुवः स्वाहा वायव इदं न मम, ॐ स्वः स्वाहा सूर्यायेदं न मम, ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा प्रजापतय इदं न मम, 'ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा' इति वह्निमन्त्रेण वारत्रयं हुत्वा 'अग्नये इदं न ममे'ति प्रतिवारमुद्देशत्यागं कृत्वा "ॐ अग्नेर्गर्भाधानं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ अग्नेः पुंसवनं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ अग्नेः सीमन्तोन्नयनं सम्पादयामि स्वाहा" इति प्रतिकर्माज्याहुत्यष्टकं हुत्वा भुवनेश्वरीगर्भजजातमग्निं प्रागुक्तरूपं ध्यायन् "ॐ अग्नेर्जातकर्म सम्पादयामि स्वाहा" इत्यष्टावाज्याहुतीर्हुत्वाऽग्नेर्नालच्छेदं विधाय, सूतकं संशोध्य "ॐ अग्नेर्नामकर्म सम्पादयामि स्वाहा" इत्यष्टाज्याहुतीर्हुत्वा शिवाग्निर्गणेशा-

१. ख. वीक्षणादि० । २. ख. दक्षिणभागं ।

ग्नि रित्यादि नाम कृत्वा "ॐ वह्नेरुपनिष्क्रमणं सम्पादयामि स्वाहा "ॐ अग्नेरन्नप्राशनं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ वह्नेश्चौलं सम्पादयामि स्वाहा, अग्नेरुपनयनं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ अग्नेर्महानाम्न्यं सम्पादायामि स्वाहा, ॐ अग्नेर्महाव्रतं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ अग्नेरुपनिषदं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ अग्नेर्गोदानं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ अग्नेः समावर्त्तनं सम्पादयामि स्वाहा, ॐ अग्नेर्विवाहं सम्पादयामि स्वाहा" इति प्रतिकर्माष्टाष्टाज्याहुतीर्हुत्वाऽग्नेः पितरौ देवीदेवौ सम्पूज्य, मूलाग्रेष्वाज्यसिक्ताः पञ्च समिधस्तूष्णीमञ्जलिनाऽग्नौ समर्प्य, "स्यृं हिरण्यायै स्वाहा, ष्यृं कनकायै स्वाहा, श्यृं रक्तायै स्वाहा, व्यृं कृष्णायै स्वाहा, ल्यृं सुप्रभायै स्वाहा, र्यृं बहुरूपायै स्वाहा, य्यृं अतिरक्तायै स्वाहा, ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय स्वाहा, ॐ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा, ॐ उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै स्वाहा, ॐ धूमव्यापिने कवचाय स्वाहा, ॐ सप्तजिह्वाय नेत्राय स्वाहा, ॐ धनुर्द्धरायाऽस्त्राय स्वाहा, ॐ अग्नये जातवेदसे स्वाहा, ॐ अग्नये सप्तजिह्वाय स्वाहा, ॐ अग्नये हव्यवाहनाय स्वाहा, ॐ अग्नये वैश्वानराय स्वाहा, ॐ अग्नये कौमारतेजसे स्वाहा, ॐ अग्नये विश्वमुखाय स्वाहा, ॐ अग्नये देवमुखाय स्वाहा" इति जिह्वाङ्गमूर्त्तिमन्त्रैरेकैकामाहुतिं दत्वा "लं इन्द्राय स्वाहा, रं अग्नये स्वाहे" त्यादिलोकपालानां तदायुधानां च तत्तन्नामभिरेकैकामाज्याहुतिं हुत्वा, सर्वत्र प्राग्वत्तत्तन्नाम्नोद्देशत्यागं च कुर्यात्। ततः स्रुवेणाऽऽज्यमादाय, स्रुचि चतुर्वारं निक्षिप्याऽधोमुखं स्रुवं स्रुचो मुखे निधाय, प्रागुक्तवह्निमन्त्रमुच्चार्य्य, स्वाहास्थाने वौषडित्यग्नौ तिष्ठन् स्रुचा जुहुयात्।

तत उपविश्य ॐ स्वाहा, "ॐ श्रीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं स्वाहा, ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहे"ति दशधा विभक्तेन महागणपतिमन्त्रेण दशाहुतीर्हुत्वा "ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहे, ति समस्तेन गणपतिमन्त्रेण चतुर्वारमाज्येन जुहुयादित्य**ग्निस्थापनविधिः**।

एवमग्निस्थापनं कृत्वा, ततो नवीनताम्रादिपात्रं अस्त्रमनुना प्रक्षाल्य, तत्र पञ्चदशप्रसृतिप्रमितांस्त्रिः प्रक्षालितांस्तण्डुलान् मूलेनाऽष्टवारमभिमन्त्रितानस्त्रमनुं जपन्प्रक्षिप्य, तत्र सुरभिपयो यावता ते पक्वा भवन्ति तावन्निक्षिप्य, प्रक्षालितेनाऽन्यपात्रेण तत्पात्रमुखं कवचमनुमुच्चरन्पिधाय, मेक्षणेन प्रदक्षिणमूर्द्ध्वमवघट्टयन् मूलमनुं स्मरन् प्राग्वदनो गुरुश्चरुं श्रपयित्वा, तस्मिञ् श्रिते

मूलेन स्रुवेण घृतं निक्षिप्य, कवचमनुना तत्पात्रमवतार्य्यास्त्रमनुनाऽभिमन्त्रिते कुशास्तरे चरुं निक्षिप्य, भागत्रय कृत्वैकं भागं कलाशस्थायै देवतायै निवेद्य, मण्डलं परितः प्रथममङ्कुरार्प्पणकर्मकृताङ्कुरभाजनानि सर्पि.पूर्णपिष्टकृत-प्रदीपांश्च स्थापयित्वा, कुण्डसन्निधौ गत्वा, निजासने समुपविश्य, निजेष्टदेवताया उक्तप्रकारेणाऽर्घ्यादिस्थापनं कृत्वा, कुण्डमध्यगतवह्निवदने निजेष्टदेवतापूजाचक्रं ध्यात्वा, तत्र मण्डूकादिपीठमन्त्रान्तमभ्यर्च्य, तत्र निजेष्टदेवतामावाह्य, साङ्गं सावरणं तत्कल्पोक्तप्रकारेण पूजयेत् ।

अत्रार्घादिस्नानान्ता उपचारा देवोद्देशेन कुण्डाद्बहिः पात्रान्तरे विधेयाः । गन्धपुष्पादिकं कुण्डमध्य एव दद्यात् । ततो मूलमनुनाऽग्निनिजेष्टदेवतयोर्वक्त्रै-कीकरणार्थं पञ्चविंशतिघृताहुतीर्हुत्वा, स्वाग्निदेवतानामैक्य भावयन्नाडीसन्धा-नार्थं मूलेनाऽज्येनैकादशाहुतीर्हुत्वा, षडङ्गावरणदेवतानामप्येकैकामाहुतिं हुत्वा, पूर्वनिर्मितचरोर्द्वितीयभागस्य नवभागान्विधायैकभागेन मूलेन पञ्चविंशत्याहुती-र्हुत्वा, पूर्वादिदिक्स्थितेष्वष्टसु कुण्डेषु ऋत्विग्भिः प्रोक्तप्रकारेणाऽष्टादशसंस्कारैः संस्कृतेषु गुरुः स्वकुण्डाद्वह्निमुद्धृत्योद्धृत्य निक्षिपेत् ।

ऋत्विजश्च स्वस्वकुण्डे प्रोक्तप्रकारेण वह्निं प्रज्वाल्योपस्थाय, परि-षेचनपरिस्तरणपरिधिप्रक्षेपणपूर्वकं पूजादिकं कृत्वा, समिद्धे तस्मिन्निजेष्टदेवता-मावाह्य, ताम्बूलान्तैरुपचारैः सम्यगभ्यर्च्य, वक्त्रैकीकरणनाडीसन्धानहोमान्ते गुरुणा विभज्य दत्तेन घृतमिश्रचरुणा मूलमन्त्रेण पञ्चविंशतिधा स्वस्वकुण्डे जुहुयुः ।

अथ गुरुः सर्वतोभद्रमण्डलस्य पूर्वादिवीथीचतुष्टये मेषादिराशिस्थानेषु प्राच्यां मेषवृषौ, आग्नेय्यां मिथुनं, दक्षिणे कर्कसिंहौ, नैर्ऋतौ कन्या, पश्चिमे तुला, वायव्ये धनुरुत्तरे मकरकुम्भौ, ईशान्यां मीन इति विभक्तेषु स्थानेषु राश्यधि-नाथेभ्यो ग्रहेभ्यो नक्षत्रेभ्यः करणेभ्यश्च हुतशेषेण पायसेन बलिं दद्यात् ।

यथा —

मेषवृश्चिकस्थानयोः "कं खं गं घं ङं मेषवृश्चिकराश्यधिपतये मङ्गलाय एष गन्धपुष्पाक्षतयुक्तपायसबलिर्नमः, एवं चं ४ वृषतुलाराश्यधिपतये शुक्राय, टं ४ मिथुनकन्याराश्यधिपतये बुधाय, पं ४ कर्काधिपतये सोमाय, अं १६ सिंहाधिपतये सूर्याय, तं ४ धनुर्मीनाधिपतये गुरवे, पं ४ मकरकुम्भाधिपतये शनैश्चराय," पुनः पुनः क्रमेण मेषादिस्थानेषु "मेषराश्यंशभूताश्विनीभरणी-कृत्तिकापादनक्षत्रदेवताभ्यो दिवानक्तञ्चरेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः एष गन्ध इत्यादि०

प्राग्वत्, एवं वृषराश्यंशभूतकृत्तिकापादत्रयरोहिणीमृगेशिरोर्द्धनक्षत्रेत्यादि०, मिथुनराश्यंशभूतमृगशिरोत्तरार्धार्द्रापुनर्वसुपादत्रयनक्षत्रेत्यादि०," एवमग्रेऽपि मन्त्रा ऊह्याः। ततो मीनमेषयोरन्तराले "बवकरणाय एष इत्यादि०, एवं वृषमिथुनयोरन्तराले वालवाय, मिथुनकर्कयोर्मध्ये कौलवाय, सिंहकन्ययोर्मध्ये तैतिलाय, कन्यातुलयोर्मध्ये गराय, वृश्चिकधनुषोर्मध्ये वणिजे, धनुर्मकरयोर्मध्ये विष्टये एष गंधाक्षतपुष्पयुक्तपायसबलिर्नमः" इति बलिं दद्यात्। अत्र राशिद्वयाधिपतीनां राशिद्वयस्थाने बलिर्ज्ञेय इति सम्प्रदायः।

ततो गुरुः कलशस्थायै निजेष्टदेवतायै उत्तरापोशनादिनीराजनान्तं प्रागुक्तविधिना कृत्वा, वैदिकैः पौराणिकैः स्तवैः स्तुत्वा, नमस्कृत्य क्षमापयेत्।

ततस्तृतीयं चरुभागं शिष्येण सार्द्धं गुरुर्भुक्त्वाऽऽचमनं विधाय, स्वाचान्ताय शिष्याय षडङ्गन्यासयोगेन सकलीकृताय प्रादेशमात्रं हृदयमन्त्रेणाऽष्टधाऽभिमन्त्रितं दन्तकाष्ठं दद्यात्। शिष्योऽपि तेन दन्तधावनं कृत्वा, गुरोः सन्निधौ गच्छेत्। ततो गुरुः शिष्यस्य शिखाबन्धनं मूलमन्त्रेण कृत्वा शिष्येण साकं वेद्यां कुशास्तरणे शयनं कुर्यादित्यधिवासः।

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मज-गोस्वामि-
श्रीशिवानन्दभट्टविरचिते सिंहसिद्धान्तसिन्धौ
त्रयोदशस्तरङ्गः॥१३॥

चतुर्दशस्तरङ्गः

ततो गुरुर्ब्राह्मे मूहूर्त्ते सशिष्य उत्थाय, विहितावश्यकक्रियः प्रादेशमात्रं मूलेन सप्तवारमभिमन्त्रितं दन्तकाष्ठं शिष्याय दद्यात् । शिष्योऽपि तेन दन्तकाष्ठेन दशनान्विशोध्य, प्रक्षालितं दन्तकाष्ठमग्रतो हस्तमात्रे चतुरस्रे स्थण्डिले निक्षिपेत् । तदा गुरुस्तत्परीक्षां कुर्यात् । परीक्षाप्रकारः शुभाशुभफलानि पूर्वमेवोक्तानि, प्रायश्चित्तमप्युक्तम् ।

ततः शिष्यः स्नात्वा कृतनित्यक्रियो भूषितः श्रीगुरुं प्रणम्य, तदादेशेन तत्सन्निधावुपविशेत् । ततो गुरुः ऋत्विजश्च स्वस्वकुण्डे देवतां साङ्गां सावरणामभ्यर्च्य, साज्यैस्तत्तत्कल्पपुरश्चरणहोमोदीरितद्रव्यैर्वाऽष्टोत्तरसहस्रमष्टोत्तरशतं वा जुहुयुः ।

ततो गुरुः शूद्रभिन्नं शिष्यं पञ्चगव्यं पाययित्वा, कुण्डसन्निधौ नीत्वा, दिव्यदृष्ट्या समवलोक्य, तस्य हृदयपद्माज्जीवात्मानं भूतशुद्धिप्रोक्तप्रकारेण तद्देहाद् ब्रह्मरन्ध्रमार्गेण निःसार्य्य, स्वात्मनियोगबलेन गुरूक्तयुक्त्या संयोज्य, शिष्यस्य षडध्वशोधनं कुर्यात् ।

तत्र शिष्यस्य चरणयो **कलाध्वानं** निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्याशान्तिशान्त्यतीता चेति पञ्चकलात्मकं सर्वमन्त्रदीक्षासाधारणं सञ्चिन्त्य, ततः शिष्यस्य लिङ्गप्रदेशे **गाणपतमन्त्रदीक्षायां** शिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्यामायाकलाविद्यारागकालनियतिपुरुषप्रकृत्यहङ्कारबुद्धिमनःश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवाय्वग्निसलिलपृथिव्यात्मकषट्त्रिंशत्तत्वरूपं **तत्वाध्वान** ध्यायेत् ।

सौरमन्त्रदीक्षायां तु आकाशवाय्वग्निसलिलपृथिव्यात्मकं भूतपञ्चकं शब्दमात्रास्पर्शमात्रारूपमात्रारसमात्रागन्धमात्रेति पञ्चतन्मात्राः, श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनोऽहङ्कारो धीः प्रधानं चेति चतुर्विंशतितत्वात्मकः **तत्वाध्वा**; **वैष्णवदीक्षायां** तु जीवः प्राणो धीर्मनः, प्रागुक्तमिन्द्रियदशकं, भूतपञ्चकं, पञ्चतन्मात्राश्च संहृत्य, सोमसूर्याग्निमयं तेजसां त्रयं, वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चत्वार इति द्वात्रिंशत्तत्वात्मकस्तत्वाध्वा; **शैवमन्त्रदीक्षायां** तु गाणपतमन्त्रदीक्षोक्त एव **तत्वाध्वा**; **शक्तिमन्त्रदीक्षायां** तु आत्मविद्याशिवाः, विपरीताः शिवो विद्या आत्मेति, पुनः आत्मविद्याशिवा एव सर्वतत्वं चेति दशतत्वात्मकस्तत्वाध्वा एवं तत्तद्दीक्षायां तत्तदध्वानं चिन्तयेत् ।

ततः शिष्यस्य नाभौ अतलवितलसुतलमहातलतलातलरसातलपाताल-भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यलोकात्मकचतुर्द्दशभुवनरूपं **भुवनाध्वानं** सर्वमन्त्रदीक्षा-साधारणं सञ्चिन्त्य, ततः शिष्यस्य हृदये अकारादिक्षकारान्तवर्णकदम्बकरूपं **वर्णाध्वानं** विभाव्य, ततः शिष्यस्य ललाटे मूलमन्त्रवर्णसमुदायरूपं **पदाध्वानं** सञ्चिन्त्य, ततः शिष्यस्य शिरसि पदसमुदायमयमूलमन्त्रस्वरूपं **मन्त्राध्वानं** ध्यायेत् ।

इति शिष्यशरीरेऽध्वषट्कं सञ्चिन्त्य, कूर्चेण शिष्यं स्पृशन् अस्य 'कलाध्वानं शोधयामि स्वाहे'ति घृताक्तैस्तिलैरष्टधा हुत्वा, कलाध्वानं तत्वाध्वनि विलीनं विभाव्य, पुनरस्य 'तत्वाध्वानं शोधयामि स्वाहे'ति तथैव हुत्वा, तत्त्वाध्वानं भुवनाध्वनि विलीनं विभाव्य, पुनरस्य 'भुवनाध्वानं वर्णाध्वनि विलीनं विभाव्य, पुनरस्य 'ॐ वर्णाध्वानं शोधयामि स्वाहे'त्यष्टधा हुत्वा, तं पदाध्वनि विलीनं विभाव्य पुनरस्य 'ॐ पदाध्वानं शोधयामि स्वाहे'त्यष्टधा हुत्वा, तं मन्त्राध्वनि विलीनं विभाव्य पुनरस्य 'मन्त्राध्वानं शोधयामि स्वाहे'त्यष्टधा हुत्वा, तं ब्रह्मरन्ध्रस्थपरमशिवे विलीनं विभाव्य, पुनः संहृतिप्रतिलोमेन परमशिवसकाशान्मन्त्राध्वानं सृष्ट्वा, ततः पदाध्वानं, तस्माद्वर्णाध्वानं' ततो भुवनाध्वानं, ततस्तत्त्वाध्वानं, ततः कलाध्वानं च सृष्ट्वा, तत्तत्स्थाने संस्थाप्य, शिष्यं दिव्यदृष्ट्या निरीक्ष्य, स्वस्थितं शिष्यचैतन्यं शिष्यस्य हृदयारविन्दे आवाहनोक्तप्रकारेण तद्ब्रह्मरन्ध्रे संयोजयेत् । अत्राऽध्वशोधनं शूद्रसङ्करजातीनां न विधेयम् । तेषां तु निजचरणोदकप्रदानेनैवाऽध्वशोधनं विधेयम् ।

ततः पूर्ववत्स्वेष्टदेवताया अङ्गावरणदेवतानां च घृतेनैवैकैकामाहुतिं हुत्वा "ॐ भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा, ॐ भुवो वायवे चान्तरिक्षाय च महते च स्वाहा, ॐ सुवरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा, ॐ भूर्भुवस्वश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च दिग्भ्यश्च महते च स्वाहे"त्याज्याहुतिचतुष्टयं हुत्वा, "इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्प्पणं भवतु स्वाहे'त्यष्टावाज्याहुतीर्हुत्वा,

'ॐ सहस्रार्चिर्महातेजा नमस्ते बहुरूपधृक् ।
सर्वाशिने सर्वगतपावकाय नमोऽस्तु ते ।।१।।

त्वं रौद्रघोरकर्मा च घोरहा त्वं नमामि ते ।
विष्णुस्त्वं लोकपालोऽसि शान्तिमत्र प्रयच्छ मे ।।२।।

इत्यग्निं प्रार्थ्याऽग्निं सम्पूज्य ,

'न्यूनातिरिक्तसिद्धयर्थं ददामि सघृतं तिलम् । ॐ हूँ साङ्गं कुरु कुरु स्वाहा ।'

इति तिलैरेकामाहुतिं हुत्वा, घृतेन स्रुचमापूर्य तदुपरि पुष्पमधोमुखं स्रुवं च निधाय, शङ्खवत्सम्पुटाभ्यां कराभ्यां गृहीत्वोत्थाय, स्रुक्स्रुवयोर्मूलं नाभौ निधाय, वौषडन्तेन मूलमन्त्रेणाऽऽहुतित्रयं हुत्वा, प्राग्वत्तत्र देवं सम्पूज्य वह्नेः सकाशादुद्वास्य, कलशे विसृज्य, प्राग्वद् व्याहृत्यग्निजिह्वाङ्गमूर्त्तिमन्त्रैरेकैकामाज्याहुतिं हुत्वा, प्राग्वत्प्रोक्षणीजलेनाऽग्निं परिषिच्य,

ॐ भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक ।
कर्मान्तरेऽपि सम्प्राप्ते सन्निधिं कुरु सादरम् ॥३॥

इत्यग्निं प्रार्थ्य, संहारमुद्रया तं स्वात्मन्युद्वास्य, परिधी परिस्तरणानि च तूष्णीमग्नौ प्रक्षिप्य, प्रणीतापात्रमुद्वास्य, स्वपुरतः कुशास्तरे निधाय, "ॐ प्राच्यै दिशे नमः, ॐ दक्षिणायै दिशे नमः, ॐ प्रतीच्यै दिशे नमः, ॐ उदीच्यै दिशे नमः, ॐ ऊर्ध्वायै दिशे नमः, इति तत्तद्दिशि प्रणीताजलमुत्क्षिप्य 'अधरायै दिशे नमः' इति भूमौ पतितजलेन स्वात्मानं शिष्यं च कुशैः सम्प्रोक्षयेदिति प्रणीतोद्वासनं विधाय ब्रह्माणमुद्वास्य, ब्रह्मणः स्थाने वृताय ब्राह्मणाय सहिरण्यं पूर्णपात्रं दापयेत् । पूर्णपात्रस्वरूपं तु पूर्वमेव प्रमाणं उक्तम् ।

ततो नेत्रमन्त्रेण शिष्यस्य नेत्रे नूतनश्वेतवस्त्रेण बद्ध्वा, शिष्यहस्तं निजहस्तेन गृहीत्वा, कलशसमीपं नीत्वा, कुसुमैः तदञ्जलिमापूर्य, स्वयं मूलमन्त्रमुच्चरन् कलशस्थदेवतायै पुष्पाञ्जलिं दापयित्वा, नेत्रबन्धनं विमुच्य, कुशास्तरणे समुपवेश्य,

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥४॥

इति मन्त्रं पाठयित्वा, कलशे देवं साङ्गं सावरणमभ्यर्च्य, पूर्वोक्तभूतशुद्धिविधानेन शिष्यशरीरं संहृत्य, संशोध्योत्पाद्य, तस्य शरीरे मूलमन्त्रस्य ऋष्याद्यखिलन्यासजातं विन्यस्य, पुनः, कलशस्थदेवतां गन्धाद्यैः पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य, 'कारुण्यनिलये देवी'ति प्रमाणोक्तप्रार्थनाश्लोकान् पाठयित्वाऽभ्यर्च्य, मण्डपद्वारदेवता, अर्घादिपात्रस्थ देवता, अङ्गावरणदेवताश्च देवताङ्गे विलीना विभाव्य, शिष्यं प्रागुक्तविधिना षडङ्गन्यासयोगेन सकलीकृत्य, तेजोरूपतामापाद्य, तेजोरूपं कलशजलं परब्रह्ममयं सञ्चिन्तयन् भूषितं शिष्यं पूर्वेशानोत्तरान्यतमदिशि

सर्वतोभद्रादिमण्डले मुक्तिकामं प्राङ्मुखं, भुक्तिकाममुदङ्मुखं समुपवेश्य, पञ्चवाद्यनिनादपुरःसरं गुरुः कलशमुत्थाप्य, कलशमुखस्थाम्रपल्लवादिकं कल्पतरुशाखाधिया शिष्यस्य मूर्द्धनि निधाय, वैदिकाभिषेकमन्त्रं पठद्भिर्ऋत्विग्भिरन्यैश्च द्विजैः सार्द्धं मूलमन्त्रं विलोममातृकां चोच्चार्य्य, स्वयमुत्तराभिमुखस्तिष्ठन् शिष्यमभिषिच्य, ततः पूर्वस्थापितं करकमादाय, तत्तोयेन रक्षार्थमभिषिच्य, तत्करकावशिष्टजलेन शिष्यमाचाम्य, देवतास्वरूपं तं पुनः पूर्ववत् षडङ्गन्यासयोगेन सकलीकृत्य, नूतने शुद्धे धौते वाससी परिधाप्य स्वाचान्तं तं स्वसन्निधौ समुपवेश्य, शिष्यशरीरे सङ्क्रान्तां देवतां गन्धादिपञ्चोपचारैः सम्पूज्य, शिष्यदेवतयोरैक्यं भावयन् शिष्यस्य शिरसि स्वदक्षिणहस्तं निधायाऽष्टोत्तरशतं मूलमन्त्रं जपित्वा, ततः शिष्यस्य दक्षिणश्रवणे गणेशादिचतुरायतनमन्त्रोपदेशपूर्वं मूलमन्त्रं वारत्रयं वदेत् ।

गणेशदीक्षायां सूर्यादिमन्त्रोपदेशपूर्वकं मूलमन्त्रोपदेशं कुर्यात् । शिष्यो ब्राह्मणश्चेत्तदा हस्ते मन्त्रदानोदकं दद्यात् । अन्येभ्यस्तु उदकदानं विनैव त्रिः कर्णे वदेत् । ततः शिष्यो गुरूपदिष्टं मूलमन्त्रं ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकमष्टोत्तरशतमष्टाविंशतिवारमष्टधा वा जपित्वा, जपं समर्प्य, गुरुमन्त्रदेवतानामैक्यं विभाव्य, साष्टाङ्गं गुरुं बहुवारं प्रणम्य, पुनः पञ्चाङ्गं प्रणम्य, गुरवे ऋत्विग्भ्यश्च प्रमाणोक्तां दक्षिणां दद्यात् । अन्येभ्यो द्विजेभ्यो दीनानाथेभ्यश्च दक्षिणां दत्वा, ब्राह्मणान् भोजयेत् । गुरुरपि तं मूलमन्त्रं स्वसिद्ध्यै अष्टोत्तरसहस्रं जपेत् । तेन तत्सिद्धिहानिर्न भवतीति **क्रियामयी दीक्षा** ।

अथैवं विस्तरतः क्रियादीक्षां कर्त्तुमशक्तश्चेत्पूर्वोक्ते कनिष्ठे मण्डपे प्राग्वद्वेदिकायां मण्डलं कृत्वा, तत्तद्देवतापूजाचक्रं वा कृत्वा, तदशक्तौ चतुरस्रवेष्टितमष्टदलकमलं वा निर्माय, तत्रोक्तविधिना कलशं संस्थाप्य, प्राग्वच्चतुरश्रं कुण्डं, तदशक्तौ प्रागुक्तविधिना स्थण्डिलं वा कृत्वा, तत्रोक्तविधिनाऽग्निं संस्थाप्याऽग्निस्थापने विस्ताराशक्तौ नित्यहोमोक्तविधिनाऽग्निं संस्थाप्योक्तविधिना होमादिकं कृत्वाऽभिषिच्य मन्त्रं दद्यात् ।

।। अथ क्रियादीक्षाशक्तानां वर्णदीक्षाविधिर्लिख्यते ।।

तत्र पुम्प्रकृत्यात्मके शिष्यदेहे यथोक्तविधिना विन्यस्य, पुनः संहारक्रमेण मूर्द्धादिहृदयान्तस्थं क्षकारं हृदयादिनाभ्यन्तरस्थ-लकारे संहृत्य, हृदयादिनाभिपर्यन्तस्थं लकारं हृदयादिवामपादाग्रपर्यन्तस्थे हकारे संहरामि, हृदयादिवामपादाग्रपर्यन्तस्थं हकारं हृदयादिदक्षिणपादाग्रपर्यन्तस्थे सकारे संहरामि०: हृदयादिदक्षिण-

पाण्यग्रावधिस्थं सकारं हृदयादिवामपाण्यग्रावधिस्थे षकारे संहरामि०; हृदयादि वामपाण्यवधिस्थं षकारं हृदयादिदक्षिणपाण्यग्रावधिस्थे शकारे संहरामि०; एवं युक्त्या शकारं वकारे संहरामीत्यादि मुखवृत्तस्थमकारं शिरस्थे अकारे संहरामीत्यन्तमुक्तयुक्त्या वर्णान्संहृत्य, पुनस्तच्चैतन्यं सकलतत्वग्रामसमेतं परमात्मनि संयोज्य, बिलीनसकलतत्वसमूहं विगतनिखिलकलुषं दिव्यतनुं शिष्यं विचिन्त्य पुनः परमात्मनः सकाशादकरादिक्षकारान्तान् वर्णानुत्पाद्योक्तसृष्टिक्रमेण शिष्यदेहे-मातृकावर्णान्विन्यस्य, पुनश्च तच्चैतन्यं तत्त्वग्रामसमेतं तस्मिन् सयोज्योक्तविधिनोपदेशं कुर्यादिति **वर्णदीक्षा** ।

।। अथ कलादीक्षा ।।

तत्र पादतो जानुपर्यन्तं निवृत्तिकलां, जानुतो नाभिपर्यन्तं प्रतिष्ठाकलां, 'नाभितः कण्ठपर्यन्तं विद्याकलां'[1], कण्ठाल्ललाटपर्यन्त शान्तिकलां, ललाटाद्ब्रह्मरन्ध्रान्तं शान्त्यतीतकलां च शिष्यदेहे सञ्चिन्त्य, निवृत्तिकलां प्रतिष्ठाकलायां संहरामि, प्रतिष्ठाकलां विद्याकलायां संहरामि, विद्याकलां शान्तिकलायां संहरामि, शान्तिकलां शान्त्यतीतकलायां संहरामीति क्रमात् संहृत्य, वेधयित्वा, तां परमात्मनि सहृत्य, प्राग्वत्तस्य शरीरं संशोध्य[2] समुत्पाद्य, पुनः परमात्मनः सकाशात् शान्त्यतीतकलां ततः शान्तिं, ततो विद्यां, ततः प्रतिष्ठां, ततो निवृत्तिं च सृष्टिक्रमेण शिष्यदेहे तत्तत्स्थाने संयोज्योपदेशादिकं कुर्यादिति **कलादीक्षा** ।

।। अथ स्पर्शदीक्षा ।।

तत्र गुरुः स्वहस्ततले शिवरूपं स्वगुरुं ध्यायन् मूलविद्यां षडङ्गमन्त्रान् मातृकां च जपन् शिष्यस्य शिरसि दक्षिणकरं निधायोपदिशेदिति **स्पर्शदीक्षा** ।

।। अथ वाग्दीक्षा ।।

तत्र गुरुः परचिद्रूपे शिवे चित्तं निधाय, तदुद्भूतान्समस्तमन्त्रान्ध्यायन् तन्मयः स्वयं शिष्याय मन्त्रमुपदिशेदिति **वाग्दीक्षा** ।

।। अथ दृग्दीक्षा ।।

तत्र गुरुः स्वनेत्रे निमील्य, परमात्मस्वरूपिणीं मन्त्रदेवतां ध्यात्वा, प्रसन्नचित्तो दिव्यचक्षुषा शिष्यं निरीक्ष्य मन्त्रोपदेशं कुर्यादिति **दृग्दीक्षा** ।

---

१. ख. पुस्तके नास्त्ययमंशः । २. ख. संशोध्य ।

।। अथ वेधदीक्षा ।।

तत्र गुरुः शिष्यस्य मूलाधारे चतुर्दलपङ्कजमध्यत्रिकोणमध्ये यथोक्तरूपां कुण्डलिनीं ध्यात्वा, तत्पत्रचतुष्टयमध्यस्थवादि-सान्ताक्षरचतुष्टय तन्मध्यस्थिते कमलासने संहृत्य, तं ब्रह्मणा तदूर्ध्वगतस्वाधिष्ठानाख्यषट्पत्रकमलमध्यस्थिते विष्णौ संयोज्य, वेधयित्वा, तत्पत्रषट्कमध्यस्थं वादि-लान्तवर्णषट्कं डादि-फान्तवर्णदशकसहितं विष्णुं तत्पङ्कजमध्यस्थे रुद्रे संयोज्य, वेधयित्वा, तं रुद्रमनाहताख्ये हृत्पद्मे कादि-ठान्तद्वादशवर्णाग्रद्वादशदलसंयुक्ते संयोज्य, तैरक्षरैः सार्द्धं रुद्रं तन्मध्यस्थिते ईश्वरे संयोज्य, वेधयित्वा, कण्ठदेशे षोडशस्वराग्रषोडश-दलकमले विशुद्धिचक्रे तमीश्वरं संयोज्य, तैः स्वरैः सार्द्धमीश्वरं तन्मध्यस्थसदाशिवे संयोज्य, वेधयित्वा, तं सदाशिव भ्रूमध्यस्थं द्विदलपङ्कजमाज्ञाचक्रं नीत्वा, तत्पत्र-द्वयस्थह-क्षवर्णद्वयसहितं सदाशिवं तन्मध्यवर्त्तिनि बिन्दौ संयोज्य, वेधयित्वा तं बिन्दुं तदूर्ध्वस्थितायां कलायां संयोज्य, तां पुनर्नादे नादं नादान्ते नादान्तमुन्मन्यां तां विषुवक्त्रे विषुवक्त्रं, गुरुवक्त्रे चेत्युत्तरोत्तरं संयोज्य, वेधयित्वा, जीवात्मना सह तां कुण्डलिनीं परमशिवे संयोज्य वेधयेदेवङ्कृते शिष्ये गुर्वाज्ञया छिन्नसंसार-पाशो विसंज्ञः सद्यः क्षितितले पतति। ततो गुरुः संहृतविपरीतक्रमेण परशि-वात्कुण्डलिनीमुत्पाद्य, तया संहृतमखिलं सृष्टिक्रमेण शिष्यदेहे तत्तच्चक्रे तां तां देवतां संयोज्य, हृदये जीव, मूलाधारे कुण्डलिनीं संयोज्योपदेशादिकं कुर्यादिति। ततः संजातदिव्यबोधो भूतभविष्यवर्त्तमानज्ञः सदाशिवो भवतीति **वेधदीक्षा**।

प्रायः कलौ वेधदीक्षाकरो गुरुस्तद्योग्यशिष्यश्च दुर्लभ इत्याहुराचार्याः; प्रसङ्गादत्रापि लिखितेयमिति शिवम्।

।। अथ पूर्णाभिषेकविधिः ।। तत्र—

श्रीसारसङ्ग्रहे—

पूर्णाभिषेकं वक्ष्यामि साधकानां शुभावहम्।
विना येनाभिषेकेण साधकः पूर्णबोधताम् ।।५।।

आचार्यत्वं च नाप्नोति सद्गतिं च समीहितम्।
तस्माद् गुरुः प्रियं शिष्यं बोधयित्वाऽभिषेचयेत् ।।६।।

कुलार्णवेऽपि—

पूर्णाभिषेकहीनो यः साधको म्रियते यदि।
पिशाचत्वमवाप्नोति नरकं च प्रपद्यते ।।७।।

तथा **सारसङ्ग्रहे—**

विरच्य विपुलं चक्रं मण्डपे तु मनोहरम् ।
खारितोयभृतं कुम्भं स्थापयेच्चक्रमध्यतः ॥८॥
अन्येषु कलशान् रत्नवस्त्रहेमसमन्वितान् ।
दलेषु विधिवत्स्थाप्य तत्राऽवाह्येष्टदेवताम् ॥९॥
अभ्यर्च्य मध्ये चान्येषु चाङ्गावरणदेवताः ।
शिष्यस्य जन्मनक्षत्रे प्राग्वत्तैरभिषेचयेत् ॥१०॥
अयं पूर्णाभिषेकः स्यात्साधकाभीष्टसिद्धिदः ।

खारिलक्षणं तु प्रागुक्तम् ।

॥ **अथैतत्प्रयोगः** ॥

तत्र पूर्वोक्ते मण्डपे वेदिकायां तत्तद्देवतापूजाचक्रं निर्माय चक्रमध्ये खारितोयपूर्णं कलशं पूर्वोक्तविधिना संस्थाप्याऽन्येष्वपि कोणेषु, दलेषु, चतुरश्रेषु, तत्तदावरणदेवतापूजास्थानेषु प्रस्थद्वयजलपूर्णान्कलशान्संस्थाप्य, तत्र मध्यस्थकलशे निजेष्टदेवतामावाह्य, प्रोक्तप्रकारेण षोडशोपचारैः सम्पूज्याऽन्येषु कलशेषु तथैवाङ्गावरणदेवताः सम्पूज्य, दीक्षोक्तप्रकारेण शिष्यस्य जन्मनक्षत्रे पञ्चवाद्यनिनादपुरस्सरं परदेवताभक्तैर्द्विजैः सह शिष्यं सम्यगभिषिञ्चेत् ।

ततः शिष्योऽपि श्रीगुरुं प्रणम्य, दक्षिणां दत्वा, ब्राह्मणान् भोजनदक्षिणादिभिस्तोषयेत् । अयं पूर्णाभिषेकः सद्भक्तिशालिनः श्रीगुरोरधीतसमस्तागमशास्त्रस्य सदाचारस्य शिष्यस्य विधेयः । तदुक्तं **तन्त्रराजे—**

क्रमागतसमाचारनिरते भक्तिशालिनि ।
द्वितीयमभिषेकं तु कुर्याद्दिव्यात्मसिद्धये ॥११॥

॥ **इति पूर्णाभिषेकविधिः** ॥

अथैवं दीक्षितानां लब्धद्विविधाभिषेकानां नित्यार्चननिरतानां **नैमित्तिकार्च्चनं** लिख्यते । तत्तु साधकैर्विशेषदिवसेषु विधेयम् । **विशेषदिवसास्तु—**

श्रीकुलार्णवे—

कृष्णाष्टमी चतुर्द्दश्यमावास्या च पूर्णिमा ।
सङ्क्रान्तिः पञ्चपर्वाणि तेषु पुण्यदिनेषु च ॥१२॥

पुण्यदिनानि कुलमूलावतारे उक्तानि । यथा—

देवतातिथिनक्षत्रवारयोगेषु चेश्वरि ।
सोमसूर्योपरागेषु मन्वादिषु युगादिषु ।।१३।।
देशिकागमने चैव वीरस्वजनदर्शने ।

मन्वादियुगादयस्तु नारदेनोक्ता यथा—

द्वादश्यूर्जे शुक्लपक्षे नवम्याश्वयुजे सिते ।
चैत्रे भाद्रपदे चैव तृतीया शुक्लसञ्ज्ञिता ।।१४।।
एकादशी सिता पौषेऽथाऽऽषाढे दशमी सिता ।
माघे च सप्तमी शुक्ला नभस्येऽथ सिताष्टमी ।।१५।।
श्रावणे मास्यमावास्या फाल्गुने मासि पूर्णिमा ।
आषाढे कार्त्तिके मासि चैत्रे ज्येष्ठे च पूर्णिमा ।।१६।।
मन्वादयः स्नानदानश्राद्धेष्वानन्त्यपुण्यदाः ।
कार्त्तिके शुक्लनवमी चादिः कृतयुगस्य सा ।।१७।।
त्रेतादिर्माधवे शुक्ला तृतीया पुण्यसम्मिता ।
कृष्णा पञ्चदशी माघे द्वापरादिरुदीरिता ।।१८।।
कल्यादिः स्यात्कृष्णपक्षे नभस्ये च त्रयोदशी ।[1]

---

१. इतः परमयमशो विशेष :—

मन्त्रमहोदधौ—शुचौ तत्तदहे कुर्याद्देवप्रस्वापनोत्सवम् ।
ऊर्जे तथैव देवानामुत्थापनविधिं चरेत् ।।१।।
माघकृष्णचतुर्दश्यां विशेषाच्छिवपूजनम् ।
आश्विनाद्यनवाहेषु दुर्गा पूज्या यथाविधि ।।२।।
गोपालं पूजयेद्विद्वान् नभःकृष्णाष्टमीदिने ।
रामं चैत्रसिते पक्षे नवम्यामर्चयेत्सुधीः ।।३।।
वैशाखाद्यचतुर्दश्यां नरसिंहं प्रपूजयेत् ।
यजेच्छुक्लचतुर्थ्यां तु गणेशं भाद्रमाघयोः ।।४।।
महालक्ष्मीं यजेद्विद्वान् भाद्रकृष्णाष्टमीदिने ।
माघस्य शुक्लसप्तम्यां विशेषाद्दिननायकम् ।।५।।
या काचित् सप्तमी शुक्ला रविवारयुता यदि ।
तस्यां दिनेशं सम्पूज्य दद्यादर्घ्यं पुरो हितम् ।।६।।
तत्तत्कल्पोदितानन्यान् देवताप्रीतिवर्द्धनात् ।
विशेषनियमान् ज्ञात्वा भजेद् देवमनन्यधीः ।।७।।

तथा **कुलार्णवे—**

गुरुजन्मदिने प्राप्ते तद्गुरोस्तद्गुरोरपि ।
मानवौघादि पूजां च स्वजन्मदिवसेऽपि च ॥१९॥

सम्पत्तौ च जये लाभे तपोदीक्षाव्रतोत्सवे ।
पीठोपपीठगमने वीरस्वजनदर्शने ॥२०॥

देशिकागमने पुण्यतीर्थे दैवतदर्शने ।
एवमादिषु देवेशि विशेषदिवसेषु च ॥ २१॥

रोगेष्वापत्सु दोषेषु दुःसङ्गे दुर्निमित्तके ।
यथा बलं यथा श्रद्धा यथा द्रव्यं यथोचितम् ॥२२॥
यथाकालं यथादेशं तथा पूजां समाचरेत् ।

तन्त्रराजे—

गुरोस्तु जन्मदिवसं विद्याप्राप्तिदिनं तथा ।
[1]षट्पर्वाणि विशिष्टानि सदर्शं सप्तपर्वकम् ॥२३॥ इति ।

यामले—

दमनारोपणं चैत्रे श्रावणे च पवित्रकम् । इति ।

एषु विशेषदिवसेषु दिवा नित्यार्चनं विधाय रात्रौ नैमित्तिकार्चनं कुर्यात् । नित्यजपात् त्रिगुणजपं च कुर्यात् । तदुक्तं **तन्त्रप्रकाशे**[2]—

जपेत्प्रतिदिनं यत्तु नित्य एष जपः स्मृतः ।
अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥२४॥

द्वादश्यां पूर्णिमायां च तेषु नैमित्तिको जपः ।
नित्यात्त्रिगुणितः सोऽथ पूजा चैव हरेस्तथा ॥२५॥ इति ।

तदुक्तं **कुलार्णवे—**

नित्यार्चनं दिवा कुर्याद्रात्रौ नैमित्तिकार्च्चनम् ।
उभयोः काम्यकर्माणि चेति शास्त्रस्य निश्चयः ॥

॥ **अथ दमनपूजा** ॥ तत्र—

ज्ञानार्णवे—

दमनारोपणं वक्ष्ये साधकानां हिताय वै ।
संवत्सरकृता पूजा येन पूर्णा भवेत्प्रिये ॥२७॥

---

१. ख. इतः पूर्वमयमंशो विशेषः—
अक्षरत्रयसम्पातदिनं पूर्णादिनं तथा । २. ख. मन्त्रतन्त्रप्रकाशे ।

तपोभङ्गाय मदनो[1] मम शैलभवे यदा ।
भस्मीभवत्तदा दुःखी रतिः प्रीतिस्तदाऽभवत् ॥२८॥

तन्नेत्रवारिसम्भूता दमनस्य लताऽभवत् ।
तत्सौरभं च सौभाग्यं महद्रासीत्सुलोचने ॥२९॥

तेन सन्तुष्टहृदयाद्वरो दत्तो मया प्रिये ।
रत्यै प्रीत्यै च यस्मात्तु दमनः प्रकटीकृतः ॥३०॥

दमनेन च यो मन्त्री वर्षमध्ये न पूजयेत् ।
तस्य सांवत्सरी पूजा मदनाय भविष्यति ॥३१॥

इति तस्मै वरो दत्तो मयैव सुरवन्दिते ।
तस्माद्दमनपूजा हि कर्त्तव्या वीरवन्दिते ॥३२॥
अन्यथा तत्फलं वर्षकृतं कामाय जायते । इति ॥

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

चैत्रादयस्त्रयो मासाः पक्षौ सितसितेतरौ ।
पूर्वरात्रे प्रकुर्वीत सद्यो वाचाऽधिवासनम्[2] ॥३३॥
आमन्त्र्य दमनं चादौ चतुःकल्पलतादिभिः । इति ।

चतुःकल्पलताविद्या वक्ष्यन्ते । आदिशब्देन वक्ष्यमाणश्लोकमन्त्रा गृह्यन्ते ।

॥ अथ प्रयोगः ॥

तत्र चैत्रे वैशाखे ज्येष्ठे वा मासे पक्षद्वयस्याष्टमीनवमीचतुर्दशीपौर्णमास्यन्यतमतिथौ पूजादिनात्पूर्वेद्युः साधकः कृतनित्यकृत्यः सायं साधकैः सार्द्धं दमनसमीपं गत्वा, स्वासने समुपविश्य, प्राणायामत्रयं ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासांश्च विधाय, वक्ष्यमाणपञ्चकामेश्वरीविद्यां, पारिजातसरस्वतीविद्यां, कुमारीविद्यां, पञ्चबाणेश्वरीविद्यां चोच्चार्य्य, पश्चात् —

कामभस्मसमुद्भूतरतिवाष्पजलोद्भव ।
ऋषिगन्धर्वदेवाय मोहनाय नमोऽस्तु ते ॥३४॥

सांवत्सरिकपूजायाः परिपूर्णत्वसिद्धये ।
दमन त्वं समायाहि क्षमस्व च नमोऽस्तु ते ॥३५॥

ॐ शिवप्रसादसम्भूत अत्र सन्निहितो भव ।
शिवकार्ये समुच्छिद्य नेतव्योऽसि शिवाज्ञया ॥३६॥

---

१. ख. दमनो । २. ख. वासाधिवासनम्

इति दमनमामन्त्र्य, तत्र कामदेवं रतिं च वक्ष्यमाणतत्तन्मन्त्रेण सम्पूज्य गृहमागच्छेत् । ततः पूजादिनात्पूर्वदिने कृतनित्यकृत्यः साधकः समयिभिः सार्द्धं पुनर्दमनकसमीपं गत्वाऽस्त्रमन्त्रेण दमनं समूलमुत्पाट्य, शस्त्रेण वा छित्वा, गृहमानीय, "अघोरे ऐं ॐ घोरे ह्रौं घोरघोरतरे श्रीं सर्वतः शर्वसर्वेभ्यो नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः ह्रीं श्रीं" इति मन्त्रेण दमनमभ्युक्ष्य, पूजास्थाने कचित्पात्रे दमनं नवधा विभज्य, मध्ये चाष्टसु दिक्षु च संस्थाप्य, हृन्मन्त्रेण चन्दनागुरुकर्पूरकुंकुमादिपङ्कैरालिप्य, मध्यमारभ्य स्वाग्रादि-प्रादक्षिण्येन नवधा विभक्तं दमनं "ॐ हं नमः, सं नमः, क्षं, नमः, यं नमः, लं नमः, वं नमः, रं नमः, षं नमः, ॐ नमः" इति सम्पूज्य तथैवाऽऽनन्देश्वरीबीजेन नवधा विभक्तेन पूजयेत् ।

आनन्देश्वरीबीजं तु—'सहक्षमलवरयीं' इति ।

ततोऽस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य, कराभ्यां त्रिशूलमुद्रां बद्ध्वा कवचमन्त्रेण दमनोपरि भ्रामयित्वा, नूतनवस्त्रेणाऽऽच्छाद्य, रहसि स्थापयेदित्यधिवासनं रात्रौ कुर्यात् । अत्राऽस्त्रमन्त्र-हृन्मन्त्र-कवचमन्त्रादयो मूलमन्त्रस्य षडङ्गप्रोक्ता मन्त्रा ज्ञेयाः । एवं पूर्वदिने निमन्त्रणाऽधिवासनेन कृते चेत्पूजादिने तद्द्वयं कार्यमिति ।

ततः पूजादिने प्रातः साधकः स्नानादिनित्यपूजां निर्वर्त्य, रात्रौ समयिभिः सार्द्धं स्वस्तिवाचनपूर्वकं दमनं पूजास्थानमानीय, शुचिस्थले सिन्दूरेण चतुरश्रवृत्तद्वयवेष्टितमष्टदलकमलं विधाय, तस्य मध्येऽष्टसु दलेषु च स्वर्णादिरचितान्नव कलशान्दीक्षोक्तविधिना संस्थाप्य, तदशक्तावेकं वा कुम्भं मध्ये संस्थाप्य, स्वासनपूजादिपीठपूजान्तं प्रागुक्तविधिना कृत्वा, स्वदक्षिणभागे सर्वतोभद्रमण्डलं प्राग्वदष्टदलकमलं वा सिन्दूरादिना कृत्वा, तन्मध्ये पञ्चवर्णरजोभिरशोकतरुं कृत्वा—

ॐ अशोकाय नमस्तुभ्यं कामस्त्रीशोकनाशक ।
शोकार्त्तिं हर मे नित्यमानन्दं जनयस्व मे ॥३७॥

इत्यशोकतरुं सम्प्रार्थ्य, सम्पूज्य—

त्रुट्यादिप्रलयान्तो यः कालरूपो महाबलः ।
कलयत्यपि विश्वं यस्तस्मै कालात्मने नमः ॥३८॥

इति कालं च सम्पूज्य, तस्याशोकस्याधस्त्रिकोणमण्डले मण्डूकादिज्ञानात्मान्तं प्राग्वत्पीठपूजां कृत्वाऽष्टदलकेसरेषु स्वाग्रादि-प्रादक्षिण्येन—"सौभाग्यायै नमः, हृद्यायै, वर्षायै, धृतये, रत्यै, प्रीत्यै, संगमायै, निर्वाणायै, कामुकायै नमः" इति मध्यान्तं सम्पूज्य, वक्ष्यमाणकामगायत्र्या कामदेवमावाह्याऽऽवाहनादिप्राणप्रतिष्ठान्ते पाशाङ्कुशधनुर्बाणमुद्राः प्रदर्श्य, कामदेवं तरुणमरुणवर्णं रक्तवस्त्रा-

भरणमाल्यानुलेपं वामदक्षिणयो रतिप्रीतियुतं पाशाङ्कुशपुष्पबाणेक्षुधनुर्धरंध्यात्वा "ॐ क्लीं कामदेवाय नमः" इति मन्त्रेण गन्धादिपञ्चोपचारैः सम्पूज्य, तद्वामभागे रतिं गौरवर्णां रक्तवस्त्रपरिधानां सर्वाभरणभूषिताम्पद्मद्वयधरां ध्यात्वा "श्रीं श्रीं श्रीं क्रों रत्यैं नमः" इति मन्त्रेण रतिं गन्धादिभिः सम्पूज्य, कामस्य दक्षिणभागे प्रीतिं श्यामवर्णां सर्वाभरणभूषितां रक्तवस्त्रपरिधानां ताम्बूलकरां ध्यात्वा "श्रीं श्रीं श्रीं क्रों प्रीत्यै नमः" इति मन्त्रेण पञ्चोपचारैस्तां सम्पूज्य, कामदेवस्याग्रे कदम्बवनमध्ये वसन्तं गौरवर्णं वामहस्तेन सुधाकुम्भं, दक्षिणहस्तेन नानापुष्प-समुच्चयं दधानं रक्तवस्त्राभरणमाल्यानुलेपनालङ्कृतं ध्यात्वा—

"वसन्ताय नमस्तुभ्यं वृक्षगुल्मलताप्रिय ।
सहस्रसुखसंवाह कामरूप नमोऽस्तु ते ॥३९॥

वं वसन्ताय नमः" इति मन्त्रेण पञ्चोपचारैस्तं सम्पूज्य, पुनः कामदेवं तन्मन्त्रेण सम्पूज्याऽष्टदलकेसरेषु अग्नीशासुरवायव्यमध्ये दिक्षु च—"क्लां हृदयाय नमः, क्लीं शिरसे नमः, क्लूं शिखायै नमः, क्लैं कवचाय नमः, क्लौं नेत्राय नमः, क्लः अस्त्राय नमः" इति षडङ्गानि सम्पूज्याऽष्टदलेषु देवाग्रादिप्रादक्षिण्येन—"ॐ कामाय नमः, ॐ भस्मशरीराय नमः एवं अनङ्गाय, मन्मथाय, वसन्तसखाय, स्मराय, इक्षुधनुर्द्धराय, पुष्पबाणाय नमः" इत्यष्टौ कामान्सम्पूज्य, चतुरस्रे लोकपालांस्तदस्त्राणि च सम्पूज्य, पुनः, कामदेवं तन्मन्त्रेणाऽभ्यर्च्य, धूपदीपादि-ताम्बूलान्तानुपचारान्समर्प्य, प्रणम्य, "कामदेवाय विद्महे पुष्पबाणाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयादि" ति कमगायत्रीं यथाशक्ति जपित्वा, समर्प्य,

नमोऽस्तु पुष्पबाणाय जगदानन्दकारिणे ।
मन्मथाय जगन्नेत्रे रतिप्रीतिप्रियाय च ॥४०॥

इति कामदेवं प्रणम्य मूलमन्त्रस्य ऋष्यादिन्यासं कृत्वा, मध्यकुम्भे देवमावाह्य, प्राग्वत्सर्वोपचारैः साङ्गं सावरणं दमनैः सम्पूज्य,

आवाहितोऽसि देवेश सद्यः काले मया विभो ।
कर्त्तव्यं तु यथालाभं पूर्णं पर्व त्वदाज्ञया ॥४१॥

इति विज्ञाप्य, साङ्गं सावरणं देवं दमनैः सम्पूज्य, धूपदीपनैवेद्यानि निवेद्य, नित्यहोमोक्तविधिना तदुक्तद्रव्यैस्तत्त्रिगुणसंख्यं हुत्वा, नित्यजपसंख्यात्रि-गुणसंख्यं जपं कृत्वा, पूजाशेषं समाप्य,

सर्वरूप जगन्नाथ वाञ्छितार्थफलप्रद ।
हृत्स्थान्पूरय मे देव कामान्कामेश्वरेश्वर ॥४२॥

इति देवं प्रार्थ्य, विसृज्य, गुरुं वित्तादिभिः परितोष्य, कुमारान् ब्राह्मणांश्चान्नादिभिस्तोषयेदिति **दमनपूजाविधिः**। इयं दमनपूजा दमनाराम एव कार्येति केचित्। तदुक्तं **मन्त्रमुक्तावल्याम्**—

प्रारभेद्दामनीं पूजां विद्वान् चैत्रे शुभे दिने।
तत्तद्दैवतके भक्त्या गुरुणा दर्शितक्रमः ॥४३॥

पूर्वेद्युः संयतो भूत्वा मन्त्री वादित्रनिस्वनैः।
गच्छेद्दमनकाराम यत्राशोकः प्रतिष्ठितः ॥४४॥

तत्रोपविश्य मन्त्रज्ञः पूजिते स्वासने शुभे।
नत्वा गुरुं गणेशानं स्वेष्टदेवं च मन्त्रवित् ॥४५॥

स्वात्मानं सकलीकृत्य कलशं स्थापयेद् बुधः।
वर्द्धनीं चैव संस्थाप्य विधिना मन्त्रवित्तमः ॥४६॥

आवाह्य पूजयेत्पश्चात्कलशे मन्त्रदेवताम्।
तदस्त्रं चैव वर्द्धन्या पूजयेद्धूपदीपकैः ॥४७॥

दत्वा बलिं भूतकेभ्यस्तानि निस्सार्य मन्त्रवित्।
अस्त्रेण सर्षपक्षेपात्तन्मन्त्रेण च यत्नतः ॥४८॥

कुर्याद्दमनरक्षां च वर्द्धन्या कुम्भलग्नया।
कुम्भतोयेनाऽभिषिंचेत्समन्ताद्दमनस्थलीम् ॥४९॥

अशोकं पूजयेत्तत्र तदभावे विधाय तम्।
मण्डले चन्दनेनाथ पत्रपुष्पोपशोभितम् ॥५०॥

कालं तत्रैव सम्पूज्य वसन्तं च यथाविधि।
विभाव्य नवधा पश्चादारामे दमनस्थलीम् ॥५१॥ इति।

ज्ञानार्णवे—

दमनं नवधा कुर्यात्पूजयेत्तदनन्तरम्।
आनन्देश्वरबीजेन ततो भिन्नेन सुन्दरि ॥५२॥

आनन्देश्वरीबीजेन नवधा बिन्दुना सह।
नवप्रकारसम्भिन्नं दमनं पूजयेत् क्रमात् ॥५३॥ इति।

मन्त्रमुक्तावल्यां तु—प्रोक्तविधिनैव कामपूजामभिधाय—

अघोरविद्यया पश्चाद्दमनं प्रोक्ष्य वारिणा।
अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य कवचेनाऽवगुण्ठ्य च ॥५४॥

त्रिशलमुद्रां वद्ध्वा च भ्रामयेद्दमनोपरि ।
नृत्यगीतादिभिः सम्यक् कुर्याज्जागरणं तदा ॥५५॥

सद्योऽधिवासने जागरणं नास्ति । 'ततो जागरणं कुर्यात्सद्यो जागरणं नही'ति **दक्षिणामूर्त्तिसंहितावचनात्** । चैत्रशुक्लद्वादश्यां दमनकार्प्पणे **विष्णु-विषये** विशेष उक्त **अगस्तिसंहितायाम्**—

द्वादश्यां चैत्रमासस्य शुक्लायां दमनोत्सवः ।
बौधायनादिभिः प्रोक्तः कर्त्तव्यः प्रतिवत्सरम् ॥५६॥

तत्र प्रथमं **देवप्रार्थना**—

क्रियालोपविघातार्थं यत्त्वया विहितं प्रभो ।
न मे विघ्नो भवेदत्र कुरु नाथ दयां मयि ॥५७॥
सर्वथा सर्वदा विष्णो मम त्वं परमा गतिः ।
उपवासेन त्वां देव तोषयामि जगत्पते ॥५८॥
कामक्रोधादयो ये ते न मे स्युर्ब्रह्मघातकाः ।
अद्यप्रभृति देवेश यावद्वैशेषिकं दिनम् ॥५९॥
तावद्रक्षा त्वया कार्या सर्वस्यास्य नमोऽस्तु ते ।
एवं विज्ञाप्य देवेशं गुरुपादौ प्रणम्य च ॥६०॥
प्रातः स्नात्वा समभ्यर्च्य देवेशं विधिवन्नरः ।
गच्छेद्दमनकाराममेकादश्यां सुशोभितम् ॥६१॥
क्रयेणाऽऽदाय तत्रैव पूरयेच्चन्दनादिना ।
नेष्यामि राजपूजार्थमिति सम्प्रार्थ्य तं नमेत् ॥६२॥
उत्पाद्य पञ्चगव्येन प्राक्ष्य प्रक्षाल्य वारिणा ।
धौतेन वाससाऽऽच्छाद्य निधाय पटले तु वै ॥६३॥

पटले वंशादिपात्रे ।

घण्टापुरुषसूक्तादिस्वनैः स्वगृहमानयेत् ।

ततो गृहमागत्य देवं प्रार्थयेत्—

आमन्त्रितोऽसि देवेश पुराणपुरुषोत्तम ।
प्रातस्त्वां पूजयिष्यामि सान्निध्यं कुरु केशव ॥६४॥
क्षीरोदधिमहानागशय्यासंस्थितविग्रह ।
प्रातस्त्वां पूजयिष्यामि सन्निधौ भव ते नमः ॥६५॥

निवेदयाम्यहं तुभ्यं प्रातर्दमनकं शुभम् ।
सर्वदा सर्वथा विष्णो नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे ॥६६॥

इत्थमामन्त्र्य दत्वाऽथ तस्मै पुष्पाञ्जलिं पुनः ।
पूजितं तद्दमनकं कुम्भस्योपरि संस्थितम् ॥६७॥

अस्त्रेण सर्वतो रक्षेत्कवचेनाऽवगुण्ठयेत् ।
रक्षेद्वा चक्रमन्त्रेण नृहरेर्मनुनाऽथवा ॥६८॥

ततो ब्राह्मणान्गुरुं प्रणम्य गीतवादित्रादिभिः रात्रौ जागरणं कुर्यात् । ततः प्रातरुत्थाय स्नानाद्याह्निकं नित्यपूजां च कृत्वा **नैमित्तिकीं** कुर्यात् । तद्यथा—पूर्वदिनाधिवासितं दमनकं दूर्वादलयुतं गृहीत्वा,

ॐ देवदेव जगन्नाथ वाञ्छितार्थफलप्रद ।
हृदिस्थान्पूरयन्कामान् मम कामेश्वरीप्रिय ॥६९॥

इदं दमनकं देव गृहाण मदनुग्रहात् ।
इमां सांवत्सरीं पूजां भगवन्परिपूरय ॥७०॥ इति ।

मूलमन्त्रसम्पुटितेन मन्त्रेण देवाय दमनकमर्प्पयेत् । तत उत्तरप्रार्थना—

मणिविद्रुममालाभिर्मन्दारकुसुमादिभिः ।
इयं सांवत्सरी पूजा तवाऽस्तु गरुडध्वज ॥७१॥

वनमालां यथा देव कौस्तुभं सततं हृदि ।
तद्वद्दामनकीं मालां पूजां च हृदये वह ॥७२॥

जानताऽजानता वाऽपि न कृतं यत्तवार्च्चनम् ।
तत्सर्वं पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादादुमापते ॥७३॥

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज ॥७४॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्द्दन ।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥७५॥

इति देवं प्रार्थयित्वा दण्डवत्प्रणम्य, भूषणवस्त्रादिभिर्गुरुं सम्पूज्य, नत्वा, ब्राह्मणान् भोजयित्वा, स्वयञ्च **पारणं** कुर्यात् । तथा—

माधवे दमनारोपः स्यान्मधौ विघ्नितो यदि ।
वैशाख्यां श्रवणे नागे कर्त्तव्यं दमनार्प्पणम् ॥७६॥

माधवे वैशाखे तद्द्वादश्यामित्यर्थः, नागे पञ्चम्याम् ।

॥ **अथ पवित्रारोपणविधिः** ॥ तत्र **कुलमूलावतारे**—

पवित्रकेन नागेन पूर्वमाराधितः शिवः ।
प्रसादाभिमुखो भूत्वा तस्मै वरमदाद्विभुः ॥७७॥

प्रतिवर्षं न कुर्वन्ति पवित्रारोपणानि ये ।
तेषां सांवत्सरी पूजा तव कृत्स्नं भविष्यति ॥७८॥

ततः प्रभृति कुर्वन्ति शिवभक्ताः पवित्रकम् ।
आराधकैश्च कर्त्तव्यः कामचारैश्च योगिभिः ॥७९॥

कुर्यान्मिथुनसङ्क्रान्तेस्तुलासङ्क्रमणावधि ।
पक्षद्वयेऽपि पूजा स्याच्चतुर्थ्यामष्टमीदिने ॥८०॥
नवम्यां च चतुर्दश्यां पवित्रारोपणं चरेत् ।

दक्षिणामूर्त्तिसंहितायाम्—

आषाढ उत्तमो मासः श्रावणो मध्यमो भवेत् ।
हीनो भाद्रपदो मासः पक्षौ सितसितेतरौ ॥८१॥

प्रशस्तः शुक्लपक्षस्तु तदलाभे सितेतरः ।
चतुर्दश्यष्टमीपूर्णमासीतिथिषु वै यजेत् ॥८२॥[1]

तन्त्रराजे—

श्रावणे मासि पूर्णायां पवित्रैः पूजयेच्छिवाम् । इति ।

तन्त्रान्तरेऽपि—

सौवर्णं राजतं ताम्रं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
कलौ कार्पासजं वाऽपि यथाशक्ति पवित्रकम् ॥८३॥

कर्त्तितं द्विजकन्याभिस्त्रिगुणं त्रिगुणीकृतम् ।
धौतं शुक्लं शुभं सूत्रमन्यदप्युपयुज्यते ॥८४॥

---

१. इतः परमयमंशो विशेषः ख. पुस्तके—'देवताविशेषे तिथिविशेषो *निबन्धे*—

धनदश्च रमा गौरी गणेशः सोमराड् गुहः ।
भास्करश्चण्डिकाम्बा च वासुकिश्च तथर्षयः ॥१॥
चक्रपाणिर्ह्यनङ्गश्च शिवो ब्रह्मा तथैव च ।
प्रतिपत्प्रभृतिष्वेताः पूज्यास्तिथिषु देवताः ॥२॥
यथोक्ताः शुक्लपक्षे तु तिथयः श्रावणस्य च ।
कालोत्तरे— चतुर्दश्यामथाष्टम्यां सर्वसाधारणं तु तत् ॥३॥'

पट्टवल्कलपद्मोत्थं क्षौमदार्भशणोद्भवम् ।
मुञ्जाभिसम्भवं सूत्रं पवित्राय प्रशस्यते ॥८५॥

तन्त्रराजे—

सौवर्णै राजतैर्वापि सूत्रैः पट्टसमुद्भवैः ।
कार्पाससम्भवै रक्तैर्नवधा गुणितैः शुभैः ॥८६॥
.....................कुर्यात्पवित्रकमिति ।

दक्षिणामूर्तिसंहितायामपि—

अष्टोत्तरशतं श्रेष्ठं तदर्धं मध्यमं प्रिये ॥
तदर्धं च कनिष्ठं स्याद्यथाशक्त्याऽथवा प्रिये ॥८७॥

तन्त्रराजे—

अष्टोत्तरशतैः सूत्रैः कुर्याच्छक्त्यवतारकम् ।
पूजाविष्टरमानेन वितानादवलम्बयेत् ॥८८॥
स्वमानेनात्मनः कुर्यात्पवित्रं तूक्तसंख्यया ।
क्रमागमज्ञशिष्याणामात्मवत्समुदीरितम् ॥८९॥
परिधानप्रमाणेन मण्डपस्यैकसूत्रतः ।
कृत्वाऽधिवासं पूर्वं तु पूजयेत्तैर्यथाक्रमात् ॥९०॥

दक्षिणामूर्तिसंहितायाम्—

पवित्रदानदिवसात्पूर्वेद्युरधिवासनम् ।
सद्योऽधिवासनं वापि कुर्यात्तु परमेश्वरि ॥९१॥

॥ अथ प्रयोगः ॥

तत्र मिथुनसङ्क्रमणमारभ्य तुलासङ्क्रमावधिमासचतुष्टयस्य पक्षद्वयगतचतुर्थ्यष्टमीनवमीचतुर्दशीपूर्णिमान्यतमतिथौ पवित्रैर्देवं सम्पूजयेत् । पवित्राणि तु स्वर्णरजतताम्रपट्टसूत्रत्रसरीपद्मसूत्रदर्भमुञ्जशणवल्कलकार्पाससूत्रेष्वन्यतमसूत्रैः कुर्यात् । कार्पाससूत्रं चेत् सुवासिनीभिः कर्त्तितं त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य नवसूत्रस्यैकसरत्वेन कल्पितैरुक्तसंख्यैः सूत्रैः पवित्राणि कुर्यात् । तत्राऽष्टोत्तरशतसूत्रैरुत्तमानि, चतुःपंचाशत्सूत्रैर्मध्यमानि, सप्तविंशतिसूत्रैः कनिष्ठानि तावत्तावदङ्गुलदैर्घ्याणि दशग्रन्थियुक्तानि पवित्राणि कुर्यात् । इत्थं पूज्यावरणदेवतावृन्दसमसंख्यानि पवित्राणि कृत्वाऽष्टोत्तरशतसरग्रन्थियुक्तं वितानात्पूजाविष्टरमानदैर्घ्यमेकं बृहत्पवित्रं कृत्वाऽऽत्मनश्चागमज्ञानां क्रमज्ञानां शिष्याणां च स्कन्धादि-नाभिपर्यन्त-दैर्घ्याण्युक्तपक्षत्रये त्वेकपक्षानुसारसरग्रन्थियुक्तानि पवित्राणि कुर्यात् । अन्येषां सामान्यपवित्राणि एकग्रन्थियुक्तानि यथेष्टसंख्यतन्तुभिः परिधानप्रमाणदैर्घ्याणि

पवित्राणि कुर्यात् । अत्र ग्रन्थिषु सूत्रवेष्टनसंख्या तूत्तमपवित्रेषु षट्त्रिंशन्मध्यमेषु द्वादश इति कवचमन्त्रेण ग्रन्थयः कार्याः ।

इत्थं पवित्राणि विधाय, पवित्रारोपणदिनात्पूर्वदिने साधकः कृतनित्यकृत्यो रात्रौ समयिभिः सार्द्धं पवित्राणि पूजास्थानमानीय, तत्र सिन्दूरादिना कुङ्कुमरक्तचन्दनकस्तूरीकर्प्पूरलाक्षागैरिकाद्यैर्ग्रन्थिस्थानेषु विचित्रितानि पवित्राणि संस्थाप्य, तेषां सूत्रेषु—"ॐकाराय नमः, वह्नये नमः, ब्रह्मणे नमः, नागाय नमः, गुरवे नमः, रवये नमः, सदाशिवाय नमः, सर्वदेवेभ्यो नमः" इति सम्पूज्य, शिरोमन्त्रेणाऽभिमन्त्र्य, हृन्मन्त्रेणाऽभ्युक्ष्याऽस्त्रमन्त्रेणाऽवरुद्धय, तेषां दशग्रन्थिषु—"ॐ क्रियायै नमः, ॐ पौरुष्यै नमः, ॐ वीरायै नमः, ॐ गायत्र्यै नमः, ॐ अपराजितायै नमः, ॐ विजयायै नमः, ॐ जयायै नमः, ॐ मुक्तिदायै नमः, ॐ सदाशिवायै नमः, ॐ मनोन्मन्यै नमः" इति दशशक्तीः सम्पूज्य, पवित्रेषु मूलमन्त्रेण षडङ्गमन्त्रैश्च सम्पूज्य, सुगन्धपुष्पाणि, पञ्च रत्नानि, सर्वौषधीश्च निक्षिप्य, नूतनवस्त्रद्वयेनाऽऽच्छादयेदित्यधिवासनम् । पञ्चरत्नानि तु आदित्यपुराणे—

वज्रं मुक्ताफलं नीलं पद्मरागं तथैव च ।
मरकतेन समायुक्तं पञ्चरत्नमिदं विदुः ॥६२॥

वज्रं हीरकं, मरकतं पान्ना इति प्रसिद्धम् । सर्वौषधयस्तु—

'सिद्धार्थकुष्ठरजनीद्वयलोध्रमुस्ता लामज्जशैलफलिनीमुरमांसिमुक्ता ।'

इति स्मृत्युक्ताः । सिद्धार्थः सर्षपः, रजनीद्वयं हरिद्रा-दारुहरिद्रा च, लामज्जकमुशीरं, शैलं शिलाजितु इति प्रसिद्धम्, फलिनी प्रियङ्गुः, मुरं मुरहरी, इत्यधिवासनं विधाय, परेद्युः साधकः कृतनित्यकृत्यः समयिभिः सार्द्धं रात्रौ पूजास्थानं वितानादिभिरलङ्कृतं प्रविश्य, पूजाविष्टरादूर्ध्वं वितानात्पूजाविष्टरपर्यन्तं बृहत्पवित्रमालम्ब्य, स्वासनपूजादिन्यासजातं विधाय, दमनपूजावत्कुम्भं स्थापयित्वाऽर्घस्थापनाद्यात्मपूजापीठपूजान्तं प्रोक्तविधिना विधाय, तस्मिन्कुम्भे देवमावाह्य, साङ्गं सावरणं सम्पूज्य, देवाय मूलमन्त्रेण पवित्रं समर्प्याऽङ्गवृत्तिदेवतानां च पवित्राणि समर्प्य, धूपदीपनैवेद्यनैमित्तिकहोमान् कृत्वा, गुरुं संतोष्य, तस्मै पवित्रं समर्प्य, गुर्वनुज्ञया स्वयमपि पवित्रधारणं कृत्वा, सामयिकानन्यानपि ब्राह्मणादीन्पवित्रदानादिभिः परितोष्य, पूजाशेषं समाप्य, ब्राह्मणादीन् भोजनभूरिदक्षिणादिभिस्तोषयेदिति **पवित्रारोपणविधिः** । इयं पवित्रपूजा अत्यावश्यकी, अकरणे निन्दाश्रवणात् ।

अथ विष्णोः पवित्रारोपणे यो विशेषः सोऽप्यत्र निरूप्यते ।

हेमाद्रौ विश्वरहस्ये—

श्रावणस्य सिते पक्षे कर्कटस्थे दिवाकरे ।
द्वादश्यां वासुदेवाय पवित्रारोपणं स्मृतम् ॥९३॥
द्वादश्यां श्रावणे वाऽपि पञ्चम्यामथवा द्विज ।
अनुकूलेषु कर्त्तव्यं पञ्चदश्यामथाऽपि वा ॥९४॥

नारदपञ्चरात्रे—

कर्कटस्थे द्विजादित्ये सिंहकन्यातुलास्थिते ।
द्वादश्यां शुक्लपक्षे तु एकस्यां यत्र रोचते ॥९५॥
जपहोमक्रियालोपशान्तये विधिपूर्वकम् ।

रामार्च्चनचन्द्रिकायाम्—

श्रावणस्य सिते पक्षे द्वादश्यां शौनकादिभिः ।
उक्तः सदा प्रकर्त्तव्यः पवित्रारोपणोत्सवः ॥९६॥

पाद्मे—

ऊर्ज्जे व्रतं मधौ दोला श्रावणे तन्तुपूजनम् ।
चैत्रे च दमनारोपमकुर्वाणो व्रजत्यधः ॥९७॥
पवित्रारोपणं विघ्नाच्छ्रावणे न भवेद्यदि ।
कार्त्तिक्यवधि शुक्लार्क्के कर्त्तव्यमिति नारद ॥९८॥

शुक्लार्क्कः शुद्धद्वादशी ।

हेमरूप्यमयैः सूत्रैस्तथा कौशेयपद्मजैः ।
कुशैः काशैश्च कार्प्पासैर्ब्राह्मण्या कर्त्तितैः शुभैः ॥९९॥
कन्यया वा पवित्रं स्यान्न पुंश्चल्यादिभिः कृतैः ।
स्नात्वा त्रिगुणितं सूत्रं त्रिगुणीकृत्य शोधयेत् ॥१००॥
पृथक्पृथक्पञ्चगव्यैरद्भिः प्रक्षालयेत्ततः ।
मूलेनाष्टोत्तरशतं गायत्र्या रामसंज्ञया ॥१०१॥
शङ्खोदकेनाऽभिमन्त्र्य पवित्राणि विनिर्म्मेत् ।
तत्रोत्तमं पवित्रं तु षष्ट्या सह शतैस्त्रिभिः ॥१०२॥
सप्तत्या सहितं द्वाभ्यां शताभ्यां मध्यमं स्मृतम् ।
साशीतिना शतेनैव कनिष्ठं तत्समाचरेत् ॥१०३॥
अष्टोत्तरं तदर्द्धार्द्धनवसूत्रकृतेन वा ।
जानूरुनाभिपर्य्यन्तमुत्तमादित्रयं भवेत् ॥१०४॥
उत्तमं तु शतग्रन्थि पञ्चाशद्ग्रन्थि मध्यमम् ।
कनिष्ठं तु पवित्रं स्यात्षट्त्रिंशद्ग्रन्थिसंयुतम् ॥१०५॥

षड्त्रिंशच्चतुर्विंशद् द्वादशेति च केचन ।
चतुर्विंशद् द्वादशाष्टावित्येके मुनयो विदुः ॥१०६॥

अष्टोत्तरसहस्रेण विंशोत्तरयुतेन च ।
शतेन सप्तत्या वाऽपि वनमाला प्रकीर्त्तिता ॥१०७॥

द्वादशाङ्गुलमानानि न्यासादष्टाङ्गुलानि वै ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्तथा स्त्री शूद्र एव च ॥१०८॥
स्वधर्मावस्थिताः सर्वे भक्त्या कुर्युः पवित्रकम् ।

नारदपञ्चरात्रे—

मूलमन्त्रादि सर्वस्य मन्त्रचक्रस्य नारद ।
त्रीणि त्रीण्यथवा द्वे द्वे एकैकं सत्यसम्भवे ॥१०९॥

पवित्रकं तु प्रत्येकं सानुकूल्येन नारद ।
तथा—अतो देवेति मंत्रेण द्विजो विष्णौ निवेदयेत् ॥११०॥

शूद्रस्य मूलमंत्रो वा येन वा पूजयेद् हरिम् ।
स्नात्वा विज्ञापयेद्देवम्.............................॥१११॥

क्रियालोपविधानार्थं यत्त्वया विहितं प्रभो ।
मयैतत् क्रियते देव तव तुष्ट्यै पवित्रकम् ॥११२॥

न मे विघ्नो भवेदत्र कुरु नाथ दयां मयि ।
सर्वथा सर्वदा विष्णो मम त्वं परमा गतिः ॥११३॥

उपवासेन त्वां देव तोषयामि जगत्पते ।
कामक्रोधादयो ये ते न मे स्युर्व्रतघातकाः ॥११४॥

अद्यप्रभृति देवेश यावद्वैशेषिकं दिनम् ।
तावद्रक्षा त्वया कार्या सर्वस्यास्य नमोऽस्तु ते ॥११५॥
कुम्भं पुण्याम्बुनाऽऽपूर्य सर्वतोभद्रके शुभे ।
स्थापयेत्पुरतो विष्णोस्तत्र सूत्राणि पूजयेत् ॥११६॥
सांवत्सरस्य यागस्य पवित्रीकरणाय भो ।
विष्णुलोकात्पवित्राद्य आगच्छेह नमोऽस्तु ते ॥११७॥
सर्वाभरणचित्राङ्ग सर्वदेवनमस्कृत ।
लावण्यरूपसम्पन्न सर्वकर्त्तः प्रजापते ॥११८॥
सर्वमात्मेश सूत्रेऽस्मिन्सान्निध्यं कुरु ते नमः ।
सर्वरत्नोज्ज्वलाकारब्रह्माण्डब्रह्मरोचिषा ॥११९॥

मुकुटोत्तमसर्वांशशिरःसूत्र इहैहि भो ।
इह ते जगतः कीर्त्तिः सर्वलावण्यदायिनी ॥१२०॥
श्रीसूत्रे नित्यकल्याणसान्निध्यं कुरु ते नमः ।
मनुभिर्मन्त्रयेदेतैः पूजयेन्मूलमन्त्रतः ॥१२१॥
अथ देवं करे विद्वान् गन्धसूत्रसमुद्भवम् ।
वितस्तिमानकं डोरं बध्नीयान्मङ्गलात्मकम् ॥१२२॥
संवत्सरकृता याऽर्चा सम्पूर्णफलदाऽस्तु मे ।
पवित्रारोपणे चैव सान्निध्यं कुरु ते नमः ॥१२३॥
विष्णुतेजोद्भवं रम्यं सर्वपातकनाशनम् ।
सर्वकामप्रदं देव तवाङ्गे धारयाम्यहम् ॥१२४॥ इति मन्त्रः ।
नीराजयेत्ततो देवं मङ्गलाघोषपूर्वकम् ।
मन्त्रेणाऽथ सुरेशानं देवदेवं तु मन्त्रयेत् ॥१२५॥
आमन्त्रितोऽसि देवेश पुराणपुरुषोत्तम ।
प्रातस्त्वां पूजयिष्यामि सन्निधिं कुरु केशव ॥१२६॥
क्षीरोदधिमहानागशय्यावस्थितविग्रह ।
प्रातस्त्वां पूजयिष्यामि सन्निधौ भव ते नमः ॥१२७॥
निवेदयाम्यहं तुभ्यं प्रातरेतत्पवित्रकम् ।
सर्वथा सर्वदा विष्णो नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे ॥१२८॥
निपतेद्दण्डवद्भूमौ क्षिप्त्वा पुष्पाञ्जलिं ततः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य गुरुपादौ प्रणम्य च ॥१२९॥
गीतमङ्गलनिर्घोषैः कुर्याज्जागरणं ततः ।

॥ **इत्यधिवासनम्** ॥

अपरेद्युर्नित्यपूजां विधाय—

ततो मङ्गलनिर्घोषैः शङ्खतूर्यादिनिःस्वनैः ।
गन्धदूर्वाक्षतैर्युक्तं दद्याद्देवाय सूत्रकम् ॥१३०॥
राम राम नमस्कार्य गृहाणेदं पवित्रकम् ।
पवित्रीकरणार्थाय वर्षपूजाफलप्रदम् ॥१३१॥
पवित्रं च कुरुष्वाऽद्य यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।
शुद्धो भवाम्यहं देव त्वत्प्रसादात्सुरेश्वर ॥१३२॥
मूलसम्पुटितो ह्येष पवित्रारोपणे मनुः ।
अङ्गाद्यावृतिदेवेभ्यस्ततो दद्यात्स्वनामभिः ॥१३३॥

नैवेद्यं तु महापूर्वं ततो दद्याच्च भक्तितः ।
नीराजयेत्ततो देवं रमाकान्तं समङ्गलम् ॥१३४॥
संवीज्य चामरैर्दिव्यैर्दर्पणं दर्शयेत्ततः ।
प्रार्थयेद्देवदेवेशं मन्त्रैरेभिर्यथाविधि ॥१३५॥
मणिविद्रुममालाभिर्मन्दारकुसुमादिभिः ।
इयं सांवत्सरी पूजा तवाऽस्तु गरुडध्वज ॥१३६॥
वनमालां यथा देव कौस्तुभं सततं हृदि ।
तद्वत्पवित्रपूजां च हृदये वह केशव ॥१३७॥
जानताऽजानता वाऽपि यत्कृतं तु त्वदर्च्चनम् ।
केनचिद्विघ्नदोषेण परिपूर्णं तदस्तु मे ॥१३८॥

मन्त्रहीनमिति पूर्ववत् ।

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्न्निशं मया ।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व मधुसूदन ॥१३९॥
ततः पवित्रं गुरवे दद्याद् गन्धादिपूर्वकम् ।
अथैनं पूजयेद् भक्त्या स्वर्णवस्त्रानुलेपनैः ॥१४०॥
ब्राह्मणान्वैष्णवांश्चैव गन्धपुष्पादिनाऽर्च्चयेत् ।
मासं पक्षमहोरात्रं त्रिरात्रं धारयेत्तथा ॥१४१॥
देवे तं सूत्रसन्दर्भं देशकालविवक्षया ।
प्रत्यहं स्नानकार्यादौ सूत्राण्युत्तार्य कारयेत् ॥१४२॥
अथाऽन्ते देवमभ्यर्च्य ततः सूत्रं विसर्ज्जयेत् ।
सांवत्सरीं शुभां पूजां सम्पाद्य विधिवन्मम ॥१४३॥
व्रजेदानीं पवित्र त्वं विष्णुलोकं विसर्ज्जितः ।
यावद्देवे पवित्राणि तावत्तिष्ठेत्समाहितः ॥१४४॥
ब्रह्मचारी हविष्याशी देवपूजापरायणः ।

अकरणे तत्रैव प्रायश्चित्तमुक्तम्—

पवित्रारोपणं काले न करोति कथञ्चन ।
तदाऽयुतं जपेन्मन्त्रं स्तोत्रं वाऽपि समाहितः ॥१४५॥

॥ इति विष्णोः पवित्रारोपणविधिः ॥

इति श्रीगोस्वामिजगन्निवासात्मज-गोस्वामिश्रीशिवानन्दभट्टविरचिते सिंहसिद्धान्तसिन्धौ चतुर्दशस्तरङ्गः ॥१४॥

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१ - १७	सकरुणहृदयो	स करुणहृदयो
२ - १६	प्रकाशोऽनिश	प्रकाशोऽनिशं
२ - २०	सन्मानदान०	सम्मानदान०
२ - २३	प्रथितप्रभाव	प्रथितप्रभावं
३ - २४	शरणं गत	शरण गतं
१२ - ३	थैव	तथैव
१३ - १६	चन्द्रशिलाप्रकाश	चन्द्रशिलाप्रकाशं
१४ - ४	ध्यायन्नोह्निक०	ध्यायन्नाह्निक०
१४ - १०	नित्यमुक्त स्वभाव०	नित्यमुक्तस्वभाव०
१४ - १४	आज्ञा प्रार्थन०	आज्ञाप्रार्थन०
१६ - ३	गन्धलेपक्षयकर	गन्धलेपक्षयकरं
१६ - २६	प्रकर्त्तव्य	प्रकर्त्तव्यं
२० - २७	०नावगुण्ठ्या	०नावगुण्ठ्य
२५ - २६	ध्यायेद्धदये	ध्यायेद्धृदये
२६ - १३	समारस्य	समारभ्य
२६ - २६	कुष्णभट्टीये	कृष्णभट्टीये
२६ - ३१	स्मुतिरत्नावल्यामपि	स्मृतिरत्नावल्यामपि
३१ - १६	गोश्टङ्गमात्र०	गौश्टृङ्गमात्र०
३१ - २२	याज्ञवक्ल्य:	याज्ञवल्क्य:
३२ - ६	कुवीर्त्त	कुर्वीत
३२ - १६	०मूर्न्धि	मूर्ध्नि
३३ - १२	०फलमश्नुते	फलमश्नुते
३३ - १६	शत	शतं
३६ - १८	०मुद्दिष्ठं	०मुद्दिष्टं
३७ - २१	हेम	हेमं
३९ - १	वक्तव्म्	वक्तव्यम्
४० - ७	पार्थिव	पार्थिवं
४४ - २१	गृह्वीया०	गृह्णीया०

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
४७ - ८	स्व	स्वं
५० - १६	गरुडारूढ धातार	गरुडारूढं धातारं
५० - १७	रक्त	रक्तं
५० - १८	हंसारूढ	हंसारूढं
५० - १८	विधातार	विधातारं
५४ - ४	०दासन	दासनं
५४ - २२	वशासनें	वंशासने
६० - १०	कुम्भक	कुम्भकं
६४ - ९	दाहक	दाहकं
६५ - २०	विपरीतफल	विपरीतफलं
६६ - ६	०स्तिथिसरव्यान्	०स्तिथिसंख्यान्
६६ - ८	पद	पदं
६६ - १५	०स्तद्बीज	०स्तद्बीजं
६६ - १६	हस:	हंस:
६७ - ६	सबिन्द्वनतो	सबिन्द्वनन्तो
६७ - ६	सूक्ष्म	सूक्ष्मं
६७ - ९	वदेदय	वदेदयं
६७ - ९	०स्त्वमरेश	०स्त्वमरेशं
६७ - १२	०भिण्टीश	०भिण्टीशं
६७ - १२	०सयुक्त	०संयुक्तं
६७ - २०	एव	एवं
६७ - २२	०पादयुग्मान्त	पादयुग्मान्तं
६८ - १९	गायत्र	गायत्रं
६९ - १४	विधायेत्थ	विधायेत्थं
६९ - १८	कवर्ग	कवर्ग:
७० - १२	सहारेण	संहारेण
७० - १३	षडङ्ग	षडङ्गं
७० - २५	ध्रुव	ध्रुवं
७१ - ११	०ऽभय शूल कपाल	भयं शूलं कपालं
७१ - १४	अभय	अभयं

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
७१ - १४	बाहुभिवरम्	बाहुभिर्वरम्
७३ - २०	धृतशूकलपालकाः	धृतशूलकपालकाः
७५ - १४	हसश्च सोह	हंसश्च सोहं
७५ - १८	पर समाख्यात	परं समाख्यातं
७५ - १९	बोधित	बोधितं
७५ - २४	होम	होमं
७६ - २४	०त्यादिज्योतिषु	०त्यादिज्योतिष्षु
७७ - ४	स्वरूप	स्वरूपे
७८ - २	सयोज्य	संयोज्य
७८ - ६	०सङ्ग्राह्य	०सङ्ग्राह्यं
७८ - १२	सवृत	०संवृतम्
७८ - १३	०सयुक्त	संयुक्तं
८० - २४	पतित	पतितं
८२ - २८	दोर्बल्यं	दौर्बल्यं
८३ - २१	आदा	आदौ
८५ - १७	व्यरं	त्र्यक्षरं
८५ - २३	स्मृता	स्मृताः
८८ - १३	वीह्न	वह्नि
१०६ - ३	सर्वससृद्धिदं	सर्वसमृद्धिदं
१०८ - १४	पञ्चरात्रवचनान्	पञ्चरात्रबचनात्
११९ - २९	वामनारख्यो	वामनाख्यो
१२२ - ६	सालाग्राम०	सालग्राम०
१२२ - २५	षड्भिः	षड्भिः
१२२ - ३०	अनेकसूर्त्ति०	अनेकमूर्त्ति०
१२४ - १६	कृतैः	कृते
१२६ - २	वाऽमक्त्या	वाऽभक्त्या
१३० - १	पाषाणदिभिर्वा	पाषाणादिभिर्वा
१३० - २१	शालिग्रामादिकं	शालग्रामादिकं
१३३ - १३	पूज्यपूचकयो०	पूज्यपूजकयो०
१३४ - १३	तोर्थं	तीर्थैः

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१३६ - २९	पद्यमदो वास्ति	पद्यमदो नास्ति
१३८ - ३२	१.	२.
१३९ - २७	श्रोक्ता	प्रोक्ता
१४५ - १६	सवदा	सर्वदा
१६४ - २६	हरेसद्य०	हरेस्सद्य०
१६६ - २	गृह्वीया०	गृह्णीया०
१६८ - २५	सूतसंहितावाञ्च	सूतसंहितायाञ्च
१७४ - ९	लोकापालान्तं	लोकपालान्तं
१७९ - ६	मन्त्रमता:	मन्त्रमात:
१८० - २५	पुमा	पुमान्
१८१ - २०, २४ ३०,	१, २	२, ३
१८२ - १	अस्त्रमन्त्रेण	अस्त्रमन्त्रेण
१८२ - २७	स्यद्धस्त०	स्याद्धस्त०
१८४ - ४	क्रमणैवं	क्रमेणैवं
१८४ - ३६	गण्डूदन्त०	गण्डूषदन्त०
१८४ - ३०	तिलतण्डुकै०	तिलतण्डुलकै०
१९० - १३	वाग्मिराछिद्र०	वाग्भिरछिद्र०
२०० - २	मऽभिभवन्तु	माऽभिभवन्तु
२०२ - १४	पिप्लाद	पिप्पलाद
२०४ - २५	०पाणिनाऽऽदय	०पाणिनाऽऽदाय
२०५ - २०	क्रोधदृष्टचा	क्रोधदृष्टचा
२०७ - ६	०मुद्घाघाटच	०मुद्घाटच
२१० - १८	स्फुररद्वालार्क०	स्फुरद्वालार्क०
२१४ - १०	एवम अन्त:	एवमन्त:
२१४ - १३	करस्पर्शाऽसम्भ-वात्	करस्पर्शाऽसम्भवात्
२१४ - २७	वामे-ॠ	वामे ॠ
२१८ - १५	फं जनार्द्नामोयैयै	फं जनार्द्नायोमायै
२२६ - ३	अहं तां	अहन्तां
२२८ - १३	बिन्दस्र॒त	बिदुस्र॒त

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३३ - २९	बृहस्पतिदेवताभ्याम्	बृहस्पतिदैवताभ्याम्
२३३ - ७	भववन्रत्न०	भगवन्रत्न०
२३३ - ११	ऐतत्ते मुकुटं	एतत्ते मुकुटं
२३३ - ११	एत्तत्ते कुण्डलं	एतत्ते कुण्डलं
२३३ - १४	पञ्चवाद्यगुर:सरम्	पञ्चवाद्यपुरस्सरम्
२३४ - ५	देवग्राद्यष्टसु	देवाग्राद्यष्टसु
२३४ - १४	गरूडवाहनाय	गरुडवाहनाय
२३४ - १६	यं वायने	यं वायवे
२३४ - १८	उदर्ध्वाधो	ऊर्दध्वाधो
२३४ - २८	सम्पूज्याऽस्त्रमन्त्रेण	सम्पूज्याऽस्त्र मन्त्रेण
२३५ - १	साराङ्गारात्रिधाय	साराङ्गारान्निधाय
२३५ - ७	गजध्वनीमन्त्र०	गजध्वनिमन्त्र०
२३५ - १२	घृत्तप्रदीदाय	घृतप्रदीपाय
२३५ - १५	प्रतिग्रह्यताम्	प्रतिगृह्यताम्
२३५ - २०	०कषायमधु रात्मक०	०कषायमधुरात्मक०
२३५ - २४	०ऽधोमुखदशिणहस्तो०	०ऽधोमुखदक्षिणहस्तो०
३६ - ६	अमृतोपस्त्ररण०	अमृतोपस्तरण०
३६ - ६	विरुचोत्पल	विकचोत्पल
६ - ८	तर्ज्जनीमझ्याङ्गुष्ठ०	तर्ज्जनीमध्याङ्गुष्ठ०
२३६ - ८	०नामिकाङ्ष्ठयोगेन	०नामिकाङ्गुष्ठयोगेन
२३६ - १०	सामानाय	समानाय
२३६ - १७	सौरव्य०	०सौख्य०
२३६ - १८	देय	देव
२३६ - २४	०प्रसहन०	०प्रहसन०
२३७ - ४	क्रुशाम्बुना	कुशाम्बुना
२३७ - ७	सर्वंज्ञाज्ञापय	सर्वं ज्ञापय
२३७ - ७	यन्त्रेण	मन्त्रेण
२३७ - १०	मुवर्णवर्ण०	सुवर्णवर्ण०
२३७ - १४	सहस्त्रार्चिषे	सहस्रार्चिषे
२३७ - १६	षडङ्गसन्त्री०	षडङ्गमन्त्रा०

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३७ - १७	मूद्धि्न	मूर्द्धिन
२३७ - १९	दक्षिणकय्चां	दक्षिणकटचां
२३७ - २३	लप्तजिह्वाः	सप्तजिह्वा :
२३७ - २५	० नाष्टमूर्त्तीः	० नाष्टमूर्त्तीः
२३७ - २६	चतुरस्त्रे	चतुरस्रे
२३७ - २६	इहाव	इहावह
२३८ - ३	त्यग्ने" दक्षिण०	त्यग्नेर्दक्षिण०
२३८ - ३	इदं नव	इदं न
२३८ - १३	स्यूं	स्यूँ
२३८ - २४	अस्नाय	अस्त्राय
२३८ - २९	प्राणाबुद्धि०	प्राणबुद्धि०
२३९ - १	पङ्कया०	पङ्क्त्यां०
२३९ - ५	ॐ ह्लं	ॐ ह्लूँ
२३९ - १८	विद्यत	विद्यते
२३९ - २२	उपनिश्य	उपविश्य
२३९ - २५	सञ्जनान्नोदकपूरित	सव्यञ्जनान्नोदकपूरितं
२३९ - २८	गणानामाधिपाश्च	गणानामधिपाश्च
२४० - ८	विसृज्यऽस्त्रमन्त्रेण	विसृज्याऽस्त्रमन्त्रेण
२४० - ९	जलममृतीकृत्यऽ०	जलममृतीकृत्याऽ०
२४० - ११	०रस्त्रमन्त्रेण	रस्त्रमन्त्रेण० -
२४० - १३	सुगन्धन्चू०	सुगन्धचू०
२४० - १३	कर्पु-	कर्पू-
२४० - १५	सूक्ष्मवस्त्रे ण	सूक्ष्मवस्त्रेण
२४० - १७	०दलकर्पुर०	०दलकर्पूर०
२४० - २०	नमः	नमः' इति त्रिः पुष्पाञ्जलिना सम्पूज्यपुनर्म्मूलमुच्चार्य सुप्रसन्नायै
२४० - २०	गन्धौ	गन्धो
२४० - २२	इर्वाक्षत०	दूर्वाक्षत०
२४० - २४	निक्षिपेत	निक्षिपेत्
२४० - २५	०त्रवदीपान्	न्नवदीपान्

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४० - २५	न्कर्पूगर्भ०	न्कर्पूरगर्भ०
२४० - ३१	इति त्रिः पुष्पाञ्जलिनेत्यादिपङ्क्तेरभावो विचारणीयः	
२५३ - ७	सहस्त्रानेक०	सहस्रानेक०
२५५ - १७	तत्पदार्चनम्	तत्पदार्चनम्
२५६ - २६	दीक्षा	दीक्षां
२५६ - २९	योजतान्तरे मासं मास	योजनान्तरे मासं मासं
२६१ - १२	सुश्रुश्रूषु:	सुशुश्रूषु:
२६३ - ६	केषचिन्मन्त्र०	केषुचिन्मन्त्र०
२७५ - १५	सुषम्णाधार०	सुषुम्णाधार०
२८० - ६	ला २,	ला ३,
२८२ - १०	बालं	वालं
२८२ - १२	बा ४,	वा ४,
२८८ - ११	वग:	वर्णा:
२९१ - ७	पङ्क्तिस्थाङ्कन	पङ्क्तिस्थाङ्केन
२९५ - १	पदार्थदिर्शा	पदार्थदिर्शे
३०४ - २९	२. ख. सौन्दर्यं	०
३०५ - १६	१. ख. शत०	२. ख. शत०
३०५ - २६	२. ख. सौन्दर्यं	१. ख. सौन्दर्यं
३०८ - १४	लग्नचतुथ०	लग्नचतुर्थ
३०९ - २३	कुर्याग्र्द्रहणे	कुर्याद्ग्रहणे
३१५ - २५	०मूलपरिशाहमध्यं	०मूलपरिणाहमध्यं
३२७ - १	यतीत्याचार्नो	यतीत्याचार्यो
३३१ - २६	अर्थ	अथ
३३१ - २९	०कुण्डकम्	०कुण्डकम्
३३३ - ११	०मार्ग्रेण	०मार्गेण
३४३ - २६	शृगाररहितं	शृङ्गाररहितं
३४९ - ४	ह्यष्ठौ	ह्यष्टौ
३५१ - १२	स्त्रुक्स्त्रुवौ	स्रुक्स्रुवौ
३५४ - १५	०सम्पदमीप्सुभि:	०सम्पदभीप्सुभि:
३५८ - २६	पिष्टकैयुक्तं	पिष्टकैर्युक्तं

पृष्ठ - पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३६१ - १६	गृह्वन्त्वमु	गृह्णन्त्वमु
३६१ - २१	गृह्वन्त्विमं	गृह्णन्त्विमं
३६३ - २३	विधाऽया	विधायाऽ
३६८ - ५	स्कदाय	स्कन्दाय
३६८ - ११	व्रह्यदैवत्येषु	ब्रह्मदैवत्येषु
३७१ - १८	पुरुतः	पुरतः
३८२ - ६	आवेष्टिताङ्ग	आवेष्टिताङ्गं
३९५ - ८२	पुरुषोमत्तम्	पुरुषोत्तमम्
३९९ - ८	स्वारूपिणीम्	स्वरूपिणीम्
४०१ - ३०	प्रदर्शयेन्	प्रदर्शयेत्
४१६ - २८	कारुण्यश्वीश्वरि	कारुण्यमीश्वरि
४२७ - २१	०निवासात्मजप-	०निवासात्मज-
४२९ - २०	०केशनिध्दृत०	केशनिर्द्धूत०
४३० - १४	२६।।	२६।। *
४३० - १८	नियोगं	न नियोगं
४३४ - ३०	०भवेद्दिवि	०भवेद्देवि'
४४५ - ३	महेशानिकूष्माब्डं	महेशानि कूष्माण्डं
४५२ - ३२	छन्ददः	छन्दः
४५३ - ६	मृत्युञ्जयंरुट्रो	मृत्युञ्जयरुद्रो
४५७ - ६	प्रचर्श्य	प्रदर्श्य
४५८ - ३१	वामपरिणना	वामपाणिना
४५९ - १०	बहिः स्थानाङ्गारारान्	बहिःस्थानाङ्गारान्
४५९ - १४	दक्षभागं १	दक्षभागं २
४६० - २	कलाशस्थायै	कलशस्थायै
४६२ - १	० मृगेशिरो०	मृगशिरो०
४७० - ९	मप्तमी	सप्तमी
४७१ - २४	निश्चवयः	निश्चयः
४७४ - १९	कमगायत्रीः	कामगायत्रीः
४७६ - १	त्रिशलमुद्रा	त्रिशूलमुद्रा
४७६ - २१	प्राक्ष्य	प्रोक्ष्य